

514



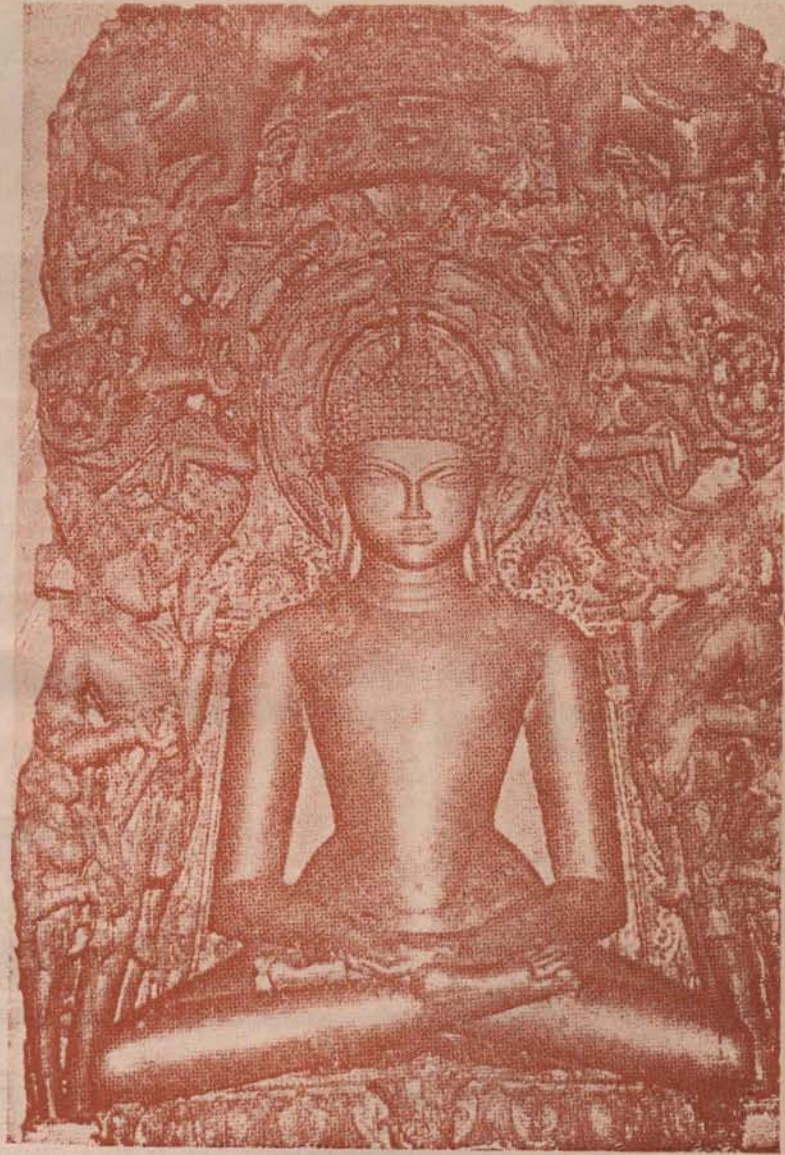
तीर्थंकर महावीर

स्मृतिग्रन्थ



जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर





तीर्थकर महावीर स्मृति ग्रन्थ



स्मृतिग्रन्थ

तीर्थंकर महावीर

सम्पादक

श्रीवीर मालव

संयोजक, महावीर निर्वाण महोत्सव समिति
सदस्य-महासभा, विद्यापरिषद सामाजिक विज्ञान संकाय

कला पथ

विष्णुमित्र वासवानी

प्रकाशक

अजयकुमार भट्टाचार्य कुल सचिव,

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

मुद्रक

साधना प्रेस, ग्वालियर-१

क्रम

क्रम	— ० ० ०	iii
आमुख	—हरस्वरूप	vii
प्रस्तुति	—अजय कुमार भट्टाचार्य	ix
प्राक्कथन	—गोविन्द नारायण टण्डन	xi
पूर्वा	—रवीन्द्र भालव	xv
कृतज्ञता ज्ञापन	—घनश्याम गीतम	xxiii
शुभ कामना सन्देश		

प्रथम खण्ड	कार्यजलि	(1—8)
मंगल सूत्र	— ० ० ०	3
महावीर स्तवन (प्राकृत)	—कुन्दकुन्दाचार्य	4
महावीर स्तवन (संस्कृत)	—रविशेणाचार्य	4
वन्दना	— ० ० ०	5
भगवान् महावीर के चरणों में	—उपाध्याय अमर मुनि	6
मनोयोग द्वारा सुनो वीर वाणी	—कल्याण कुमार जैन “शशि”	7
भाव पुरुषांजलि	—शान्तीलाल जैन “मधुकर”	8

द्वितीय खण्ड

जिनवाणी

(9—22)

अन्तरात्मा-11, अपरिग्रह-11, अमयदान-11, अभोगी-11, अरहंत-11, अस्तेय (अचौर्य)-11, अहिंसा-12, आचार्य-13, आत्मतत्त्व-13, आत्मविजेता-13, आत्मश्रद्धा-13, आत्मशुद्धि-14, आत्मा-14, आत्मज्ञान-14, आचरण-15, आचार-15, आर्जव-15, उपभोग-15, कर्म-15, कषाय-15, केवलज्ञान-16, केवली-16, चरित्र-16, जीव-16, तप-17, तीर्थ-17, द्रव्य-17, दुःख-17, धर्म-17, ध्यान-18, परमाणु-18, परमात्मा-18, परिग्रहण-18, पर्याय-18, प्रमाण-19, पुद्गल-19, भय-19, भाषा-19, मार्दव-19, मोक्षमार्ग-19, लोभ-20, विनय-20, ब्रह्मचर्य-20, श्रमण-20, श्रमणधर्म-20, संत-20, संयम-21, समता-21, सत्य-21, सम्यक्त्व-21, सम्यक दर्शन-21, सम्यक ज्ञान-22, सम्यक चारित्र्य-22, ज्ञान-22 ।

तृतीय खण्ड

भगवान महावीर, जीवन-दर्शन-देन

(23—76)

1. भगवान महावीर, जीवन और दर्शन	—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धास्ताचार्य	25
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी सामाजिक क्रान्ति	—चन्दनमल वैद	32
3. वर्तमान युग में महावीर के उपदेशों की सार्थकता	—यशपाल जैन	35
4. भगवान महावीर और नारी मुक्ति	—पं. सुमतीबाई शहा	39
5. महावीर की वाणी का मंगलमय क्रान्तिकारी स्वरूप	—डा० महावीर शरण जैन	43
6. महावीर का साम्यवाद	—परिपूर्णानन्द वर्मा	51
7. विश्वशान्ति के सन्दर्भ में तीर्थंकर महावीर का सन्देश	—यू० एन० वाच्छावत	54
8. मानवधर्म के प्रणेता तीर्थंकर महावीर	—सरदारसिंह चौरडिया	57
9. भगवान महावीर का सर्वोद्य शसन	—सुमेरचन्द्र दिवाकर शास्त्री	61
10. Message of Bhagavan Mahavira	—T. K. FUKOL	69
11. Pearls	—	76

चतुर्थ खण्ड—

जैन धर्म-दर्शन

(77—152)

1. तीर्थंकर महावीर का अनेकान्त एवम् स्याद्वाद दर्शन	—आचार्य श्री तुलसीजी	79
2. वर्तमान युग में श्रमण	—उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी	83
3. जैन योग में कुण्डलिनी	—मुनि श्री नथमलजी	87
4. परिग्रह का स्वरूप	—मुनि श्री चन्दनमलजी	91

5. जैन दर्शन में अनुमान परिभाषा	—डा. दरवारी लाल कोठिया	93
6. जैन संघ और सम्प्रदाय	—डा. मागचन्द्र जैन मास्कर	99
7. भगवान महावीर का अपरिग्रह, एक दार्शनिक विवेचन	—प्रो. श्रीचन्द्र जैन	124
8. जैन कर्म सिद्धान्त	—श्यामलाल पाण्डवीय	135
9. जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप, एक तुलनात्मक अध्ययन	—डा. सागरमल जैन	141

पंचम खण्ड जैन संस्कृति एवम् कला, (153 — 214)

1. जैन पुरातत्व एवम् कला	—मधुसूदन नरहरि देशपाण्डे	155
2. जैन मूर्तिशास्त्र (मध्यप्रदेश की जैन मूर्तिकला के सन्दर्भ में)	—प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी	168
3. जैन धर्म और संगीत	—गुलाबचन्द्र जैन	171
4. भारतीय शिल्पकला के विकास में जैन शिल्पकला का योगदान	—डा. शिवकुमार नामदेव	181
5. जैन चित्रकला	—श्रीमती उषाकिरण जैन	193
6. Contribution of Mahavira To Indian Culture	—Dr. Kailash Chandra Jain	200
7. Jaina Images And Their Predominant Styles : Dahala And South Kosala Region	—Dr. R. N. Misra	205

षष्ठम् खण्ड जैन साहित्य (215 — 270)

1. जैन साहित्य	—अगरचन्द्र नाहटा	217
2. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में वर्णित सदगुरु-सत्संग की महत्ता	—डा. श्रीमती पुष्पलता जैन	224
3. जैन साहित्य एवं संस्कृति के विकास में भट्टारकों का योगदान	—डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल	231
4. जैन साहित्य के आद्य पुरुष्कर्ता	—डा. ज्योतिप्रसाद जैन	237
5. प्राचीन जैन राम साहित्य में सीता	—डा. लक्ष्मीनारायण बुवे	241
6. जैन आचार्यों का संस्कृत काव्य शास्त्र में योगदान	—डा. अमरनाथ पाण्डेय	249
7. राजस्थान के कवि — “ठकुरसी”	—पं. परमानन्द जैन शास्त्री	256
8. महापंडित टोडरमल	—डा. हुकुमचन्द्र भारितल	265

1. परमाणु और लोक	—प्रो. जी. आर. जैन	273
2. जैन गणित विज्ञान की शोध दिशाएँ	—लक्ष्मीचन्द्र जैन	281
3. शाकाहार : वैज्ञानिक एवं चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण	—डा. पदमचन्द्र जैन	291

अष्टम खण्ड—

ग्वालियर और जैन धर्म (विविध सन्दर्भ)

(303—360)

1. गोपाचल का एक विस्मृत महाकवि, “रईधू”	—डा. राजाराम जैन	305
2. ग्वालियर एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में स्थित : जैन सांस्कृतिक केन्द्र—डा. बी. बी. लाल		318
3. गोपाद्री देवपत्तने	—हरिहरनिवास द्विवेदी	325
4. ग्वालियर के सांस्कृतिक विकास में जैन धर्म	—रवीन्द्र मालव	337

नवम खण्ड—

विविधा

(361—410)

1. समीक्षा एवं समालोचना श्री 2500 वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव वर्ष में प्रकाशित जैन साहित्य		363
2. भगवान महावीर का पच्चीस सौ वा निर्वाण महोत्सव और ग्वालियर संभाग : एक रपट		375
3. भगवान महावीर महापरिनिर्वाण महोत्सव पर्व की स्थाई उपलब्धि : “श्री 2500 वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास”		385
4. जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित श्री 2500 वां, भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव, व्याख्यान माला : एक रिपोर्टाज		389
5. लेखक परिचय		393
6. विज्ञापन		411



आमुख

भारत की गौरवशालिनी सांस्कृतिक संरचना की निर्मिति में सहस्राब्दियों की अविच्छिन्न परम्परा के तत्व सन्निहित हैं। संभवतः संसार के अन्य किसी भी देश का इतिहास हमारी तरह सांस्कृतिक सातत्य की विशिष्टता से अनुप्राणित नहीं है। यही कारण है कि आर्थिक-भौतिक निर्धनताओं के संघास में भी भारत भूमि की अस्मिता अपराजित और गर्वोन्नत रहती चली आई है, और तमस्-प्रताड़ित मानवता ने सदैव ही उसकी ओर आस्था तथा विश्वास की प्रकाश किरणों के लिए आशा भरी दृष्टि से देखा है।

भारत का वैविध्य पूरित सांस्कृतिक व्यक्तित्व यों तो अनेक संश्लिष्ट तत्वों की पारस्परिक क्रिया-विक्रिया का परिणाम है, तथापि इसकी समग्र रचना को सुदूर अतीत में दो महापुरुषों ने सर्वाधिक प्रभावित किया, वह थे महावीर और गौतम बुद्ध, जिनके उदात्त चिन्तन के संस्पर्श भारतीय मनीषा पर इतने सुस्पष्ट और स्थायी थे कि शताब्दियों बाद, एकदम भिन्न और वैज्ञानिक-आधुनिक संसार में एकबार फिर व्यापक सर्वा-नुमति और स्वीकृति प्राप्त करने वाले महापुरुष महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में उसी चिन्तन का परावर्तन परिलक्षित हुआ। सांस्कृतिक सातत्य का यह अनुपम उदाहरण था।

तीर्थंकर महावीर के महानिर्वाण की पच्चीसवीं शती-पूर्ति के अवसर भारत में ही नहीं संसार भर में समारोहों का आयोजन संपन्न हुआ, उनके धार्मिक-नैतिक मूल्यों के पुनरावलोकन का उपक्रम किया गया और उनके द्वारा प्रदर्शित जीवन-पद्धति की समकालीन संदर्भों में प्रासंगिकता एकबार फिर से केन्द्रीभूत चिन्तन का विषय बनी। वस्तुतः यह हम सबके लिए श्लाघा का ही विषय है कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर का भी इस सबमें एक विनम्र योगदान रहा। मेरे पूर्ववर्ती कुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन के कार्य-काल में यह आयोजन संपन्न हुए और उनके तथा उनके सहयोगियों के परिश्रम, लगन तथा उत्साह के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत स्मृतिग्रंथ इतने सुन्दर स्वरूप में आपके हाथों में सौंपने का दायित्व अनायास ही सद्भाग्यवश मुझे मिला है, जो मेरे लिए व्यक्तिगत प्रसन्नता और सुख का कारक है। स्मृति ग्रंथ की विषय सूची पर

प्रथम दृष्टिपात ही यह बता देता है कि इसकी सामग्री कितनी गहन, शोधपूर्ण, बहुआयामी और स्थायी महत्व की है, निस्संदेह इसका आयोजन, संकलन और प्रकाशन श्रम और धीरज का परीक्षाकाल रहा होगा। अतः इस सफल परिणति के अवसर पर मैं इस समायोजन से सम्बद्ध समस्त सहयोगियों के प्रति साधुवाद संबोधन के अवसर को नहीं छोड़ना चाहता।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत स्मृतिग्रंथ जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा तीर्थंकर महावीर की स्मृति में समर्पित एक ऐसी श्रद्धांजलि है, जो ज्ञानराशि के संचित कोष में अपना योगदान सार्थक करेगी और जिसे प्रबुद्ध जनों की सराहना मिलेगी। तीर्थंकर महावीर के चरणों में इस श्रद्धा सुमन को आप तक भेजते हुए मुझे इतना ही निवेदन करना है।

तीर्थंकर महावीर निर्वाण दिवस
बीर निर्वाण सम्बत् २५०४
दिनांक ११ नवम्बर, १९७७

हस्ताक्षर
कुलपति
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर



प्रस्तुति

तीर्थंकर महावीर की स्मृति में प्रकाशित इस स्मृति-ग्रन्थ को पाठकों को प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्याधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। जीवाजी विश्व-विद्यालय के लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि वह अपने इस प्रकाशन को, एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर अपने कर्तव्य निर्वहन के क्षेत्र में एक और महत्वपूर्ण उपलब्धि को प्राप्त कर सका।

तीर्थंकर महावीर के पच्चीस सौ वे महापरि-निर्वाण वर्ष के अवसर पर जब विश्वव्यापी स्तर पर विविध कार्यक्रमों का आयोजन हो रहा था, तब विश्व-विद्यालय परिवार के कुछ प्रमुख सदस्यों के मन में भी इस अवसर पर कुछ रचनात्मक कार्य करने की कल्पना उजागर होने पर इसके क्रियान्वयन की समस्या उत्पन्न हुई। विकास की शंशवावस्था से गुजर रहे, प्रगति पथ पर गतिशील इस विश्वविद्यालय के समक्ष कुछ आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। विश्वविद्यालय ने इस हेतु मध्यप्रदेश शासन द्वारा गठित महावीर निर्वाण समिति, मध्यप्रदेश के सम्मुख एक पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला के आयोजन का प्रस्ताव भेजकर आर्थिक सहायता की मांग की। यद्यपि विश्वविद्यालय की ओर से प्रस्ताव भेजने में कुछ विलम्ब हो गया था, तथापि विश्वविद्यालय महासभा के सदस्य श्री सरदारसिंहजी चौरडिया तथा

श्री रवीन्द्र मालव ने व्यक्तिगत रुचि लेकर प्रदेश समिति की बैठक के अवसर पर मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्य-मन्त्री श्री प्रकाशचन्द्रजी सेठी तथा प्रदेश समिति के सदस्यों से, इस व्याख्यानमाला को सहयोग के लिए विशेष आग्रह किया, जिसे समिति ने उदारतापूर्वक स्वीकार कर विश्वविद्यालय की कठिनाई हल कर दी।

प्रदेश समिति से प्राप्त आर्थिक सहायता से जीवाजी विश्वविद्यालय ने निर्वाण महोत्सव वर्ष के समापन समारोह के अवसर पर दिनांक 6 नवम्बर से 10 नवम्बर 1975 तक एक पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला आयोजित की, जिसमें विविध विषयों पर राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वानों एवं शिक्षा मनीषियों के व्याख्यान हुए।

व्याख्यानमाला की समाप्ति के पश्चात् संयोजक श्री रवीन्द्र मालव, ने व्याख्यानमाला में हुए व्याख्यानों, तथा आयोजन के सिलसिले में प्राप्त ऐसे शोध पत्रों, जिनके रचयिताओं के व्याख्यान विभिन्न सीमाओं तथा कठिनाइयों के कारण व्याख्यानमाला में आयोजित नहीं किये जा सके थे, को संकलित कर, प्रकाशित करने की योजना निमित्त कर जब कुलपतिजी तथा अन्य अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत की तो यह अत्यन्त दुष्कर कार्य प्रतीत होता था। क्योंकि व्याख्यानमाला के पश्चात् इस कोष में अत्यल्प राशि ही शेष थी, जिससे मुख्य व्याख्यानों को भी प्रकाशित करना संभव नहीं था। परन्तु श्री मालव ने इस योजना को क्रियान्वित करने हेतु संकल्पबद्ध रहकर कार्य करने तथा साधन जुटाने का विश्वास दिलाया तो कुलपतिजी ने इस महत्वपूर्ण कार्य में विशेष रुचि लेकर इसे अपना आशीर्वाद प्रदान कर दिया। योजना कार्य परिषद में

प्रस्तुत होने पर, उसने भी इसकी पुष्टि कर दी, तथा व्याख्यानमाला के संयोजक श्री रवीन्द्र मालव को ही इस ग्रन्थ के सम्पादन का भार सौंपा गया।

मुझे प्रसन्नता है कि जिस विश्वास के साथ उन्हें यह कार्य सौंपा गया था, उससे भी अधिक निष्ठा के साथ उन्होंने अपने जीवन का एक महत्वपूर्ण वर्ष इस ग्रन्थ को समर्पित कर, जहाँ इसके लिए आचार्यों, राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों, शिक्षा मनीषियों तथा शोधार्थियों से उच्चस्तरीय शोधपूर्ण लेख एवं निबन्ध एकत्रित कर और उन्हें योजनाबद्ध रूप से संकलित एवं सम्पादित कर इस ग्रन्थ को सुन्दर स्वरूप प्रदान किया वहाँ निरन्तर प्रयास कर आर्थिक साधन जुटाने और इसके प्रकाशन को सुलभ बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस ग्रन्थ के परिप्रेक्ष्य में उनका कठिन परिश्रम, हृदय संकल्प और निश्चित उद्देश्य के प्रति कार्य करने की असीम निष्ठा निहित है।

प्रबुद्ध पाठकों के हाथों में “तीर्थंकर महावीर स्मृति-ग्रन्थ” के रूप में विभिन्न शीर्षकों से नौ विविध खण्डों में विभाजित तथा चालीस शोधपत्रों एवं निबन्धों तथा अन्य उपयोगी ज्ञानवर्द्धक सामग्री वाला यह संकलन तीर्थंकर महावीर, उनके दर्शन और उनकी परम्परा तथा जैन साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन, मनन तथा इन विषयों पर उपलब्ध विशाल ज्ञान भण्डार के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालने तथा विविध पक्षों पर शोध-कार्य करने हेतु शोधार्थियों को आकर्षित करने के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में सफल हो सकेगा। ऐसा मुझे विश्वास है।

अजयकुमार भट्टाचार्य

कुल सचिव

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

गांधी जयन्ती

2 अक्टूबर 1977



प्राक्कथन

मानव सभ्यता के उदयकाल से ही भारत की पुण्य-भूमि महान आदर्शों की प्रतिपालक रही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के प्रतीक, प्रतिमाएँ और अवशेष भारत की महान् आध्यात्मिक परम्पराओं के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। वे इस बात के भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारतीय चिन्तन ने सदैव, भौतिक तत्वों पर आत्मिक तत्वों की श्रेष्ठता, पर बल दिया है तथा वह आध्यात्मिक पक्ष की ओर अधिक केन्द्रित रहा है।

यही कारण है कि आज से तीन सहस्राब्दि पूर्व जब मानव चिन्तन प्राकृतिक अध्ययन से हटकर मानवीय चिन्तन की ओर अग्रसर हुआ और विश्व क्षितिज पर यूनान में पीथागोरस, सुकरात और अफलातून; जूडिया में पैगम्बरों की परम्परा; चीन में लाओत्से और कन्फ्यू-कस व ईरान में जरतुस्त का उदय हुआ; तब भारत में तीर्थंकर महावीर, महात्मा गौतम बुद्ध तथा उपनिषदों के रचयिता पावन ऋषियों का उदय हुआ, जिन्होंने न

केवल मानव-जगत् में चिन्तन के नये आयाम स्थापित किये, वरन् ऐसे मानवतावादी दर्शन को जन्म दिया जिससे आनेवाली सम्यता भी हजारों-हजारों वर्षों तक प्रेरणा तथा दिग्दर्शन प्राप्त कर सके।

मानव जाति के इन महापुरुषों में से एक "महावीर", वैशाली के राजकुमार वद्धमान के रूप में एक सम्पन्न राज परिवार में जन्मे। वे भौतिक ऐश्वर्य की चरम सीमा को स्पर्श कर, उसके उपभोग में भी एक गम्भीर रिक्तता का अनुभव कर, उनसे मुक्त हो क्रान्तिपुरुष के रूप में उभरे और धार्मिक जड़ता, अन्ध-श्रद्धा, जाति एवं वर्गभेद तथा सामाजिक वैषम्य की सीमाओं को तोड़कर आत्म-विजेता बने। उन्होंने अपने युग में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, बौद्धिक, एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में नव-क्रान्ति का सूत्रपात किया। वे सौंसारिक युद्धों से विमुक्त रहकर, आत्मिक संग्राम में विजयी हो "जिन" अर्थात् विजेता कहलाए।

यही नहीं उन्होंने अपने व्यापक एवं सर्वाङ्गीण दर्शन द्वारा भावी चिन्तन का मार्ग प्रशस्त कर सकने योग्य मौलिक एवं सुदृढ़ आधारों की स्थापना की। यदि हम आज बीसवीं सदी में मानव चिन्तन को प्रभावित करनेवाली प्रमुखतम विचारधाराओं, समाजवाद और गाँधीवाद के मूल में झाँकें तो पाएँगे कि जिन आधारों पर इन दो प्रमुख विचारधाराओं का विकास हुआ, उनकी परिकल्पना तीर्थंकर महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही की थी।

बीसवीं सदी के क्रान्तिकारी विचारक तथा वर्तमान समाजवादी विचारधारा के प्रेरक तथा उन्नायक कार्ल मार्क्स के दर्शन के मूलाधार वर्गसंघर्ष, तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की परिकल्पना तीर्थंकर महावीर के जीवन-दर्शन में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। उन्होंने संग्रह वृत्ति का विरोधकर आवश्यकतानुसार संग्रह पर बल दिया और अपरिग्रह दर्शन की स्थापना की। उन्होंने कहा कि

प्रत्येक व्यक्ति अपने पास आवश्यक सम्पत्ति या परिग्रह रखने का परिमाण करे और शेष सम्पत्ति दूसरों के हित में दे डाले। आवश्यकता और परिमाण से अधिक सम्पत्ति रखने को उन्होंने पाप निरूपित किया।

जिस प्रकार बीज की निष्पत्ति 'पेड़' है, और पेड़ की निष्पत्ति फल उसी प्रकार दर्शन की निष्पत्ति धर्म है और धर्म की निष्पत्ति नैतिकता पूर्ण व्यवहार; इसी को बाहर से देखने पर नैतिक-व्यवहार से धर्म और धर्म से दर्शन की निष्पत्ति प्रतीत होती है। इस परिप्रेक्ष्य में तीर्थंकर महावीर का दर्शन अन्तर से बाहर की ओर अग्रसर होता है। उन्होंने सम्यक धर्म, दर्शन एवं चरित्र पर बल दिया। जिसका दृष्टिकोण सम्यक है, वह ब्रती होगा। ऐसा ब्रती अहिंसक रहेगा और अपने आश्रितों एवं कर्मकारों के प्रति सद्-व्यवहार करेगा तथा उनकी आजीविका अर्जन में विघ्न नहीं डालेगा। वह सत्य व्रत का पालन करेगा और विश्वासघात नहीं करेगा, छलपूर्ण व्यवहार, बिलासिता, पूर्ण सामग्री से विमुक्त रहकर जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति योग्य ही संग्रह कर नैतिकता-पूर्ण जीवन व्यतीत करेगा। उन्होंने जाति, वर्ण एवं वर्गभेद का तीव्र विरोधकर उसे ईश्वर प्रदत्त व्यवस्था कहनेवाली धारणाओं का खण्डन किया तथा इसे मनुष्य-जन्य काल्पनिक एवं भेदपूर्ण व्यवस्था कहा। यही नहीं, वरन् उन्होंने तत्कालीन समाज में पूर्व प्रचलित सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं के विरुद्ध जन-जागरण किया।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर का दर्शन अहिंसक परिवेश में समाजवादी व्यवस्था के उन सभी मूलाधारों को सँजोये हुए है, जिन पर आज का समाजवादी दर्शन टिका है। मार्क्स ने जो बाद में कहा, उसे उन्होंने बहुत पहले देखा। उन्होंने अपरिग्रहवाद की स्थापना कर श्रावक के परिग्रह की मर्यादा निश्चित की तथा अपरिग्रह के रूप में किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व को भी त्यागने तथा श्वानुशासन का पालन कर मर्यादा के

अनुरूप समान वितरण, आचार-विचार में समन्वय और स्वेच्छिक अनुशासन पर बल दिया तथा श्रम भाव की प्रतिष्ठा की। स्वयं उनके जीवन में इन्द्र द्वारा अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करने पर उन्होंने उसे अस्वीकार कर कहा कि मैं अपने श्रम, बल एवं पुरुषार्थ से ही सिद्धि प्राप्त करूँगा, किसी अन्य का सहयोग प्राप्त करके नहीं। उन्होंने कहा कि श्रम कभी निष्फल नहीं जाता। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीर श्रमण कहलाए और उनकी परम्परा को श्रमण संस्कृति का नाम निरूपित किया गया।

भारतीय दर्शन पर तो तीर्थंकर महावीर द्वारा स्थापित मानदण्डों का तीव्र प्रभाव पड़ा, और उसमें अहिंसक प्रवृत्तियाँ तीव्रता से प्रतिष्ठित हुईं। बीसवीं सदी में महात्मा गाँधी के रूप में जिन भारतीय विचारक ने अहिंसक स्वतन्त्रता संग्राम की सफलता से, अणु आयुधों की कगार पर बैठी मानव सभ्यता को नया मानवतावादी जीवन सन्देश दे सम्पूर्ण विश्व को चौंका दिया, उनके मूल प्रेरणा स्रोतों में गाँधीजी के स्वयं के अनुसार तीर्थंकर महावीर का मानवतावादी दर्शन प्रमुख था।

सर्वाङ्गीण प्रतिभा के धनी वर्द्धमान महावीर ने कठोर साधना के द्वारा जहाँ त्याग और तपस्या के अन्त में उच्चतम मानदण्डों की स्थापना की वहाँ उनके मानवतावादी दर्शन ने मानव चिन्तन को एक नई दिशा दी। अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिये उन्होंने तत्कालीन समाज में, सुदूर क्षेत्रों की पदयात्रा कर लोकभाषा में अपने मानव धर्म का प्रचार किया और कठोर साधना के पश्चात् ज्ञान का जो विपुल भण्डार अर्जित किया था उसे जन-सामान्य में बिखेर दिया। हजारों-लाखों नर-नारी उनके मतानुसार दीक्षित हो गए।

आज से पच्चीस सौ वर्षों पूर्व निर्वाण को प्राप्त होने के पश्चात् तीर्थंकर महावीर ने जो परम्परा छोड़ी

उसने उनके मानवदर्शन का और व्यापक प्रचार कर, विशेषकर अहिंसा दर्शन के उच्चतम शिखरों की स्थापना के माध्यम से मानव जाति की महान् सेवा की है। उनकी परम्परा ने जहाँ, तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का व्यापक प्रचार किया, वहाँ शैक्षणिक एवं साहित्यिक दृष्टि से उनके सिद्धान्तों की व्याख्या कर तथा उन्हें लोकभाषाओं में लिपिबद्ध कर जैन वाङ्मय को इतना अधिक सम्पन्न बना दिया कि ज्ञान की कोई भी विधा, इनसे अछूती न रही। प्रायः सभी प्रचलित एवं लुप्त भारतीय भाषाओं में आज जो भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध है उसका एक बड़ा भाग जैन वाङ्मय से सम्बन्धित है।

मानव सभ्यता के उदयकाल से ही मानवतावादी चिन्तन में संलग्न गौरवमयी भारतीय सभ्यता ने जहाँ अनेकों उच्च आदर्शों एवं मानदण्डों की स्थापना एवं उत्कृष्ट कला तथा साहित्य की रचना की वहाँ दुर्भाग्य-वश इस देश में इतिहास लिखने और प्राचीन स्मारकों, कलात्मक प्रतीकों एवं ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियों की सुरक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस देश की प्राचीन सभ्यता की प्रतीक बहुत-सी पुरातत्त्विक सम्पदा और प्राचीन साहित्य, सुरक्षा के अभाव में नष्ट हो गयी, बहुत कुछ विदेशी शासकों द्वारा नष्ट कर दी गयी, तथा कुछ उनके साथ विदेश चली गई।

प्रसन्नता की बात है कि स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त इस दिशा में कुछ प्रयास प्रारम्भ हुए हैं। पुरातत्त्विक सम्पदा की सुरक्षा और पुरातत्त्व तथा साहित्यिक क्षेत्र में शोध-कार्य की दिशा में भी प्रयास प्रारम्भ हुए हैं, तथापि, इस देश की महान सभ्यता, विपुल पुरातत्त्विक सम्पदा तथा विशाल वाङ्मय को दृष्टिगत रखते हुए यह प्रयास अक्षुण्य ही है, इसमें तीव्रता लाने, प्राचीन ग्रन्थों के पुनर्मुद्रण तथा उन पर शोध-कार्य को सम्पादित करने की नितान्त आवश्यकता है।

जीवाजी विश्वविद्यालय ने अपने सीमित साधनों के अनुरूप इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किये हैं।

इनकी एक कड़ी के रूप में मध्यप्रदेश शासन द्वारा गठित महावीर निर्वाण महोत्सव समिति के आर्थिक सहयोग से इस विश्वविद्यालय द्वारा 6 से 10 नवम्बर 1975 तक भगवान महावीर के 2500 वें महापरिनिर्वाण के अवसर पर एक व्याख्यानमाला आयोजित कर एक लघु प्रयास किया था, जिसमें अनेकों राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों के व्याख्यान आयोजित किये गये।

व्याख्यानमाला की सफलता से प्रभावित होकर जब समिति ने इस व्याख्यानमाला में हुए व्याख्यानों तथा पठित शोधपत्रों के प्रकाशन की योजना निर्मित की तब यह कार्य काफी कठिन प्रतीत होता था, तथापि विश्वविद्यालय ने इस प्रयास को आगे बढ़ाते हुए इन व्याख्यानों को प्रकाशित करने का निश्चय किया। साथ ही यह भी निश्चय किया कि इसमें इन व्याख्यानों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर, जिन पर किन्हीं कारणों से व्याख्यान आयोजित नहीं हो सके थे, राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों तथा प्रतिष्ठित लेखकों आदि से शोधपत्र एवं निबन्ध प्राप्त कर, उनको भी सम्मिलित कर एक ऐसे स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जावे जिसमें विविध क्षेत्रों में तीर्थंकर महावीर एवं जैन संस्कृति की देन एवं उपलब्धियों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों पर शोधपत्रों का संकलन हो।

मुझे प्रसन्नता है कि विश्वविद्यालय की यह कल्पना आज साकार हो रही है। ग्रन्थ के सम्पादन, सामग्री संकलन एवं प्रस्तुतीकरण में बहुत अध्ययन और चिन्तन से काम लिया गया है, जिसका प्रमाण इसके प्रत्येक पृष्ठ पर मिलता है। सम्पादक ने ग्रन्थ को व्यापक तथा सर्वाङ्गीण स्वरूप प्रदान करने में कुशल बृद्धि का परिचय दिया है। इस हेतु इस ग्रन्थ के सम्पादक और जीवाजी विश्वविद्यालय की महासभा के सदस्य श्री रवीन्द्र मालव बधाई के पात्र हैं, जिनकी तीव्र लगन एवं कर्तव्यनिष्ठा तथा अथक परिश्रम एवं सहयोग से विश्वविद्यालय अपने इन प्रयासों को मूर्त रूप प्रदान कर सका। विश्वविद्यालय के इस प्रयास को गतिशील बनाने के मूल में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। मुझे इस बात की भी प्रसन्नता है कि विश्वविद्यालय के विकास एवं प्रकाशन विभाग ने भी इस कार्य में पूर्ण हृत्ति लेकर ग्रन्थ के प्रकाशन में सक्रिय सहयोग दिया।

जिस कल्पना को लेकर इस स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का विचार निर्मित हुआ था, यह ग्रन्थ उससे भी कहीं उत्तम स्वरूप में प्रकाशित हो रहा है यह अत्याधिक हर्ष का विषय है। मेरा विश्वास है कि इसमें प्रकाशित सामग्री से जैन दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति के अनेकों अज्ञात तथ्य उजागर होंगे, साथ-ही-साथ यह ग्रन्थ शोध छात्रों एवं प्रबुद्ध पाठकों के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगा।

अनन्त चतुर्दशी
वीर निर्वाण सं० 2503
26 सितम्बर 1977

गोविन्द नारायण टण्डन
कुलपति



पूर्वा

भारत की पावन भूमि पर आज से दो हजार पाँच सौ तिहत्तर वर्ष पूर्व जन्मे तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, भारतीय जनमानस के ही नहीं, सम्पूर्ण मानव समाज के लिये, गौरव, प्रतिष्ठा और सम्मान के परमाधिकारी महामानव थे। उनके परमोदात्त चरित्र और पवित्र उपदेशों ने भारतीय परम्परा को गौरवान्वित किया। उनकी तपो:निष्ठा (तप-तितीक्षा), आत्म विजय, व्यापक मैत्री भावना और निर्वाण प्राप्ति ने प्राणीमात्र को आलोकित किया।

हिंसा, बलि, पाखंड, बैर घृणा और विषमता के युग में जन्मे वर्द्धमान ने वैचारिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति के माध्यम से तत्कालीन मानव समाज को अहिंसा और सह-अस्तित्व पर आधारित नवीन जीवन-दर्शन प्रदान कर तत्कालीन समाज-व्यवस्था को शकशील दिया। उनके उपदेशों ने युगप्रवाह को बदल-कर नवीन युगप्रवर्तन किया जिसके कारण तत्कालीन समाज का एक बहुत बड़ा भाग उनके मानवता,

भ्रातृत्व, दया, प्रेम और आत्म-कल्याण के सन्देश से प्रभावित हुआ, और एक नवीन समाज की रचना सम्भव हुई।

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के ढाई हजार वर्ष पश्चात्, आज भी जब हम उनके जीवन और दर्शन पर दृष्टिपात करते हैं, तो आज भी हमें उसमें आशा और विश्वास की वैसी ही किरण परिलक्षित होती है, जो उनके समकालीन मानव समाज को उनसे प्राप्त हुई होगी। अणु आयुधों के कगार पर बैठी तथा पारस्परिक बैर और वैमनस्य से विचलित विश्व मानवता आज भी तीर्थंकर महावीर के अहिंसा दर्शन से अहिंसा और विश्वशान्ति पर आधारित मानवतावादी समाज की रचना की सुमति प्राप्त कर सकती है। उनका दर्शन आज भी मानवमात्र की हित-साधना में उतना ही सक्षम है।

तीर्थंकर महावीर ने कहा था कि सच्ची वीरता अपने पर विजय प्राप्त करने में है, किसी अन्य पर विजय प्राप्त करने में नहीं। विजयी वही होता है, जो आत्म विजय करता है। उन्होंने अपने जीवन में समाज दर्शन को एक नवीन दिशा ही नहीं दी, वरन् जो कुछ कहा उसकी सार्थकता भी सिद्ध की। एक क्षत्रिय राज परिवार में जन्मे वर्द्धमान ने अपने त्याग, तप और साधना के माध्यम से स्वयं पर विजय प्राप्त की। राग-द्वेष को नष्ट कर वे आत्मविजेता बने और “जिन” अर्थात् स्वयं को जीतनेवाले कहलाए। उन्होंने अपने आत्मज्ञान से जो कुछ अर्जित किया, वह सब में बराबर बाँट दिया। उनके पंचव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; समस्त मानव समाज के लिये उपयोगी हैं। उन्होंने जो कुछ भी विचारा और अनुभव किया, उसकी सत्यता का स्वयं पर परीक्षण किया। परीक्षण में जो खरा उतरा उसे अर्जित किया। समस्या उत्पन्न हुई तो समस्या निदान हेतु प्रयोग शाला के रूप में तप किया। उनका सम्पूर्ण जीवन

सर्वतोमुखी था। कैवल्य प्राप्ति होते ही वे अपने आप को एकान्त से हटाकर समाज में ले आए। वे बैठे नहीं, निरन्तर चलते ही गए। उन्होंने जो कुछ भी अर्जित किया सब में बाँट दिया। यही नहीं, उन्होंने ग्रहण करनेवालों से भी दो टूक बात कही, कि—“जो कुछ भी मैं कहता हूँ, उसे ही प्रमाण रूप या आज्ञा से मान्य तब तक न करो, जब तक तुम्हें स्वयं आभास या ज्ञान न हो जाय कि यह सत्य है।” उनका यह विशाल दृष्टिकोण उनके चिन्तन की व्यापकता और वैज्ञानिकता को सिद्ध करता है।

ईश्वरवाद और अवतारवाद की पूर्वमान्य धारणाओं की लीक से हटकर उन्होंने आज्ञा प्रधान के स्थान पर परीक्षा या विवेक प्रधान दर्शन प्रदान किया; और जातिवाद, वर्णभेद, विषमता, व धर्म, के नाम पर हिंसा का खण्डन किया तथा दलितों एवं पीड़ितों के प्रति उदारता का सन्देश दिया। आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर पर पहुँचकर वर्द्धमान महावीर ने आत्मविजय की सहायता से, तैरकर सांसारिक सागर के पार करने, का सन्देश देकर “नवीन धर्म तीर्थ” अर्थात् “तैराकर पार उतारनेवाले धर्म” की स्थापना की। इसी कारण वर्द्धमान महावीर; तीर्थंकर, अर्थात् तीर्थ की स्थापना करने वाले कहलाए।

नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना कर तीर्थंकर महावीर ने धर्मतीर्थ की स्थापना के साथ-साथ वैचारिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति को जन्म दिया और इनके मूलभूत सामाजिक मूल्य के रूप में उन्होंने अहिंसा, अपरिग्रह, तथा अनेकान्त और स्याद्वाद को ग्रहण किया। इनमें अहिंसा दर्शन तीर्थंकर महावीर के जीवन-दर्शन की आत्मा; अपरिग्रह हाथ-पैर; अनेकान्त मस्तिष्क एवं नेत्र; तथा स्याद्वाद मुख हैं।

अहिंसा के बिना उनका दर्शन एक क्षण भी खड़ा नहीं रह सकता। अहिंसा मानव जाति को उनकी अमूल्य देन है; जिस पर उन्होंने सब से अधिक बल

दया । महावीर की अहिंसा जीवात्माओं की सत्ता और स्वाधीनता की स्वीकाराती है । वस्तुतः यह बोध अप्रमत्त अथवा निरन्तर जागरूक अवस्था के ऊपर निर्भर करता है । जिस अंश में हृदय एवं मस्तिष्क की जागरूकता उत्पन्न होती है, उसी अनुपात में जीवात्माओं की सत्ता और स्वाधीनता का बोध भी उत्पन्न होता जाता है । इस पावन उन्नति का चरमोत्कर्ष ही अहिंसा है । तीर्थंकर महावीर ने प्रत्येक क्षेत्र में इसकी महत्ता को मानते हुए “अहिंसा परमोधर्मः” का दर्शन दिया । उनकी अहिंसा सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक है, जिसकी सार्थकता इस युग में अहिंसा दर्शन के कटुर अनुयायी महात्मा गांधी द्वारा सिद्ध की जा चुकी है । महावीर की अहिंसा, हिंसा से विरत रहने का ही नाम नहीं है, वरन् उसमें, मन में भी हिंसक विचार न लाने का संकल्प निहित है । महावीर ने वैचारिक हिंसा को भी जीव हिंसा के समान ही दूषित माना । उनकी अहिंसा में प्रेम, और सह-अस्तित्व भी समाहित है । उनका “जिओ और जीने दो” का सन्देश इसकी पुष्टि करता है ।

आचार्य उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र में महावीर की उक्ति “परस्परोग्रहो जीवानाम्” की चर्चा की है, जिससे तात्पर्य है कि “समस्त जीवों का परस्पर उपकार हो ।” इसमें भ्रातृत्व का अभूतपूर्व सन्देश है, सम्भवतः इसी कारण पच्चीसवीं वे निर्वाण महोत्सव हेतु निर्धारित प्रतीक के साथ ध्येय वाक्य के रूप में इसी उक्ति का चयन किया गया है । यह सन्देश सह-अस्तित्व का सन्देश है । महावीर की अहिंसा और सह-अस्तित्व एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । सह-अस्तित्व सामाजिक जीवन की धुरी है तो अहिंसा मानव जीवन की । इस प्रकार महावीर की अहिंसा अपने में अत्यन्त व्यापक अर्थ समेटे हुए है । इसी कारण कहा है—

तेसि अच्छण जो एव, निच्च होय द्ययं सिया ।

मणसा कायवक्केण, एवं हवहू संजय ॥

अर्थात्—“मन वचन और काया, इनमें से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है, और ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है ।” इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने मन, वचन और काय तीनों के द्वारा हिंसा, या उसकी कल्पना, सभी को हिंसा कहा । वे स्वयं सदैव अहिंसा के इस कटुरतम स्वरूप के पालक रहे ।

स्वयं तीर्थंकर महावीर सारे जीवन मानवता-वादी समाज-रचना तथा विश्वशान्ति की खोज में लगे रहे । उन्होंने इसके मूल में मुख्य कारक के रूप में असमानता को पाया । असमानता से पीड़ित मानव समाज से बर्द्धमान की आत्मा कुंठित हो उठी । जीवन के आर्थिक पक्ष पर भी उनके पावन सन्देश मुखरित हुए । उन्होंने ममत्व को कम कर अनावश्यक संग्रह न करने का सन्देश दिया और कहा कि संसार में झूठ, चोरी, अन्याय, हिंसा, छल, कपट आदि जो पाप होते हैं, उनके मूल में व्यक्ति की परिग्रह बढ़ाने की भावना है । अतः मूलभूत रूप से इन सारे पापों से मुक्ति का एक ही मार्ग है “अपरिग्रह”; अर्थात् - परिग्रह का त्याग । इस दृष्टि से अपरिग्रह-परिग्रह का नकारात्मक पक्ष है । सांसारिक वस्तुओं एवं सम्बन्धों के प्रति आसक्ति से व्यक्ति (जीवात्मा) जितने अंशों में मुक्त होता जाता है, उतने अंश में ही अपरिग्रह भाव विकसित हो जाता है । यह विकास प्रारम्भिकी स्तर अनुव्रत से, उच्चतम स्तर महाव्रत तक होता है । इसलिये उन्होंने साधुओं को अपरिग्रह तथा श्रावकों को परिग्रह परिमाण व्रत के पालन की शिक्षा दी । जैन धर्म का अपरिग्रह दर्शन जिसकी तीर्थंकर महावीर ने विस्तृत व्याख्या की है, मानव जाति को उनकी अपूर्व और अनूठी देन है । आज विश्व में जिस साम्यवादी और समाजवादी विचार-धारा की धूम मची है, उसमें क्रांति और कानून के माध्यम से समाजवाद लाने की बात है । महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही अनादि, जैन दर्शन की

सर्वप्रथम, विस्तृत एवं सूक्ष्मतम व्याख्या कर मानवमात्र से, अपरिग्रह व्रत को ग्रहण कर, समाज की इकाई के माध्यम से समाजवादी समाज रचना की दिशा दी। इस दृष्टि से वे उग्र समाजवादी विचारधारा के जनक थे। उनके द्वारा जीवन के आर्थिक पक्ष के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया, वह वर्तमान समाजवादी विचारधारा से भी अधिक उग्र और प्रगतिशील था। अन्तर केवल इतना ही है कि उनका यह दर्शन अहिंसात्मक आधार पर खड़ा है, जबकि समाजवाद की वर्तमान विचारधाराओं में अहिंसा को या तो कोई स्थान दिया ही नहीं गया, या दिया भी गया है, तो अत्यन्त गौण। इस प्रकार तीर्थंकर महावीर का आर्थिक दर्शन अहिंसक साम्यवाद का उन्नायक है।

तीर्थंकर महावीर सर्व धर्म समभाव में विश्वास करते थे। इसकी पुष्टि उनके अनेकान्त दर्शन से होती है, जिसका तात्पर्य; बोध में विभिन्न दृष्टियों के समन्वय से है। दर्शन के इस वैचारिक पक्ष के साथ उन्होंने वाणी के द्वारा उन दृष्टिकोणों की समन्वित अभिव्यक्ति के रूप में, स्याद्वाद दर्शन प्रतिपादित किया।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने प्राणीमात्र के कल्याणार्थ एक सम्पूर्ण एवं सार्थक जीवन-दर्शन प्रदान किया जो सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक है। तीर्थंकर महावीर के दर्शन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि—“व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक न्याय दोनों की मानव कल्याण के लिये जरूरत है। हम किसी एक की तरफदारी या दूसरे की अवहेलना कर सकते हैं, लेकिन जो जैनमत के अनुसार अनेकान्त, सप्तभंगी भय या स्याद्वाद का आचरण करता है, उसमें सांस्कृतिक आग्रह का अभाव होगा, उसमें सद्बिवेक बुद्धि होगी तथा वह विरोधी दृष्टिकोण में भी समन्वय खोजने की कोशिश करेगा। ऐसे दृष्टिकोण को हमें अपनाना चाहिये। हम भगवान महावीर के चरित्र से संयम, अहिंसा की साधना, परमत सहिष्णुता आदि कुछ शिक्षा सीख सकते हैं।”

तीर्थंकर महावीर ने अपने जीवन-दर्शन के क्रियात्मक सूत्र के रूप में “सम्पक दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः” का विचार देकर रत्नत्रय धर्म की प्रतिपादना की। उन्होंने इस सूत्र के माध्यम से ईश्वरवाद एवं अवतारवाद तथा कर्म और मोक्ष के सम्बन्ध में पूर्व प्रचलित धारणाओं का दार्शनिक विवेचन कर, खण्डन किया। उन्होंने आदर्श दर्शन, आदर्श ज्ञान एवं आदर्श चरित्र को ही मोक्षप्राप्ति का मार्ग कहा। कर्मविज्ञान के सम्बन्ध में भी नवीन एवं वैज्ञानिक विचार देते हुए उन्होंने कहा कि कोई भी मनुष्य अपने कर्मों का स्वयं ही बन्ध है, अशुभ कर्मों के बन्ध से मुक्ति और शुभ कर्मों के क्रियामवयन के द्वारा ही वह कर्मबन्ध से छुटकारा पाकर अपना आत्म-कल्याण करते हुए मोक्ष को प्राप्त हो सकता है। उन्होंने भाग्यवाद की धारणा का खण्डन करते हुए कहा कि मनुष्य स्वयं ही अपने कर्मों का संचालक है। कोई अन्य शक्ति उसका न तो निर्धारण ही करती है, न उसके अशुभ कार्यों से उसे मुक्ति दिला सकती है। मनुष्य स्वयं के कृत्यों से ही अपनी आत्मा को शुद्ध बना सकता है। “शुद्ध आत्मा से परमात्मा” की उक्ति उनके इस दर्शन का मूल मन्त्र है।

इस प्रकार आत्मविजेता तीर्थंकर महावीर जन-जन के शिक्षक बन गए। उन्होंने पूर्व धारणाओं एवं परम्पराओं को तोड़, लोकभाषा में अपने उपदेश दिये। इस सम्बन्ध में शून्निग ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि—“तीर्थंकर महावीर शिक्षक के नाते बड़े ही सफल रहे और उनकी विवेचन शैली अवैयक्तिक रही। अवैयक्तिक तथा कठोर रहना शायद उनके स्वभाव की विशेषता थी।” उनकी समाओं में राजा से रंक तक, ब्राह्मण से शूद्र तक तथा धनिकों से दीनों तक सभी वर्गों और वर्णों के, नर-नारी ही नहीं, पशु-पक्षी और अन्य जीव भी, उनके द्वारा मुखरित वाणी को ग्रहण करते थे। जो भी उनके सम्पर्क में आया, उनका हो गया।

तीर्थंकर जहाँ जिन कहलाते थे वहाँ इनके अनुयायी जैन, और इनका दर्शन एवं संस्कृति जैन दर्शन एवं जैन संस्कृति कहलाए। इस प्रकार जैन से तात्पर्य है कि जो जिन धर्म में अर्थात् स्वयं को विजय करने में विश्वास करे अर्थात् आत्मविजेता बनने का प्रयास करे। सन् 1897 में एक कन्वेंशन लैंक्चर में एनी बेसेण्ट ने जैन धर्म का सार स्पष्ट कर कहा था कि—“जैन धर्म का वातावरण एक वचन में ग्रहित किया जा सकता है। यह वचन हमें सूत्रकृतांग में मिलता है कि मानव किसी जीव को दुःख न पहुँचाकर निर्वाण की शान्ति प्राप्त करता है। यह एक वचन है जो जैन दर्शन का सारा दर्शन साथ में लिये हुए है। शान्ति: मानव, मानव में शान्ति, मानव और पशुओं में शान्ति, सब जगह और सब वस्तुओं में शान्ति; सब जीवों में पूर्ण बन्धुता जैन धर्म का ऐसा ही आदर्श है और इस आदर्श को हर जैन, संसार में मूर्त स्वरूप में लाने की कोशिश करता है।”

तीर्थंकर महावीर का यह जीवन-दर्शन अपने वैज्ञानिक स्वरूप और तार्किकता के कारण उस काल के प्रमुख चिन्तकों और बुद्धिजीवियों के बहुत बड़े भाग को भी अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ। उनके पश्चात् तीर्थंकरों के विचार एवं दर्शन को उनके अनुयायी जैन धर्मावलम्बियों ने लिपिबद्ध किया, उसकी विस्तृत व्याख्याएँ कीं तथा उन पर टीकाएँ लिखी गईं। उनकी स्मृति को चिरस्थायी स्वरूप प्रदान करने के लिये उनकी विशाल प्रतिमाओं का निर्माण एवं चित्रों का अंकन प्रारम्भ हुआ। शनैः-शनैः मन्दिर और मठ भी निर्मित होने लगे।

जैन धर्म की अहिंसा ने जहाँ मानव हृदय को मार्दव प्रदान किया, वहाँ जैन धर्म की प्रेरणा ने भारतीय शिल्प को, पत्थर को मोम बना देने की अद्भुत क्षमता दी—जैन स्थापत्य इसका स्पष्ट प्रमाण है। जैन वाङ्मय जैन शिल्प से भी अधिक सम्पन्न है। अर्द्धमागधी,

अपभ्रंश, संस्कृत तथा मध्ययुगीन और अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं में जैन धर्म का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। सम्भवतः ज्ञान का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो जैन वाङ्मय से अछूता हो। अनेक भाषाओं में तो यह इतना सम्पन्न है, कि यदि इसे पृथक् कर दिया जाय तो उसकी आत्मा ही नष्ट हो जाएगी। इस दृष्टि से जैन वाङ्मय भारत का सम्पन्नतम वाङ्मय है।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर के जीवन-दर्शन ने जहाँ—मानवता को नया प्रकाश दिया वहाँ जैन वाङ्मय ने साहित्य को प्रचुर मात्रा में ज्ञान का भण्डार प्रदान किया। जैन संस्कृति और सभ्यता ने भी अहिंसा के व्यापक प्रचार और विश्वशान्ति एवं मानवता की दिशा में किये गए प्रयासों द्वारा मानव समाज की उत्तनी ही सेवा की है। विश्व इतिहास में जैनों द्वारा साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने या धर्म के नाम पर किसी भी प्रकार के हिंसात्मक कृत्यों के सम्पादन का रंज मात्र भी उदाहरण, आज तक, उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से भी जैन संस्कृति गौरवशाली एवं अद्वितीय है। तथापि तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के ढाई हजार वर्ष पश्चात् हम यदि सम्पूर्ण जैन संस्कृति का पुनर्मूल्यांकन करें तो पाएँगे कि इस बीच जहाँ—एक ओर जैन धर्मावलम्बियों ने जैन संस्कृति एवं जैन वाङ्मय का परिवर्द्धन, विकास एवं संरक्षण कर मानव जाति की बड़ी महत्वपूर्ण सेवा की है; वहाँ—दूसरी ओर इस बीच विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव तथा समयानुकूल परिस्थितियों के कारण अपने को महावीर का अनुयायी कहनेवाले जैनों में भी उनके द्वारा प्रदर्शित जीवन-पद्धति का स्वरूप कुछ विकृत हो गया है। अपने वस्त्रों, आभूषणों और राजपाट आदि सभी परिग्रहों का त्यागकर पूर्ण अपरिग्रह को प्राप्त तीर्थंकर महावीर की मूल्यवान पत्थरों व घातुओं की प्रतिमाओं तथा मन्दिरों के निर्माण पर अधिक बल दिया जाने लगा है। तीर्थंकर महावीर ने जहाँ अहिंसा के वैचारिक एवं आचारिक पक्ष पर बल देते हुए प्राणी मात्र के प्रति दया, भ्रातृत्व एवं प्रेम पर अधिक बल दिया

यिा वहां वर्तमान में सामान्य जैन धर्मावलम्बियों के मध्य अहिंसा का तात्पर्य अब खानपान में जीवों की हिंसा न करने मात्र से समझा जाने लगा है। इस प्रकार उनके मध्य अहिंसा का स्वरूप रसोईघर तक ही सिमटकर रह गया है। अपरिग्रह उनके मध्य मात्र दर्शनशास्त्र एवं व्याख्यानों का तत्व बनता जा रहा है। परिग्रह, लोभ, क्रोध, माया, मोह, द्वेष व घृणा पर आधारित कर्मों में संलग्न व्यक्ति भी खानपान में हिंसा से विरत रहने के आधार मात्र पर अपने को पूर्ण अहिंसक मानकर महावीर के कट्टर अनुयायी होने का दम भरते हैं और यह अपेक्षा करते हैं कि इसके पालन मात्र के समक्ष उनके अन्य सभी दोष क्षम्य हैं।

यह भी दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जायगा कि आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर के जिस जीवन-दर्शन ने ईश्वरवाद एवं अवतारवाद की धारणा के खण्डन और अपने वैज्ञानिक कर्म दर्शन के कारण, जन-सामान्य में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी, वह अब जैनेतर व्यक्तियों में अपने प्रसार के अभाव में पूर्वानुरूप लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर पा रहा है। “मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान है” का दर्शन देने वाले तीर्थंकर महावीर के अनुयायी, जन्म के आधार पर जैन लिखने और कहने में संलग्न हो गए हैं। जिन दोषों और कुरीतियों के विरुद्ध तीर्थंकर महावीर ने सामाजिक क्रान्ति की प्रतिपादना की, उनमें से बहुत-सों की कालिमा ने जैन दर्शन और संस्कृति के मूल स्वरूप के एक बड़े भाग को, प्रभावित कर जैन धर्मावलम्बियों में प्रचलित वर्तमान आचरण पद्धति एवं मान्यताओं को दूषित कर संकुचित कर दिया है।

आज यह नितान्त आवश्यक है कि पच्चीस सौ वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर ने मानवमात्र के कल्याणार्थ जो दर्शन दिया तथा तत्कालीन समाज में प्रचलित दुर्व्यवस्थाओं एवं मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष कर जिस सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया उसके वास्तविक

स्वरूप को पुनः अधिकाधिक उजागर कर उसे जन-सामान्य में प्रचलित किया जाकर मानव मात्र के कल्याणार्थ एवं स्थायी विश्वशान्ति के प्रयोजनार्थ ब्रह्मास्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जावे।

सम्भवतः इस विचार ने देश के बुद्धिजीवियों के एक बड़े वर्ग को प्रभावित किया, और यही कारण है कि तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पच्चीससौ वें वर्ष को उपयुक्त अवसर मानकर इस दिशा में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से प्रयास स्वरूप विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन एवं योजनाओं का प्रारम्भ किया गया। अनेकों प्राचीन एवं दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन, जैन धर्म, दर्शन व संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर शोध कार्य, संगोष्ठियों, व्याख्यान मालाओं का प्रकाशन तथा इस दिशा में स्थायी रूप से तथा द्रुतगति से कार्य, पच्चीस सौ वें निर्वाण महोत्सव वर्ष की महत्वपूर्ण उपलब्धियां ही कही जावेंगी।

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा 6 नवम्बर 1975 से 10 नवम्बर 1975 तक आयोजित पांच दिवसीय व्याख्यानमाला, इस वर्ष के विभिन्न कार्यक्रमों की शृंखला में एक कड़ी ही कही जाएगी, जिसमें विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों पर देश के कुछ दूने हुए विद्वानों के शोधपूर्ण व्याख्यान आयोजित हुए। अन्य कई विषयों पर व्याख्यान साधनों तथा समय के अभाव में उस समय चाहकर भी आयोजित न हो सके परन्तु इस सम्बन्ध में विशिष्ट सामग्री किस प्रकार प्रकाश में लायी जाए और व्याख्यानमाला में हुए व्याख्यानों को लिपिवद्ध कर उनके प्रकाशन के द्वारा उन्हें किस प्रकार स्थायी स्वरूप प्रदान किया जा सके, यह विचार निरन्तर ही मन को कचोटता रहा। व्याख्यानमाला हेतु प्रदेश शासन से प्राप्त अनुदान का अल्पांश ही शेष था, और उसके सदुपयोग की समस्या भी बनी हुई थी। परन्तु इस अत्यल्प राशि से व्याख्यानमाला में हुए दस व्याख्यानों का प्रकाशन भी सम्भव न था। इन सब परिस्थितियों में

जब विज्ञापनों से कुछ धनराशि प्राप्त कर, विभिन्न विषयों पर देशभर के मूर्धन्य विद्वानों तथा प्रतिष्ठित लेखकों से कुछ चुने हुए विषयों पर अप्रकाशित शोध-पत्रों एवं निबन्धों के एक संग्राह्य संग्रह प्रकाशित करने का विचार जागृत हुआ, तो उसका क्रियान्वयन अत्याधिक दुष्कर प्रतीत होता था, तथापि एक पवित्र कार्य मानकर, प्रत्येक दशा में इस कल्पना को साकार बनाने का निश्चय कर लिया और इस योजना की प्रारम्भिक रूपरेखा बनाकर दो सौ के लगभग पृष्ठ-संख्या वाली एक स्मारिका प्रकाशित करने का विचार कुलपति जी के सम्मुख प्रस्तुत किया। विश्वविद्यालय के अधिकारियों को आर्थिक साधनों के संग्रहण का कार्य अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हो रहा था, चूँकि विश्वविद्यालय के लिये किसी भी मद से इसके लिये धन व्यय करना सम्भव नहीं था। परन्तु जब कुलपतिजी को यह विश्वास दिलाया कि योजना के लिये सम्पूर्ण साधन जन-सहयोग से जुटाए जाएंगे तो उन्होंने तत्काल स्वीकृति दे दी।

प्रकाशन के निश्चय के साथ ही देश के अनेक गणमान्य विद्वानों एवं लेखकों को इस हेतु शोधपत्र एवं निबन्ध प्रस्तुत करने को निवेदन किया तो अधिकांश ने अत्याधिक समयाभाव के उपरान्त भी मेरे निरन्तर आग्रह को स्वीकार कर योजना को अपना आशीर्वाद दे दिया। प्रकाशनार्थ प्राप्त सभी शोधपत्र और निबन्धों के लिये पूर्व विचारित आकार अपर्याप्त था, परन्तु सभी रचनाएं अप्रकाशित, उच्चस्तरीय तथा महत्वपूर्ण होने के कारण मैं उनमें से किसी के भी अप्रकाशित रहने का दुःसाहस, तथा सभी के सदुपयोग का लोभ संभरण भी नहीं कर सकता था। अतः योजना का विस्तार एवं परिवर्द्धन कर स्मारिका के स्थान पर “महावीर स्मृति ग्रन्थ” के प्रकाशन का निश्चय कर, लिया; परन्तु इसके साथ ही और अधिक साधन जुटाने

की समस्या उत्पन्न हो गयी, किन्तु साध्य की पवित्रता तथा उसे प्राप्ति के प्रति तीव्र निष्ठा के कारण साधन भी सुलभ होते गए। हाँ, इस सब के कारण ग्रन्थ का मुद्रण अवश्य, कई बार स्थगित करना पड़ा, जिस कारण अनेकों सहयोगियों में अधीरता बढ़ने लगी और ऐसा अनुभव होने लगा कि सम्भवतः यह प्रकाशन पूर्ण न हो सके।

मुझे प्रसन्नता है कि दो वर्ष पूर्व आयोजित व्याख्यानमाला के प्रकाशन के रूप में संजीया विचार “महावीर स्मृति ग्रन्थ” के बृहद् रूप में परिणित हो, पूर्ण हो रहा है। इसके क्रियान्वयन में मुझे विभिन्न सहयोगियों से प्राप्त प्रेरणा एवं आशीर्वाद के लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। प्रमुखतः लेखकों का, जिन्होंने मेरे निवेदन को स्वीकार कर ग्रन्थ हेतु नवीन एवं अप्रकाशित शोधपत्र अथवा निबन्ध प्रस्तुत कर इस ग्रन्थ की योजना को मूर्तरूप देने में सक्रिय सहयोग दिया।

मैंने भरसक प्रयास किया है कि उपलब्ध साधनों का अधिकतम दोहन कर ग्रन्थ को अधिकाधिक उपयोगी बनाया जा सके, उसे ऐसा स्वरूप प्रदान किया जा सके जिससे वह दुर्लभ एवं लुप्त ज्ञान भण्डार के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों पर उपादेय एवं स्थायी महत्व की संग्रहणीय तथा शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर सके; साथ ही उन अथवा उन जैसे विषयों पर शोध-कार्य करने हेतु शोधार्थियों को आकर्षित कर सके।

ग्रन्थ अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कितने अंशों में सफल हुआ है, इसका वास्तविक मूल्यांकन तो विज्ञ पाठक एवं समीक्षक-समालोचक ही करेंगे। मैं तो यही कह सकता हूँ कि, मैंने अपने वर्तमान जीवन की महत्वपूर्ण साथ मानकर पूर्ण निष्ठापूर्वक, उपलब्ध साधनों में, ग्रन्थ को अधिकाधिक उपयोगी एवं संग्रहणीय स्वरूप प्रदान करने का यथाशक्ति प्रयास किया है,

तदुपरान्त भी सम्पादन की दृष्टि से यदि कोई त्रुटियां
शेष रह गयी हों, तो उसके लिये मैं सहृदय पाठकों
एवं समीक्षकों से सविनय क्षमाप्रार्थी हूँ ।

अपनी इस साध की पूर्ति के रूप में यह ग्रन्थ
प्रस्तुत करते हुए मुझे जिस अतीव हर्ष का अनुभव हो
रहा है, वह अनिर्वचनीय है ।

तीर्थंकर महावीर जयन्ती

२ अप्रैल १९७७

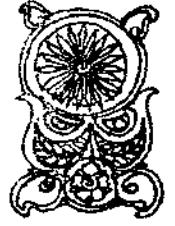
प्रेम शान्ती भवन

फालके बाजार, ग्वालियर-४७४००१



रवीन्द्र मालवीय—सम्पादक

संयोजक—“महावीर स्मृति ग्रन्थ” प्रकाशन समिति
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर



आभार

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण की पच्चीसवीं शती की पूर्ति के अवसर पर विश्वभर में आयोजित कार्यक्रमों की श्रृंखला में व जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला के क्रम में “तीर्थंकर महावीर स्मृति-ग्रन्थ” आपके हाथों में प्रस्तुत है। इस अवसर पर ग्रन्थ के प्रकाशन में विश्वविद्यालय को विभिन्न महानुभावों एवं संस्थानों से प्राप्त सहयोग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।

सर्वप्रथम मैं ग्रन्थ की प्रकाशन समिति के संयोजक एवं ग्रन्थ के सम्पादक तथा विश्वविद्यालय महानसभा के सदस्य श्री रवीन्द्र मालव के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना परम् कर्तव्य समझता हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उनका दृढ़ निष्ठापूर्ण विश्वास एवं कड़ा परिश्रम निहित है। विश्वविद्यालय के इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकाशन में उनसे प्राप्त सक्रिय एवं रचनात्मक सहयोग के लिये विश्वविद्यालय उनका आभारी है।

ग्रन्थ में प्रकाशित विभिन्न सामग्री के लेखकों के प्रति भी विश्वविद्यालय अत्यधिक कृतज्ञ है, जिन्होंने विश्वविद्यालय के निवेदन को स्वीकार कर अपने व्यस्त जीवन में से कुछ बहुमूल्य समय निकालकर ग्रन्थ हेतु

अप्रकाशित शोधपत्र एवं निबन्ध लिखने तथा भेजने की कृपा कर, कृतार्थ किया। उनके कारण ही यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप को ग्रहण कर सका है।

ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु साधन जुटाने में श्री सरदार सिंह जी चौरड़िया का महत्वपूर्ण योगदान है। उनके सहयोग से ही इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ “श्री 2500वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास” से एक हजार रूपयों का आर्थिक अनुदान भी प्राप्त हो सका। विश्वविद्यालय समस्त विज्ञापनदाताओं का भी आभारी है, जिन्होंने आगामी संस्थानों के विज्ञापन उपलब्ध कराकर, ग्रन्थ प्रकाशनार्थ साधन संग्रहण में सहायता की।

ग्रन्थ की साज-सज्जा की दृष्टि से ग्रन्थ का कलेवर तथा वर्तमान स्वरूप सम्पादक श्री रवीन्द्र मालव, सदस्य महासभा एवं विद्या परिषद; प्रो. विश्वमित्र वासवाणी, विभागाध्यक्ष, शासकीय ललित कला महाविद्यालय, तथा मुद्रक-साधना प्रेस के सर्वश्री नारायणसिंह वर्मा एवं लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, तथा उनके सहयोगियों के अथक परिश्रम एवं लगन का ही परिणाम है। विश्वविद्यालय के विकास विभाग में लिपिक श्री भास्कर विश्वनाथ जोशी ने ग्रन्थ के प्रकाशन सम्बन्धी कार्यालयीन दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वहन कर उल्लेखनीय सहयोग दिया है। इसके लिये मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

विश्वविद्यालय, जैन समाज के प्रमुख प्रतिनिधियों सर्वश्री मानिकचन्द्र गंगवाल, निर्मल कुमार जैन, मानिकचन्द्र जैन, मिश्रीलाल पाटनी, रामजीत जैन, ज्ञानचन्द्र जैन, देवेन्द्र कुमार कोठारी, पदमचन्द्र जैन एवं रामचन्द्र जैन आदि महानुभावों का भी आभारी है जिन्होंने व्याख्यानमाला के आयोजन एवं ग्रन्थ के प्रकाशन में उल्लेखनीय सहयोग प्रदान कर कृतार्थ किया। व्याख्यानमाला के आयोजन में वित्त अधिकारी श्री आर. के. पितले, पुस्तकालयाध्यक्ष श्री पी. के. बैनर्जी, विकास विभाग के कार्यालय अधीक्षक श्री एल. एन. शर्मा तथा लिपिक श्री आर. के. गुप्ता; कुलपति के सचिव श्री पी. सी. जैन, विश्वविद्यालय यंत्री श्री के. एल. महाजन ने भी विविध दायित्वों का अत्यधिक लगनपूर्वक निर्वहण कर सहयोग प्रदान किया नदर्थ ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

विश्वविद्यालय की ओर से मैं उन सभी सहयोगियों का भी हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने इस प्रकाशन को सुलभ बनाने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग प्रदान किया। उन सभी के सद्प्रयासों के कारण ही आज इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है। मेरा विश्वास है कि जिन आकांक्षाओं के साथ इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया है, उनकी पूर्ति में यह पूर्ण सफल होगा।

विश्व मैत्री दिवस (क्षमावाणी पर्व)

वीर निर्वाण सं. 2503

दिनांक 28 सितम्बर 77

धनश्याम गौतम

उप कुलसचिव (विकास एवं प्रशासन)

जीव.जी विश्वविद्यालय, ग्वालियर



भारत के उपराष्ट्रपति के सचिव

नई दिल्ली-110011

प्रिय महोदय,

उपराष्ट्रपति जी को यह जानकारी प्रसन्नता हुई कि आप जीवाजी विश्व-विद्यालय, ग्वालियर की ओर से भगवान महावीर जी के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला में पठित शोध-पत्रों एवं व्याख्यानों को स्थायी रूप प्रदान करने के लिए एक “स्मारिका” प्रकाशित करने जा रहे हैं। उपराष्ट्रपति जी आपके विश्वविद्यालय की इस “स्मारिका” की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभ कामनाएँ भेजते हैं।

आपका

बि० फड़के

संदेश



RAJ BHAVAN

प्रिय रवीन्द्र जी,

यह जानकारी प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, श्रीभगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष पर शोधपत्रों और व्याख्यानों के प्रकाशनार्थ “स्मारिका” के प्रकाशन का निश्चय किया गया है। आपके इस प्रयत्न के द्वारा सर्व-साधारण को भगवान महावीर के सद्उपदेशों की जानकारी सुलभ होगी।

मैं आपके सत्प्रयत्नों की सफलता चाहता हूँ, और इस सुअवसर पर शुभ कामना प्रकट करता हूँ।

आपका

मोहनलाल सुखाड़िया

राज्यपाल

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर द्वारा भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया था और उक्त अवसर पर पठित शोधपत्रों और व्याख्यानों का संकलन स्मारिका के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, यह प्रकाशन भगवान महावीर के आदर्शों और विचारों तथा जैन धर्म के अध्येताओं और शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

शुभकामनाओं सहित।

सत्यनारायण सिंह

राज्यपाल

मध्य प्रदेश

संदेश



मन्त्री

रसायन एवं उर्वरक

भारत शासन

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा तीर्थंकर महावीर के पच्चीस सौ वें निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर आयोजित व्याख्यानमाला को स्थायी स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

यह जानकर और भी प्रसन्नता हुई कि इसमें व्याख्यानमाला में हुए व्याख्यानों के अतिरिक्त राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों के शोधपत्र तथा निबन्ध भी प्रकाशित किये जावेंगे। मेरा विश्वास है यह ग्रन्थ बुद्धिजीवी पाठकों को उच्च-कोटि की सामग्री प्रदान करेगा।

इस अवसर पर मैं हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

प्रकाश चन्द्र सेठी



मुख्य मन्त्री
भोपाल

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर द्वारा भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित व्याख्यानमाला में पठित शोधपत्रों एवं व्याख्यानों की स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है।

मैं आशा करता हूँ कि इस प्रकाशन से व्याख्यानमाला में व्यक्त विद्वानों के मतों एवं धारणाओं की स्थायित्व प्राप्त होगा और भविष्य में भी हम उनसे मार्गदर्शन लेते रहेंगे।

स्मारिका के लिये शुभ कामनाएँ।

श्यामाचरण शुक्ल

संदेश



उपमन्त्री
शिक्षा तथा समाज कल्याण
भारत
नई दिल्ली-1

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर के तत्वावधान में श्री २५००वें भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के शुभ अवसर पर व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया एवं उक्त पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला में श्रोतावृन्द को अनेक विद्वज्जनों के विचार सुनने का शुभ अवसर मिला। अहिंसा एवं सत्य के नये प्रतिमानों का आज के इस वातावरण में क्या महत्व है इस पर प्रबुद्धजनों के विचार-विमर्श से लोगों की सही मार्गदर्शन मिला होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

उक्त उच्च विचारों की स्मारिका हेतु प्रकाशन सदा के लिए स्थायी स्वरूप प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

मैं स्मारिका की सफलता की कामना करता हूँ और समझता हूँ कि आम जनता को जानकारी देने में लाभदायक सिद्ध होगी।

अरविन्द नेताम

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर द्वारा २५००वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला में पठित शोधपत्रों एवं व्याख्यानों को स्थायी स्वरूप प्रदान करने के लिए स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है। महावीर भगवान के सिद्धान्तों की आज के युग में बड़ी आवश्यकता है। उपरोक्त आयोजन के अवसर पर प्रकट किए गए विचारों को स्मारिका में प्रकाशित कर समिति आनेवाली पीढ़ी की बड़ी मदद कर रही है। इस अवसर पर मैं अपनी शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

चन्दन मल बंद

संदेश

बसंतराव उयके
मन्त्री, शिक्षा
मध्यप्रदेश

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर ने भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के सन्दर्भ में आयोजित व्याख्यानमाला के व्याख्यानों को स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया है, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई।

मैं आशा करता हूँ कि विद्वानों द्वारा दिए गए इन भाषणों से पाठकों को भगवान महावीर के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने में सहायता मिलेगी। मेरी शुभ कामनाएँ।

बसंतराव उयके

गुलाब चन्द्र तामोड

मन्त्री

लोक निर्माण

भोपाल

मुझे यह जानकारी प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर ने भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला के अन्तर्गत पठित शोधपत्रों और व्याख्यानों को एक स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया है। व्याख्यानमाला के अन्तर्गत विद्वानों द्वारा पठित इन भाषणों की अपनी उपादेयता है और मुझे विश्वास है कि स्मारिका में संकलित होने से इन्हें स्थायी स्वरूप प्राप्त हो सकेगा।

इस सद्प्रयास के लिए मेरी शुभ कामनाएँ।

गुलाब चन्द्र तामोड



Achal Singh

M. P.

87 North Avenue, New Delhi

मुझे यह जानकारी प्रसन्नता हुई कि भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव पर आप एक महान ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। इससे जैन दर्शन व साहित्य एवं इतिहास पर एक बहुमूल्य ग्रन्थ तैयार हो जावेगा। इससे देश व समाज की सेवा होगी।

आपके प्रयास की मैं सराहना करता हूँ। आपके शुभ कार्य के लिए मेरी शुभ कामनाएँ हैं।

आपका

अचलसिंह



श्री रवीन्द्र मालव

जीवाजी विश्वविद्यालय की ओर से आपने व्याख्यानमाला आयोजित की और इसके उपलक्ष्य में एक "स्मृति ग्रन्थ" का प्रकाशन कर रहे हैं यह जानकारी प्रसन्नता हुई।

इस "स्मृति ग्रन्थ" द्वारा आप लोग भगवान महावीर के उपदेश को समाज में प्रचार करने में सफल हों, ऐसी मैं शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ। प्रणाम।

कस्तूरभाई लालभाई

अध्यक्ष,

भगवान महावीर २५०० वें निर्वाण महोत्सव महासमिति

प्रिय महोदय,

मुझे यह जानकर विशेष आनन्द है कि जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित व्याख्यानमाला से सम्बन्धित शोधपत्रों एवं व्याख्यानों को एक स्मारिका के माध्यम से महोत्सव-समिति द्वारा स्थायी स्वरूप प्रदान किया जा रहा है।

यह सही है कि सभी धर्मों की उत्पत्ति इस संसार में मानव कल्याण के लिए ही हुई है। परन्तु यह भी एक कटु सत्य ही है कि स्वार्थ में लिप्त हो जाने के कारण मनुष्य धर्म के मूल तत्वों को बार-बार भूलता रहा है। भ्रमित मानव-समाज ने भले ही सदैव धर्म-वृक्ष के पल्लवों को सींचा हो, अथवा उसके आवरण को मज्जाया हो, परन्तु, धर्म की जड़ों को बहुधा सुखाया ही है। अवतारी पुरुषों ने अपने जीवन, कृतित्व और शिक्षा के माध्यम से बार-बार इस पृथ्वी पर आकर भ्रमित समाज को प्रकाश, दिशा और प्रेरणा दी है, तथा समाज की डूबती नौका को अपने सबल हाथों द्वारा डूबने से बचाया है।

भगवान महावीर ने भारतीय समाज का धर्म के मूल तत्वों की ओर ध्यान आकर्षित किया, हिंसामय समाज में परम धर्म अहिंसा की पुनर्स्थापना की, तथा दीन-दुखियों को राहत और सहारा दिया। मुझे विश्वास है कि यह ऋणी भारतीय समाज उनके जीवन और आदर्शों से सदैव शिक्षा और प्रेरणा ग्रहण करता रहेगा। विद्वान वक्ताओं और लेखकों के विचारों का स्मारिका के माध्यम से स्थायीकरण निःसन्देह रूप से अनेकों पाठकों को आगे आनेवाले वर्षों में लाभ पहुँचाता रहेगा।

मैं इस सद्प्रयास की हृदय से सराहना करता हूँ, तथा प्रकाशन की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।

नारायण सिंह

संदेश

कुलपति

विश्वविद्यालय भवन, इन्दौर

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव पर पठित शोधपत्रों को स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने जा रहा है। मैं प्रयास की सफलता हेतु कामना करता हूँ।

पु. ग. देव

कुलपति

मुझे यह जानकर अत्यंत ही प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा, भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव पर आयोजित ५ दिवसीय व्याख्यानमाला में पठित शोध-पत्रों तथा व्याख्यानों को स्थायी स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से एक "स्मारिका" प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है।

जीवाजी विश्वविद्यालय का यह निश्चय निःसन्देह अत्यंत ही प्रशंसनीय कार्य है क्योंकि स्मारिका के प्रकाशन के माध्यम से विद्वतजनों के शोधपत्रों से जन-समाज को बड़ा लाभ मिलेगा जो वास्तव में एक स्तुत्य कार्य होगा।

मैं निर्वाण महोत्सव समारोह की सफलता के लिये अपनी शुभ कामनाएं प्रेषित करता हूँ।

गुलाबचन्द जैन
कुलपति

संदेश

जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय
जबलपुर, मध्यप्रदेश

आर. एल. कौशल
कुलपति

कृषि नगर
जबलपुर-४८२००४ (म. प्र.)

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर द्वारा २५०० वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के अवसर पर पठित शोधपत्रों एवं व्याख्यानों को स्थायी रूप प्रदान करने की दृष्टि से "स्मारिका" का प्रकाशन किया जा रहा है। शोधकर्त्ताओं एवं संकलनकर्त्ताओं के व्यावहारिक ज्ञान के उद्देश्य से यह एक उत्तम प्रयास है। आशा है, यह स्मारिका धर्म में रुचि रखनेवाले सभी व्यक्तियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

स्मारिका प्रकाशन की सफलता हेतु मंगल शुभ कामनाएं प्रेषित करता हूँ।

आर. एल. कौशल

श्री रवीन्द्र जी

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा “महावीर स्मृति ग्रन्थ” का प्रकाशन, भगवान महावीर के जीवन और दर्शन के विविध पक्षों पर रचित, शोधपत्रों व लेखों के माध्यम से, भगवान के उपदेशों को जनसामान्य तक पहुँचाने, और बुद्धिजीवियों को चिन्तन हेतु दिशादर्शन के अपने उद्देश्यों में सफल हो, इस हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

साहू शान्ती प्रसाद जैन



श्री रवीन्द्र जी मालव

भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर जीवाजी विश्वविद्यालय “महावीर स्मृति ग्रन्थ” प्रकाशित कर रहा है यह जानकर प्रसन्नता हुई। इस अवसर पर मैं हार्दिक शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

लालचन्द्र हीराचन्द्र

संदेश

SHRIYANS PRASAD

“NIRMAL” 3Rd Floor
Nariman Point
Bombay-400021

प्रिय श्री रवीन्द्र मालव

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि अहिंसा के सन्देशवाहक, स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रणेता भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में “महावीर स्मृति ग्रन्थ” का प्रकाशन किया जा रहा है। यह भी हर्ष का विषय है कि आप इस ग्रन्थ में सामयिक विषयों पर राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों के लेख एवं शोधपत्रों की व्यापक सामग्री का संकलन करेंगे। वस्तुतः यह जीवाजी विश्वविद्यालय का प्रशंसनीय कार्य है।

भगवान महावीर विश्व इतिहास के उन महान ज्योति स्तम्भों में से हैं, जिनके बताए हुए सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के सन्मार्ग पर उन्मुख होकर ज्ञान्ति प्राप्त की जा सकती है। भगवान महावीर की सबसे बड़ी शिक्षा है, अपने को जानो, यानि “आत्मा को जानो”।

वर्तमान संदर्भ में, भगवान महावीर के सन्देश लोकोपयोगी हैं एवं जन-जन के जीवन में विशेष महत्व रखते हैं। इन सन्देशों के प्रचार-प्रसार द्वारा राष्ट्र की युवा पीढ़ी को अनुशासन, सदाचार तथा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाये रखने की दिशा में अवश्य प्रेरणा मिलेगी।

ग्रन्थ के सुन्दर एवं सफल प्रकाशन के लिये मेरी अनेक मंगल कामनाएँ।

आपका
श्रेयांस प्रसाद जैन



काव्यांजली

पद्म खन्स

मंगल - सूत्र

णमो अरहंताणं ।
णमो सिद्धाणं ।
णमो आचार्याणं ।
णमो उपाध्यायानं ।
णमो लोए सव्वमाहुणं ॥१॥

अहंतां की नमस्कार ।
सिद्धों की नमस्कार ।
आचार्यों की नमस्कार ।
उपाध्यायों की नमस्कार ।
लोकवर्ती नवसाधुओं की नमस्कार ।

एसो पंचणमोक्कारो,
सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसि,
पढम हवई मंगलं ॥२॥

यह पंच नमस्कार मंत्र,
सब पापों को विनाश करतेवाला है ।
और समस्त मंगलों में,
प्रथम मंगल है ॥

चत्तारि मंगलं
अरहंता मंगलं ।
सिद्धा मंगलं ।
साधु मंगलं ।
केवलपण्णत्तो धम्मो मंगल ॥३॥

चार मंगल हैं ।
अर्हत मंगल हैं ।
सिद्ध मंगल हैं ।
साधु मंगल हैं ।
केवल-प्रणीत धर्म मंगल है ।

चत्तारि लोमुत्तमा ।
अरहंता लोमुत्तमा ।
सिद्धा लोमुत्तमा ।
साधु लोमुत्तमा ।
केवलपण्णत्तो धम्मो लोमुत्तमो ॥४॥

चार लोकोत्तम हैं ।
अर्हत लोकोत्तम हैं ।
सिद्ध लोकोत्तम हैं ।
साधु लोकोत्तम हैं ।
केवल-प्रणीत धर्म लोकोत्तम है ।

चत्तारि शरणं पव्वज्जामि ।
अरहंता शरणं पव्वज्जामि ।
सिद्धे शरणं पव्वज्जामि ।
साधु शरणं पव्वज्जामि ।
केवलपण्णत्तो धम्मो शरणं पव्वज्जामि ॥५॥

चारों की शरण लेता हूँ ।
अहंता की शरण लेता हूँ ।
सिद्धों की शरण लेता हूँ ।
साधुओं की शरण लेता हूँ ।
केवल-प्रणीत धर्म की शरण लेता हूँ ।

महावीर स्तवन

प्राकृत—

एस सुरासुरमणुसिदधदिदं धोइ घाइ कम्ममलं । पणमामि वड्ढमाणं तित्थं-धम्मस्सकत्तारं ।
वीर विसाल णयणं रत्तुप्पल कोमलस्समप्पायं । तिविहेण पणमिऊण सील गुणणं णिसामेह ।
तिलोए सब्बजीवाणंहिदं धम्मोवदेसिणं । वड्ढमाणं महावीरं वंदिता सब्बवेदिणं ॥
णमिऊण जिणंवीरं अणंत वर णाणंदंसण सहावं

—कुन्दकुन्दाचार्य

अनुवाद—

सुर, असुर और मनुष्यों के इन्द्रों (राजाओं) से वन्दनीय, घातिया कर्म रूपी मल को धोकर नष्ट कर दिया जिन ने, और जो धर्म रूपी तीर्थ के कर्त्ता हैं, उन श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ ।

(बाह्य में) जिनके विशाल नेत्र हैं । और चरण लाल कमल जैसे कोमल हैं, (अन्तरंग में) जो केवल ज्ञान रूपी विशाल नेत्रों के धारक हैं, और जिनकी रागद्वेष रहित कोमल वाणी रागद्वेष को दूर करनेवाली है, शील गुणों की प्राप्त्यर्थ उन श्री वीर प्रभू को, मन-वच-काय से प्रणाम करता हूँ ।

तीन लोकों के समस्त जीवों का हित करनेवाले धर्मापदेशक सर्वज्ञ वर्द्धमान महावीर की वन्दना करता हूँ ।

अनन्त और उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन स्वभाव से युक्त महावीर जिनेन्द्र को नमस्कार हो ।

संस्कृत—

त्वया नाथ जगत्सुप्तं महामोहं निशागतम् । ज्ञान मास्कर विम्बेन बोधितं पुरुतेजसा ॥
नमस्ते वीतरागाय सर्वज्ञाय महात्माने । याताय दुर्गमं कूलं संसारोदन्वतः परम् ॥
भवता सार्थवाहेन मय्य चेतन वाणिजाः । यास्यन्ति वितनुस्थानं दोष चारैरलुष्टिताः ॥
प्रवर्तितस्त्वया पन्था विमलः सिद्धगाभिनाम् । कर्मजालं च निर्दग्धं ज्वलित ध्यानवन्हिना ॥
निर्वन्धूनामनाथानां दुःखाग्निं परिवर्तिनाम् । बन्धुनाथश्च जगतां जातोऽसि परमोदयः ॥
कथं कुर्यात्तव स्तोत्रं यस्यान्तःपरिवर्जिताः । उपमानैर्न निर्मुक्ता गुणः केवलिगोचराः ॥

—रविषणाचार्यः

अनुवाद—

हे वीरनाथ ! महामोह रूपी निशा के मध्य सोये पड़े इस संसार को आपने अपने अमित तेजपूर्ण ज्ञान सूर्य द्वारा जमाया है ।

हे भगवान् ! आप वीतराग हो, सर्वज्ञ हो, महात्मा हो, और संसार रूपी सागर के दुर्गम अंतिम तट पर पहुँच गए हो, अतः आपको नमस्कार हो । आप ऐसे उत्तम सार्थवाह हो कि मय्य जीव रूपी अनेक व्यापारी आपके नेतृत्व में आपके साथ निर्वाणधाम को प्राप्त होंगे, और राह में दोष रूपी लुटेरे उन्हें नहीं लूट सकेंगे ।

आपने मोक्षाभिलाषियों को निर्मल मोक्ष का मार्ग दिखाया है, और ध्यान रूपी अग्नि से कर्मों के समूह को भस्म कर दिया है ।

जिनका कोई बन्धु नहीं है, जिनका कोई नाथ नहीं, उन दुःखरूपी अग्नि में जलते हुए संसारी जीवों के आप ही बन्धु हो, आप ही नाथ हो, और आप ही उन्हें परम अम्युदय प्राप्त करानेवाले हो ।

हे भगवन् ! हम आपके गुणों का स्तवन कैसे कर पावें, जबकि वे अनन्त हैं, उपमा रहित हैं, और केवल ज्ञानियों के विषय हैं ।

वन्दना

हृत्थीसु एरावणमाहु णाते, सीहो मिगाणं सतिलाण गंगा ।

पक्खीसु या गरुलं वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ १ ॥

हाथियों में एरावत, पशुओं में सिंह, नदियों में गंगा
पक्षियों में वेणुदेव गरुण श्रेष्ठ है, वैसे ही निर्वाणवादियों में महावीर श्रेष्ठ हैं ।

जोहेसु जाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविदमाहु ।

खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥ २ ॥

योद्धाओं में वामुदेव, पुष्पों में अरविन्द
क्षत्रियों में दंतवाक्य श्रेष्ठ है, वैसे ही ऋषियों में महावीर श्रेष्ठ हैं ।

यणितं व सहाण अणुत्तरं ड, चंदे व ताराण महानुभावे ।

गधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिण्ण माहु ॥ ३ ॥

शब्दों में मेघ का गर्जन, ताराओं में चन्द्रमा,
गंध वस्तुओं में चन्दन श्रेष्ठ है, वैसे ही मुनियों में महावीर श्रेष्ठ हैं ।

जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, णागेसु वा धरणिदमाहु सेट्ठं ।

खोओदए वा रस वेजयते, तहोवहाणं मुणि वेजयते ॥ ४ ॥

समुद्रों में स्वयंभू, नागदेवों में धरणेन्द्र,
रसों में इधु रस श्रेष्ठ है, वैसे ही तपस्वियों में महावीर श्रेष्ठ हैं ।

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु या अणवण्णं वयति ।

तवेसु वा उत्तम वंमचेरं, लोणुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ ५ ॥

दानों में अभयदान, सत्य में निरवय वचन
तप में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, वैसे ही श्रमणों में महावीर श्रेष्ठ हैं ।

निव्वाणसेट्ठा जह सम्बवम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ।

धर्मों में निर्वाणवादी ब्रह्म श्रेष्ठ हैं
वैसे ही ज्ञानियों में महावीर श्रेष्ठ हैं । उनमें अधिक कोई ज्ञानी नहीं है ।

भगवान महावीर के चरणों में

हे ज्योतिपुंज जयवीर ! सत्य का ज्ञाता दृष्टा तू ।
हे महाप्राण ! मूर्च्छित जनमन का जीवन सृष्टा तू ॥
हे जिन ! प्रभात तू सघन तमस् से घिरती संसृति का ।
हे निर्विकार ! परिशोधक मानवता की संस्कृति का ॥

तूने अपने अन्तरतम का सीया देव जगाया ।
तूने नर से नागायण तक अपने को पहुँचाया ॥
सीमित नरतन में असीम की ज्ञान चेतना जागी ।
जन्म-जन्म की धूमित कलुषित मोह चेतना जागी ॥
तेरी वाणी जग कल्याणी, प्रखर सत्य की धारा ।
खण्ड-खण्ड हो गयी दम्भ की, अन्धारा की कारा ॥
'सत्य एक है' उस पर, तेरे मेरे का क्या अंकन ।
विश्व समन्वय कर देता है, तेरा यह उद्बोधन ॥
तू उन अन्धों की आँख, भटकते ठोकर खाते जो ।
तू उन अबलों की लाठी, प्रताड़ित अश्रु बहाते जो ॥
मानवता के महामन्त्र का जो दाता, तू गुरुवर है ।
अमृतंजलि जो कभी न होगा, ऐसा तू दिनकर है ॥
जाति-पंथ-भेदों में ऊपर, तू सबका सब नेरे ।
देशकाल वह कौन तुझे, जो सीमाओं में घेरे ॥
तू अनन्त है, अजर अमर है, तेरा जीवन दर्शन ।
अखिल विश्व का तब चरणों में ही निर्वाणगामी वन्दन ॥

—उपाध्याय अमरमुनि

मनोयोग द्वारा सुनो वीर वाणी

कल्याणकुमार जैन "शशि"

महाशक्ति का स्रोत
तुममें भरा है
तुम्हीं से तरंगित उदित
यह धरा है
कहा, वीर ने आपको
जान जाओ
सरल पंथ, वसु-कर्म की
निर्जंरा है

○

स्वयम् का अहम् यदि मनुज
जान जाये
सफल विश्व उसको सहज
मान जाये
मनोयोग द्वारा सुनें
वीर वाणी
यही मान टिकेगा जगत
छान आये

○

स्वयम् में सिमट, आत्म को
यदि निहारा
प्रदर्शित मिलेगा यहाँ
विश्व सारा
कहा वीर ने, भटकनें
तब मिटेगी
चलें यदि इसी मार्ग पर
ज्ञान द्वारा

○

समझाना पड़ेगा
सदाचार क्या है
समझना पड़ेगा
अहंकार क्या है
अनेकान्त का भेद
विज्ञान जाने
तिरस्कार क्या है
पुरस्कार क्या है

“भाव पुष्पांजलि”

कर दिया आलोक से जगमग ये सारा विश्व ही जब, दीपकों की ज्योति से क्या आरती तेरी उतारूँ ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ में, हे, प्रभू जी, हर चरण पर निज हृदय की भाव पुष्पांजलि सवारूँ ।

विश्व के हो देव प्रभु महिमा कहूँ कैसे तुम्हारी,
जगत की उत्कृष्टता ना छू सकी सीमा तुम्हारी,
क्रोध माया मान मत्सर लोभ, सब ही हैं पराजित,
काम जैसे वीर ने भी ध्वंस हो जय की तुम्हारी,
नाश कर अज्ञान का अधेर पाया ज्ञान अनुपम, जगमगाया विश्व, उसको दीप मैं कैसे उजारूँ ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ में, हे, प्रभू जी, हर चरण पर निज हृदय का भाव पुष्पांजलि सवारूँ ॥१॥

तोड़ कर दुःखदेय बंधन विश्व के, तुमने प्रभूजी,
कर्म आठों को किया चकचूर ज्यों रिपु क्रूर हैं वे,
थे अनन्ते काल से जो मोह और ममता के बंधन,
काट दीने क्षणक में तुमने ज्यों कच्चे सूत हैं वे,
दुःख भरा जग छोड़ कर प्रभु जा रहे सुखगार को, तुम छोड़ कर जिसको चले कैसे वहाँ जीवन गुजारूँ ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ में, हे, प्रभूजी, हर चरण पर निज हृदय की भाव पुष्पांजलि सवारूँ ॥२॥

जा रहे हो तुम प्रभू, कैसे रहूँ मैं ? यह बताओ,
देख कर यह दुःख भरा जग, हक उठती है हृदय में,
किन्तु यह संतोष मुझको, जगत के उद्धार कर्ता !
ज्योति जो तुमने दिखाई, छा रही है अब हृदय में,
है अलौकिक और अनुपम ज्ञान का आलोक मन में, जगमगाती जा रही रत्नत्रयी निधि को संभालूँ ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ में, हे, प्रभूजी, हर चरण पर निज हृदय की भाव पुष्पांजलि सवारूँ ॥३॥

कामना कुछ है नहीं, बस प्रार्थना इतनी प्रभूजी,
शक्ति का ऐसा उदय हो जाय अब मेरे हृदय में,
चल सकूँ हर कदम व कदम संग तेरे चरण पथ के,
हो अमिट चितन निराकुल-शांति का मेरे हृदय में,
तोड़ जग के नेह बंधन चल पड़ूँ सुखधाम को, जहाँ पा चतुष्टय मैं अनन्तानन्त युग सुख को संभालूँ ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ पर, हे, प्रभूजी, हर चरण पर निज हृदय की भाव पुष्पांजलि सवारूँ ॥४॥

□ शान्तीलाल जैन “मधुकर”

जिनवाणी

द्वितीय खण्ड

अन्तरात्मा—

अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ॥

इन्द्रिय समूह को आत्मा के रूप में स्वीकार करने वाला बहिरात्मा है । आत्म संकल्प-देह से भिन्न आत्मा को स्वीकार करनेवाला अन्तरात्मा है । कर्म कलंक से विमुक्त आत्मा परमात्मा है ।

अपरिग्रह—

मुच्छा परिग्गहो वृत्ती
अव्वंतरबाहरिए सव्वे गथे तुमं विवज्जेहि

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते
परिग्गहनिविट्ठाणं वेरं तेसिं पवड्ढई ॥
सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिव्वभओ य सव्वत्थ

मूर्च्छा-ममता भाव परिग्रह है ।
भीतर और बाहर की सम्पूर्ण ग्रन्थियों के उन्मोचन का नाम अपरिग्रह है ।

मनुष्य धन से अपनी रक्षा नहीं कर सकता ।
जो परिग्रह में फँसे हुए हैं, वे बैर को बढ़ाते हैं ।
परिग्रह से रहित व्यक्ति स्वाधीन और निर्भय रहता है ।

अभय दान—

जं कीरइ परिरक्खा, णिच्चं मरण-भयभीरु-जीवाणं ।
तं जाण अभयदानं, सिहामणि सव्वदाणाणं ॥

मृत्युभय से भयभीत जीवों की रक्षा करना ही अभयदान है । यह अभयदान सब दानों का शिरोमणि है ।

अभोगी—

भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ।

भोगी जन्ममरण के चक्र से नहीं छूटता । अभोगी मुक्त हो जाता है ।

अरहंत—

ससरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणिय-सयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम-मुक्ख-संपत्ता ॥

केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को जाननेवाले स-शरीरी जीव अरहंत हैं तथा सर्वोत्तम सुख (मोक्ष) को संप्राप्त ज्ञान-शरीरी जीव सिद्ध कहलाते हैं ।

अस्तेय (अचौर्य)—

वज्जिज्जा तेनाहड-तक्करजोगं विरुद्धरज्जं च ।
कूडतुलकूडमाणं तप्पडिह्वं च ववहारं ॥

अचौर्यव्रती श्रावक को न चोरी का माल खरीदना चाहिये, न चोरी में प्रेरक बनना चाहिये । न ही राज्य विरुद्ध अर्थात् कर आदि की चोरी व नियम-विरुद्ध कोई

कार्य करना चाहिये । वस्तुओं में मिलावट आदि नहीं करना चाहिये । जाली सिक्के या नोट आदि नहीं चलाना चाहिये ।

इच्छा, मुच्छा, तद्वा गेहि असंजमो, करवा ।
हत्य लहुत्तणं परहं तेणिकं कूडया अदत्ते ॥

चित्तमंतमचित्रं वा अप्यं वा जइ वा वहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि उग्गहं सि अजाइया ॥

अहिंसा—

सर्वे पाणा पिआउया ।
सुहसाया दुक्खपडिक्कुला ।
अप्पियवहा, पियजीवणो ।
जीविडकामा । सर्व्वेस्स जीवियं पियं ।
नाइवाएज्ज कंचणं ।

एयं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव एतावन्तं कियाणिया ॥

सर्व्वे जीवा वि इच्छंति, जीविडं न मरिज्जिउं ।
तद्वा पाणवहं धोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

जहते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सर्व्वजीवाणं ।
संवायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥

परधन की इच्छा, मूच्छा, तृष्णा, गुप्ति, असंयम, कांक्षा, हस्तलाघव । (हाथ की सफाई) परधन हरण, कूट-तोल-माप और बिना दी हुई वस्तु लेना यह सब कृत्य चोरी है ।

चाहे कोई सचेतन वस्तु हो या अचेतन-जड़ । अल्पमोली वस्तु हो या बहुमोली । बिना उसके स्वामी की आज्ञा लिये बिना नहीं लेना चाहिये, और तो क्या, दाँत कुरेदने के लिये एक तिनका भी बिना आज्ञा के न लेवे ।

सब प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है ।

सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा ।

वध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय ।

सब प्राणी जीना चाहते हैं । कुछ भी हो, सबको जीवन प्रिय है । अतः किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो ।

जानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे । अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है, बस इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये ।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं । इसलिए प्राणवध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं ।

जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवों को दुःख प्रिय नहीं है—ऐसा जानकर, पूर्ण आदर और सावधानीपूर्वक, आत्मौपम्य की दृष्टि से सब पर दया करो ।

जीववहो अप्पवहो, जीवदय अप्पणो दया होई ।
ता सब्बजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहि ॥

तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि ।
अहं तहं जयमि जाणसु, धम्ममहिंसा सयं नत्थि ॥

हिंसा पावं ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो ।

तुमसि नाम स चेव ज हंतव्वं ति भन्नसि ।

आरंभजं दुक्खमिणं ।

आचार्य—

अहं दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो ।
दीवसमा आयरिया, दिप्पति परं च दीवेति ॥

आत्मतत्त्व—

तच्छाण परम-तच्चं जीवं जाणेहं णिच्छयदो ।

आत्म विजेता—

अप्पा चेव, दभेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थ य ॥

आत्म श्रद्धा—

अत्थि मे आया डववाइए ।
ये आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी ।

जीव का वध अपना ही वध है । जीव की दया अपनी ही दया है । अतः आत्महितैषी (आत्मकाम) पुरुषों ने सभी तरह की जीवहिंसा का परित्याग किया है ।

जैसे जगत में मेरु पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है ।

हिंसा पाप है, क्योंकि दया सब धर्मों में प्रधान है ।

तू जिसे मारना चाहता है (जिसको कष्ट व पीड़ा पहुँचाना चाहता है) वह अन्य कोई तेरे समान ही चेतनावाला प्राणी है, ऐसा समझ । वास्तव में वह तू ही है ।

संसार में जितने भी दुःख हैं, वे सब आरंभज-हिंसा से उत्पन्न होते हैं ।

जैसे एकदीप से सैकड़ों दीप जल उठते हैं, और वह स्वयं भी दीप्त रहता है, वैसे ही आचार्य दीपक के समान होते हैं । वे स्वयं भी प्रकाशवान् रहते हैं, और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं ।

सभी तत्त्वों में परम तत्त्व 'आत्म तत्त्व' को 'निश्चय' दृष्टि से जानो ।

स्वयं पर ही विजय प्राप्त करना चाहिये । अपने पर विजय प्राप्त करना ही कठिन है । आत्म विजेता ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है ।

यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुन-जन्म ग्रहण करती है, आत्मा के पुनर्जन्म सम्बन्धी

सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाला ही वस्तुतः आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है ।

जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोणं अब्भाइक्खति ।

जो अपनी आत्मा का अपलाप (अविश्वास) करता है, वह लोक (अन्य जीव समूह) का भी अपलाप करता है ।

आत्म शुद्धि —

विसोहि-मूलाणि पुष्पाणि

पुण्यकर्म का मूल आत्मशुद्धि है ।

आत्मा

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिं सुप्पट्ठिओ ॥

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता (भोक्ता) है । सत्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है ।

जीवा सिय सासया सिय असासया,
दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया ।

जीव (आत्मा) शाश्वत भी है, अशाश्वत भी । द्रव्यदृष्टि (मूल चेतन स्वरूप) से शाश्वत है । भावदृष्टि (मनुष्य-पशु आदि पर्याय) से अशाश्वत है ।

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
जेण बियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए ॥

जो आत्मा है वह विज्ञाता है । जो विज्ञाता है, वह आत्मा है । जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है । जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है ।

अरसमरूवमगंधं, अब्वत्तं चेदणागुणमसइं ।
जाण अलिगग्गहणं, जीवमणिट्ठसंठाणं ॥

शुद्ध आत्मा वास्तव में अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चैतन्य-गुणवाला, अशब्द, अलिङ्गग्राह्य (अनुमान का अविषय) और संस्थान रहित है ।

आत्मज्ञान —

जो अप्पाणं ना णदि, सो सत्थं जाणदे सव्वे ।

जो आत्मा को जानता है वह सब शास्त्रों का ज्ञाता है ।

विसए विरत्तचित्तो जोई, जाणेइ अप्पाणं ।

विषयों से विरक्त चित्तवाला योगी आत्मा को जान लेता है ।

तं ज्ञायह ससहावं संसरण जेण णासेइ ।

आत्मा के अपने (शुद्ध) स्वभाव को ध्याओ, ताकि जन्ममरण से छुटकारा मिल सके ।

उद्देशो पासगस्स नत्थि ।

आत्मज्ञानी को उपदेश की आवश्यकता नहीं ।

आचरण—

पाणे पाणुवदेसे अवट्टमाणो उ अण्णाणी

जो ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार आचरण नहीं करता,
वह ज्ञानी भी वास्तव में अज्ञानी है ।

धम्मं आयरह सया पावे दूरेण परिहरह ।

धर्माचरण में प्रवृत्त रहो और पापाचरण से दूर
रहो ।

आचार—

सीलगुणवज्जिदाणं निरत्थयं माणुसं जम्म

आचार (शील) हीन मनुष्य का जन्म निरर्थक है ।

आर्जव

जो चित्तेइ ण वकं, ण कुणदि वकं ण अंपदे वकं ।

ण य गोवदि णियदोसं, अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥

जो कुटिल विचार नहीं रखता, कुटिल कार्य नहीं
करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपने दोषों को
नहीं छिपाता, उसके आर्जव-धर्म होता है ।

उपभोग—

कदप्पं कुक्कुड्यं, मोहरियं सजुयाहिगरणं च ।

उवभोगपरीभोगा-इरेयगयं चित्थ वज्जइ ॥

अनर्थदण्ड-विरत श्रावक को कन्दर्प (हास्यपूर्ण
अशिष्ट वचन प्रयोग), कौत्कुच्य (शारीरिक कुचेष्टा),
मौख्य (व्यर्थ बकवास), हिंसा के अधिकारणों का
संयोजन तथा उपभोग-परिभोग की मर्यादा का अतिरेक
नहीं करना चाहिये ।

कर्म—

मुचिण्णा कम्मा मुचिण्ण फला भवन्ति ।

अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है ।

जहा कडं कम्म, तहासिभारे ।

जैसा किया हुआ कर्म है, वैसा ही उसका भोग है ।

राणो य दोसो विव कम्मवीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।

कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइमरणं वयन्ति ॥

रोग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं । कर्म मोह
से उत्पन्न होता है, ऐसा जानियों का कथन है । कर्म
जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण दुःख की परम्परा
का कारण है ।

कषाय—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मच्छवया जिणे ।

माय चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥

क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को
सरलता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिये ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिचति मूलाइ पुणभवस्स ।

ये चार कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) जन्म-मरण रूपी लता के मूल को सींचने हैं । कषाय से जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती है ।

कसाया अग्निणो वुत्ता सुय सील तवो जलं ।

कषाय अग्नि है, श्रुत (ज्ञान), शील (सदाचार) और तप उसे बुझाने वाले जल हैं ।

केवल ज्ञान —

संभित्तं पासतो, लोगमलोगं च सब्बओ सब्बं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥

केवल ज्ञान लोक और अलोक को सर्वतः परिपूर्ण रूप से जानता है । भूत, भविष्य और वर्तमान में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे केवलज्ञान नहीं जानता ।

केवली —

केवलणाणदिवायर-किरणकलाव-प्पणासिअष्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गम-पावियपरमप्पववएसो, ॥
असहायणाणेदंसण-सहिओ वि हु केवली हु जोएण ।
जुत्तो त्ति सजोइजिणो, अणाइणिहणारिसे वुत्तो ॥

केवलज्ञान रूपी दिवाकर की किरणों के समूह से जिनका अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो जाता है, तथा जो केवललब्धियों (सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, दान, लाभ, भोग व उपभोग) के प्रकट होने से जिन्हें परमात्मा की संज्ञा प्राप्त हो जाती है, वे इन्द्रियादी की सहायता की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और काय योग से युक्त होने के कारण सयोगी केवली (तथा धातिकर्मों के विजेता होने के कारण) जिन कहलाते हैं । ऐसा अनादिनिघ्न जिनायम में कहा गया है ।

चारित्र —

चरणं हवइ सघम्मो, धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।

चारित्र धर्म है । यह धर्म आत्मा का साम्य भाव है ।

एयं चयरित्तकरं चरित्तं होइ आहियं ।

कर्मों के चय-राशि को रित्त (शून्य) करने के कारण इसे चारित्र कहा गया है ।

जीव —

नाणं च दसणं जेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य एवं जीवस्स लक्खणं ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण हैं ।

तप—

भवकोडी-संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई ।

जैसे तालाब का जल सूर्य-ताप से अथवा उलीचने से रिक्त हो जाता है, वैसे ही तप के द्वारा करोड़ों भवों के कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं ।

इच्छाओं का निरोध करना तप है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

तीर्थ—

रयणत्तय-संजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो, रयणत्तय-दिब्ब-णावाए ॥

(वास्तव में) रत्नत्रय से सम्पन्न जीव ही उत्तम तीर्थ (तट) है, क्योंकि वह रत्नत्रय रूपी दिव्य नौका द्वारा संसार-सागर से पार करता है ।

द्रव्य—

गुणाणमासओ दब्बं, एगदब्बस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उमओ अस्सिया भवे ॥

द्रव्य, गुणों का आश्रय या आधार है । जो एक द्रव्य के आश्रय रहते हैं, वे गुण हैं । पर्यायों का लक्षण द्रव्य या गुण दोनों के आश्रित रहना है ।

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल जन्तवो ।
एस लोमो त्ति पण्णतो, जिणेहि वरदंसिहि ॥

परमदर्शी जिनवरों ने लोक को धर्म, अधर्म, आकाश काल, पुद्गल और जीव इस प्रकार छह द्रव्यात्मक कहा है ।

दुःख—

अण्णाणं परम दुक्खं ।

अज्ञान परम दुःख है ।

धर्म—

धम्मेण होदि पुज्जो ।
देवा वि तं नमस्सति, जस्स धमते सदा मणो
चत्तारि धम्मदारा
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दे ।

धर्म से प्राणी पूज्य होता है ।
देवता भी धर्मात्मा व्यक्ति को नमस्कार करते हैं ।
धर्म के चार द्वार हैं—
क्षमा, संतोष, सरलता और विनय ।

धम्मो बत्थुसहावो, खमादिमावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है । क्षमा आदि सावों की अपेक्षा से यह दस प्रकार का है । रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य) तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है ।

उत्तमखममह्वज्जव-सच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवचागमकिचण्हं, बग्गह इवि दसविहो धम्मो ॥

ध्यान—

जं थिरमज्झवसाणं, तं ज्ञाणं जं चलंतयं चित्तं ।
तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चित्ता ॥

परमाणु—

अंतादिमज्झहीणं, अपदेसं इवि एहि णहु मेज्झं ।
जं दब्बं अविभत्तं, त परमाणुं कहंति जिणा ॥

परमात्मा —

जीवा हवति तिविहा, बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ॥

अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरप्पा हु अप्पसंक्खो ।
कम्मकलंक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ॥

परिग्रहण—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नाय पुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥

पर्याय—

गुणाणमासओ दब्बं, एग्गदब्बस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम
सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग,
उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य — ये दस धर्म हैं ।

स्थिर अध्यवसान अर्थात् मानसिक एकाग्रता ही
ध्यान है । और जो चित्त की चंचलता है, उसके तीन
रूप हैं — भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता ।

जो आदि मध्य और अन्त से रहित है, जो केवल
एक प्रदेशी है—जिसके दो आदि प्रदेश नहीं हैं और
जिसे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह
विभाग विहीन द्रव्य परमाणु है ।

जीव आत्मा में तीन प्रकार का है:—बहिरात्मा,
अन्तरात्मा और परमात्मा । परमात्मा के दो प्रकार
हैं:—अर्हत और सिद्ध ।

इन्द्रिय-समूह को आत्मा के रूप में स्वीकार करने
वाला बहिरात्मा है । आत्मसंकल्प-देह से भिन्न आत्मा को
स्वीकार करनेवाला अन्तरात्मा है । कर्म-कलंक से
विभुक्त आत्मा परमात्मा है ।

ज्ञात पुत्र भगवान महावीर ने (वस्तुगत) परिग्रह
को परिग्रह नहीं कहा है । उन महर्षि ने मूर्च्छा को ही
परिग्रह कहा है ।

द्रव्य, गुणों का आश्रय या आधार है । जो एक
द्रव्य में आश्रय रहते हैं, वे गुण हैं । पर्यायों का लक्षण
द्रव्य या गुण दोनों के आश्रित रहना है ।

प्रमाण—

गेहणइ वत्थुसहावं, अविरुद्धं सम्मरूवं जं णाणं ।
भणियं खु तं पमाणं, पच्चक्खपरोक्खमेहि ॥

जो ज्ञान वस्तु-स्वभाव को—यथार्थ स्वरूप को—
सम्यक रूप से जानता है, उसे प्रमाण कहते हैं । इसके
दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष ।

पुद्गल—

सद्दन्धयार उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इवा ।
वष्ण रस गन्ध फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण,
रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गल के लक्षण हैं ।

भय—

सम्मविट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं और इसी कारण
निर्भय भी होते हैं । वे सात प्रकार के भयों—इस लोक
का भय, परलोक भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मृत्यु
भय, वेदना भय और अकस्मात् भय—से रहित होते हैं,
इसीलिये निःशंक होते हैं । (अर्थात् निःशंकता और
निर्भयता दोनों एक साथ रहने वाले गुण हैं ।)

भाषा—

असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पन्नवे ॥

बुद्धिमान को ऐसी भाषा बोलनी चाहिये जो व्यव-
हार में सत्य हो, तथा निश्चय में भी सत्य हो निरवद्य
हो, अकर्कश-प्रिय हो, हितकारी हो तथा असंदिग्ध हो ।

मार्दव—

कुलरूवजादिवुद्धिसु, तवसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
जो णवि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और
शील का तनिक भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दवधर्म
होता है ।

मोक्षमार्ग—

धम्मादी सहहणं, सम्मत्तां णाणभगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तवसि चरिया, बवहारो मोक्खमगो त्ति ॥

छह धर्म (छह द्रव्य) तथा तत्त्वार्थ आदि का श्रद्धान
करना सम्यग्दर्शन है । अंगों और पूर्वों का ज्ञान सम्य-
ज्ञान है । तप में प्रयत्नशीलता सम्यक्चारित्र्य है । यह
व्यवहार मोक्ष मार्ग है ।

लोभ—

कोहो पीडं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सबविणासणो ॥

उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे ।
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है। माया मैत्री को नष्ट करती है, और लोभ सब कुछ नष्ट करता है ।

क्षमा से क्रोध का हनन करें, मार्दव से मन को जीतें, अर्जव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतें ।

विनय—

विणओ मोक्खद्वारं, विणयादो संजमो तवो णाणं

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम तप और ज्ञान प्राप्त होता है ।

ब्रह्मचर्य—

सीलं मोक्खस्स सोपाणं ।

ब्रह्मचर्य मोक्ष की सीढ़ी है ।

श्रमण—

समणो त्ति संजदो त्ति य, रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति ।
णामाणि सुविहिदाणं, अणगार भवतं दंतो त्ति ॥

श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग अव-
गार, भदस्त, दान्त-ये सब शास्त्र-विहित आचरण करने
वालों के नाम हैं ।

श्रमण धर्म—

दसविहे समणधम्मं पणसे, तं जहा खंती, मुत्ती,
अज्जवे, महवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए,
वंभचेखाए ।

श्रमणधर्म दस प्रकार का है, यथा (1) क्षमा,
(2) निर्लोभता (3) सरलता (4) मृदुता (5) लघुता,
(6) सत्य, (7) संयम, (8) तप, (9) त्याग,
(10) ब्रह्मचर्य ।

संत—

निम्ममो निरहंकारी निस्संगो चत्तमारवो ।
समो य सम्बभूएस, तएसुं थावरेसु य ॥

संत, ममता रहित, अहंकार से मुक्त, सब प्रकार की
आसक्ति (संग) से दूर, गौरव (मद) का त्याग कर
अस एवं स्थावर सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखता
है ।

संयम—

वय-समिदि-कसायाणं, दंडाणं तह इंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ ॥

व्रत धारण, समिति पालन, कषाय निग्रह, मन-
वचन-काया की प्रवृत्ति रूप दण्डों का त्याग, पंचेन्द्रिय-
जय-इन सबको संयम कहा जाता है ।

समता—

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिदिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥

वास्तव में चरित्र ही धर्म है । इस धर्म को शमरूप
कहा गया है । मोक्ष व क्षोभ से रहित आत्मा का
निर्मल परिणाम ही शम या समतारूप है ।

सत्य—

अविस्सासो य भूयाणं
तम्हा मोसं विवज्जए ।

झूठ बोलने वाला सभी लोगों का विश्वास खो
बैठता है, इसलिये असत्य भाषण करना उचित नहीं ।

सच्चं हि तवो सच्चम्मि संजमो तह य ऐसया वि गुणा
सच्चं णिवंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥

सत्य ही तप है । सत्य में ही संयम और रोष सभी
गुण समाहित हैं । जैसे समुद्र मछलियों का आश्रय स्थल
है, वैसे ही सत्य सभी गुणों का आश्रय स्थल है ।

असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पन्तवं ॥

बुद्धिमान को ऐसी भाषा बोलनी चाहिये जो व्यव-
हार में सत्य हो, तथा निश्चय में भी सत्य हो, निर्बद्ध
हो, अकर्कश प्रिय हो, हितकारी हो तथा असंदिग्ध हो ।

सम्यक्त्व—

जीवादि सद्वृत्तं, सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
ववहारो णिच्छयदो, अप्पा णं हवइ सम्मत्तं ॥

व्यवहार लय से जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को जिन
देव ने सम्यक्त्व कहा है । निश्चय से तो अत्मा ही
सम्यग्दर्शन है ।

सहियाणं तु भावाणं सबभावे उवएसण ।
भावेणं सद्वृत्तस्स सम्मत्तं तं वियाहियं ॥

स्वयं ही अपने विवेक से अथवा किसी के उपदेश
से सद्वृत्त तत्त्वों के अस्तित्व में आन्तरिक श्रद्धा,
विश्वास करना सम्यक्त्व कहा गया है ।

सम्यक दर्शन—

जं मोणं तं सम्मं, जं सम्मं तमहि होइ मोणं ति ।
निच्छयओ इयरस्स उ, सम्मं सम्मत्तहेऊ वि ॥

निश्चय से जो मौन है वही सम्यग्दर्शन है, और
जो सम्यग्दर्शन है, वही मौन है । व्यवहार से जो
निश्चय सम्यग्दर्शन के हेतु हैं, वे भी सम्यग्दर्शन हैं ।

सम्यक् ज्ञान—

अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं, चरदिह चारित्तमग्गु त्ति ॥

आत्मा में लीन आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है । जो
आत्मा को यथार्थ रूप से जानता है वही सम्यग्ज्ञान है,
और उसमें स्थित रहता ही सम्यक् चारित्र है ।

सम्यक् चारित्र—

णिच्छयणयस्य एवं, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सोलइ णिव्वाणं ॥

निश्चयनय के अभिप्रायानुसार आत्मा का आत्मा
में आत्मा के लिये तन्मय होना ही (निश्चय) सम्यक्
चारित्र है । ऐसे चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की
प्राप्ति होती है ।

ज्ञान—

णाणं णरस्स सारो
णाणुज्जावस्स णत्थि पणिच्चादो ।

ज्ञान मनुष्य का सार है
ज्ञान के प्रकाश को कोई नष्ट नहीं कर सकता ।



भगवान महावीर जीवन-दर्शन-देन

तृतीय खण्ड

भगवान महावीर जीवन और दर्शन

—पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य

भगवान महावीर, जिनके निर्वाण की पच्चीसवीं शताब्दी की पूर्ति के अवसर पर सर्वत्र महोत्सव मनाये गये हैं, जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर थे। और प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे। उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया।

जब भगवान ऋषभदेव को पूर्ण-ज्ञान की प्राप्ति हुई और उन्होंने अपने उपदेश में कहा कि मेरे पश्चात् तेईस तीर्थंकर और होंगे तो किसी ने प्रश्न किया—क्या यहाँ उपस्थित जन समुदाय में कोई ऐसा व्यक्ति है जो भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है? भगवान ने उत्तर दिया—भरत का पुत्र मरीचि अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह बात मरीचि ने भी सुनी। और भगवान की वाणी अन्यथा नहीं हो

सकती, इस विश्वास के आधार पर अपना तीर्थंकरत्व सुनिश्चित जान वह मदमत्त हो उठा। और उसने अपने कर्मानुसार अनेक गतियों में भ्रमण किया। प्राचीन जैन आगमों में भगवान महावीर के पूर्वजन्मों का इतिवृत्त विस्तार से वर्णित है। एक बार वह सिंह की पर्याय में एक मृग पर झपटते हैं। उधर से जाते हुए मुनिराज की दृष्टि उन पर पड़ती है। अपने ज्ञान से यह जानकर कि यह जीव भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है, वे उसे सम्बोधित हैं और यहीं से उनके जीवन का उत्थान प्रारम्भ होता है, और अन्त में वह वैशाली के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ में अवतरित होकर महावीर के रूप में जन्म लेते हैं। और 28 वर्ष की युवावस्था में प्रव्रजित होकर 12 वर्ष तक कठोर साधना के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर होते हैं और सर्वत्र विहार करके अपने धर्म का उपदेश करते हैं। अन्त में बिहार प्रान्त के ही पावानगर में उनका निर्वाण होता है। उसी के उपलक्ष में जैन शास्त्रों में दीपावली का त्यौहार प्रवर्तित होने का उल्लेख मिलता है। यतः भगवान महावीर का निर्वाण अमावस्या को ब्राह्म मुहूर्त में हुआ था, अतः अन्धकार दूर करने के लिये दीपक जलाये गये थे। वे भगवान के ज्ञान-दीप के प्रतीक भी थे।

भगवान महावीर का यह जीवनदर्शन उनके दर्शन का भी परिचायक है। भगवान महावीर के दर्शन में अवतारवाद को स्थान नहीं है

और प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बन सकने की शक्ति से सम्पन्न माना है। अपने ही दुष्कर्मों से जीव दुर्गति का भागी होता है और अपने ही पुरुषार्थ से निर्वाण प्राप्त करता है। ईश्वरवादी दर्शन जीव को कर्म करने में स्वतंत्र और उसका फल भोगने में परतंत्र मानते हैं। कहा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः ।

ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

अर्थात्—यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।

किन्तु भगवान् महावीर के दर्शन में इस प्रकार के ईश्वर की कोई स्थिति नहीं है। इस दृष्टि से उनका दर्शन निरीश्वरवादी है। जैसे शराब पीने से नशा स्वयं होता है और दूध पीने से स्वयं शरीर में पुष्टि आती है, उसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। उसी तरह दुष्कर्म करने वाले मनुष्य की परिणति स्वयं ऐसी होती है कि वह अपने कर्म से प्रेरित होकर नरक जाता है और शुभकर्म करनेवाला स्वर्ग जाता है। जैन सिद्धान्त में कर्मसिद्धान्त अपना एक विशिष्ट स्वतंत्र स्थान रखता है। उसकी प्रक्रिया को समझ लेने पर फलदान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जगत का समस्त व्यापार बिना किसी नियन्ता के कार्यकारण भाव की परम्परा पर स्वयं चलता रहता है। जगत की प्रक्रिया ही ऐसी है। उसे न कोई बनानेवाला है और न कोई विनष्ट करनेवाला है।

प्रत्येक वस्तु स्वतः स्वभाव से ही परिणमनशील है। किन्तु वह परिणमन ऐसा नहीं होता कि वस्तु का सर्वथा विनाश हो जाये या एक तत्त्व बदलकर दूसरे तत्त्व रूप हो जाये। दर्शनशास्त्र का एक सामान्य नियम है—सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता और

सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता। फिर भी वस्तु में प्रति समय उत्पाद-विनाश हुआ करता है।

अनेकान्त—

जैनागम के अनुसार भगवान् महावीर के मुख से जो प्रथम वाक्य निस्तृत हुआ, वह था—‘उष्पन्नेइ वा, विगमेइवा, ध्रुवेइ वा’ अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव होती है। इसे जैन दर्शन में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहते हैं। ये तीनों प्रत्येक वस्तु में प्रति समय सदा हुआ करते हैं। तभी वस्तु सत् होती है। अतः जैन दर्शन में सत् का लक्षण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। इसी से तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—‘उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्’।

उदाहरण के लिये—जब कुम्हार चाक घुमाकर मिट्टी का बरतन बनाता है तो प्रति समय मिट्टी की पुरानी दशा नष्ट होकर नई दशा उत्पन्न होती है और मिट्टी रूप अवस्था ध्रुव रहती है। पुरानी दशा के नष्ट होने और नई दशा के उत्पन्न होने में काल भेद नहीं है, पुरानी दशा का विनाश ही नई दशा का उत्पादन है।

विनाश के बिना उत्पाद नहीं, उत्पाद के बिना विनाश नहीं, और ध्रौव्य के बिना उत्पाद विनाश नहीं तथा उत्पादन विनाश के बिना ध्रौव्य नहीं। अतः जो उत्पाद है वही विनाश है। जो विनाश है वही उत्पाद है, जो उत्पाद विनाश है वही ध्रौव्य है और जो ध्रौव्य है वही उत्पाद विनाश है। जैसे घड़े की उत्पत्ति ही मिट्टी की पिण्ड अवस्था का विनाश है क्योंकि भाव भावान्तर के अभाव रूप से अवभासित होता है। जो मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही घट का उत्पाद है क्योंकि अभाव भावान्तर के भावरूप से अवभासित होता है। तथा जो घट का उत्पाद और मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही मिट्टी की ध्रुवता है क्योंकि अन्वय का

प्रकाशन व्यतिरेक मुख से ही होता है। तथा जो मिट्टी की ध्रुवता है वही घट का उत्पादन और मिट्टी के पिण्ड का विनाश है क्योंकि व्यतिरेक अन्वय का अतिक्रमण नहीं करता।

यदि ऐसा न माना जाये तो उत्पाद भिन्न, विनाश भिन्न और ध्रौव्य भिन्न ठहरता है। ऐसी स्थिति में केवल घट का उत्पाद कोई चाहे तो घट उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि मिट्टी के पिण्ड का विनाश हुए बिना घट उत्पन्न नहीं होता। वही उसका कारण है। उसके बिना तो असत् का उत्पाद मानना होगा और तब आकाश के फूल जैसे असंभव वस्तुओं का भी उत्पाद होगा। तथा केवल विनाश चाहने पर मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होगा क्योंकि आगामी पर्याय के उत्पाद के बिना पूर्वपर्याय का विनाश नहीं होता। यदि ऐसा हो तो सत् का विनाश मानना होगा।

पूर्वपर्याय से युक्त द्रव्य उपादान कारण होता है और उत्तरपर्याय से युक्त वही द्रव्य उपादेय कार्य होता है। आप्तमीमांसा में कहा है—

‘कार्योपादः क्षयो हेतोर्नियमात् लक्षणात् पृथक्’। उपादान का पूर्व आकार रूप से विनाश कार्य का उत्पाद है क्योंकि जो कार्य के उत्पाद का कारण है वही पूर्व आकार के विनाश का कारण है। इस प्रकार पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय का कारण होती है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय का कार्य होती है। इस तरह वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणाम को लेकर तीनों कालों के प्रत्येक समय में कार्यकारण भाव हुआ करता है। जो पर्याय अपनी पूर्व पर्याय का कार्य होती है वही पर्याय अपनी उत्तर पर्याय का कारण होती है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य होता है। कार्यकारण की यह परम्परा प्रत्येक द्रव्य में सदा प्रवर्तित रहती है। उसका अन्त नहीं होता। अतः वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक कहा है क्योंकि द्रव्य के बिना

पर्याय नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता, जैसे उत्पाद व्यय के बिना ध्रौव्य और ध्रौव्य के बिना उत्पाद व्यय नहीं होते। उत्पाद व्यय पर्याय या परिणमन का सूचक है और ध्रौव्य स्थिरता या द्रव्यरूपता का सूचक है।

द्रव्य स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। न वह सर्वथा सत् ही है और न वह सर्वथा असत् ही है। यदि प्रत्येक वस्तु को सर्वथा सत् माना जाय तो सब वस्तुओं के सर्वथा सत् होने से उनमें जो भेद है उसका लोप हो जायेगा और उसके लोप होने से सब वस्तुएँ परस्पर में एक हो जायेंगी। उदाहरण के लिये घट और पट ये दो वस्तु हैं। जब हम किसी से घट लाने को कहते हैं तो वह घट ही लाता है पट नहीं लाता, और जब पट लाने को कहते हैं तो पट ही लाता है घट नहीं लाता। इससे सिद्ध है घट घट ही है और पट पट ही है। न घट पट है और न पट घट है। अतः घट घट रूप से है और पट रूप से नहीं है। इसी को दार्शनिक भाषा में कहते हैं घट है और नहीं है। उसका विश्लेषण होता है घट घट रूप से है पट रूप से नहीं है और पट पट रूप से है घट रूप से नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु स्वरूप से है और पर रूप से नहीं है। अतः संसार में जो सत् है वह किसी अपेक्षा असत् भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है। अतः एक ही समय में द्रव्य सत् भी है और असत् भी है। स्वरूप से सत् है और पर रूप से असत् है।

इसी तरह एक ही समय में वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य है क्योंकि द्रव्य रूप का नाश नहीं होता और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है क्योंकि पर्याय विनाशशील है। विश्व के दार्शनिकों की भी दृष्टि में आकाश नित्य है और दीपक क्षणिक है। किन्तु जैन दृष्टि से दीपक से लेकर आकाश द्रव्य तक सम-स्वाभावी हैं। द्रव्य रूप से दीपक भी नित्य है और पर्याय रूप से आकाश भी क्षणिक है।

इसी तरह एक ही समय में वस्तु एक भी है और अनेक भी है। पर्याय की अपेक्षा अनेक है क्योंकि वस्तु प्रति समय परिणामनशील है और द्रव्य रूप से वस्तु एक है। तथा एक ही समय में वस्तुभेद रूप भी और अभेद रूप भी है। द्रव्य रूप से अभेद रूप है और गुणों तथा पर्यायों के भेद से भेद रूप है। इस तरह वस्तु परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक धर्मात्मक होने से अनेकान्तात्मक है। अन्त शब्द धर्मवाचक है। यों तो सभी दार्शनिक वस्तु में अनेक धर्म मानते हैं। केवल एक ही धर्म वाली कोई वस्तु नहीं है। किन्तु जैन दर्शन अपेक्षा भेद या दृष्टि भेद से एक ही वस्तु में ऐसे अनेक धर्म मानता है जो परस्पर में विरुद्ध जैसे प्रतीत होते हैं—जैसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि। आचार्य समन्त मद्र ने अपने आप्त-मीमांसा प्रकरण में और आचार्य सिद्धसेन ने अपने सान्मति प्रकरण में इसकी व्यवस्थापना की है।

अकलंक देव ने अपनी अष्टशती में कहा है—

‘सदसन्नित्यानित्यादि सर्व धैकान्त प्रतिक्षेपल क्षणो अनेकान्तः’। सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि सर्वथा एकान्त का प्रतिक्षेप लक्षणवाला अनेकान्त है अर्थात् सर्वथा एकान्त का निषेधक है किन्तु अपेक्षा भेद से एकान्त को स्वीकार करता है। यदि एकान्त को सर्वथा न माना जाये तो अनेकान्त भी नहीं बन सकता क्योंकि एकान्तों का समूह ही तो अनेकान्त है। कहा है—

‘एयंतो एयणओ होइ अणेयंत तस्स समूहो’

नयवक १८०।

एक दृष्टि को एकान्त कहते हैं और उसका समूह अनेकान्त है। अनेकान्त को समझाने के लिये शास्त्रकारों ने दो लौकिक दृष्टान्त दिये हैं। एक ही पुरुष में पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राजेज, भाई आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं। एक ही समय में वह पिता भी होता है और पुत्र भी।

एक का पिता और पुत्र होना परस्पर विरुद्ध जैसा लगता है किन्तु वह अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता है, अतः एक का पिता होने से वह सब का पिता या पुत्र नहीं होता। और न इन बहुत सम्बन्धों का पुरुष के एकत्व के साथ विरोध है। इसी तरह अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्म भी एक वस्तु में निर्विरोध रहते हैं।

दूसरा दृष्टान्त दिया है अन्धों और हाथी का। कुछ अन्धे एक ही हाथी के एक-एक अंग को स्पर्श द्वारा जानकर अपने जाने हुए हाथी के एक अंग को ही हाथी मानकर परस्पर में झगड़ते हैं। तब एक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति जिसने पूरा हाथी देखा है उन्हें समझाता है कि तुमने हाथी का एक-एक अंग देखा है, वह असत्य नहीं है। हाथी की सूँड लट्ठ सरीखी होती है अतः हाथी वैसा भी है। उसके पैर स्तम्भ जैसे होते हैं अतः हाथी स्तम्भ जैसा भी है। इस तरह वह सबका समन्वय करके पूर्ण हाथी उन्हें बतला देता है। इसी तरह वस्तु के सब धर्मों का दर्शन अनेकान्त है और एक धर्म का दर्शन एकान्त है। यदि वह एकान्त अन्य धर्मों का निषेध न करके उनकी सापेक्षता स्वीकार करता है तब वह एकान्त सम्यक् है और यदि वह अपने को ही सम्यक् मानता है और अन्य एकान्तों को असत्य ठहराता है तो वह एकान्त मिथ्या है। अनेकान्तवादी जैन दर्शन सम्यक् एकान्तों को स्वीकार करता है किन्तु मिथ्या एकान्तों का खण्डन करता है।

एक अनेकात्मक होता है यह प्रायः अन्य दर्शनों ने भी माना है। सांख्य दर्शन में सत्व, रज और तम को सांभ्यावस्था को प्रधान कहा है। सत्वगुण का स्वभाव प्रसाद और लाघव है। रजोगुण का स्वभाव शोष और ताप है। तमोगुण का स्वभाव आवरण और सादन है। इस प्रकार इन भिन्न स्वभाववाले गुणों का न तो परस्पर में विरोध है और न प्रधान रूप से विरोध है क्योंकि सांख्य दर्शन में कहा है कि इन गुणों से भिन्न

कोई अलग प्रधान नहीं है किन्तु साम्य अवस्था को प्राप्त वे ही गुण प्रधान नाम से कहे जाते हैं। अतः प्रधान के अवयव रूप गुणों का और उनके समुदाय रूप प्रधान का परस्पर में कोई विरोध नहीं है।

बैशेषिक दर्शन में सामान्य की अनुवृत्ति रूप और विशेष की व्यावृत्ति रूप माना गया है। किन्तु पृथिवीत्व आदि को सामान्य विशेष रूप स्वीकार किया है। एक ही पृथिवीत्व अपने भेदों में अनुगत होने से सामान्य रूप और जलादि से व्यावृत्ति कराने से विशेष रूप माना गया है, इसी से उसे सामान्य विशेष कहा गया है।

विज्ञानार्द्धतवादी एक ही विज्ञान को ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इस प्रकार तीन आकार रूप स्वीकार करते हैं। तथा सभी दार्शनिक पूर्व अवस्था को कारण और उत्तर अवस्था को कार्य स्वीकार करते हैं। अतः एक ही पदार्थ में अपनी पूर्व और उत्तर पर्याय की दृष्टि से कारण और कार्य का व्यवहार निर्विरोध होता है। उसी तरह सभी पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक धर्मवाले होते हैं। इसे ही अनेकान्त कहते हैं।

इस अनेकान्तवाद का खण्डन बादरायण के सूत्र 'नैकस्मिन्नसंभवात्' (2/5/33) में मिलता है। इसकी व्याख्या में स्वामी शंकराचार्य ने अनेकान्तवाद पर जो सबसे बड़ा दूषण दिया है वह है 'अनिश्चितता'। उनका कहना है कि 'वस्तु है और नहीं भी है' ऐसा कहना अनिश्चितता को बतलाता है। और अनिश्चितता संशय को पैदा करती है। किन्तु ऊपर स्पष्ट किया गया है कि वस्तु स्वरूप से सत् है और पर रूप से असत् है। यह निश्चित है—इसमें अनिश्चितता को स्थान नहीं है। देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी है, इसमें जैसे कोई अनिश्चितता नहीं है क्योंकि वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, उसी तरह वस्तु सत् भी है और असत् भी, इसमें कोई

अनिश्चितता नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होती है यह निश्चित है। इसके बिना वस्तु व्यवस्था नहीं बनती। वस्तु का वस्तुत्व दो मुद्दों पर स्थापित है—स्वरूप का ग्रहण और पर रूपों का त्याग। यदि इनमें से एक भी मुद्दे को अस्वीकार किया जाय तो वस्तु का वस्तुत्व कायम नहीं रह सकता। यदि वस्तु का अपना कोई स्वरूप न हो तो बिना स्वरूप के वह वस्तु नहीं हो सकती। इसी तरह स्वरूप की तरह यदि वह पर रूप को भी अपना ले तो भी उसकी अपनी स्थिति नहीं रहती। वह तो सर्वात्मक हो जायेगी।

स्याद्वाद—

इस प्रकार जब वस्तु परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होने-वाले धर्मों का समूह है तो उसको जानना उतना कठिन नहीं है जितना उसे कहना कठिन है। क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक साथ जान सकता है किन्तु शब्द के द्वारा एक समय में वस्तु के एक ही धर्म को कहा जा सकता है। उस पर भी शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्य करके बोलता है। जैसे देवदत्त को उसका पिता पुत्र कहकर बुलाता है और पुत्र पिता कहकर पुकारता है। किन्तु देवदत्त न केवल पिता है और न केवल पुत्र है। वह तो दोनों है। किन्तु पिता की दृष्टि से देवदत्त का पुत्रत्व धर्म मुख्य है और पुत्र की दृष्टि से पितृत्व धर्म मुख्य है। शेष धर्म गौण है क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य और शेष धर्म गौण होते हैं। अतः वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने और शब्द में एक समय में उन सब धर्मों को कहने की शक्ति न होने से तथा वक्ता का अपनी-अपनी दृष्टि से वचन व्यवहार करते देखकर, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने में श्रोता को कोई धोखा न हो, इसलिये अनेकान्तवाद में से स्याद्वाद का आविष्कार हुआ।

आचार्यों ने अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहा है। 'स्याद्वाद' के अनुसार वक्ता वस्तु के जिस धर्म को कहता है उससे इतर शेष धर्मों का सूचक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ प्रकट या अप्रकट रूप से सम्बद्ध रहता है जो बतलाता है कि वस्तु में केवल वही धर्म नहीं है जो कहा जा रहा है किन्तु उसके सिवाय अन्य भी धर्म है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथञ्चित्' या किसी 'अपेक्षा से' है।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तस्यागात् किवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेय विशेषकः ॥

—आप्तमीमांसा—१०४।

अर्थात् 'कथञ्चित्' कथञ्चन आदि स्याद्वाद के पर्याय हैं, स्याद्वाद को कहते हैं। यह स्याद्वाद अनेकान्त को विषय करके सात भंगों और नयों की अपेक्षा से स्वभाव और परभाव से सत् असत् आदि की व्यवस्था का कथन करता है।

अतः वाक्य के साथ प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द प्रकृत अर्थ के धर्मों को पूर्ण रूप से सूचित करता है। इस तरह अकलंक देव के अग्निप्राय से 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का सूचक है और उनके व्याख्याकार आचार्य विद्यानन्द के अग्निप्राय से अनेकान्त का द्योतक भी है क्योंकि निपात द्योतक भी होते हैं। यदि केवल 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाये तो अनेकान्त सामान्य की ही प्रतिपत्ति होती है, अतः उसके साथ जीव आदि पद का प्रयोग किया जाता है यथा 'स्यात् जीव' अर्थात् कथञ्चित् जीव है—स्वरूप की अपेक्षा जीव है तथा पररूप की अपेक्षा जीव नहीं है। स्यात् शब्द के बिना अनेकान्त अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

किन्तु लोक में और शास्त्र में प्रत्येक पद और प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् पद का प्रयोग तो नहीं देखा जाता। तब उसके बिना अनेकान्त की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में आचार्य विद्यानन्द ने कहा है—स्यात् पद का प्रयोग नहीं होने पर भी उसको जाननेवाले उसे समझ लेते हैं।

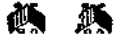
कोई-कोई आधुनिक विद्वान् शायद को स्यात् का स्थानापन्न समझते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है। 'शायद' शब्द तो सन्देह को व्यक्त करता है किन्तु 'स्यात्' शब्द सन्देहपरक नहीं है। वह केवल इस बात का सूचक या द्योतक है कि वक्ता विवक्षावश वस्तु के जिस धर्म को कहता है वस्तु में केवल वही एक धर्म नहीं है अन्य भी प्रतिपक्षी धर्म हैं।

उपयोग—

यह स्याद्वाद या अपेक्षावाद न केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही उपयोगी है किन्तु लोकव्यवहार भी उसके बिना नहीं चलता। इसके लिये दो लौकिक दृष्टान्त ऊपर दिये गये हैं। यह अनेकान्तवाद की देन है और एक वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखनेवाले विभिन्न व्यक्तियों में सामन्जस्य स्थापित करना इसका काम है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही दृष्टिकोण को उचित और दूसरों के दृष्टिकोण को गलत मानता है। यदि वह अपने दृष्टिकोण की तरह दूसरे दृष्टिकोणों को भी सहानुभूतिपूर्वक अपनाये तो पारस्परिक विवाद समाप्त हो जाता है। यद्यपि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दार्शनिक क्षेत्र की देन हैं और इनका उपयोग भी दार्शनिक क्षेत्र के विवादों को सुलझाने में ही हुआ है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दो विरोधी एकान्तवादों में दोष दिखाकर यह बताने का सफल प्रयत्न किया है कि यदि इनका समन्वय स्याद्वाद के द्वारा किया जाता है तो ये विरोधी वाद भी अविच्छेद हो जाते हैं। भावैकान्त अभावैकान्त, नित्यैकान्त अनित्यैकान्त, भेदैकान्त अभेदैकान्त, अद्वैतैकान्त द्वैतै-

कान्त, आदि सभी विरोधी एकान्तवादों का जब समन्वय संभव है तब कौनसी समस्या इसके द्वारा हल नहीं की जा सकती। किन्तु उसका प्रयोग करने की आवश्यकता है। इसके लिये मूल में महावीर की अहिंसक भावना होना आवश्यक है। अहिंसक भावना की ही देन अनेकान्त और स्याद्वाद है। विचार के क्षेत्र में जो हिंसा का ताण्डव होता था उसे मिटाने के लिये ही अनेकान्त और स्याद्वाद का सर्जन हुआ। इनके बिना विचार के क्षेत्र में प्रवर्तित हिंसा का मिटना अशक्य

है। अतः अहिंसा का ही एक नाम अनेकान्त और स्याद्वाद है यदि ऐसा कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं है। इसे हम सत्याग्रह भी कह सकते हैं क्योंकि अनेकान्ती सत्य के प्रति आग्रही होता है। जो सत्य है वह अनेकान्त रूप है और जो अनेकान्त रूप है वही सत्य है। अनेकान्त दृष्टि के बिना सत्य तक पहुँचना संभव नहीं है। अतः सत्य के खोजी को अनेकान्त दृष्टि से सम्पन्न होना चाहिये तभी वह सत्य दृष्टा हो सकता है।



बैशाली के राजकुमार वर्द्धमान एक ऐसे क्रान्ति-दृष्टा युग पुरुष थे जो कठोर साधना के परिणाम स्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त कर आत्मविजयी हो महावीर बने जिन परिस्थितियों ने वर्द्धमान को महावीर बनने को प्रेरित किया उनके मूल में मुख्यतः तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां ही थीं, जिनमें राजनीतिक अस्थिरता, हिंसा, कलह, तथा शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था, ईश्वरवाद, पाखंडवाद, अन्ध विश्वास व बलि प्रथा पर आधारित धार्मिक व्यवस्था तथा इनकी प्रतिक्रिया स्वरूप दास प्रथा, भेदभाव पूर्ण वर्ण

वर्ष तक कठोर साधना के उपरान्त केवलज्ञान को प्राप्त वर्द्धमान ने देश के कोने-कोने में भ्रमण कर जन-मत जाग्रत किया और तत्कालीन समाज में व्याप्त दोष-पूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध अहिंसक क्रान्ति का सूत्रपात कर ऐसी सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया जिसने सम्पूर्ण देश की सामाजिक परिस्थितियों को झकझोर कर जन-जन में आत्म विश्वास की लहर जगा दी।

भगवान महावीर ने तत्कालीन समाज में, धार्मिक क्षेत्र में धर्म प्रमुखों द्वारा प्रचलित उन समस्त विचार-

तीर्थंकर महावीर और उनकी सामाजिक क्रान्ति

चन्दनमल बंद

व्यवस्था का प्राधान्य था जिसके कारण सामाजिक एवम् न्यायिक मानदण्ड चरमरा रहे थे। राज्य शासक वर्ग में तीव्र विद्वेष के कारण हिंसामय वातावरण व्याप्त था, दासी को पशु तुल्य तथा नारी को भोग्य सामग्री समझा जाता था, जिसके कारण सम्पूर्ण देश और सभ्यता पतन के गर्त में समाती जा रही थी।

वर्द्धमान ने जब यह सब देखा तो उनका मन घृणा और ग्लानि से द्रवित हो उठा और वह राज परिवार छोड़ क्रान्तिपथ पर अग्रसर हो गए। निरन्तर बारह

धाराओं और अन्ध विश्वासों को खण्डित किया जिसके अनुसार धर्मगुरुओं ने ईश्वरवाद की धारणा प्रचलित कर राजा को ईश्वर का अवतार, ब्राह्मण को ईश्वर का प्रवक्ता तथा पराजित व्यक्ति को दास और विजेता को स्वामी माना जाता था। महावीर ने कहा कि राजा देव या ईश्वरीय अवतार नहीं है, वह एक शक्ति सम्पन्न पुरुष मात्र है। ईश्वर या उसके अवतार जैसी किसी चीज का कोई अस्तित्व नहीं है। विश्व में कोई दूसरी ऐसी शक्ति नहीं है जो व्यक्ति की गतिविधियों को

शासित या निर्धारित करती हो अथवा संसार को चलाती हो। मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है, वह जो कुछ करता है उसका परिणाम उसे स्वयं को ही जन्म जन्मान्तर में भोगना होगा। कोई दूसरी शक्ति उसे इससे मुक्त नहीं करा सकती, इससे तो वह स्वयं के ही सदकर्मों से मुक्ति पा सकता है।

तीर्थंकर महावीर और उनसे पूर्व तीर्थंकरों द्वारा अवतारवाद की धारणा का खण्डन कर उन पर मानवीय मूल्यों की महत्ता, उनके धर्म का विशिष्ट गुण है। अन्य संस्कृतियों में जहां विभिन्न महापुरुषों को धर्म गुरुओं ने ईश्वरवाद के चौखटे में जड़, मानव से अलग कर उन्हें ईश्वरीय अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया और उनके व्यक्तित्व को विकृत कर अवतारवादी ढांचे में जड़ दिया। वहां तीर्थंकर महावीर के अनुयायीयों की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि ही कही जायगी कि उन्होंने अपने को इससे मुक्त रख महावीर को तीर्थंकर या महा मानव के रूप में ही प्रतिष्ठित किया जिसके कारण मानवीय मूल्यों की स्थापना में जैन संस्कृति अग्रणी मानी जाती है।

तीर्थंकर महावीर ने तत्कालीन भारत में प्रचलित वर्ण व्यवस्था तथा दास व्यवस्था पर भी प्रहार किया जिसमें मनुष्य की जन्मगत महानता स्थापित होती थी। उन्होंने कहा कि सभी मनुष्य एक से पैदा होते हैं, सभी को अपना विकास करने का समान अधिकार है। मनुष्य की प्रतिष्ठा और स्थान जन्मगत विशेषताओं के आधार पर नहीं बरन उसके गुणों एवम् सदकर्मों पर आधारित हो, इसलिये उन्होंने जन जागृति का माध्यम अपनाया उन्होंने अनेकों शूद्रों को दीक्षित किया तथा दासों को मुक्त कराकर उन्हें सम्मान जनक स्थान दिया। उनके उपदेशों के समय सभी जाति, वर्ग और वर्ण के नर-नारी ही नहीं बरन सभी प्रकार के जीव साथ बैठकर उपदेश सुनते थे। अनेकों नारियों को दीक्षित कर

उन्होंने नर के समान सम्मान एवम् स्थान प्रदान किया।

इस प्रकार भगवान महावीर ने साम्प्रदायिक भेदों को समाप्त कर पाखंडवाद व वर्ण एवं वर्ग भेद की जंजीरों को तोड़कर प्राणी मात्र के सहअस्तित्व व लोककल्याण का; तथा मनुष्य की जन्मगत महानता के स्थान पर सदकार्यों से उनकी महानता व ईश्वर सम्बन्धी अवतारवादी विचार के स्थान पर शुद्ध आत्मा ही परमात्मा का विचार देकर मानव धर्म की स्थापना कर मानवीयता को नई दिशा दी।

तीर्थंकर महावीर ने अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण समाज व्यवस्था के सभी कारकों को आन्दोलित कर नवीन स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को पुरुषार्थ प्रदर्शित करने को प्रेरित किया तथा श्रम को जीवन का आवश्यक अंग बताते हुए उसकी अनिवार्यता सिद्ध कर तत्कालीन समाज में आर्थिक विषमता के कारण उत्पन्न वर्ग भेद पर भी प्रहार किया जिसके कारण तत्कालीन समाज दो वर्गों में बंट गया था, एक कुलीन तथा शोषक वर्ग और दूसरा निम्न तथा शोषित वर्ग। तीर्थंकर महावीर स्वयं राजपुत्र होने के नाते संग्रहवृत्ति से उत्पन्न दोषों तथा समस्याओं से परिचित थे। इस व्यवस्था के विकल्प में उन्होंने अपरिग्रह दर्शन दे, मनुष्य को अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु परिग्रह बत धारण करने की शिक्षा दी।

इस प्रकार जहां तीर्थंकर महावीर ने सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन कर आदर्श समाज की स्थापना पर बल दिया वहां सम्पूर्ण जीवन दर्शन प्रदान कर आदर्श परिवार पर भी बल दिया था तथा ग्रहस्थ एव साधु के लिये प्रथक-प्रथक आचार संहिता दी। उन्होंने इकाई के सुधार पर बल देते हुए प्रत्येक व्यक्ति को दशलक्षण धम तथा पंच महाव्रतों के पालन का

उपदेश दे स्वयं अनुशासन वद्ध जीवन पद्धति के पालन का उपदेश दिया। इसके लिये उनके सर्वाङ्गीण शिक्षा पर बल दिया जिसके आधार पर धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना तथा आदर्श विश्व का निर्माण हो सकता है।

तीर्थंकर महावीर के सिद्धान्त और उपदेश पूर्ण शास्वत एवं मौलिक होने से आज भी उतने ही उपयोगी हैं। जिन-सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं ने उन्हें तत्कालीन समाज में सामाजिक क्रान्ति को प्रेरित किया था उनमें से अनेक दोष परिवर्तित परिवेशों में वर्तमान समाज में भी व्याप्त होते जा रहे हैं। आर्थिक असमानता, अस्पृश्यता एवं भेदभाव, विद्वेष, सामाजिक

असंतुलन तथा शोषकवृत्ति आज भी नवीन स्वरूपों में समाज के कोढ़ की तरह विद्यमान है, जिनके विरुद्ध तीव्र किन्तु अहिंसक सामाजिक क्रान्ति की नितान्त आवश्यकता है। युग पुरुष महात्मा गांधी ने तीर्थंकर महावीर के विचारों को नवीन परिवेशों में स्थापित कर वर्तमान भारत में जिस सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया तथा स्वाधीनतापरांत हमारे नवीन संविधान, में वर्णित निर्देशक सिद्धान्तों ने जिसे गति दी है, उनकी पूर्ति के लिये तथा आदर्श समाज की स्थापना के लिये आज तीर्थंकर महावीर के सिद्धान्तों के प्रचार व प्रसार की जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी नहीं थी।



वर्तमान युग में महावीर के उपदेशों की सार्थकता

सन् 1969 में जब महात्मा गाँधी का जन्म-शताब्दी समारोह देश-विदेश में मनाया गया था, कुछ व्यक्तियों ने खुले आम कहा था कि अब लोगों के सोचने का ढंग कुछ और हो गया है, समाज की मान्यताएँ बदल गई हैं, देश का मुँह दूसरी ओर हो गया है, ऐसी दशा में गाँधी जी के नाम और सिद्धान्तों का ढिंढोरा पीटने से लाभ क्या है? उन लोगों की धारणा यह थी कि गाँधीजी के उसूल पुराने पड़ गये हैं, और आज युग के लिए उनकी कोई सार्थकता नहीं है। पाठक भूले नहीं होंगे कि इस संदर्भ में बहुत-सी गोष्ठियाँ आयोजित की गईं, समाचार-पत्रों में लेख लिखे गये, काफी साहित्य का प्रकाशन किया गया और यह सिद्ध करने की भरपूर कोशिश की गई कि गाँधीजी के सिद्धान्त आज भी उपयोगी हैं और कि वे युग-युगान्तर तक संगत एवं उपयुक्त रहेंगे।

जिनके निधन को मुश्किल से 27 वर्ष हुए हैं, उन गाँधीजी के बारे में जब ऐसा कहा जा सकता है, तब भगवान महावीर के विषय में यही बातें कही जाएँ तो आश्चर्य क्या, जिनके निर्वाण को 2500 वर्ष हो गये। सच यह है कि हमारे देश में महापुरुषों के सिद्धान्तों की मूल आत्मा को समझकर आत्मदर्शन करने का प्रयास बहुत कम हुआ है। यही कारण है कि महापुरुषों का निरन्तर गुणानुवाद करके भी हम उनके आत्म-शोधक तथा लोककल्याणकारी मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाये।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव को 13 नवम्बर, 1974 से 15 नवम्बर 1975 तक देश विदेश में मनाने की योजना बड़ी भावना, उमंग और उत्साह से बनाई गई। राष्ट्रीय समिति बनी, जैन महासमिति का गठन हुआ, विभिन्न प्रान्तों में समितियों का निर्माण किया गया, छोटी-बड़ी अन्य संस्थाओं ने भी अपने-अपने क्षेत्र में, अपने-अपने साधनों के अनुसार इस महायज्ञ में अपना हविर्भाग अर्पित करने की चेष्टाएँ कीं। योजनाएँ

बनीं, उन्हें क्रियान्वित करने के लिए निजी एवं सामूहिक प्रयास भी हुए। कुछ योजनाएं पूरी हुईं, कुछ अधूरी रह गईं, शायद भविष्य में पूरी हों। लेकिन कुल मिलाकर मुझे ऐसा लगता है कि इतनी भावना और साधना के बाद भी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर महावीर और उनके सिद्धान्तों का जो प्रभाव पड़ना चाहिए, वह पड़ा दिखाई नहीं देता।

इसका मुख्य कारण यह है कि महावीर की भूमिका के बाह्यरूप पर तो बल दिया गया, लेकिन उनके आन्तरिक रूप को गहराई से समझने और पकड़ने की कोशिश नहीं की गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज युग की धारा अत्यन्त उद्दम गति से भौतिकता की ओर प्रवाहित हो रही है और उसकी दिशा को बदलना आसान नहीं है, फिर भी यदि महावीर के सिद्धान्तों के स्थूल प्रतिपादन के साथ-साथ उनकी भूमिका को समझकर उसका वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवन में प्रवेश कराने के लिए प्रयत्न किये गये होते तो आज स्थिति कुछ और ही होती।

आइये, आज के बदले संदर्भों में हम महावीर के उपदेशों की उपयोगिता को देखने और समझने का प्रयत्न करें।

पाठक जानते हैं कि महावीर राज-घराने में जन्मे थे। उनके चारों ओर विपुल सम्पदा थी, अपार वैभव था, अतुलित सत्ता थी; लेकिन धन-सम्पदा अथवा सत्ता के द्वारा उन्होंने समाज का मला करने की बात कभी नहीं सोची?

इस प्रश्न का उत्तर उनके जीवन की एक घटना देती है।

एक दिन महावीर कहीं जा रहे थे। अचानक बस्ती के एक भवन से उन्हें किसी का क्रन्दन सुनायी

दिया। राजपुत्र ने अपने परिचारक से पूछा, “वह क्या है? जाओ पता लगाकर आओ।” परिचारक गया, थोड़ी देर में लौटकर उसने बताया, ‘मालिक अपने दास को पीट रहा है।’

“क्यों?” महावीर ने आकुल होकर पूछा।

“इसलिए कि वह खरीदा हुआ है।”

क्या हमारे शासन ने यह अधिकार दे रखा है कि एक आदमी दूसरे की खरीद ले?”

“जी हाँ, खरीदने का ही नहीं, बल्कि दास को मारने तक का भी अधिकार शासन ने दे रखा है।

महावीर का सम्बेदनशील हृदय इस घटना से मर्माहत हो उठा। ऐसा शासन किस काम का, जो एक व्यक्ति को दूसरे को खरीदने और मारने का अधिकार दे?

हमारा इतिहास बताता है कि अरिष्टनेमि पशुओं का चोत्कार सुनकर अहिंसा के मार्ग के पथिक बन गये थे, पार्श्वनाथ ने जलती लकड़ी में सांपों के एक जोड़े को अर्द्धदण्ड देकर जीवन की नई दिशा में मोड़ दिया था, बुद्ध संसार से रोग, जरा और मृत्यु की मुक्ति का मार्ग खोजने के लिए गृह-त्याग कर साधना में लीन हो गये थे। महावीर के मन में भी इस घटना से राज-सत्ता के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हुई और उनका मन ऐसा जीवन जीने के लिए आतुर हो उठा, जिसमें न कोई किसी का स्वामी हो, न कोई किसी का दास हो, बल्कि जिसमें मानवीय मूल्यों की प्रधानता हो। धन-सम्पदा में बचपन से ही उन्हें रस नहीं था, इस छोटी-सी घटना ने उन्हें सत्ता से भी विमुख कर दिया। उनके हृदय में स्वतंत्रता की लौ प्रदीप्त हो उठी। मुनि नथमल जी ‘श्रमण महावीर’ में लिखते हैं, “वह लौ इतनी उद्दम थी कि, ऐश्वर्य की हवा की प्रखर झांकी

भी उसे बुझा नहीं पा रही थी। कुमार घर की दीवारों में बन्द रहकर भी मन की दीवारों का अतिक्रमण करने लगे। किसी वस्तु में बद्ध रहकर जीने का अर्थ उनकी दृष्टि में था स्वतन्त्रता का हनन। उन्होंने स्वतन्त्रता की साधना के तीन आयाम एक साथ खोल दिये, एक था अहिंसा, दूसरा सत्य और तीसरा ब्रह्मचर्य। अहिंसा की साधना के लिए उन्होंने मैत्री का विकास किया। उनसे मूक जीवों की हिंसा भी असंभव होगी। सत्य की साधना के लिए वे ध्यान और भावना का अभ्यास करने लगे। मैं अकेला हूँ, इस भावना के द्वारा उन्होंने अनासक्ति को साधा और उसके द्वारा आत्मा की उपलब्धि का द्वार खोला। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए उन्होंने अस्वाद का अभ्यास किया। शरीर के ममत्व से मुक्ति पा ली, अब्रह्मचर्य की आय अपने-आप बुझ गई।”

वर्तमान युग में हम धन-सम्पत्ति और सत्ता की प्रभुता देखते हैं, लेकिन महावीर ने उन्हें त्याग। क्योंकि उन्होंने इस सचाई को भली प्रकार हृदयंगम कर लिया कि सच्चा सुख ऐसा जीवन व्यतीत करने में है, जिसमें छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन आदि का भेद-भाव न हो और व्यक्ति आत्मिक सम्पदा का उत्तरोत्तर विकास करे।

हमारी सारी मनीभूमिका आज इस प्रकार की हो गयी है कि हम पदार्थ को सुख का साधन मान बैठे हैं और उसी की उपासना कर रहे हैं। हम यह भूल गये हैं कि जो नाशवान है वह स्थायी सुख कभी दे नहीं सकता। महावीर ने कहा था, “यदि धनधान्य से परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाए, तो भी उसे सन्तोष होने का नहीं।”

“हाथ में दीरक होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामने का मार्ग दिखाई नहीं देता, उसी तरह धन के असौम्य मोह में भूढ़ मनुष्य न्यायमार्ग को देखता हुआ

भी नहीं देख सकता।” इसलिए उन्होंने आह्वान किया :

विद्याणिवा दुक्खविबुद्धणं
ममत्तबंधं च महब्भय ।
सुहाव्हं धम्मधुरं अनुतरं,
घारेज्ज निव्वाणं गृणवहं महं ॥

“धन को दुख बढ़ानेवाला, ममत्व-बन्धन का कारण और भयावह जानकर उस सुखावह, अनुपम और महान धर्मधुरा को धारणा करो, जो निर्वाण-गुणों को बहन करने वाली है।

हमारे दुःखों का मूल कारण मन की चंचलता है। सोते-जागते, उठते-बैठते, दिन-रात, मन दीड़ लगाता रहता है। उसे जितना दो, उतना ही वह और मांगता है। कभी सन्तुष्ट नहीं होता। उसकी चाह बढ़ती ही जाती है। इसलिए महावीर ने सबसे पहला कदम मन को वश में करने के लिए उठाया। उन्होंने घर में साधना की और समय आने पर सारी सम्पदा और वैभव को त्याग, राजसत्ता को तिलांजलि दी और मन को नियंत्रित करके पूर्ण स्वतंत्रता अर्जित करने के लिए कठोर साधना के मार्ग पर चल पड़े। बस्त्रों तक का त्याग, एकांत-ब्राम, खान-पान की उपेक्षा, ध्यान में तल्लीनता आदि-आदि उनके प्रयास उसी दिशा के थे। मन पर जैसे-जैसे नियंत्रण होता गया, वैसे-वैसे प्रकाश से जगमगाते एक नूतन लोक में वह प्रविष्ट होते गये।

सब जानते हैं कि मन की सबसे अधिक उछलकूद उस समय होती है, जब कि वह किसी भी प्रकार के मद से आक्रान्त होता है। बीते युग की स्मृतियाँ और भविष्य की कल्पनाएँ मानवमन को सतत आलोड़ित करती रहती हैं। महावीर ने उन स्मृतियों और कल्पनाओं के दुष्प्रभाव से अपने मन को मुक्त करने का उपक्रम किया और ज्यों-ज्यों उनसे उसका नाता टूटता गया,

उनका मन निर्भीक होता गया। बारह वर्ष के उनके साधनाकाल की कैसी-कैसी भयंकर घटनाएँ पढ़ने को मिलती हैं। पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मेरी मान्यता है कि उन पर हाथी, नाग आदि के जो आक्रमण हुए, वे उनके अपने विकार ही थे। व्यक्ति विकार-ग्रस्त तभी होता है, जब उसका मन उसके नियंत्रण में नहीं होता। महावीर के मन के नियंत्रित होते ही उनके विकारों के लिए कोई स्थान न रहा। अतः यह स्वाभाविक ही था कि निराश्रय हो जाने पर विकारों ने कुपित होकर महावीर को भयंकर-से-भयंकर यातनाएँ पहुँचाई थीं। नाग आदि तो प्रतीक मात्र थे। महावीर को अपने विकारों से किस हद तक जूझना पड़ा होगा, उसकी सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता और जीता है। किसी के साथ उसका राग होता है, किसी के साथ द्वेष। जिन्हें वह प्रेम करता है, जो उसके काम आते हैं, उनके साथ उसका राग होता है; जिनसे वह घृणा करता है, जो उसे सहयोग नहीं देते, उनके प्रति वह द्वेष रखता है। लेकिन महावीर का मन जैसे ही नियंत्रण में आया उनके लिए अपने और पराये का भेद जाता रहा, सब उनके अपने हो गये, सबके साथ उनका आत्मीयता का नाता जुड़ गया। वह वीतराग और वीत-द्वेष हो गये। उनके अन्तस् में सबके प्रति प्रेम का निर्मल-पावन स्रोत फूट उठा। सबके साथ समता-भाव स्थापित हो गया। उन्होंने कहा :

“राग-द्वेष ऐसे दो पाप हैं, जो सारे पाप कर्मों को जन्म देते हैं।”

“राग द्वेष को पैदा करने में शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श ये पाँच वस्तुएँ विशेष सहायक होती हैं।” महावीर ने उस सम्बन्ध में मानव की दुर्बलता को ध्यान में रखकर मार्ग सुझाते हुए कहा।

“शब्द श्रोतेन्द्रिय का विषय है। काम में पड़े हुए शब्दों को न सुनना शक्य नहीं। काम में पड़े हुए शब्दों में राग-द्वेष का परित्याग करो।

“रूप चक्षु का विषय है। आँखों के सामने आये हुए रूप को न देखना शक्य नहीं। आँखों के सामने आये हुए रूप में राग-द्वेष का परित्याग करो।

“गन्ध नाक का विषय है। नाक के समीप आयी हुई गन्ध को न सूँघना शक्य नहीं। नाक के समीप आई हुई गन्ध में राग-द्वेष का परित्याग करो।

“रस जिह्वा का विषय है। जिह्वा पर आये हुए रस का आस्वाद न लेना शक्य नहीं। जिह्वा पर आये हुए रस में रागद्वेष का परित्याग करो।

“स्पर्श शरीर का विषय है। स्पर्श का विषय उपस्थित होने पर उसमें राग-द्वेष न करो।”

देश-काल के अनुसार सन्दर्भ बदलते रहते हैं, युग नया परिवेश धारण करता है। लेकिन शाश्वत मूल्यों में कभी परिवर्तन नहीं होता। भगवान महावीर ने जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा की, वे शाश्वत हैं। उनका आरम्भ वैयक्तिक जीवन से होता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश जब तक व्यक्ति के जीवन में नहीं होगा, वे समाज में प्रविष्ट हो ही नहीं सकते। इसीलिए कहा गया है कि वैयक्तिक साधना समाज का अधिष्ठान बनती है।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव को मनाने की योजना बनाते समय एक कमी यह रह गयी कि महावीर के सिद्धान्तों को समाज में स्थापित करने पर जितना बल दिया गया, उतना व्यक्ति के जीवन में उन्हें स्थापित करने पर नहीं दिया गया। यही कारण है कि पूरा वर्ष वीत जाने पर भी हमारे प्रयत्नों का प्रत्यक्षतया विशेष परिणाम सामने नहीं आ पाया।

सन्दर्भ कितने ही बदलें लेकिन महावीर के सिद्धान्त हिमालय की तरह अटल हैं, गंगा की तरह पावन हैं। अतः हम स्मरण रखें कि भगवान महावीर को जब तक अपने आन्तरिक जीवन में प्रतिष्ठित नहीं करेंगे तब तक न हमारा भंगल हो सकता है, न समाज का, न राष्ट्र का।



मानव समाज के विकास में स्त्री व पुरुष दोनों को समान स्थान प्राप्त है। स्त्री और पुरुष दोनों होने से एक घटक को अधिक महत्व दिया जाता है तो समाज सर्वांगीण उन्नति नहीं कर सकता। इसलिए समाज की निर्मिती व मानव का विकास और सामाजिक प्रगति के लिए नारी पुरुष के साथ बराबर काम करती रही है।

अन्य किसी भी धर्म की अपेक्षा जैन धर्म में नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसी धर्म ने पुराने मूल्यों को बदल कर उसके स्थान पर परिष्कृत मूल्यों की स्थापना की है। जैन धर्म की दृष्टि से नर और नारी दोनों समान है। भगवान महावीर ने प्रत्येक जीव की स्वतंत्रता स्वीकार की है। इसलिए व्रत धारण करने का जितना अधिकार श्रावक को दिया गया है, उतना ही अधिकार श्राविका का बताया है। जैन शास्त्रों में नारी जाति को गृहस्थ जीवन में धम्मसहाया (धर्म सहायिका) धर्म-सहचारिणी, देव गुरुजनसंकाशा इत्यादि शब्दों में जगह जगह प्रशंसित किया है। नारी को समाज में सम्माननीय और आदरणीय माना गया है।

महिलाओं को सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में दिए हुए समान अधिकार का बीज जैन धर्म के अत्यन्त

भगवान महावीर और नारी-मक्ति⁹

प्राचीन काल में ऋषभनाथ तीर्थंकर ने बोया था। उन्होंने गृहस्थावस्था में ब्राम्हि और सुन्दरी इन दोनों कन्याओं को अक्षरविद्या और अध्यात्मविद्या प्रदान की थी। इतना ही नहीं भ. वृषभनाथ से उन दोनों ने आर्थिकान्त की दीक्षा ली थी। चतुर्विध संघ के आर्थिक संघ गणिनी (प्रमुख) आर्थिक ब्राम्हि ही थी। दीक्षा ग्रहण करने का अधिकार स्त्रियों को उस काल में प्राप्त होना यह आध्यात्मिक जगत में क्रान्ति ही थी। यह परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप में चली आ रही है।

राजा अग्रसेन की कन्या राजुल-सती नेमिनाथ के दीक्षा ग्रहण करते ही आर्थिक की दीक्षा ग्रहण कर आत्म-कल्याण की और अग्रसर हुई। वैशाली



पद्मश्री पं. मुमतीबाई शहा

के चेटक राजा की कन्या चन्द्रासनी ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर भगवान महावीर से दीक्षा ली। सती चन्दनवाला ने वैवाहिक बंधन में न बंधकर भगवान महावीर से आर्थिक की दीक्षा ली और साध्वियों की प्रमुख

बनीं। इस प्रकार जब अन्य धर्म मनीषियों ने स्त्रियों की पुरुषों का अनुवर्ति माना उस समय भगवान् महावीर ने स्त्रियों की स्वतंत्रता और उनके समान अधिकार की घोषणा की। आज भी भारत में हजारों साध्वियाँ आश्रमों का कठिन व्रत धारण कर आत्मकल्याण के साथ-साथ महिलाओं में आत्मिक जागृती का कार्य कर रही हैं।

सामाजिक कार्य और जैन नारी :—जैन शास्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि महावीर के समय में और उसके पूर्व महिलाओं को आजन्म अविवाहित रहकर समाजसेवा और आत्मकल्याण करने की अनुज्ञा थी। आदिपुराण पर्व 18 श्लोक 76 के अनुसार इस काल में पुरुषों के साथ ही कन्याओं पर भी विविध संस्कार किये जाते थे। राज्य परिवार से संबंधित महिलाओं को विशेषाधिकार प्राप्त थे। कन्या पिता की संपत्ति में से दान भी कर सकती थी। उदाहरण के लिए सुलोचना ने अपनी कौमार्यावस्था में रत्नमयी जिन प्रतिमा की निर्मिती की थी और उन प्रतिमाओं को प्रतिष्ठा करने के लिए बड़े ढंग से पूजाभिषेक विधि का भी आयोजन किया था।

कुछ जैन महिलाएँ राज्य व्यवहार में पूर्ण निपुण थीं साथ में उन्होंने राज्य की रक्षा के लिए युद्ध में प्रत्यक्ष भाग लिया था। इसके लिए अनेक ऐतिहासिक उदाहरण दिए जा सकते हैं। पंजिर देश के प्रसिद्ध सखिष राजा की कन्या अर्धांगिनी ने खारवेल राजा के विरुद्ध किये गये आक्रमण में उसे सहयोग दिया था। इतना ही नहीं उसने इस युद्ध के लिए महिलाओं की स्वतंत्र सेना भी खड़ी की थी। युद्ध में राजा खारवेल के विजय पाने पर खारवेल राजा के साथ उसका विवाह हुआ था। गंग धराने के सरदार नाम की लड़की और राजा विखर लोक विद्याधर की पत्नी सामिमबने युद्ध की सभी कलाओं में पारंगत थी। सामिमबने के मर्मस्थल पर बाण लगने से उसे मूर्च्छा आ गई और

भगवान् जिनेन्द्र का नाम स्मरण करते उसने इहलोक की यात्रा समाप्त की।

विजय नगर की सरदार चांपा की कन्या रानी भैरवदेवी ने राज्य नष्ट होने के बाद अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था और वहाँ मातृसत्ताक पद्धति से कई बरसों तक राज्य चलाया था। नालजकोड देशके अधिकारी नागार्जन की मृत्यु के बाद कदंबराज ने उनकी देवी वीरांगना जवकमव के कंधों पर राज्यकार्य भार की जिम्मेदारी रखी। आलेशो में इसे 'युद्ध-शक्ति मुक्ता और 'जिनेन्द्र शासन भक्ता' कहा गया है। अपने अंत काल तक उसने राज्य कार्य भार की जिम्मेदारी संभाली।

गंग राजवंश की अनेक नारियों ने राज्यकार्य भार की जिम्मेदारी संभालकर अनेक जिन मंदिर व तालाब बनाए। चम्पला रानी का नाम जिन मंदिर निर्मिती और जैन धर्म की प्रभावना के लिए अधिक प्रसिद्ध है। उसी प्रकार श्रवण बेल गोल शिला लेख क्र. 496 से पता चलता है कि णिवकमव्वे शुभचन्द्र देव की शिष्या थी। योग्यता और कुशलता से राज्यकार्यभार करने के साथ ही धर्म प्रचार के लिए इन्होंने अनेक जैन प्रतिमाओं की स्थापना की थी।

जैन नारियों के द्वारा शिल्प व मंदिरों का निर्माण किया गया। इसका उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। कलिगपति राजा खारवेल की रानी ने कुमारी पर्वत पर जैन गुफाओं का निर्माण किया था। सोरे की राजा की पत्नी ने अपने पति का रोग हटाने के लिए एक मंदिर व तालाब का निर्माण किया था। यह मंदिर आज भी 'मुक्तकेनेरे' नाम से प्रसिद्ध है। आह्वमल्ल की राजा के सेनापति मल्लम की कन्या 'अंतिमव्वे' दानशूर व जैन धर्म पर श्रद्धा रखने वाली थी। उसने चाँदी और सोने की अनेक जैन प्रतिमाओं का निर्माण कराया था। उसने लाखों रुपयों का दान दिया था। उसे अनेक

ग्रंथों में 'दानचिंतामणी' पदवी से विभूषित किया गया है। विष्णुवर्धन राजा की रानी शांतल देवी ने सन् 1123 में श्रवणबेलगोल में भगवान जिनेंद्र की विशालकाय प्रतिमा स्थापित की थी। सन् 1131 में सल्लेखना व्रत का पालन कर शरीर-त्याग किया था।

साहित्य क्षेत्र में कार्य :—अनेक जैन नारियों ने लेखिका और कवियित्री के रूप में साहित्य जगत में प्रसिद्धि प्राप्त की है। सन् 1566 में कवियित्री 'रणमति' ने 'यशोधर काव्य' नामका काव्य लिखा। आयिका रत्नमती की 'समकितरास' यह हिन्दी-गुजराती मिश्रित काव्य-रचना उपलब्ध है। महाकवियित्री रत्न ने अपनी अमरकृति अजितनाथ पुराण की रचना दान चिंतामणी अतिमन्त्र के सहकार्य से ही ई. स. 993 में पूर्ण की थी। श्वेताम्बर साहित्य में चारदत्त-चरित्र लिखने वाली पद्मश्री, कनकावली-आख्यान लिखनेवाली हेमश्री महिलाएँ प्रसिद्ध हैं। अनुलक्ष्मी, अवन्ती, सुन्दरी, माधवी आदि विदुषियाँ प्राकृत भाषा में लिखने वाली प्रसिद्ध कवियित्रीयाँ हैं। उनकी रचनाएँ प्रेम, संगीत, आनंद, व्यथा, आशा-निराशा। जिनेंद्र भक्ति आदि गुणों से युक्त हैं।

इसके अलावा नृत्य, गायन, चित्रकला, शिल्पकला आदि क्षेत्रों में जैन महिलाओं ने असामान्य प्रगति की है। प्राचीन ऐतिहासिक काल में जैन नारी ने जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना सहयोग दिया है। समाज उसे सम्मान की दृष्टि से देखता था। समाज ने नारी को उसकी प्रगति के लिए सब सुविधाएँ दी थी। गृहस्थ धर्म पालन करते हुए उसकी प्रगति अपने पुत्र-पुत्रियों को सुसंस्कारित करना, राजकार्य, समाजकार्य, धार्मिक कार्य में सक्रिय सहयोग देना वह अपना कर्तव्य समझती थी।

इस प्रकार भगवान महावीर या उनके पूर्व की सामाजिक परिस्थिति यदि देखी जाएँ तो उस प्रतिकूल

परिस्थिति में जैन नारियों ने जो महत्वपूर्ण कार्य किए उनका मूल्य बढ़ जाता है। उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति करने के अवसर प्राप्त होना यह भगवान महावीर के द्वारा स्त्री मुक्ति की घोषणा के कारण ही संभव हो सका, यदि ऐसा कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस युग में स्त्रियाँ वेद या धार्मिक साध्वी वेश धारण करके मुक्ति-मार्ग पर नहीं चल सकती थी। उसे सामान्य कान्ति ही कही जा सकती है। स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त करने के लिए सैकड़ों वर्ष स्त्रियों को संघर्ष करना पड़ा है। परन्तु जैन धर्म के मनीषियों ने बहुत पहले ही स्त्री-स्वातंत्र्य की घोषणा कर दी थी। यह जैन धर्म का स्त्री-पुरुष को अलग न मानने का दृष्टिकोण अर्थात् दोनों को प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने के अवसर प्रदान करना विशेष उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

इस प्रकार प्राचीन काल में जैन महिलाएँ प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर थी। परन्तु मध्ययुग में विदेशी आक्रमणों के कारण स्त्रियों को सुरक्षित रखने के नाम पर समाज ने स्त्रियों पर अनेक बन्धन लगाए। इसका प्रभाव जैन महिलाओं पर भी पड़ा। परन्तु भगवान महावीर की स्त्री-मुक्ति की घोषणा के कारण ऐसी परिस्थितियों में भी अनेक जैन महिलाओं ने कार्य किए हैं। इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। फिर भी उनकी स्वतन्त्रता और स्वविकास में बाधा अवश्य आई। इसी कारण शिक्षा, धर्म-संस्कार तत्त्वज्ञान आदि में नारी बहुत पीछे रही। एक बार लगे हुए बन्धन आजादी मिलने पर भी टूट न सके।

आज फिर से सारे जगत में नारी जागृति की लहर आई है। महिला-वर्ष का आयोजन इसी जागृति का परिचायक है। इसका प्रभाव जैन महिलाओं पर भी पड़ा है। इस वैज्ञानिक युग में जैन महिलाओं ने अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से श्रीमती रमा जैन ने साहित्य और धार्मिक

क्षेत्र में जो कार्य किए हैं उन्हें कौन भुला सकता है। श्रीमती कंकुबाई के दातृत्व और नेतृत्व के कारण अनेक शैक्षणिक संस्थाएँ और अस्पताल आज समाज की सेवा कर रहे हैं। श्रीमती कस्तूरबाई के द्वारा स्थापित कस्तूरबाई ट्रस्ट के द्वारा आज अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं। सोलापुर में क्षु. राजुलमतीबाई द्वारा स्थापित 'श्राविका संस्था नगर' आज शैक्षणिक धार्मिक व सामाजिक कार्य में अग्रसर है। चन्दाबाई के द्वारा जैन बालाश्रम आरा की स्थापना जैन महिलादस का संपादन, अखिल भारतीय महिला परिषद की स्थापना आदि महत्वपूर्ण कार्य किये गए हैं।

साहित्य निर्माण में भी अनेक जैन महिलाएँ आज महत्वपूर्ण स्थान बना रही हैं। उदाहरण के लिए साध्वी चन्दनादशेनाचार्य के द्वारा अनेक ग्रंथों का लेखन और संपादन किया गया है। सौ. सुरेखा शहा के उपन्यास प्रसिद्ध मासिकों में प्रकाशित हो रहे हैं। श्रीमती कलंबेअक्का, श्रीमती लेखवती जैन (हरियाणा विधान सभा अध्यक्षा) सौ. लीलावती मर्चेंट, श्रीमती इंदुमती सेठ, श्रीमती ओमप्रकाश जैन आदि महिलाएँ राजनैतिक क्षेत्र में अग्रसर रही हैं। इतना ही नहीं औद्योगिक क्षेत्र में भी वे कार्य कर रही हैं।

संक्षिप्त में भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले जो नारी में मुक्ति की घोषणा की थी, वह आज फिर से नारी-समाज में गुंजित हो रही है। हमें उस स्वर को सुनने की आवश्यकता है। अभी भी अशिक्षा, अंधविश्वास, दहेज आदि कुप्रथाएँ नारी-विकास के मार्ग में रुकावटें हैं इन्हें हटाना हमारा कर्तव्य है। उसी प्रकार नारी को भी अपने अतीत के छोड़े हुए गौरव और अधिकार को पाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। नारी-जागरण के लिए हर सुशिक्षित क्रान्ति-कारी व प्रगतिशील विचार की नारी को आगे आना चाहिए। नारियों ने अधिकारों की माँग तो करनी ही चाहिए परन्तु पाश्चात्य जगत् के प्रभाव से फैशन आदि के रूप में जो नई कुरीतियाँ स्त्रियों में आ रही हैं उन्हें रोकना भी जरूरी है। नारी-क्रान्ति का अर्थ केवल बाह्य केश-भूषा या उच्छृंखल विचारों की क्रान्ति नहीं है। प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के शब्दों में 'महिला-मुक्ति' भारत के लिए मौज की वस्तु नहीं है। वल्कि एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। ताकि, राष्ट्र भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक संतोषजनक जीवन की ओर अग्रसर हो सके।

ॐ ॐ

भगवान महावीर ने जिस धर्म एवं दर्शन का प्रचार प्रसार किया; जिस सत्य की सुस्पष्ट व्याख्या की, जिन दार्शनिक प्रतिपत्तिकाओं को सुव्यवस्थित ढंग से अमि-व्यक्त किया, उनके सूत्र यद्यपि भारतीय प्राक्-वैदिक युग से ही पोषित एवं विकसित होते आये हैं तथापि महावीर ने श्रमण-दर्शन की निग्रन्थ परम्परा में तेईसवें तीर्थंकर तथा ऐतिहासिक व्यक्तित्व पार्श्वनाथ के चानु-र्याम धर्म के स्थान पर “पंच महाव्रत” का उपदेश देकर तथा आत्मजय की साधना को अपने ही पुरुषार्थ एवं चरित्र से सिद्ध करने की विचारणा को लोकोन्मुख बनाकर भारतीय मनीषा को नया मोड़ दिया। उन्होंने धर्म के उत्कृष्ट मंगलमय स्वरूप की व्याख्या ही नहीं की; “चम्मो मंगलमुविकटठं” कहकर धर्म को मंगलमय साधना का पर्याय बना दिया। उनका जीवन आध्या-

डा० महावीर शरण जैन

त्मिक चिंतन मनन एवं संयमी जीवन का साक्षात्कार है; निष्कर्मदर्शी के निष्कर्म आत्मा को देखने का दर्पण है; आत्मा को आत्मसाधना से पहचानने का मापदण्ड है; तप द्वारा कर्मों का क्षय करके आत्म स्वभाव में रमण करने की प्रक्रिया है तथा सबसे बड़ी बात यह कि किसी के आगे झुककर अनुग्रह की वैशाखियों के द्वारा आगे बढ़ने की पद्धति नहीं प्रत्युत अपनी ही शक्ति एवं साधना के बल पर जीवात्मा के परमात्मा बनने की वैज्ञानिक प्रयोगशाला है।

भगवान महावीर के युग में भौतिकवादी एवं संशयमूलक जीवन दर्शन के मतानुयायी चिन्तकों ने समस्त धार्मिक मान्यताओं, चिर संचित आस्था एवं विश्वास के प्रति प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया था। पुरणकस्मप, मक्खलि गोसाय, अजितकेसकम्बलि, पकुध

कच्चायन, संजय बैलटिटपुत्र आदि के विचारों को पढ़ने पर हमको आभास हो जाता है कि उस युग के जनमानस को संशय, त्रास, अविश्वास, अमास्था, प्रश्नाकुलता आदि वृत्तियों ने किस सीमा तक आवद्ध कर लिया था। ये चिन्तक जीवन में नैतिक एवं आचार-मूलक सिद्धान्तों की अवहेलना करने एवं उनका तिरस्कार करने पर बस दे रहे थे। मानवीय सौहार्द एवं कर्मवाद के स्थान पर घोर भोगवादी, अक्रियावादी एवं उच्छेदवादी वृत्तियाँ पनप रही थीं।

इन्हीं परिस्थितियों में भगवान महावीर ने प्राणी मात्र के कल्याण के लिए, अपने ही प्रयत्नों द्वारा उच्चतम विकास कर सकने का आस्थापूर्ण मार्ग प्रशस्त कर अनेकांतवादी जीवन दृष्टि पर आधारित, स्वात्वाद्वादी कथन प्रणाली द्वारा बहुधर्मी एवं बहुगुणी वस्तु को प्रत्येक कोण, दृष्टि एवं संभावनाओं द्वारा उनके वास्तविक रूप में जान पाने एवं पहचान पाने का मार्ग बतलाकर सामाजिक जीवन के लिए अपरिग्रहवाद आदि का संदेश दिया।

आज भी भौतिक विज्ञान की चरम उन्नति मानवीय चेतना को जिस स्तर पर ले गयी है वहाँ उसने हमारी समस्त मान्यताओं के सामने प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया है। समाज में परस्पर घृणा एवं अविश्वास तथा तथा व्यक्तिगत जीव में मानसिक तनाव एवं अशान्ति के कारण विचित्र स्थिति उत्पन्न होती जा रही है।

आज के और पहले के व्यक्ति और उसके चिन्तन में अन्तर भी है। सम्पूर्ण भौतिक साधनों एवं जीवन की अनिवार्य वस्तुओं से वंचित होने पर भी पहले का व्यक्ति समाज से लड़ने की बात नहीं सोचता था; भाग्यवाद एवं नियतिवाद के सहारे जीवन को काट देता था। अपने वर्तमान जीवन की सारी मुसीबतों का कारण विगत जीवन के कर्मों को मान लेता था। अथवा अपने भाग्य का विधाता "परमात्मा" को मानकर उसके

प्रति श्रद्धा एवं अनन्यभाव के साथ "अनुराग" एवं "समर्पण" कर संतोष पा लेता था।

आज का व्यक्ति स्वतन्त्र होने के लिए अभिशापित है। आज व्यक्ति पराबलम्बी होकर नहीं, स्वतन्त्र निर्णयों के क्रियान्वयन के द्वारा विकास करना चाहता है। अन्धी आस्तिकता एवं भाग्यवाद के सहारे जीना नहीं चाहता अपितु इसी जीवन में साधनों का भोग करना चाहता है; समाज से अपनी सत्ता की स्वीकृति तथा अपने अस्तित्व के लिए साधनों की मांग करता है तथा इसके अभाव में सम्पूर्ण व्यवस्था पर हथौड़ा चलाकर उसे नष्ट भ्रष्ट कर देना चाहता है।

मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए जब हम उद्यत होते हैं तो हमारा ध्यान धर्म की ओर जाता है। इसका कारण यह है कि धर्म ही ऐसा तत्व है जो व्यक्ति की असीम कामनाओं को सीमित करता है तथा उसकी दृष्टि को व्यापक बनाता है। इस परिप्रेक्ष्य में हमें यह जान लेना चाहिए कि रुढ़िगत धर्म के प्रति आज का मानव किंचित भी विश्वास जुटाने में असमर्थ है। शास्त्रों में यह बात कही गयी है कि केवल इसी कारण आज का मानव एवं विशेष रूप से बौद्धिक समुदाय एवं युवक उसे मानने के लिए तैयार नहीं है।

आज वही धर्म एवं दर्शन हमारी समस्याओं का समाधान कर सकता है जो उन्मुक्त दृष्टि से विचार करने की प्रेरणा दे सके। भगवान महावीर ने मानवीय एवं वैज्ञानिक सत्यान्वेषण में अनवरत प्रवृत्त श्रमण परम्परा के धार्मिक सूत्रों के सहारे भटके हुए मानव को नवीन दिशा एवं ज्योति प्रदान की। बाहरी प्रदर्शन एवं दिखावे की प्रवृत्तियों पर प्रहार किया। निर्भय होकर घोषणा की कि प्रातः स्नानादि कर लेने से मोक्ष नहीं होता; जो प्रातः संध्या जल स्नान कर लेने से मुक्ति बतलाते हैं वे अज्ञानी हैं, बहुत से मुक्ति बतलाने वाले भी अज्ञानी हैं। बलि देनेवालों के काले कारनामों को उजागर करते हुए उन्होंने घोषणा की कि

जीवों को दुःख देना मोक्ष का मार्ग नहीं है। धर्मों के आपसी भेदों के विरुद्ध आवाज उठायी तथा धर्म को आरोपित सीमाओं के घेरे से बाहर लाकर खड़ा किया तथा कहा कि धर्म के पवित्र अनुष्ठान से आत्मा का शुद्धिकरण होता है। धर्म न कहीं गाँव में होता है और न कहीं जंगल में बल्कि वह तो अन्तरात्मा में होता है। उन्होंने धर्म साधनों का निर्णय विवेक और सम्यग् ज्ञान के आधार पर करने की बात कही। जीवात्मा ही ब्रह्म है यह मह धीर का अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार था जिसके आधार पर वे यह प्रतिपादित कर सके कि बाह्य जगत की कल्पित शक्तियों के पूजन से नहीं अपितु अन्तरात्मा के दर्शन एवं परिष्कार से ही कल्याण सम्भव है। उनका स्पष्ट मत था कि वेदों के पढ़ने मात्र से उद्धार सम्भव नहीं है। उन्होंने व्यक्ति को सचेत किया कि यदि हृदय में परमाणु मात्र भी राग द्वेष है तो समस्त आगमों का निष्णात होते हुए भी आत्मा को नहीं जान सकता। उन्होंने आत्मा द्वारा आत्मा को जानने की बात कही।

इस प्रकार महावीर की व्राणी ने व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक बनाया; चिंतन के लिए सतत जागरूक भूमिका प्रदान की; आत्म साधना के निगूढतम रहस्य द्वारों को वैज्ञानिक युग से आत्म-बल के द्वारा खोलने की प्रक्रिया बतलायी तथा सहज भाव से सृष्टि के कण-कण के प्रति राग-द्वेष की सीमाओं के परे करुणा एवं अपनत्व की भावभूमि प्रदान की।

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो प्राणी मात्र को प्रभावित कर सके एवं उसे अपने ही प्रयत्नों के बल पर विकास करने का मार्ग दिखा सके। ऐसा दर्शन नहीं होना चाहिए जो आदमी-आदमी के बीच दीवारें खड़ी करके चले धर्म को पारलौकिक एवं लौकिक दोनों स्तरों पर मानव की समस्याओं के समाधान के लिए तत्पर होना होगा। प्राचीन दर्शन ने केवल अध्यात्म साधना पर बल दिया था और इस लौकिक

जगत की अवहेलना हुई थी। आज के वैज्ञानिक युग में बौद्धिकता का अतिरेक व्यक्तिके अन्तर्गत की व्यापक सीमाओं को संकीर्ण करने एवं उसके बहिर्जगत की सीमाओं को प्रसारित करने में यत्नशील है। भाज के धार्मिक एवं दार्शनिक मनीषियों की वह मार्ग खोजना है जो मानव की बहिर्मुखता का भी विकास कर सके। पारलौकिक चिन्तन व्यक्ति के आत्म विकास में चाहे कितना ही सहायक हो किन्तु उससे सामाजिक सम्बन्धों की सम्बद्धता, समरसता एवं समस्याओं के समाधान में अधिक सहायता नहीं मिलती है। आज के भौतिकवादी युग में केवल वैराग्य से काम चलनेवाला नहीं है। आज हमें मानव की भौतिकवादी दृष्टि को सीमित करना होगा; भौतिक स्वार्थपरक इच्छाओं को संयमित करना होगा, मन की कामनाओं में त्याग का रंग मिलाना होगा। आज मानव को एक ओर जहाँ इस प्रकार का दर्शन प्रभावित नहीं कर सकता कि केवल ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है वहाँ दूसरी ओर भौतिक तत्वों की ही सत्ता को सत्य माननेवाला दृष्टिकोण जीवन के उन्नयन में सहायक नहीं हो सकता। आज भौतिकता और आध्यात्मिकता के समत्व की आवश्यकता है। इसके लिए धर्म एवं दर्शन की वर्तमान सामाजिक संदर्भों के अनुरूप एवं भावी मानवीय चेतना के निर्णायक रूप में व्याख्या करनी है। इस संदर्भ में आध्यात्मिक साधना के ऋषियों एवं मुनियों की धार्मिक साधना एवं गृहस्थ सामाजिक व्यक्तियों की धार्मिक साधना के अलग-अलग स्तरों को परिभाषित करना आवश्यक है।

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिकों की प्रतिपत्तिकाओं को खोजने का मार्ग एवं धार्मिक मनीषियों एवं दार्शनिक तत्त्व-चिन्तकों की खोज का मार्ग अलग-अलग हो सकता है, किन्तु उनके सिद्धान्तों एवं मूलभूत प्रत्ययों में विरोध नहीं होना चाहिए।

आज के मनुष्य ने प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था को आदर्श माना है। हमारा धर्म भी प्रजातंत्रात्मक शासन पद्धति के अनुरूप होना चाहिए।

प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। इस पद्धति के स्वतंत्रता एवं समानता दो बहुत बड़े जीवन-मूल्य हैं। इसके समानान्तर दर्शन के धरातल पर भी हमें व्यक्ति मात्र की समता एवं स्वतंत्रता का उद्घोष करना होगा।

आज ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो समाज के सदस्यों में परस्पर सामाजिक सौहार्द एवं बंधुत्व का वातावरण निर्मित कर सके। यदि यह न हो सका तो किसी भी प्रकार की व्यवस्था एवं शासन पद्धति से समाज में शान्ति स्थापित नहीं हो पायेगी।

इस दृष्टि से हमें यह विचार करना है कि भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व अनेकान्तवादी चिन्तन पर आधारित अपरिग्रहवाद एवं अहिंसावाद से संयुक्त जिस ज्योति को जगाया था उसका आलोक हमारे आज के अंधकार को दूर कर सकता है या नहीं।

परिवर्तित युग के समयानुकूल धर्म एवं दर्शन के संदर्भ में जब हम जैन दर्शन एवं भगवान महावीर की वाणी पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि जैन दर्शन समाज के प्रत्येक मानव के लिए समान अधिकार जुटाता है। सामाजिक समता एवं एकता की दृष्टि से श्रमण परम्परा का अप्रतिम महत्त्व है। इस परम्परा में मानव को मानव के रूप में देखा गया है; वर्ण, जातों, सम्प्रदायों आदि का लेबिल चिपकाकर मानव को बाँटनेवाले दर्शन के रूप में नहीं। मानव महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन दर्शन में हुआ है वह अनुपम है। भगवान महावीर ने आत्मा की स्वतंत्रता की प्रजातंत्रात्मक उद्घोषणा की। उन्होंने कहा कि समस्त आत्माएँ स्वतंत्र हैं; प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। उसके गुण और पर्याय भी स्वतंत्र हैं। विवक्षित किसी

एक द्रव्य तथा उसके गुणों एवं पर्यायों का अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस दृष्टि से सब आत्माएँ स्वतंत्र हैं; भिन्न-भिन्न हैं, पर वे एक-सी अवश्य हैं। इस कारण उन्होंने कहा कि सब आत्माएँ समान हैं, पर एक नहीं।

स्वतंत्रता एवं समानता दोनों की इस प्रकार की परस्परवलम्बित व्याख्या अन्य किसी दर्शन में दुर्लभ है।

महावीर ने उस मार्ग का प्रवर्तन किया जिससे व्यक्ति-मात्र अपने ही बल पर उच्चतम विकास कर सकता है; प्रत्येक आत्मा अपने बल पर परमात्मा बन सकती है। उन्होंने प्रतिपादित किया कि जीव अपने ही कारण से संसारी बना है और अपने ही कारण से मुक्त होया। व्यवहार से बंध और मोक्ष के हेतु अन्य पदार्थ को जानना चाहिए किन्तु निश्चय से यह जीव स्वयं बंध का हेतु है और स्वयं मोक्ष का हेतु है। आत्मा अपने स्वयं के उपाजित कर्मों से ही बंधती है। आत्मा का दुःख स्वकृत है किन्तु व्यक्ति अपने ही प्रयास से उच्चतम विकास भी कर सकता है क्योंकि आत्मा सर्वकर्मों का नाश कर सिद्धलोक में सिद्धपद प्राप्त करने की क्षमता रखती है।

इसी कारण भगवान ने उद्घोष किया कि पुरुष तू स्वयं ही अपना मित्र है 'पुरिसा ! तुममेव तुम मित्रं।' उन्होंने जीव मात्र को आस्था एवं विश्वास का अमोघ मंत्र दिया, कि बंधन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ में है।

किन्तु इसके लिए आत्माधीन साधक को जितेन्द्रिय होना पड़ता है; समस्त प्रकार के परिग्रहों को छोड़ना पड़ता है; रागद्वेष रहित होना पड़ता है। सत्य के साधक को बार-बार बाहरी प्रलोभन अभिभूत करते रहते हैं। साधना का पथ बार-बार विलासिता की रंगीन चादर ओढ़ना चाहता है। धर्म की आड़ में अपने

स्वार्थ की सिद्धि चाहनेवाले दलाल आध्यात्म के सत्य को भौतिकवादी व्यवस्थाओं से बार-बार ढँकने का प्रयास करते हैं। शताब्दी में एकाध व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो धर्म के क्षेत्र में व्याप्त पाखण्ड, कदाचार, अमानवीयता पर प्रहार कर वास्तविक सत्य का उद्घाटन करते हैं। उपनिषद्कार के युग में भी याज्ञिक धर्म की विकृतियाँ इतनी उजागर हो गई थीं कि उसे कड़ना पड़ा कि अमृत तत्व सोने के पात्र से ढँका हुआ है। मध्ययुगीन सत्ता ने भी धर्म के बाह्याडम्बरों पर चोट की। सन्त नामदेव ने 'पाखण्ड भगति राम नहीं रीझै' कहकर धर्म के तात्त्विक स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट किया तो कबीर ने 'जो घर जारे अपना, चले हमारे साथ' का आह्वान कर साधना पथ पर द्विधारित संशयहीन मनःस्थिति से कामनाओं का सर्वथा त्याग कर आगे बढ़ने की बात कही। पंडित लोग पढ़-पढ़कर वेद बखानते हैं, किन्तु उसकी सार्थकता क्या है? जीवन की चरितार्थता तो इसमें है कि आत्मविचार पूर्वक समदृष्टि की साधना की जावे और ऐसी साधना के बल पर ही दादूदयाल यह कहने में समर्थ हो सके कि "काया अन्तर पाइया, सब देवन को देव।" उपनिषदों में जिस 'तत्त्वमसि' सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है जैन-दर्शन में उसी विचारणा की विकसित एवं नवरूपायित अभिव्यक्ति है जहाँ प्राणी मान की स्वतंत्रता, समता एवं स्वावलम्बित स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है। संसार में अनन्त प्राणी हैं और उनमें से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान है। कर्मबंध के फलस्वरूप जीवात्माएँ जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियों, नाना प्रकार के शरीरों एवं अवस्थाओं में परिलक्षित होती हैं किन्तु सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा उच्चतम विकास की समान शक्तियाँ निहित हैं।

जब सभी प्राणी अपनी मुक्ति चाहते हैं तथा स्वयं के प्रयत्नों से ही उस मार्ग तक पहुँच सकते हैं तथा कोई किसी के मार्ग में तत्त्वतः बाधक नहीं तब फिर किसी से संघर्ष का प्रश्न ही कहाँ उठता है? शारीरिक

एवं मानसिक विषमताओं का कारण कर्मों का भेद है। जीवन शरीर से भिन्न एवं चैतन्य का कारण है। जब सर्व कर्मों का क्षय होता है तो प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त श्रद्धा एवं अनन्त शक्ति से स्वतः सम्पन्न हो जाता है। महावीर ने व्यक्ति के चरम पुरुषार्थ को ही नहीं जगाया; प्रज्ञा, विवेक एवं आचरण के बल पर अध्यात्म पथ का अनुवर्तन करनेवाले धार्मिक मानव को देवताओं का भी उपास्य बना दिया। उन्होंने कहा कि अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म की साधना करनेवाले साधक को देवता भी नमस्कार करते हैं।

इसके अतिरिक्त जैन दर्शन में अहिंसावाद पर आध्यात्मिक, क्षमा-मैत्री, स्वसंयम तथा परप्राणियों को आत्मतुल्य देखने की भावना पर बहुत बल दिया गया है। आत्मस्वरूप को पहचानने में अपने को गलाना पड़ता है, ममत्व भाव को त्यागना पड़ता है और उस स्थिति में आत्मा को जानने का अर्थ 'सम्भाव' हो जाना होता है।

आत्मानुसंधान प्रक्रिया में यदि व्यक्ति अपने को संसार की पूजा-प्रतिष्ठा का अधिकारी मान बैठता है तो साधना का दम्भ सारी तपस्या को निष्फल कर देता है। उसे सदैव संयत, सुव्रत, तपस्वी एवं आत्म-गवेषक रहना चाहिये। सतत् आत्मानुसंधान ही साधना है। ऐसे साधक के मन में अपनी प्रशंसा सुनने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता क्योंकि वह सत्कार तथा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा ही नहीं रखता, नमस्कार तथा वंदना कराने की भावना ही नहीं रखता 'स्व' को पूरी तरह से त्यागकर आत्म-गवेषक एक को जानकर सब को जान लेता है। एक को जानने का अर्थ ही है सबको जानना तथा सबको जानना ही एक को जानना है। यह दर्शन साधना की परम्परा अविच्छिन्न रही और इसने 'इकाई' को परम परमार्थता, अनन्तता एवं सर्वव्यापकता के गुण प्रदान किये। जब शंकराचार्य 'अहं ब्रम्हास्मि' की बात करते हैं या कबीर "मैं सबहिन्ह

महि औरनि मैं हूँ सब” का स्वर गुँजाते हैं तो जैन दर्शन की इस विचारधारा के समीप पहुँच जाते हैं जहाँ जीव ही परमेश्वर हो जाता है। इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ शंकराचार्य एवं कबीर पिण्ड में ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड में पिण्ड की बात करते हैं वहाँ जैन दर्शन में आत्मायें अनन्तानन्त हैं तथा परिणामी स्वरूप हैं किन्तु चेतना स्वरूप होने के कारण एक जीवात्मा अपने रूप में रहते हुए भी ज्ञान के अनन्त पर्यायों का ग्रहण कर सकती है।

व्यक्ति की इच्छायें आकाश के समान अनन्त हैं। आत्मार्थी साधक आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों परिग्रहों को त्याग देता है। कामनाओं का अन्त करना ही दुःख का अन्त है—

उस स्थिति में साधक को वस्तु के प्रति ममत्व भाव नहीं रह जाता। अपने शरीर से भी ममत्व छूट जाता है।

उसी स्थिति में साधक की दृष्टि विस्तृत से विस्तृत-तर होती है और उसे पता चलता है कि स्वरूपतः सभी आत्मायें एक हैं।

इसी कारण भगवान ने समस्त जीवों पर मैत्रीभाव रखने एवं समस्त संसार को समभाव से देखने का निर्देश किया। ‘श्रमण’ की व्याख्या करते हुए उसकी साधकता समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखने में बतलायी। समभाव की साधना व्यक्ति को श्रमण बनाती है।

भगवान ने कहा कि जाति की कोई विशेषता नहीं; जाति और कुल से त्राण नहीं होता; प्राणी भाव आत्म-तुल्य है। इस कारण प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो; आत्मतुल्य समझो, सबके प्रति मैत्री भाव रखो, समस्त संसार को समभाव से देखो। समभाव के महत्व का प्रतिपादन उन्होंने यह कहकर किया कि आर्य महापुरुषों ने इसे ही धर्म कहा।

अपने को बाँधकर ही प्रेम का बिस्तार होता है। यह कर्मों का बंधन नहीं; संयम का सहज आचरण है। मन के कनाट खुल जाते हैं; जगत के समस्त जीवों में अपनी आत्मतुल्यता दृष्टिगत होने लगती है; राग-द्वेष की सीमाओं से ऊपर उठकर व्यक्ति सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् चारित्र्य से युगों-युगों के कर्म-बंधन काट फेंकता है। इसी कारण भगवान ने कहा कि जो जानी आत्मा इस लोक में छोटे-बड़े सभी प्राणियों की आत्मतुल्य देखते हैं, षटद्रव्यात्मक इस महान् लोक का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तथा अप्रमत्त-भाव में संयम में रत रहते हैं—वे ही मोक्ष के अधिकारी हैं। इसी कारण आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर के उपदेश को “सर्वोदय तीर्थ” कहा है।

आधुनिक बौद्धिक एवं तार्किक युग में दर्शन ऐसा होना चाहिये जो आग्रह-रहित दृष्टि से सत्यान्वेषण की प्रेरणा दे सके। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का अनेकान्त-वाद व्यक्ति के अहंकार को झकझोरता है; उसकी आत्यन्तिक दृष्टि के सामने प्रश्नवाचक चिन्ह लगाता है। अनेकान्तवाद यह स्थापना करता है कि प्रत्येक पदार्थ में विविध गुण एवं धर्म होते हैं। सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार सामान्य व्यक्ति द्वारा एकदम सम्भव नहीं हो पाता। अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकांगी गुण-धर्म का ज्ञान होता है। विभिन्न कोणों से देखने पर एक ही वस्तु हमें भिन्न प्रकार की लग सकती है तथा एक स्थान से देखने पर भी विभिन्न दृष्टाओं की प्रतीतियाँ भिन्न हो सकती हैं। भारत में जिस क्षण कोई व्यक्ति “सूर्योदय” देख रहा है, संसार में दूसरे स्थल से उसी क्षण किसी व्यक्ति को ‘सूर्यास्त’ के दर्शन होते हैं। व्यक्ति एक ही होता है—उससे विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। एक ही वस्तु में परस्पर दो विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व सम्भव है। इसमें अनिश्चितता की मनःस्थिति बनाने की बात नहीं है; वस्तु के सापेक्ष दृष्टि से विरोधी गुणों को पहचान पाने की बात है। सार्वभौमिक

दृष्टि से देखने पर जो तत्स्वरूप है, एक है, सत्य है, नित्य है, वही सीमित एवं व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर अतत्, अनेक, असत्य एवं अनित्य है।

पदार्थ को प्रत्येक कोण से देखने का प्रयास करना चाहिये। हम जो कह रहे हैं—केवल यही सत्य है—यह हमारा आग्रह है। हम जो कह रहे हैं—यह भी अपनी दृष्टि से ठीक हो सकता है। हमें यह भी देखना चाहिये कि विचार को व्यक्त करने का हमारे एवं दूसरे व्यक्तियों के पास जो साधन है उसकी कितनी सीमाएं हैं। काल की दृष्टि से भाषा के प्रत्येक अवयव में परिवर्तन होता रहता है। क्षेत्र की दृष्टि से भाषा के रूपों में अन्तर होता है। हम जिन शब्दों एवं वाक्यों में संप्रेषण करना चाहते हैं उसकी भी कितनी सीमाएं हैं। “राधा गाने वाली है” इसका अर्थ दो श्रोता अलग-अलग लगा सकते हैं। प्रत्येक शब्द भी “वस्तु” को नहीं किसी वस्तु के भाव को बतलाता है जो वक्ता एवं श्रोता दोनों के सन्दर्भ में बुद्धिस्थ मात्र होता है। “प्रत्येक व्यक्ति अपने घर जाता है” किन्तु प्रत्येक का “घर” अलग होता है। संसार में एक ही प्रकार की वस्तु के लिए कितने भिन्न शब्द हैं—इसकी निश्चित संख्या नहीं बतलायी जा सकती। एक ही भाषा में एक ही शब्द भिन्न अर्थों और अर्थ-छायाओं में प्रयुक्त होता है, इसी कारण अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति न करा पाने पर वक्ता को श्रोता से कहना पड़ता है कि मेरा यह अभिप्राय नहीं था अपितु मेरे कहने का मतलब यह था—दूसरे के अभिप्राय को न समझ सकने के कारण इस विश्व में कितने संघर्ष होते हैं? स्याद्वाद वस्तु के विरोधी गुणों की प्रतीतियों द्वारा उसके अन्तिम सत्य तक पहुंच सकने की क्षमता एवं पद्धति प्रदान करता है। जब कोई व्यक्ति खोज के मार्ग में किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपने “सन्धान” को अन्तिम मानकर बैठ जाना चाहता है, तब स्याद्वाद संभावनाओं एवं शक्यताओं का मार्ग प्रशस्त कर अनुसन्धान की प्रेरणा देता है। स्याद्वाद केवल संभावनाओं को ही व्यक्त

करके अपनी सीमा नहीं मान लेता प्रत्युत समस्त सम्भावित स्थितियों की खोज करने के अनन्तर परम एवं निरपेक्ष सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास करता है।

स्याद्वादी दर्शन में “स्यात्” “निपात” “शायद”, “सम्भवतः”, “कदाचित्” का अर्थवाहक न होकर समस्त सम्भावित सापेक्ष गुणों एवं धर्मों का बोध कराकर ध्रुव एवं निश्चय तक पहुंच पाने का वाहक है; “व्यवहार” में वस्तु में अन्तर्विरोधी गुणों की प्रतीति कर लेने के उपरान्त “निश्चय” द्वारा उसको उसके समग्र एवं अखण्ड रूप में देखने का दर्शन है। हाथी को उसके भिन्न-भिन्न खण्डों से देखने पर जो विरोधी प्रतीतियाँ होती हैं उसके अनन्तर उसको उसके समग्र रूप में देखना है। इस प्रकार यह संदेह उत्पन्न करनेवाला दर्शन न होकर संदेहों का परीक्षण करने के उपरान्त उनका परिहार कर सकनेवाला दर्शन है। यह दर्शन तो शोध की वैज्ञानिक पद्धति है। “विवेच्य” को उसके प्रत्येक स्तरानुरूप विश्लेषित कर विवेचित करते हुए वर्णबद्ध करने के अनन्तर संश्लिष्ट सत्य तक पहुँचने की विधि है। विज्ञान केवल जड़ का अध्ययन करता है। स्याद्वाद ने प्रत्येक सत्य की खोज की पद्धति प्रदान की है। इस प्रकार यदि हम प्रजातन्त्रात्मक युग में वैज्ञानिक ढंग से सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो अनेकान्त से दृष्टि लेकर स्याद्वादी प्रणाली द्वारा ही वह कर सकते हैं।

महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन का सापेक्षवाद एवं जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद वैचारिक धरातल काफी निकट है। आइन्स्टीन मानता है कि विविध सापेक्ष स्थितियों में एक ही वस्तु में विविध विरोधी गुण पाये जाते हैं। “स्यात्” अर्थ की दृष्टि से “सापेक्ष” के सबसे निकट है।

आइन्स्टीन के मतानुसार सत्य दो प्रकार के होते हैं—(1) सापेक्ष सत्य, और (2) नित्य सत्य।

आइन्स्टीन के मतानुसार हम केवल सापेक्ष सत्य को जानते हैं; नित्य सत्य का ज्ञान तो सर्व विश्वदृष्टा को ही हो सकता है।

जैनदर्शन एकत्व एवं नानात्व दोनों को सत्य मानता है। अस्तित्व की दृष्टि से सब द्रव्य एक हैं, अतः एकत्व भी सत्य है; उपयोगिता की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं अतः नानात्व भी सत्य है।

वस्तु के गुण-धर्म चाहे नय-विषयक हो चाहे प्रमाण-विषयक, वे सापेक्ष होते हैं। वस्तु को अखण्ड भाव से जानना प्रमाण-ज्ञान है तथा वस्तु के एक अंश को मुख्य करके जानना नयज्ञान है।

विज्ञान की जो अध्ययन-प्रविधि है, जैन-दर्शन में ज्ञानी की वही स्थिति है। जो नय-ज्ञान का आश्रय लेता है वह ज्ञानी है। अनेकान्तात्मक वस्तु के एक-एक अंश को ग्रहण करके ज्ञानी ज्ञान प्राप्त करता चलता है। एकान्त के आग्रह से मुक्त होने के लिए यही पद्धति ठीक है।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने जिम जीवन-दर्शन को प्रतिपादित किया है, वह आज के मानव की मनो-

वैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों तरह की समस्याओं का अहिंसात्मक समाधान है। यह दर्शन आज की प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था एवं वैज्ञानिक सापेक्षवादी चिन्तन के भी अनुरूप है। इस सम्बन्ध में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का यह वाक्य कि “जैन-दर्शन सर्व-साधारण को पुरोहित के समान धार्मिक अधिकार प्रदान करता है” अत्यन्त संगत एवं सार्थक है। “अहिंसा परमो धर्मः” को चिन्तन-केन्द्रक मानने पर ही सत्सारा युद्ध एवं हिंसा का वातावरण समाप्त हो सकता है। आदमी के भीतर की अशान्ति, उद्वेग एवं मानसिक तनावों को यदि दूर करना है और अन्ततः मानव के अस्तित्व को बनाये रखना है तो भगवान् महावीर की वाणी को युगीन समस्याओं एवं परिस्थितियों के संदर्भ में व्याख्यायित करना होगा। यह ऐसी वाणी है जो मानव-मात्र के लिए समान मानवीय मूल्यों की स्थापना करती है; सापेक्षवादी सामाजिक संरचनात्मक व्यवस्था का चिन्तन प्रस्तुत करती है; पूर्वाग्रह-रहित उदार दृष्टि से एक-दूसरे को समझने और स्वयं को तलाशने-जानने के लिए अनेकान्तवादी जीवन दृष्टि प्रदान करती है; समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार एवं स्व-प्रयत्न से विकास करने का साधन जुटाती है।

□ □

महावीर

॥

साम्यवाद

आजकल साम्यवाद की बड़ी चर्चा है और बहुत से लोग जानना चाहते हैं कि महावीर का मत इस विषय में क्या है। साम्यवाद के लिये “सोशलिज्म” शब्द सबसे पहले सन् 1838 में फ्रांस के पियर लूरे ने गढ़ा था। इसका सक्रिय रूप बनाने में 18-19 वीं सदी में सेंट साइमन, टाम पेन, विलियम गोडविन और विलियम गौडविन ने भूमिका तैयार की थी। फ्रांस के फूटियर तथा इंग्लैंड के रौबर्ट ओवेन ने इसकी रूप रेखा तैयार की पर इसका वास्तविक रूप कार्ल मार्क्स तथा फ्रीडरिश एंजोला के सन् 1848 की विज्ञप्ति में प्रकट हुआ। इसी को, इसी साम्यवाद को “कम्यूनिज्म” कहते हैं। चूँकि कम्यूनिज्म में ईश्वर को कोई स्थान नहीं है इसीलिये कुछ लोगों का विचार है कि जैन साम्यवाद के अधिक निकट है। पर इसी विदेशी साम्यवाद के लिये जर्मन कवि हीनरिश हीन (1797-1856) ने लिखा था कि “यह भूख ईर्ष्या तथा मृत्यु का दूत है।” आज की स्थिति में यह बात सत्य से दूर नहीं है। एक अमेरिकन पादरी एफ. डी. हटिंगटन (1819-1904) ने लिखा था कि “साम्यवाद स्वतंत्रता तथा समानता के लिये अंधी भूख है।” एबनेजर इलियट (1781-1849) नामक ब्रिटिश कवि ने इसे “अपना एक पैसा देकर आपका एक रुपया छीनने वाला” वाद कहा था। आजकल लोग क्या कहते हैं, यह हम देना नहीं चाहते। राजनीति पर हम नहीं लिख रहे हैं।

महावीर का साम्यवाद इन सभी दोषों से मुक्त है। जब वे कहते हैं कि हर एक में प्राण है, जीव है, किसी को कष्ट न दो, सबको अपने समान समझो, “जीओ और जीने दो”, “धन का संचय मत करो”, “अपरिग्रह धारण करो”, “धन देने के लिये है”, सम्मृद्धि का अभिमान छोड़ दो, दान करो, अपना धन बांट दो, मन बचन या कर्म से भी न किसी का कुछ अपहरण करो, न कष्ट पहुँचाओ, तब साम्यवाद में और क्या बाकी रहा। दूसरे की सम्पत्ति छीनना

अस्थायी साम्यवाद है। हिंसक साम्यवाद है। अपनी सम्पत्ति दूसरों में बाँटकर उपयोग करना अहिंसक साम्यवाद है। महावीर कहते हैं :—

जहाँ लाही तहाँ लोहो लाहा लोहो पवडडई ।
दो मासकंय कज्ज कोडीए वि न निट्ठियं ॥

जैसे लाभ होता है, वैसे लोभ होता है, लाभ से लोभ बढ़ता है। दो मासे सोने से पूरा होने वाला काम करोड़ से भी पूरा नहीं हुआ।

वे कहते हैं :—

सुवण्ण रूपस्स तु पव्वया भवे,
सिया हु कैलास सभा असंख्या ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा उ आगास सभा अणन्तिया ॥

कदाचित् सोने और चाँदी के कैलाशपर्वत के समान असंख्य पर्वत हो जायें तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

पुनः कहा है :—

“घणेण किं धम्मधुराहिगारे ।”
धन से धर्म की गाढ़ी कब चलती है ।
“न ए नितासए परम ।”
दूसरों को त्रस्त मत करो ।

महावीर के अनुसार :—

सले कामी विसे कामा आसी विसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दो गई ।

“काम भोग शल्य है, विष हैं और आशी विष सर्प के तुल्य है। काम-भोग की इच्छा करने वाले, उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त करते हैं।”

जिस धर्म में केवल अपने आपको जीतना सबसे बड़ी विजय हो, वह वास्तविक साम्यवादी धर्म है। आज के लौकिक साम्यवाद से न कहीं सुख है, न कहीं शान्ति, केवल अशान्ति का एक हाहाकार मचा हुआ है। वह साम्यवाद संघर्षवाद बन गया है। अहिंसा और स्याद्वाद में श्रद्धा रखने वाला अपहरणकर्ता नहीं हो सकता। भगवत् गीता में वर्णित समत्व की भावना तथा भगवान् महावीर का समभाव ही असली साम्यवाद है।

महावीर ने कितना सुन्दर बचन कहा है :—

निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो ।
समोयो सब भूएमु तसेमु थावरेमु य ॥

“ममत्व रहित, अहंकार रहित, निर्लेप गौरव को त्यागने वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवों में समभाव रखने वाला मुनि होता है।”

युग का वरदान

जैन धर्म के मनोयोग, बचनयोग तथा कामयोग के सिद्धान्त को कोई नहीं काट सकता, हठयोग की कोई भी क्रिया बिना इन तीन के पूरी नहीं हो सकती। जीव में दो प्रकार के भोग होते हैं—अभिसंधिभोग—जिसमें वह अपने से काम करता है जैसे चलना, उठना, काम करना, तथा दूसरा है अनुभिसंधि योग जो कार्य निद्रा, ध्यान, चिन्तन के समय होता रहता है। जीव का यही चैतन्यत्व है। जीव अजीव का संभोग, जीव पुद्गल तथा पर्याय के सिद्धान्त, पदार्थ द्वारा कर्म बंधन इनको वैज्ञानिक रूप से भी जिसने समझने की चेष्टा की, वह इस “सत्य” की गरिमा को स्वीकार करेगा, चाहे वह किसी धर्म के सम्बन्ध में भी विवेचन करे। जैन दर्शन ने दुष्कर्म का विचार उठाना भी पाप और बन्धन का कारण बतलाया है। आज का न्याय शास्त्र “विचार या नीयत” पर बहुत जोर देता है। बौद्ध धर्म में “गुप्त गुण” कहा गया है जिसमें कि मनुष्य बिना किसी की जानकारी के सद्विचार रखता है और उसका पालन करता है।

जैन धर्म के मदाचार में सद्बिचार परम आवश्यक है। महावीर ने पर्याय की, द्रव्य की पुद्गल की जो व्याख्या की है तथा जीव-अजीव, जीव तथा पदार्थ की जिस मिलीजुली सत्ता का विवेचन किया है, उसी को दूसरे शब्दों में तपस्वी अरविन्द घोष ने भी स्वीकार किया है।

जैन धर्म की प्राचीनता के बारे में अब कोई विवाद भी नहीं रहा। जैकोबी के अनुसार पार्श्व ऐतिहासिक सत्य हैं। लेखक कीथ के अनुसार पार्श्व का जन्म ईसा-पूर्व 740 में हुआ था। जैन महापुराण (उत्तर पुराण, पर्व 74, पृष्ठ 462) के अनुसार पार्श्व महावीर के पूर्व 23वें तीर्थंकर थे। पार्श्व के शिष्य श्री कुमार ने महावीर के पिता को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। डा. बाथम ने पार्श्व द्वारा जैन धर्म के प्रचार का वर्णन किया है। डा. ग्लेसेनेप ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि बौद्ध धर्म के बहुत पहले से जैन धर्म भारत में प्रचलित था।

महावीर ने पुरानी श्रमण परम्परा को और जागरूक और परिपक्व किया है। डा. अल्फ्रेड पार्कर के शब्दों में :—

“महावीर के विचार—मानव कर्त्तव्य शास्त्र की उच्चतम अभिव्यक्ति हैं। अहिंसा का महान नियम, सबसे बलवान मौलिक सिद्धान्त है जिसके आधार पर मानव मात्र के कल्याण के लिये एक नैतिक जगत की रचना हो सकती है।”

इतालियन विद्वान डा. अलबर्टी पोगी लिखते हैं :—

“महावीर के उपदेश एक उस विजयी आत्मा के विजय गान के समान हैं जिसने इसी संसार में छुटकारा स्वतंत्रता तथा मुक्ति प्राप्त कर ली है—उनके आदेश हर एक के लिये अनिवार्य नहीं हैं। जो बिना उनको स्वीकार किये भी अनुभव से ज्ञान प्राप्त किये बिना ही उस मार्ग पर चलने लगते हैं, वे भी अपनी आत्मा की एक-स्वरिता नष्ट होने से और उसके गन्दला होने के भय से बच जाते हैं।”

डा. फेलिक्स वात्को लिखते हैं :—

“बिना किसी शंका या सन्देह के, निश्चय पूर्वक महावीर अपने ही उदाहरण से यह दिखला देते हैं कि मानव के मस्तिष्क को किस प्रकार संयम में लाया जा सकता है और उस पर ऐसा अनुशासन हो सकता है कि एक ही जीवन में उच्चतम बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सीमा पर पहुँच जाय।”

उत्तर पुराण (74/2) के अनुसार इनके बाल्य-काल में ही वर्धमान का दर्शन कर उनके तेज को देखकर संजय तथा विजय नामक दो तपस्वियों ने उनका नाम “सन्मति” रखा था। महावीर कलियुग के वरदान हैं। हम उनसे “सन्मति” की याचना करते हैं।

आज मनुष्य पुनः विचार करने लगा है कि आत्म-चिन्तन तथा एकान्त में स्वरूप लक्षण कितना आवश्यक है। बिना आत्म-चिन्तन हम असली तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने सन् 1975 में ही प्रकाशित अपनी पुस्तक में लिखा है कि बिना आत्म-चिन्तन के आत्म ज्ञान नहीं ही सकता। पूरी सीमांसा के साथ जैन मत यही कहता है।

विश्व शान्ति के सन्दर्भ में तीर्थंकर महावीर का सन्देश

○ यू० एन० वाच्छावत

सम्पूर्ण विश्व आज अशान्ति और असुरक्षा के गम्भीर दौर से गुजर रहा है। सम्पूर्ण मानव समाज युद्ध की विभीषिका से भयग्रस्त है। विकास के कालचक्र में मानव सभ्यता को भौतिक प्रगति के क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ प्राप्त कर जहाँ एक ओर भौतिक दृष्टि से सशक्त एवं विकासशील बनाया है वहाँ दूसरी ओर मानवीय पक्ष की दृष्टि से वह नित्य प्रति निर्बल होती जा रही है। भौतिक प्रगति की दौड़ में अंधी वर्तमान सभ्यता का रुख मानव कल्याण से हटकर शक्ति उपार्जन की ओर हो जाने के परिणामस्वरूप मानवीय आधारों पर भौतिक प्रगति की स्थापना की दिशा से हटकर, माननीय समाज व्यवस्था भौतिक आधारों पर निर्भर होती गई। भौतिक प्रगति के नित नए कीर्तिमानों की स्थापना की होड़ में मानव सभ्यता जितना अधिक भौतिकवादी जंजाल में फँसती रही, मानवीय मूल्य उतने ही अधिक नष्ट होते रहे।

यों तो इतिहास के पृष्ठ सत्ता लिप्सा के कारण होनेवाले युद्धों, नर-संहार और रक्तपात जैसी हिंसात्मक घटनाओं से भरे पड़े हैं। घृणा, द्वेष और सत्तालिप्सा के कारण समय-समय पर तथाकथित योद्धाओं एवं राजनेताओं द्वारा राजनीतिक एवं धार्मिक कारणों से “शान्ति के लिये युद्ध” की दुहाई देकर जन-शक्ति को युद्ध की विभीषिका में ओंक-कर मानवीय मूल्यों का गला घोंटा जाता रहा है। इसी शताब्दी में पिछले दो विश्वयुद्ध भी इसी आधार पर लड़े गए, परन्तु इन सबके बावजूद भी मानव सभ्यता के अस्तित्व को इतना बड़ा खतरा कभी नहीं रहा जितना आज है।

प्रजातन्त्र की रक्षा और स्थायी शान्ति की स्थापना के नाम पर लड़े गए द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम दौर में अमरीका द्वारा नागाशाकी और हीरोशिमा पर बमबर्षा के माध्यम से युद्ध विजय का मार्ग प्रशस्त हो जाने के बाद से विश्व की प्रमुख शक्तियों में अणु आयुधों की ऐसी होड़ मची, जिसने आज उन्हें प्रगति के उस सोपान तक पहुँचा दिया है, जहाँ से कुछ क्षण में ही सम्पूर्ण मानव सभ्यता को समाप्त किया जा सकता है। परिणामस्वरूप विश्व के प्रमुख शक्तिशाली देश दो खेमों में बँट गए, और कई छोटे और अशक्त देश असुरक्षा के भय से उनके साथ हो लिये।

विश्वविजय की दुष्कल्पना की अंधी दीड़ में इन विश्व शक्तियों ने ऐसे अस्त्र-शस्त्र निर्माण कर लिये हैं, जिससे जितना विपक्षी के अस्तित्व को भय है, उनके स्वयं के अस्तित्व को भी उससे कम भय नहीं है। आज यह स्पष्ट है कि यदि तीसरा विश्वयुद्ध हुआ तो उसमें इन संहारक आयुधों का प्रयोग निश्चित है, जो सम्पूर्ण मानव सभ्यता को नष्ट कर देगा। परिणामस्वरूप बड़ी शक्तियाँ भी विश्वयुद्ध से बचने को तत्पर तो नहीं, पर उनके मध्य व्याप्त घृणा, द्वेष, स्वार्थ पोषण, सत्ता लिप्सा तथा

वैचारिक संघर्ष ने “शीत युद्ध” को जन्म दिया। जिस मानवीय स्वरूप में इसका संचालन हुआ है उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि शीतयुद्धों और गृहयुद्धों का विस्तार आज किसी भी समय ऐसे विश्वयुद्ध का रूप ले सकता है जो सम्पूर्ण मानव सभ्यता को नष्ट कर दे।

अशान्ति और सुरक्षा के इस खतरनाक दौर के मूल में झोंकने और उसके निदान पर विचार करने पर बरबस ही हमारी दृष्टि उन सारी बातों पर ही जाकर ठहरती है जो तीर्थंकर महावीर ने आज से पच्चीस शताब्दियों पूर्व कही थीं। तीर्थंकर महावीर का युग भी हिंसा, घृणा, द्वेष, विषमता और वैमनस्य के विषाक्त वातावरण से ग्रस्त था। वर्द्धमान महावीर इसी वातावरण से प्रेरणा ग्रहण कर, राजपाट छोड़, मानव समाज की अशान्तिपूर्ण वातावरण से मुक्त कराने का मार्ग खोजने को सकल्पबद्ध हो, स्थायी शांति की खोज में निकल पड़े। अनेकों वर्षों की जठोर साधना और चिन्तन के पश्चात् केवलज्ञान की स्थिति की प्राप्ति कर महावीर ने प्राणीमात्र के कल्याणार्थ जो सन्देश दिया, उसका मूलाधार उनका सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, सहअस्तित्व, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का शाश्वत सन्देश है।

तीर्थंकर महावीर ने कहा कि “सभी प्राणियों को अपना जीवन धारा है, सुख सबको अच्छा लगता है, दुःख बुरा। सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए। संसार में जितने दुःख हैं, वे सब हिंसा से उत्पन्न हैं, अतः किसी की हिंसा मत करो, किसी को त्रास मत पहुँचाओ” उन्होंने न केवल मनुष्य पर वरन प्राणीमात्र पर दया का उपदेश दे, हिंसा को ही सभी दुःखों का कारक तत्व बताया। इस कारण उन्होंने जीवन में अहिंसा व्रत का पूर्ण पालन करने को प्रेरित कर कहा, “जो स्वयं के लिए तुम्हें नहीं रचता है, उसका व्यवहार दूसरों के लिए मत करो। किसी भी प्राणी का घात मत करो। जिस प्रकार तुम्हें सुख-दुःख का अनुभव होता है उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी सुख-दुःख का अनुभव

करते हैं।” इस प्रकार महावीर ने प्राणीमात्र पर दया करने और उनसे समान व्यवहार का विचार देकर उच्चतम अहिंसक प्रतिभानों की स्थापना की।

अहिंसा व्रत के पालन में उन्होंने प्राणीमात्र पर दया करने और वैचारिक एवं व्यावहारिक दोनों ही स्वरूपों में प्रत्येक जीव के प्रति दयामय रहते हुए उनसे समान व्यवहार करने पर बल दिया। उन्होंने अहिंसा की सकारात्मक व्याख्या की और कहा कि “सभी प्राणी समान हैं, सभी जीवों की आत्मा एक-सी है, कोई किसी से ऊँचा या नीचा नहीं है। इस कारण सभी जीवों को दूसरे प्राणियों से बँसा व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि वह दूसरों से अपेक्षा करता है।” इस प्रकार महावीर ने समाज की इकाई मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में अहिंसक रहने, सदाचरण का पालन कर सच्चरित्र बनने पर बल दिया।

आज विश्व शान्ति को खतरा होने का मूल कारण यही है कि उसमें राष्ट्र या वर्ग के अस्तित्व पर तो अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है, उसकी प्रगति की बात की जाती है, परन्तु उसके समक्ष व्यक्ति को, अर्थात् मानवीय जीवन और चरित्र को गौण बना दिया गया है। महावीर ने प्रत्येक इकाई के सुधार पर बल दिया और सभी के प्रथक् प्रथक् अस्तित्व को स्वीकारा महावीर ने न केवल प्राणीमात्र की रक्षा पर वरन् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों की रक्षा पर भी बल दिया। उन्होंने किसी प्राणी की हत्या को ही हिंसा नहीं कहा, वरन् मन में या वैचारिक दृष्टि से किये गये हिंसक कार्यों के समर्थन को भी हिंसा कहा। आज जब कहीं शान्ति की बात की जाती है, वहाँ केवल युद्ध की टालने अथवा मानवीय हिंसा से विरत रहने को ही अहिंसा मानकर विचार होता है, जबकि मन की हिंसा या वैचारिक हिंसा पर न तो विचार ही होता है, न ही कोई उसे छोड़ने को तैयार है। यही कारण है कि स्थायी विश्व शान्ति की स्थापना की दिशा में किए गये प्रयास विफल हो जाते हैं।

आज में राजनीतिज्ञ युद्ध को स्थायी शान्ति स्थापना के लिए प्रयास निरसूति करने लगे हैं, और युद्ध विराम को शान्ति स्थापना । उनकी नजर में युद्ध विजय से बड़ी वीरता और युद्ध विराम से बड़ी शान्ति नहीं है । यही सबसे बड़ा भ्रम है । यही सबसे बड़ा छल है, जो राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ मानवता के साथ खेल रहे अर्थशास्त्रों के बल पर युद्ध क्षेत्र में निर्बल पर विजय प्राप्त कर लेने में कौन-सी बहादुरी है, बहादुरी तो हिंसक के सम्मुख भी निश्चल, निष्काम भाव से निडर होकर स्थिर रहने और बुराई तथा हिंसा का आत्मबल के द्वारा मुकाबला करने में है । इस प्रकार अहिंसा वीरों का अस्त्र है, आज मानव जाति को इसके पालने की नितान्त आवश्यकता है । हिंसा से निमिक शान्ति, मरघट की ही शान्ति हो सकती है, किन्तु स्थायी शान्ति केवल अहिंसा के द्वारा ही संभव है ।

अहिंसा के अतिरिक्त जिन अन्य बातों पर महावीर ने सर्वाधिक बल दिया वह है समतावाद और अपरिग्रहवाद । उन्होंने कहा कि सभी जीव समान हैं, उनमें आत्मा का समान अस्तित्व है, अतः सभी के अस्तित्व को स्वीकारा जाना चाहिए । महावीर का समतावाद, आज भी विश्व के कई क्षेत्रों में व्याप्त रंगभेद, वर्णभेद जाति एवं वर्णभेद का सर्वोत्तम हल है । ये भेद आज भी विश्वशान्ति के मार्ग में बाधा और मानवता के माथे पर कलंक के रूप में बाधक आर्थिक वैषम्य एवं शोषण प्रकृति से मुक्ति के लिये महावीर ने अपरिग्रहवाद का सन्देश दिया । उन्होंने वस्तु या धन से लगाव या ममत्व को अपरिग्रह कह इससे विमुक्त रहने पर बल दिया और कहा कि आवश्यकता से संग्रह मत करो, साथ ही अपनी आवश्यकताओं को भी सीमित बनाओ । आज के वैचारिक जगत् में क्रांति की उन्नायक मार्क्सवाद और समाजवादी विचार-धाराओं के परिप्रेक्ष्य में यदि हम महावीर के अपरिग्रहवाद पर दृष्टिपात करें तो निश्चित रूप से वह इनसे भी कहीं अधिक प्रगतिशील सिद्धांत प्रतीत होता है,

दोनों के साध्य समान हैं, केवल साधनों का ही अन्तर है, क्योंकि महावीर का अपरिग्रहवाद अहिंसामूलक समाजवाद का जनक है, अहिंसा उसकी आत्मा है, जिससे उसे अलग नहीं किया सकता । इस प्रकार महावीर का अपरिग्रहवाद अहिंसामूलक समाजवाद की स्थापना पर बल देता है, जो कि विचारधाराओं के नाम पर विश्वशान्ति को उत्पन्न खतरे से मुक्ति का सर्वोत्तम हल है ।

महावीर ने अपने सारे दर्शन में विभिन्न सूत्रों की श्रृंखला में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण और नितान्त मौलिक सूत्र दिया वह है उनका अनेकान्त दर्शन जो विभिन्न विचारधाराओं के समन्वय पर बल देता है । इस दर्शन ने वैचारिक व्यापकता के द्वार खोल दिए, इस दृष्टि से यह सर्वाधिक प्रगतिशील विचार है जिसमें वस्तु को एकांगी स्वरूप से न देखकर विभिन्न दृष्टियों के समन्वय करने को कहा गया है । अनेकान्त दर्शन हठवादिता, एकांगी दृष्टिकोण एवं दुराग्रह रूपी दोषों को समाप्त कर व्यापक दृष्टिकोण अधनाने पर बल देता है । आज इन दोषों के कारण भी विश्वशान्ति को प्रमुख खतरा है । राष्ट्रों के मध्य परस्पर विश्वास का अभाव है, उनकी नीतियों के क्रियान्वयन और राजनीतिक विचारों एवं प्रणाली में एकांगी दृष्टिकोण निहित होने से भी स्थायी विश्वशान्ति स्थापित नहीं हो पा रही है । कुछ शान्तिप्रिय देशों तथा राजनीतियों द्वारा प्रदत्त गुट निरपेक्षता के विचार के मूल में हमें अनेकान्त दर्शन ही सरलक्षित होता है ।

इस प्रकार विश्वशान्ति की स्थापना परिप्रेक्ष्य में जब भी हम तीर्थंकर महावीर के दर्शन पर विचार करते हैं तो आज भी वह उतना ही नूतन, मौलिक, एवं शाश्वत प्रतीत होता है । उनके हश्चात् पञ्चीस शताब्दियां बीत जाने पर भी अहिंसा, समता, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धांत स्थायी विश्व शान्ति की स्थापना हेतु उतने ही शाश्वत और कारगर हैं जितने वे उनके काल में थे आज भी उनमें स्थायी विश्वशान्ति की स्थापना का मार्ग निहित है । □ □

भारतीय क्षितिज पर उदित महापुरुषों की महान परम्परा में तीर्थ-कर महावीर एक ऐसे महामानव थे जिन्होंने प्रचलित परम्परागत मान्यताओं से हटकर उच्चतम मानवीय मूल्यों की स्थापना की। उनसे पूर्व का समाज परम्परागत तथा कृत्रिम मूल्यों पर आधारित होने से विषमता, पाखण्ड, अन्धविश्वास, रूढ़िग्रस्तता तथा संकुचित भावनाओं के प्रभाव के कारण जर्जरित होता जा रहा था। चन्द-उच्च सत्ता, प्रतिष्ठा एवम् अधिकार प्राप्त शक्तिशाली व्यक्तियों का सम्पूर्ण मानव समाज व्यवस्था पर नियन्त्रण था। इसे स्थिर रखने के उद्देश्य से उन्होंने समाज में ऐसी दूषित व्यवस्था को जन्म दे रखा था जिसमें मानवीय मूल्यों को तिलांजलि दे दी गई थी।

30 मार्च, ई. पू. 599 (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) को वैशाली के राजपरिवार में जन्मे राजकुमार बद्धमान ने तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरणा ग्रहण कर, श्रमण तीर्थंकरों की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अहिंसा

मानव धर्म के प्रणेता तीर्थंकर महावीर

सरदारसिंह चोरडिया

को समतामयी भूमिका में प्रतिष्ठित कर उस युग की चिन्तनधारा को सर्वत्र चुनौती दी। शास्वत एवम् सर्वांगीण दर्शन के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त दोषपूर्ण व्यवस्था के विभिन्न पक्षों, ईश्वरवाद, पाखण्डवाद, बहुदेवोपासना, कर्मकाण्ड, लोकभाषा का अभाव, नरबलि, पशुबलि तथा नारी जाति के साथ दुर्व्यवहार जैसी कुप्रथाओं एवं व्यवस्थाओं से अस्त सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार कर मानवीय जीवन के मौलिक पक्ष को प्रस्तुत कर मानवीय मूल्यों की स्थापना की।

वर्ण व्यवस्था का खण्डन :

बद्धमान महावीर को जिस व्यवस्था के विरुद्ध सर्वाधिक संघर्ष करना पड़ा, वह थी तत्कालीन समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था, जो जन्मना जाति के सिद्धान्त पर आधारित होने से विषमता की प्रमुख

घटक थी। ब्राह्मण जन्मना उच्च एवं शूद्र जन्मना तुच्छ, इस मान्यता पर आधारित व्यवस्था ने मानव-मानव में बहुत बड़ा भेद पैदा कर दिया था। महावीर ने इस व्यवस्था का तर्कसंगत खण्डन कर तत्कालीन समाज को आन्दोलित कर दिया।

तीर्थंकर महावीर ने सभी वर्ण और जाति के लोगों को समान मानव कहा। वर्द्धमान महावीर स्वयं जन्म-जात जैन नहीं थे। जन्म से वे क्षत्रिय वर्ण के कुल में पैदा हुए थे। उन्होंने आत्मविजय द्वारा द्वेष व मोह का नाश कर आत्मा को जीता, इस कारण वे जिन कहलाए। उनके समवशरण के द्वार न केवल मानव मात्र को वरत प्राणीमात्र को खुले थे। उसमें सभी मिलजुलकर बैठते थे। उन्होंने बारह वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् निरंतर तीस वर्ष तक भ्रमण कर ज्ञानियों, अल्पज्ञों, उच्च एवं दलितों तथा छूत एवम् अछूतों को जैन धर्म में दीक्षित कर समाज में प्रचलित अन्याय, अत्याचार, कुप्रथा एवं दुराचार के विरुद्ध आवाज उठायी और सन्मार्ग दिखाया। उनके संघ में भी सभी वर्ग व जाति के लोग थे, उनके गणधर इन्द्रभूति आदि ब्राह्मण कुलोत्पन्न तथा अनेकों श्रावक-श्राविकाएँ वैश्य कुल की थीं। उनके शिष्यों में सकडाल कुम्हार, अर्जुन माली, कंसा डाकू, अनुरक्त भद्रा नामक राज कर्मचारी की बेटी तथा पापी और नीच समझे जानेवाले लोग भी थे।

दलितोद्धार :

प्राणीमात्र के मध्य समानता स्थापना का विचार देकर उन्होंने मानव समाज में व्याप्त भय, कायरता, दुराग्रह पाखण्ड एवं अन्धविश्वास को दूर किया तथा पतितों एवं दीनों को गले लगाया और धार्मिक जड़ता तथा अन्ध श्रद्धा को तोड़कर जातिभेद व सामाजिक वैषम्य के विरुद्ध लोकमत जाग्रत किया तथा सुदूर क्षेत्रों में अपने उपदेश दे, जन जागरण कर सामाजिक

क्रांति का सूत्रपात किया। दलितों एवं शोषितों के प्रति अन्याय से व्यथित महावीर ने उनके उद्धार को अपना एक प्रमुख लक्ष्य बनाया। वे जहाँ भी गए, उन्होंने ऐसे लोगों को प्राथमिकता दी। उन्होंने हृदय संकल्प ही, शूद्रों एवं एवं नारी जाति के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया। हरिकेशी चांडाल, सहालपुत्र कुम्भकार और दासी चन्दवाला (स्त्री) के लिए उन्होंने धर्म के द्वार खोल दिए। विहार करने समय एक बार पोलासपुर गाँव के भ्रमण में दौरान सकडाल कुम्हार की प्रार्थना पर वे सहर्ष उनके यहाँ ठहरे। इस प्रकार दलितों एवं शोषितों को समाज में समान एवं सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के लिए कटिबद्ध वर्द्धमान महावीर ने इस दिशा में नवीन क्रांति को जन्म दे, उनके लिए आध्यात्मिक साधना के द्वार खोल दिए।

अवतारवाद का खण्डन :

तीर्थंकर महावीर ने पूर्व प्रचलित इस धारणा का, कि—“सृष्टि निर्माता ईश्वर ही सबका भाग्य विधाता है” खण्डन किया। उनसे पूर्व धर्मगुरु इस धारणा पर ही बल देते थे, उन्होंने, इसकी व्याख्याओं में इसे और जटिल बनाते हुए “राजा को ईश्वर का अवतार” तथा “संस्कृत को देवताओं की भाषा” भी निरूपित कर दिया, और यह विश्वास जाग्रत एवं पैदा किया कि मनुष्य का कल्याण इस सृष्टि निर्माता ईश्वर की पूजा अर्चना से ही सम्भव है। राजा, पुरोहित एवं पंडित स्वयं इस ईश्वर के प्रतीक एवं मध्यस्थ बन गए और उन्होंने ईश्वर की पूजा अर्चना को भी जाति तथा वर्ण विशेष का ही अधिकार घोषित कर दिया। इस सारी व्यवस्था ने समाज को बुरी तरह जकड़ रखा था। महावीर ने इन बन्धनों को तोड़ा और कहा कि सृष्टि का कोई निर्माता नहीं है, वह अनादि और अनंत है। यह दुनियाँ किसी एक ईश्वर के भरोसे नहीं चल रही है। उन्होंने बुद्धिवादी कर्मवाद की धारणा प्रचलित कर हर व्यक्ति को लोकभाषा में मोक्षमार्ग ढूँढ़ने का

मन्देश दिया। इस धारणा का कि राजा ईश्वर का अवतार है, संस्कृत देवताओं की भाषा है, और उसमें लिखे कुछ ग्रन्थ ईश्वरीय है, खण्डन कर उन्होंने कहा कि कोई भी ग्रन्थ ईश्वरीय नहीं है, वे मनुष्य की ही कृति हैं, मनुष्य पहले आया और ग्रन्थ बाद में। राजा देव नहीं, न ही वह ईश्वर का अवतार हैं। महावीर ने कहा कि “राजा मनुष्य है, उसे देवता मत कहो, एक सम्पन्न मनुष्य कहो।”

देवों पर मानव की महानता :

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने समकालीन मानव को मानव माना, तथा स्वयं को भी मानव ही कहा। यही कारण है कि अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म तीर्थंकरों के साथ ईश्वरीय अवतार की धारणा नहीं जुड़ी है। वे तप व संयम द्वारा कर्मों को क्षय करके, आत्मा को साधना से पहचान कर, आत्मस्वभाव के रमण करने की प्रक्रिया से, तीर्थंकर बने। उन्होंने चरित्र की आवश्यकता तथा पंच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अरतेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के पालन पर बल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि कोई ईश्वरीय अवतार नहीं, सभी प्राणी समान आत्मा को ग्रहण करते हैं, देव मानव से उच्च नहीं, वरन् उनके आधीन हैं, जैन वाङ्मय में ऐसे अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं जिनमें देवों द्वारा महामानवों की शरण व स्वागत सत्कार में उपस्थित होने के प्रसंग हैं, जबकि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं जिसमें मोक्ष प्राप्ति हेतु ईश्वर या देवताओं या उनके अवतारों की पूजा अर्चना का मार्ग अपनाया हो। उनमें अनुसार प्रत्येक मानव सत्त्वर्गों के द्वारा दुष्कर्मों को क्षय कर, आत्मसाधना के द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। तीर्थंकर महावीर कृष्ण और सवेदना के प्रतीक थे। उन्होंने कहा कि मनुष्य की सत्ता सर्वोच्च है। प्रत्येक आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसमें अनन्त शक्ति विद्यमान है। इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने देवों पर मानव की महानता सिद्ध की।

मनुष्य स्वयं भाग्यविधाता :

तीर्थंकर महावीर ने भाग्यवाद का खण्डन कर कहा कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है, कोई अन्य शक्ति न तो उसके भाग्य को निर्धारित ही करती है, न ही उसके कर्मों को संचालित। मनुष्य भाग्य या कर्म के यंत्र का पुर्ण नहीं है, भाग्य मनुष्य को नहीं बनाता, मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माण करता है, वह स्वयं ही अपना भाग्य विधाता है। वह स्वयं ही अपने सुख दुःख का कर्त्ता है।

पुरुषार्थ पर बल :

सुख प्राप्ति के लिए तीर्थंकर महावीर ने पुरुषार्थ का सन्देश दे सहजता और स्वाभाविकता पर बल दिया उन्होंने कहा कि—“तुम सुख-कहाँ ढूँढ़ते हो, वह तो तुममें ही स्थित है, सुख बाहर नहीं भीतर है। जिस राग द्वेष, अपने पराए में तुम सुख दुःख की कल्पना कर रहे हो, परिग्रह समृद्धि में सुख खोज रहे हो, वह सुख कहाँ है? वहाँ तो दुःख का अपरम्पार पारावार लहरा रहा है। “सुख अन्तः में स्थित है, जिसे पुरुषार्थ से ही प्राप्त किया जा सकता है।”

कर्मवाद :

यही कारण है कि अपने जीवन दर्शन में तीर्थंकर महावीर ने कर्मवाद के मूलमंत्र का प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि “सिर मुड़ाने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो जाता, ॐ रटने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, वनवास भोगने से कोई मुनि नहीं बन जाता, बल्कि समता से ही व्यक्ति श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ही ब्राह्मण, ज्ञान से ही मुनि तथा तप से ही तपस्वी। आदमी क्षत्रिय, ब्राह्मण वैश्य, शूद्र सिर्फ अपने कार्य से बनता है।”

मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान है :

तीर्थंकर महावीर ने कर्मवाद की धारणा दे कर यह कहा कि “मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान होता

है।" जाति विशेष को ही मोक्ष की प्राप्ति का अधिकार है इस धारणा का खण्डन कर उन्होंने कहा कि धर्म के पथ का अनुशरण जन्म द्वारा निर्धारित न होकर उसके भावनारूपी कर्म पर आश्रित होता है। जैसा क्रिया कर्म होगा, वैसा ही उसका भोग होगा। जीवात्मा स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही फल भोगता है और स्वयं ही विश्व में भ्रमण करता है। तथा स्वयं बन्धन से सदा के लिए मुक्त भी हो जाता है। जैसा कर्म होगा, वैसा मिलेगा। जब तक पूर्व कर्मों का अय नहीं होता तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा :

मोक्ष प्राप्ति के लिए महावीर ने आत्मशुद्धि पर बल दिया। "शुद्ध आत्मा ही परमात्मा की धारणा दे उन्होंने कहा कि ईश्वरत्व प्राप्त करने के साधनों पर किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। वह तो स्वयं में स्वतन्त्र, मुक्त, निर्लेप और निर्विकार है। हर व्यक्ति चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो, मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर उसे प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने कषायों, क्रोध-मान-मोह-लोभ को त्याग दें। मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति के लिए अपनी तृष्णा से, बैर से, क्रोध से, मोह से, विलास, अहंकार एवं प्रमाद से मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है। इनसे मुक्ति प्राप्त आत्मा ही शुद्ध आत्मा है और वही परमात्मा है।

ज्ञान एवं कर्म का समन्वय :

इसके लिए महावीर ने ज्ञान और कर्म के समन्वय पर बल दिया। मोक्ष प्राप्ति के लिए उन्होंने सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान एवं सम्यक चरित्र रूपी रत्नत्रय के प्रमाणबद्ध समन्वय पर बल दिया। अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन अथवा अकेला चरित्र ही मनुष्य को दुःख मुक्ति को और नहीं ले जा सकता। इसके लिए ज्ञान, दर्शन और आचरण का समन्वय आवश्यक है। ज्ञान हीन कर्म और कर्महीन ज्ञान दोनों ही व्यर्थ हैं। ज्ञान सत्य का आचरण और आचरिक सत्य का ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं।

समन्वयवादी दर्शन :

महावीर का दर्शन अत्याधिक व्यापक है जिसमें समन्वयवाद पर बल दिया गया है। अनेकान्त एवं स्याद्वाद दर्शन का सिद्धान्त जैन दर्शन की ऐसी मौलिक उपलब्धि है जिसने दर्शन शास्त्र के जगत् में ज्ञान एवं विकास के नए द्वार खोल दिए हैं, तथा विश्व भर के चिन्तकों को नई दिशा दी है।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने ऐसे मानवधर्म की स्थापना की जिसने प्राणीमात्र की मुक्ति का द्वार खोल दिया और एक ऐसे जीवन दर्शन की स्थापना की जिसने मानव जगत् को नई दिशा तो दी ही, साथ ही मानव समाज में उच्चतम मानवीय मूल्यों की स्थापना की, जो कि तीर्थंकर महावीर के मानवधर्म की महत्त्व पूर्ण उपलब्धि है।



भगवान महावीर का सर्वोदय शासन

सुमेर चन्द्र दिवाकर शास्त्री

असंयम और स्वच्छन्दता से सम्बन्धित आज के विज्ञान ने समस्त विश्व की बड़ी भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी है। हिंसा का विषाक्त वातावरण और आध्यात्मिक अंधियारी उग्र रूप से बढ़ रही है। बड़े-बड़े राष्ट्रनायक शांति, एकता, अहिंसा और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful co-existence) की सुमधुर चर्चा करते हैं, किन्तु वे प्रयास इसलिए विफल होते हैं कि उनके अन्तःकरण में सच्ची अहिंसा की भावना नहीं है। वे लोग तो शेक्सपियर के नाटक मैकबेथ (Macbeth) के इन शब्दों के प्रतीक प्रतीत होते हैं। लेडी मैकबेथ अपने पति को मायाचार की इस प्रकार शिक्षा देती है,

Look like an innocent flower

But be the serpent under it

तुम पुष्प के समान अपना निर्दोष रूप दर्शाना, किन्तु अपने हृदय में विषधर की घातक वृत्ति को छिपाए रखना (ताकि शत्रुओं का विनाश कार्य संपन्न हो सके)। आज राष्ट्र के कर्णधार हंस की मनोज्ञ मुद्रा धारण कर बकराज का आचरण करते हैं।

भयावह स्थिति :

प्रायः प्रत्येक राष्ट्र स्वार्थ की पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित दिखाई दे रहा है। लोकनायकों की हार्दिक स्थिति का अकबर ने ठीक चित्रण किया है :

कौम के मम में पाटियां खाते हैं हुक्काम के साथ।

रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।

विश्व शांति और अहिंसा की वाणी द्वारा चर्चा करते समय हमारे माननीय राजनीतिज्ञ कसणामय आचरण की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। डाइनिंग टेबल पर विश्व कल्याण की मंत्रणा करते समय वे निरपराध पशुओं का मांस बड़ी रुचि से अपने उदर में प्रवेश कराते हुए तथा शरीर को सुधा तुल्य मान पीते हुए अहिंसा के प्रकाश को खोजा करते हैं। ऐसी आसुरीवृत्ति पूर्ण स्थिति में अहिंसा से भेंट होगी या क्रूरतापूर्ण राक्षसी वृत्ति दिख पड़ेगी? विश्वकवि रवि बाबू ने कहा था “महाशांति का सर्वधर्म ‘महाप्रेम’ के साथ है”। खेद है कि आज लोग जीवन की पवित्रता (Sanctity of life) के स्थान में छुरी की पवित्रता (Sanctity of knife) को अपने अन्तःकरण में माने

बैठे हैं भौतिक विज्ञान ने जो आराम की सामग्री के साथ में सर्वनाश करने वाले अणुबम आदि अस्त्र प्रदान किये हैं, उससे सारा विश्व गहरी चिन्ता में डूब गया है। सर्वत्र भय और स्नेह शून्यता की प्रचण्ड पवन बह रही है। डॉ. इकबाल ने वर्तमान हिंसात्मक विकास की व्यंग्यात्मक शैली में इन शब्दों में समीक्षा की है :

जान ही लेने की हिम्मत में तरबकी देखी ।

मौत का रोकनेवाला कोई पैदा न हुआ ।

दार्शनिक बर्ट्रेड रसिल ने लिखा है जिस अणुबम के फँके जाने पर जापान का हिरोशिमा नगर नष्ट हो गया, आज उससे पच्चीस हजार गुने बम का निर्माण हो चुका है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Impact of Science on Sociology' में लिखा है : Some eminent authorities including Eienstein have pointed out that there is a danger of the extinction of all life on this planet (P. 126)—आइंस्टीन आदि कुछ प्रमुख विशेषज्ञों ने कहा है कि वर्तमान स्थिति इतनी भयावह है कि उससे इस भूमंडल पर विद्यमान जीवमात्र के विनाश की संभावना है।

स्वर्गीय राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद ने अपने एक वक्तव्य में कहा था, “जिन्होंने अहिंसा के मर्म को समझा है, वे ही इस अंधकार में कोई रास्ता निकाल सकते हैं। जैन धर्म ने संसार को अहिंसा की शिक्षा दी है। आज संसार को अहिंसा की आवश्यकता महसूस हो रही है। जैनियों का आज मनुष्य समाज के प्रति सबसे बड़ा कर्तव्य यह है कि वह कोई रास्ता ढूँढ़ निकालें।”

भगवान महावीर ने संसार के दुःखों का मूल कारण हिंसात्मक भावना और आचरण को कहा है। उनका यह सूत्र अत्यन्त मामिक है, “हिंसा प्रसूतानि सर्वदुःखानि”—

समस्त दुःखों का मूल कारण हिंसा है। ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचंद्र ने कहा है :

यत्किंचित् संसारे णरीरिणिं दुःख शोक भय बीजम् ।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्विना-संभवं ज्ञेयम् ।

इस संसार में जीवों के दुःख शोक एवं भय के बीज स्वरूप दुर्भाग्य आदि का दर्शन होता है, वह हिंसा से ही उत्पन्न समझना चाहिये।

शुद्ध तथा स्वार्थी व्यक्ति “जीवो जीवस्यभक्षणम्” जीव का आहार दूसरा जीव है अथवा समर्थ को ही जीने का अधिकार है (Survival of the fittest) सोचा करता है। यथार्थ में उक्त बात पशु जगत से संबंध रखती है। मनुष्य पशु जगत से श्रेष्ठ है। वह विवेक और विचार शक्ति समलंकृत है। उसे अपनी दृष्टि को उदार बनाना चाहिए। संत बाणी है—

जैसे अपने प्राण हैं वैसे पर के प्राण ।

कैसे हरते दुष्ट जन बिना बैर पर प्राण ॥

सर्वोदय पथ :

सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर ने सर्वोदय मार्ग का उपदेश दिया है। उनका सर्वोदय बहुत व्यापक है। उसमें सर्व जीवों का, सर्वकालीन तथा सर्वांगीण उदय विद्यमान है। हिंसा की भावना पर निर्मित विकास या विलास का भवग शीघ्र धराशायी हो जाता है। भगवान महावीर के शिक्षण के विषय में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है “सर्वापिदा मन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तदैव ॥” युक्तमनुशासन । ६१ । आपका तीर्थ (शासन) समस्त संकटों का अन्त करनेवाला तथा स्वयं विनाश रहित सर्वोदय रूप है।

अहिंसा की महत्ता :

भगवान की कर्णामयी दृष्टि जीवमात्र के उत्थान की थी। वे स्वार्थ पूति के स्तर पर अहिंसा-हिंसा का विरलेषण नहीं करते थे। उनकी कर्णामयी

चन्द्रिका सर्व जगत को प्रकाश और आनंद प्रदान करती थी। अहिंसा में अपार शक्ति है। गांधीजी ने उसका आश्रय लेकर भारत को स्वाधीन बनाया। इससे अहिंसा की महत्ता, शक्ति तथा उपयोगिता स्पष्ट हो गई है। भगवान ने कहा है “सत्यं सत्यं आर्था अर्थात् सत्यं सत्यं गच्छति” शस्त्र के मुकाबले में बड़ा शस्त्र बन सकता है किन्तु अशस्त्र अर्थात् अहिंसा से बड़ा कोई दूसरा शस्त्र नहीं है। शस्त्र प्रयोग शत्रु का नाश करता है; वह शत्रुता का नाश नहीं करता है। अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई कर उसे हराया था, किन्तु कुछ समय बाद कलिंग सम्राट महामेघवाहन खारवेल ने भगवत् को जीतकर कलिंग को जयश्री प्रदान की। अहिंसात्मक हथियार का चमत्कार यह है कि शत्रु का नाश न कर शत्रुता का नाश करता है। गांधीजी ने अंग्रेजी शासन को भारत से समाप्त कर दिया, किन्तु भारत और अंग्रेजों के बीच दुश्मनी का विष नहीं पतपा तथा उनके साथ मैत्री की दृष्टि विकसित हुई।

यह बात स्मरण योग्य है कि वही अहिंसा शक्ति-शाली है, जिस पर माया या कपटाचार की छाया नहीं पड़ी है।

अहिंसा अमर जीवन प्रदान करती है। जिस अहिंसा-मयी साधना के द्वारा यह साधक अमृतत्व तथा परम ब्रह्म पद को प्राप्त कर सकता है, उसके द्वारा लौकिक तथा मानसिक शांति को प्राप्त करना कठिन नहीं है। ‘हिंसा’ का पर्यायवाची शब्द ‘मृत्यु’ है अतः हिंसा का निषेधवाचक ‘अहिंसा’ का पर्यायवाची ‘अमृत्यु’ होगा। उपनिषद् में मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा था, आज तपोवन को अमृतत्व के लिए प्रयाण कर रहे हैं, तो मैं धनादि सामग्री को लेकर क्या करूँगी, जबकि उससे अमृतत्व की उपलब्धि नहीं होती है। “किमहं तेन कुर्मि मेनाहं नामृता स्याम” — उस अमृत पद (Life immortal) की प्राप्ति अहिंसा की श्रेष्ठ समा-

साधना द्वारा होती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है— “अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसा रसायनम्” । ७८ । अहिंसा द्वारा अमृत पद, (परम निर्वाण) प्राप्त होता है। यह श्रेष्ठ रसायन है। इसमें मधुरता का रस भरा है तथा इससे आत्मा की प्रसुप्त अनंत दिव्य शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं।

ईश्वरभक्त भगवान को कृष्ण का सागर कहा करता है, इसलिए जिस व्यक्ति में जितनी मात्रा में कृष्ण का सदभाव रहेगा उसमें उतनी मात्रा में दिव्यता की उपलब्धि रहेगी। शेक्सपियर ने कहा है Mercy is an attribute to God Himself” दया ईश्वर का ही गुण है।

आत्मबल

अहिंसा की साधना के लिए आत्मबल तथा वासनाओं पर विजय आवश्यक है। इसमें साधक को अधोगामिनी प्रवृत्तियों को उर्ध्वगामिनी बनाने का सच्चा पुरुषार्थ और पराक्रम करना पड़ता है। साधारणतया जल का अधोगमन होता है। नदी को निम्नगा इससे कहते हैं, कि उसका पानी सदा नीची भूमि की ओर प्रवाहित होता है, उस जल को ऊँचाई पर पहुँचाने के लिए विशेष श्रम और उद्योग जरूरी हैं, इसी प्रकार आत्मा को अहिंसा के उदात्त पथ पर पहुँचाने के लिए विशेष प्रयत्न तथा आत्मबल बाँझनीय है। काका कालेलकर ने कहा है, “बिना परिश्रम किए हम अहिंसक नहीं बन सकते। अहिंसा की साधना बड़ी कठिन है। एक ओर पौद्गलिक भाव खींचतान करता है, दूसरी ओर आत्मा सचेत बनता है। दूसरों का हित हृदय में रहने से आत्मा धार्मिक श्रद्धा-वान बनता है। आज की मानवता को युद्ध के दावानल से मुक्त करने का एकमात्र उपाय भगवान महावीर की अहिंसा ही है।”

व्यसन त्याग

व्यक्ति तथा समष्टि के हित की दृष्टि से अहिंसा के साधक को अपनी प्रवृत्तियों को सदाचार से समलंकृत करना आवश्यक है। इन सप्त व्यसनों का परित्याग अत्यन्त आवश्यक है, कारण इन व्यसनों से आत्मा का पतन होता है तथा विश्व को भी हानि पहुँचती है।

जुआ, आमिष, मदिरा, चोरी, आखेटक, चोरी, परनारी। ये ही सात व्यसन दुःखदाई, दुरितमूल दुरगति के भाई।

अहिंसा की साधना द्वारा ही सच्ची सर्वोदय की स्थिति उपलब्ध होती है। सत्य, अचौय, शील, अपरिग्रह, निरभिमानता, संयम आदि सत्यप्रवृत्तियाँ अहिंसा के अंतर्गत हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है, प्रमत्तयोगादप्राण व्यपरोपणं हिंसा—प्रमत्त योग अर्थात् क्रोधादि विकारों से मुक्त हो प्राणों का घात करना हिंसा है। ऐसी हिंसा का त्याग निर्मल मनोवृत्ति पर निर्भर है। उस निर्मल मनःस्थिति के हेतु बाह्य प्रवृत्तियाँ उज्ज्वल रहनी चाहिये। मांस सेवन करने से मनोवृत्ति मलिन होती है। शराब का सेवन भी आत्मा में विकारी भावों को उत्पन्न करता है। एक शराब प्रेमी कहता है कि मद्यपान से आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचती। मजहब में पक्का विश्वास रखने पर बाहरी स्वच्छन्द आचरण कुछ भी क्षति नहीं पहुँचा सकता। खाने-पीने से आत्म-विकास तथा धर्म का सम्बन्ध है। वह विलासी जीवन का प्रतिनिधि बन पूछता है—

जाहिद शराब पीने से काफिर बना मैं क्यों ?

क्या डेढ़ चुल्लु पानी में ईमान बह गया।

सत्पुरुषों का अनुभव

यही धारणा हमारे विश्वहित की चिन्ता में निमग्न रहनेवाले प्रमुख लोगों को मांस, मदिरा आदि को सेवन करने में उत्साहित करती है किन्तु सात्विक

आचार, विचारवाले महापुरुषों का अनुभव है कि आहार की शुद्धता का विचारों पर प्रभाव प्रत्यक्ष गोचर है। अपने राजयोग में स्वामी विवेकानंद लिखते हैं, “हमें उसी प्रकार का आहार ग्रहण करना चाहिए, जो हमें सबसे अधिक पवित्र मन दे। हाथी आदि बड़े जानवर शान्त और नम्र मिलेंगे। सिंह और चीते की ओर जाओगे, तो वे उतने ही अशान्त मिलेंगे। यह अन्तर आहार भिन्नता के कारण है।” हिरण शाकाहारी है, बिल्ली मांसाहारी है; दोनों के जीवन का निरीक्षण बताता है कि हिरण जहाँ शान्त रहता है, वहाँ मार्जार क्रूरतापूर्ण आचरण के कारण अशांत अवस्था में पाया जाता है। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है “मन का शरीर के साथ निकट संबंध है। विकार मुक्त मन विकार पैदा करने वाले भोजन की ही खोज में रहता है। विकृत मन नाना प्रकार के स्वादों और भोगों को ढूँढता फिरता है और फिर उस आहार और भोगों का प्रभाव मन के ऊपर पड़ता है। मेरे अनुभव ने तो मुझे यही शिक्षा दी है, कि जब मन संयम की ओर झुकता है, तब भोजन की मर्यादा तथा उपवास खूब सहायक होते हैं। इनकी सहायता के बिना मन को निर्विकार बनाना असंभव-सा ही मालूम होता है।” (आत्मकथा ख. 5 पृ. 112-131) वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि मांस, मदिरा आदि के द्वारा शक्ति तथा आरोग्य का प्राप्त करना ऐसा ही है जैसे चाबुक के जोर से सुस्त घोड़े को तेज करना।

यूरोप के मनीषी महात्मा टाल्सटाय ने कहा है, “मांस खाने से मनुष्य की पाशाविक प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, काम उत्तेजित होता है, व्यभिचार करने और शराब पीने की इच्छा होती है। इन सब बातों के प्रमाण सच्चे और शुद्ध सदाचारी नवयुवक, विशेषकर स्त्रियाँ और तरुण लड़कियाँ हैं जो इस बात को साफ साफ कहती हैं, कि मांस खाने के बाद काम की उत्तेजना और अन्य पाशाविक वृत्तियाँ अपने आप प्रबल हो जाती हैं।” उनके ये शब्द विवेकी तथा सच्चे सुधार के प्रेमी को

ध्यान में रखने योग्य है, “मांस खाकर सदाचारी बनना असंभव है। वर्नादशा की यह उक्ति मननीय है, “मैं यह बात दृढ़तापूर्वक कहता हूँ, कि मदिरा तथा मृत शरीरों का भक्षण करने वाला मानव ऐसे श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता जिसकी क्षमता उसमें विद्यमान रहती है।”

शंका

कोई-कोई शाकाहार और मांसाहार को समान मानते हुए कुतर्क करते हैं, जैसे जीव का घात मांस में होता है, वैसे ही वनस्पति सेवन में जीव का घात समान रूप से पाया जाता है। प्राणी का अंगपना वनस्पति और मांस में समान रूप से है, किन्तु उनके स्वभाव में अंतर है। अन्न भोजन है तथा मांस, अण्डा आदि पदार्थ सर्वथा त्याज्य हैं। स्त्रीयों की अपेक्षा माता और पत्नी समान हैं, किन्तु भोग्यत्व की अपेक्षा पत्नी ही ग्राह्य कही जाती है, माता नहीं। एक बात और है। वनस्पति को पानी से उत्पन्न होने के कारण ‘आबी’ (जल से उत्पन्न) कहते हैं। मांस को रज, बौर्य से उत्पन्न होने के कारण पेशाबी कहा जाता है। मूत्रादि से उत्पन्न शरीर पिण्ड का भक्षण करना सभ्य तथा सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए उचित नहीं है।

जो लोग ईश्वर को विश्व निर्माता तथा जगत् पिता कहते हैं, उन्हें टी. एल. वस्त्वानी कहते हैं, “पक्षी या पशु को प्रेम न करना मेरे लिए प्रभु को प्रेम न करना है, क्योंकि पशु-पक्षी भी उसके इसी तरह बच्चे हैं जैसे मानव प्राणी।”

पायथोगोरस यूनानी तत्त्ववेत्ता की वाणी बड़ी मार्मिक है, “ऐ नश्वर मनुष्यो! अपने शरीर को घृणित आहार से अपवित्र करना बन्द करो। जगत् में तुम्हारे लिए रसमयी फल राशि है जिनके बोझ से शाखाएँ झुक गई हैं। मधुर द्राक्षाओं से लदी हुई लताएँ हैं,

रसीली वनस्पतियाँ हैं। अनेक प्रकार के अन्न हैं, जिन्हें आग के द्वारा मृदु एवं सुपाच्य बनाया जा सकता है। पोषक द्रव्य है। उदार पृथ्वी माता विविध भाँति की विपुल खाद्य सामग्री देती है तथा रक्तपात के बिना मधुर एवं शक्तिप्रद भोजन देती है। नीची श्रेणी के प्राणी अपनी क्रूर भूख को मांस के द्वारा शान्त करते हैं, परन्तु सभी ऐसे नहीं हैं। घोड़ा, गाय, बकरी, भेड़, बैल घास पर ही जीवित रहते हैं। अरे मरणशील मानवो! तुम मांस को छोड़ दो। मांसाहार के दोषों पर ध्यान दो। मारे गए बैल के लोथड़े जब तुम्हारे सामने आवे, तब यह समझ और अनुभव कर कि तू अन्न-फल पैदा करनेवालों को खाने जा रहा है।”

मूल गुण

भगवान महावीर ने सच्ची उन्नति के लिए साधक को अपने मनोमंदिर में भगवती अहिंसा को प्रतिष्ठित करके मांस, मद्य, मधु, स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल स्तेय, परस्त्री सेवन तथा अमर्यादित परिग्रह वृत्ति का त्याग करना चाहिए। आत्मविकास के लिए ये अष्ट मूल गुण आवश्यक हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में समंतभद्र आचार्य ने लिखा है।

मद्य मांस मधु त्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् ॥

अष्टौ मूलगुणाबाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

श्रमणोत्तम भगवान् ऋषभ देव, भगवान् महावीर आदि ने मद्य, मांस, मधु के त्याग के साथ अहिंसा आदि पंच अणुव्रतों को गृहस्थों के आठ मूल गुण कहा है।

गृहस्थ की अहिंसा

इस अहिंसा की साधना गृहस्थ और श्रमण के भेद से दो प्रकार की है। कृषि, वाणिज्य, राष्ट्र संरक्षण तथा

अन्य उत्तरदायित्वों के होते हुए गृहस्थ पूर्ण रीति से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता है; उसके लिए यह उचित है कि अपनी जिम्मेदारियों को ध्यान में रखते हुए अधिक-से-अधिक करुणाशील बनने का प्रयत्न करे। कम-से-कम इरादतन-संकल्पी हिंसा (Intentional) का परित्याग अवश्य करे। मांसभक्षण, शिकार खेलना आदि क्रूरकर्म संकल्पी हिंसा के अंतर्गत होने से त्याज्य हैं। जैन क्षत्रिय स्वयं मांसादि का त्याग करता हुआ लोक संरक्षण, न्याय-परित्राण, तथा सत्पुरुषों के रक्षणार्थ अस्त्र शस्त्रादि का भी प्रयोग करता है, क्योंकि उस प्रक्रिया के द्वारा व्यापक अन्याय, अत्याचार आदि का दमन होने से प्रकारान्तर से करुणा, शील, सदाचार आदि अहिंसात्मक प्रवृत्तियों का संरक्षण एवं संवर्धन होता है। महर्षि जिन सेन ने महापुराण में कहा है, “प्रजाः दण्डधराभावे मात्स्यं न्यायं श्रमन्तम्” (16-252) यदि शासक दण्ड धारण करने में प्रमाद दिखावे, तो जगत् में हाहाकार मच जायगा। मात्स्य न्याय—जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है—प्रवृत्त हो जायगा। अत्याचारी सशक्त व्यक्तियों का बोलबाला हो जायगा। अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुण्यदन्त ने कहा है, “रण चंगुल दीण परिवर्तणेण, पौरुषे सरणागम रत्तणेण”—दीनों के रक्षणार्थ युद्ध करना अच्छा है, शरणागत का रक्षण यथार्थ पौरुष है। गृहस्थ क्षत्रिय नरेश जैन धर्मानुसार अपना व्यक्तिगत जीवन करुणापूर्ण रखते हुए अपने उत्तरदायित्व को ध्यान में रख शस्त्रादि का संचालन करते थे। तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान ने चक्रवर्ती नरेन्द्र की अवस्था में चक्र के द्वारा नरेन्द्र समुदाय को जीता या, पदचात् राज्य त्याग कर श्रमण वृत्ति अंगीकार करने पर उन्होंने समाधि आत्म ध्यान के द्वारा मोह की सेना को परास्त किया था। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है :

चक्रेण यः शत्रुभयं करेण जित्वा नृपः सर्वतरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जं प मोहचक्रम् ।

जैन ग्रंथों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि कम-से-कम भी अहिंसा का पालन करनेवाला अपनी कमजोरियों पर विजय पाता हुआ श्रेष्ठ अहिंसक श्रमण की अवस्था को प्राप्त करता है, तथा अन्त में परम निर्वाण को प्राप्त कर जन्म, जरा, मरण के चक्कर से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है।

आकांक्षाओं पर नियंत्रण

अहिंसा की साधना के लिए गृहस्थ को धन-वैभव आदि की लालसा को कम करना चाहिए; आत्मा चेतना ज्योति स्वरूप है; धनादि परिग्रह आत्मा से भिन्न हैं, जो उसकी मृत्यु के समय यहाँ ही पड़े रहते हैं। अतः विवेकी गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अपने पास की अधिक संपत्ति को सत्कार्यों में व्यय करे। संग्रहशील व्यक्ति की शहद की मक्खी के समान दुर्दशा होती है—

मक्खी बैठी शहद पर पंख लिए लिपटाय ।
हाथ मले अरु सिर धुनें लालच कुरी बलाय ।

मनुष्य स्वभाविक आकांक्षाओं को पूरा किया जा सकता है, धनादि की लालसा कृत्रिम अभिलाषा को नहीं पूरा किया जा सकता है। सिकन्दर से भारतीय संत दंदमिस (Dandamis) ने कहा था, “स्वाभाविक इच्छाएँ जैसे प्यास को पानी द्वारा दूर किया जा सकता है, भूख को भोजन द्वारा पूर्ति हो सकती है, किन्तु धनादि की लालसा अस्वाभाविक होने से वह बढ़ती ही जाती है और कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती है।”

1. Dandamis told Alexander that natural desires are quenched easily, thirst by water hunger by food but the craving for possessions is an artificial one. It goes on unceasingly and never is fully satisfied (Speech by Dr. S. Radhakrishnan in inaugurating XXVI International Congress of Orientalists, New Delhi 1964)

श्रेष्ठ साधक

जैन धर्म में दिगम्बर मुनि परिग्रह मात्र का त्याग करके श्रेष्ठ अहिंसा तथा आरमशांति का सजीव उदाहरण उपस्थित करते हैं। परिग्रह त्यागी के चरणों के समीप विश्व का वैभव नतमस्तक होता है। एक कवि कहता है :

चाह घटी चिन्ता हटी भुआ बे परवाह ।
जिन्हें कलू नहि चाहिये वे शाहनपति शाह ।

अपरिग्रहत्व तथा अकिंचन वृत्ति पर गांधीजी के शब्द बड़े अनुभवपूर्ण हैं, “सच्चे सुधार का सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि उसका विचार और इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाइये त्यों-त्यों सच्चा सुख और संतोष बढ़ता है, सेवा शक्ति बढ़ती है। आदर्श और आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसी का होगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। मतलब वह पक्षी की भांति बिना घर के, बिना वस्त्रों के, बिना अन्न के विचरण करेगा। (गांधी वाणी पृ.98) अविद्या से अभिभूत व्यक्ति ईसा के इस उपदेश को भूल जाता है कि Naked I came from my mother's womb and naked shall I go thither. मैं अपनी माता के उदर से दिगम्बर रूप में आया था, तथा उसी अवस्था में यहाँ से उसी स्थल पर चला जाऊँगा। आचार्य गुणभद्र आत्मानुशासन में मार्मिक शिक्षा देते हैं :

अथो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूध्वं मज्जिघृक्षवः ।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयो ॥
॥ 154 ॥

तराजू के दोनों पलड़े यह बताते हैं कि लेने की इच्छावाला प्राणी लदे पलड़े के समान नीचे जाता है और न लेने की इच्छावाला प्राणी खाली पलड़े के समान उन्नत दशा को पाता है। मुकरात ने बड़ी सुन्दर

बात कही है, The fewer are our wants the more we resemble gods. हमारी जितनी-जितनी आवश्यकताएँ कम होती हैं उतना हम दिव्यता के समीप पहुँचते हैं।

भोषण स्थिति

वर्तमान युग की यांत्रिक पद्धति के कारण जगत् में धनवान और धनहीनों के बीच बड़ी गहरी खाई बन गई है। इसके कारण हिंसा का ज्वालामुखी सर्वसंहार हेतु जागृत हो रहा है। इस महा विपत्ति से बचने का उपाय भगवान महावीर का सीमित परिग्रह रखना तथा अनावश्यक संपत्ति को सत्कर्मों में स्वेच्छा से लगाना है। राजकीय अनेक कदम धनिकों को उनके अंधकार-मय भविष्य का उद्बोधन करा रहे हैं। एक कवि कहता है :

दातव्यं भोक्तव्यं सति विभवे संचयो न कर्तव्यः
यस्येह मधुकरीणां संचितमर्थं हरन्त्यन्ये ।

धन वैभव के प्राप्त होने पर सत्कार्यों में संपत्ति का विनियोग करो तथा स्वयं भी उसका उपयोग करो। देखो उस भ्रमरी को, जिसका संचित मधु दूसरे छीन लेते हैं।

महावीर की शिक्षा

भगवान महावीर ने कहा था—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
सन्निहितं च सदा मृत्युः कर्त्तव्यो धर्म संग्रहः ॥

शरीर अनित्य है, वैभव सदा नहीं रहेगा, मृत्यु सदा समीप है, अतः धर्म का संग्रह करना चाहिए। अकबर का कथन सत्य है—

आगाह अपनी मौत से कोई वशर नहीं ।
सामान सौ बरस का है पल की खबर नहीं ।
सेठ जी को फिक्र थी एक-एक के दस कीजिये ।
मौत आ पहुँची कि हजरत जान वापिस कीजिए ।

अपरिग्रह के समर्थन में कबीर की वाणी आज के गगनचुंबी भवन निर्माताओं को चेतावनी देती है, कहा चुनावे में दिया लाकी भीत उसार ॥ घर तो साढे तीन हथ घना कि पौने चार ॥ भगवान महावीर ने आत्मा को उसके उत्थान तथा पतन में स्वतंत्र कहा है। सत्तचूड़ामणि में कहा है— त्वमेव कर्मणां कर्त्ता भोक्ता च फलसंतते: । मोक्षा च तात कि मुक्तौ स्वाधीनायां न चेष्टा से ॥ ११-४५ ॥

हे आत्मन् ! तू ही अपने कर्मों को बांधता है, उनके फलों को तू ही भोगता है तथा तू ही उनकर्मों का क्षय करने की क्षमता संपन्न है। इस प्रकार तेरी मुक्ति तेरे हाथ में है, उसके लिए क्यों नहीं चेष्टा करता है ?

मुक्ति मार्ग

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि शोक्षमार्गः' :—सम्यग्दर्शन (आत्मश्रद्धा), सम्यग्ज्ञान (आत्मज्ञान) तथा सम्यक्चारित्र्य (आत्म स्वरूप में स्थिरता) में तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। इसे ही भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य का संगम रूप त्रिवेणी कहा जाता है। टेनीसन ने इस रत्नत्रय नाम से विख्यात जैन तत्त्वज्ञान को इस प्रकार कहा है—

Self reverence, Self-knowledge Self-Control
These three alone lead life to Sovereign power.

आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान तथा आत्म निमंत्रण (सयम) ये तीनों मिलकर जीव को पूर्ण शक्ति संपन्नता (परमात्म प्रदान करते हैं)।

समन्वय दृष्टि

भगवान ने वस्तु को अनंतगुणों का पुंज बताते हुए कहा है, कि तुम्हारी वाणी पूर्ण सत्य को एक साथ

व्यक्त करने में असमर्थ है, अतः तुम्हारी दृष्टि में यह बात रहनी चाहिए कि मैंने सत्य का एक अंश ग्रहण किया है, वह पूर्ण सत्य नहीं है। दूसरे व्यक्ति ने सत्य के अन्य अंश को ग्रहण किया है; उसकी दृष्टि से वह भी सत्य है। सत्य पर मेरा सर्वाधिकार (monopoly) नहीं है। इस समन्वय दृष्टि को स्याद्वाद दर्शन कहते हैं। सन् 1935 में मैं गाँधीजी से वर्धा के आश्रम में मिला था उस समय उन्होंने कहा था, "जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।" कबीर ने सुन्दर बात कही है—

नदिया एक घाट बहुतेरे ।

कहत कबीर वचन के फेरे ।

इस चिंतन पद्धति के द्वारा धार्मिक मंत्री का महा प्रासाद निर्माण किया जा सकता है। भगवान ने कहा, शक्ति रूप से संसारी जीव परमात्मा है, कर्मों के कारण वह दीन बन रहा है। परमात्म प्रकाश में कहा है—

एहु जि अप्पा सो परमप्पा कम्मविसेसे जायउ जप्पा ।

जामह जाणह अप्पे अप्पा तामह सो गि देउ परमप्पा ।

यह आत्मा यथार्थ में परमात्मा है, कर्मों के कारण वह संसारी आत्मा बनता है। वह जब अपनी आत्मा को अपने रूप में जानता है तब वह परमात्मा हो जाता है।

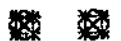
सार—

सर्वोदय के लिए भगवान ने कहा था—

अभयं यच्छ जीवेषु कुरु मैत्री मनिन्दिताम् ।

पश्यात्म सदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥

संपूर्णजीवों को अभय प्रदान करो, सबके प्रति निर्मल मैत्री धारण करो तथा चराचर विश्व को अपने समान समझो ।



Message of

T K Tukol

Bhagavan Mahavira

The year commencing from November 13, 1974 to November 15, 1975 was observed throughout the world as the 2500th Nirvana Mahotsava day of that great teacher, Bhagavan Mahavira, who preached the doctrines of Ahimsa, Satya, Achaurya, Brahmacharya and Aparigraha as holding the key to the spiritual advancement of an individual as also to public peace and morality. He did not preach these doctrines for the first time but merely reiterated what had been taught to humanity by his predecessors for thousands of years before him. As Dr. Hermann Jacobi has observed, "Jainism is an original system, quite distinct and independent of all others and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India." Dr. Radhakrishnan confirms this view in one of his volumes on Indian Philosophy (Vol II Page 287) : "Jain tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva (the first Tirthankara), who lived many centuries back. There is evi-

dence to show that as far as the first century B. C., there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed before Vardhamana or Parsvanatha. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras-Rishabha, Ajitanath and Arishtanemi. The Bhagavata Purana endorses the view that Rishabhadeva was the founder of Jainism."

Though Mahavira was a historical person, not many details of his life are available. His father Siddhartha was a King in Vaisali, part of modern Bihar and his mother was Trishaladevi. Since marvelous prosperity to the royal family and to the kingdom heralded the birth of the child who was destined to be a Tirthankara, the parents named the child Vardhamana. The child was brought up amidst royal grandeur and comfort; one would have expected him to grow to manhood with fondness for pleasures and soft comforts of palace life. That was not to be.

Vardhamana, who was subsequently named Mahavira, the great hero, on account of his remarkable deeds of prowess exhibited by him even during his childhood. He had a bent of mind which was at once philosophic and spiritual. As regards his marriage, the Digambaras and the Svetambaras differ in their traditions. While former hold that he was unmarried, the latter adhere to the view that he was married to one Yasoda and had a female child of that wedlock. Both are agreed that in the very prime of youth, he renounced the world and became a naked monk, as nudity was considered most essential for maintenance of mental detachment from all worldly objects and endurance of all bodily sufferings, paving the way for liberation. He believed that mental peace could result only from external peace by elimination of all attachments from one's mind. (swadosha Santyavihitmatma santih.)

During the period of his monkhood, Mahavira led a life of great austerity and concentrated his mind by meditation on the true attributes of a liberated soul : infinite knowledge, infinite vision or faith, infinite power and infinite bliss. Rains, storms and hunger never deterred him from the path of meditation as he felt convinced that all these afflictions pertained to the body and not to the soul which was distinct from the body. After arduous penances and undisturbed meditations for a period of twelve years, he attained Omniscience when he was deeply sunk in pure meditation (sukla dhyana) on the shore of river Rjukula on the 10th day of the bright half of the month of Vaisakha.

Omniscience dawns only on those who destroy their four destructive Karmas : Jnanavaraniya (knowledge-covering), Darsanavaraniya (perception of vision-covering), Antarayaya (the obstructive karmas) and Mohaniya (the deluding karma). He preached for 30 years and attained salvation at Pavapuri (at a distance of 27 miles from Patna) when he was deeply absorbed in Meditation in the early hours of the Divali Amavasya which is observed as a festival of lights all over India.

His message is today as practical and convincing as it was in his time. He affirmed that there are four things of paramount value which it is difficult for a living being to obtain : human birth, instruction in religion of the law of Dharma belief in the law and energy in self-control. The universe is eternal. It is not created by any external agency. There is therefore none either to lift you up or throw you down. You are the architect of your fortune and your salvation.

The critics of the message of Mahavira regard it as pure atheism. The word atheism has varied in meaning. The word itself is of Greek origin, derived from the word 'theos' meaning God. Jainism does believe in the existence of soul which, in its purest state, possesses the divine attributes of infinite knowledge, infinite perception, infinite power and infinite bliss. Jainism does not believe in the existence of God as the creator of the Universe. Modern science and the well-established theories in physics and geology support the theory that the world is a natural creation with

life and matter existing in different forms. Another meaning which is ascribed to the word in India is that athiests are those who do not believe in the Vedas. There are many religions which do not believe in the Vedas since they have their own sacred literature.

So the religion preached by Mahavira is not a theistic religion but it is a religion which gives full freedom to every soul or living creature to work out its own salvation. He preached : The universe is peopled by manifold creatures, they are born in different states, climes and conditions. It is our thoughts, deeds and actions that constantly entangle us with karmas which are either auspicious or inauspicious according as our activities are pure, wicked or mixed ones. As Shakespeare has said in his Hamlet :

There is nothing either good or bad,
But our thinking makes it so.

It is "the mind that can make a hell of heaven or a heaven of hell." It is by elimination of Karmas that living beings can reach in due course a pure state and be born as human beings. The living beings are not at the mercy of any god or evil spirit but they are their own masters, working out a hell or heaven for themselves.

How do you work out your salvation ? The foundation for spiritual edifice has to be built on the practice of sound ethics. Ahimsa (non-violence) is the very life-breath of all Jain ethics. It proclaimed that Ahimsa was the supreme religion not

only because it wanted to cry halt to sacrifices of living beings in the name of religion but also to inculcate the virtue of humanism which exudes the milk of human kindness all around. Man is supreme among all the living creatures not only on account of his intelligence, knowledge and intuition but also on account of the all pervasive and protective quality of compassion. Bhagavan Mahavira has said :

Sarve praninah priyausah, sukha-
swadah dukkhaprat-kulah Apriyavadhah
priyajivinah, jivitukamah.

Acaranga. 2.37.

"All beings love to live long; they experience happiness; they hate misery. Since life is dear to them, they are against every kind of injury. All beings long to live."

In such a world, Himsa, or injury of any type, whether to the mind or to any of the faculties becomes inhuman, as such action is a degradation of human qualities. That is why Himsa which is born of passions like attachment, anger, greed, pride or delusion has been regarded first as injury to one's own self and next as injury to some other being. All transgressions of the vows of truthfulness, honesty, celibacy and aparigraha are the direct progeny of one or the other of passions. That is why Bhagavan Mahavira advised; "Do no injury to living beings of the six orders, abstaining from lying and from taking what is not freely given, renouncing property, women, pride, and deceit, men

should live under self-restraint." (Uttara-dhyayana Sutra, 12.41). One should not permit or consent to the killing of living beings. A careful man will not injure living beings. In thoughts, words, and acts, one should do nothing injurious to beings who people the world, whether they move or not.

Mahatma Gandhi, who was very much influenced by the religion of Ahimsa and Truth, made Non-Violence his philosophy of life and Truth its goal. He said: "Ahimsa and Truth are so intertwined that it is practically impossible to disentangle and separate them ... Ahimsa is the means and Truth is the end. A steadfast pursuit of Ahimsa is inevitably bound to truth—not so violence. That is why I swear by Ahimsa." In these days when violence, lying and excesses in private and public life have become the order of the day, there is the greatest need to understand and practise these doctrines in daily life.

There is dishonesty in various forms: corruption, black-marketing, adulteration, misappropriation and cheating. All these are traceable to human greed. Bhagavan Mahavira asked his followers to control greed and acquire purity of thought and action: "The more you get, the more you want: your desires increase with your means. Though two mashes would do to supply your want, still you would scarcely think ten million sufficient." (Uttara. 8.17). There are no limits to human greed, not even the whole space of the Universe. When a person becomes its prey, he falls down to the abyss of misery

even in his attempts to reach the fringe of his ambitions.

There are two other vices in the public life of today. The difference between the West and the East in these matters is only a difference in degree. Promiscuousness in sexual matters has ruined many families and personal lives of many unmarried persons. The use of contraceptives has further added to the evil instead of solving it. Bhagavan Mahavira has said that for those who long for liberation and life according to the Dharma, there is nothing in this world which offers so many difficulties like the want of celibacy; it is only the ignorant that delight in sexual attraction. The problem of population is closely associated with the vow of celibacy. That is indeed a healthy solution. If our saints emphasised the need of education on Brahmacharya during the student days, today we are emphasising on the need of sex-education without emphasis on celibacy as essential to moral character. "If we begin to believe" says Gandhiji, "that indulgence in animal passion is necessary, harmless and sinless, we shall want to give reins to it and shall be powerless to resist it. Whereas if we educate ourselves to believe that such indulgence is harmful, sinful, unnecessary and can be controlled, we shall discover that self-restraint is perfectly possible. What formerly appeared to me to be extravagant praise of brahmacharya in our religious books seems now, with increasing clearness every day, to be absolutely proper and founded on experience." "Brahmacharya must be observed in thought, word and deed,"

Aparigraha which requires an individual to impose voluntary restrictions on the limits on one's own earnings is based both on material and spiritual considerations. Concentration of wealth in a few hands leads to revolution against the rich; in fact it is a negation of **śamatavada** or the doctrine of equality which religious teachers, socialists and jurists have emphasised as offering the best solution for social harmony and peace. In this connection, Bhagavan Mahavira has preached the twofold path for achievement of this objective.

The first is that we should always remember that the grace of living consists in mutual help (**parasparopagraho jivanam**). If we have to follow this advice in practice, we must help each other and that would not be possible if we live a selfish life. Einstein also said : "Man is here for the sake of other men". Self-sacrifice needs both self-restraint and self-detachment. It is our greed and our love for greater comforts than what are needed for a healthy mind and body that are responsible for the instinct of accumulation. Today, the gulf between the rich and poor has become so wide that there is rivalry between the capitalist and communist nations. That is not happy either for those countries or for the whole world in general. The doctrine of peaceful co-existence needs mutual adjustment by equitable distribution of food, clothing and shelter.

The other path is the creation of a society based on equality and tolerance.

The principle of Ahimsa which in its positive aspect stands for universal love and compassion naturally envisages a society in which all live in peace and comfort. It was **Samantabhadra Acharya** who in his book **Yuktyanusasana** said that the kind life which Bhagavan Mahavira wanted for all living beings was **Sarvodaya-tirtha**, that is, a holy message for universal peace and prosperity with mutual tolerance.

Having given to the humanity the secrets purposeful living with compassion, truthfulness, honesty, celibacy and voluntary limitations on earnings and accumulation, Bhagavan Mahavira preached the doctrine of **Syadvada** so that the followers of Jainism could avoid conflicts due to dogmatism and intolerance. **Syadvada** endeavoured to abolish metaphysical fanaticism and rejected blind ritualism.

With this ethical back-ground, if properly utilized for personal enlightenment and purification, then the path of liberation would be free from material thorns. Right Perception, Right Knowledge and Right Conduct together constitute the path of liberation. While some faiths have emphasised on devotion, others on Knowledge or Jnana and still others on Karma or conduct, Jainism considers that all the three in unison and harmony are essential for attainment of liberation. Faith without knowledge and knowledge without faith can only amount to misconceptions; conduct without the other two will be only an aimless march in the wilderness of worldly existence. All the three jewels together can form a safe

guide on the path of liberation lighting the dark corners on the way.

Right faith and knowledge will help in the cultivation of self-restraint which is the sheet-anchor for self-conquest. Bhagawana Mahavira advised his disciples : 'Subdue our Self, for the Self is difficult to subdue; if your Self is subdued, you will be happy in this world and in the next. Better it is that I should subdue my Self by self-control and penance than be subdued by others with fetters and corporal punishment.' (Uttara. I. 15, 16) He who wants to be a better man spiritually, must heed this advice and follow it in letter and spirit. We should remember that unless the ash is cleared, the bright fire within, cannot be visible and cannot give light. So also, unless we purify our thoughts and actions by self control we can never see the nature of the Self. We will ever continue to grope in the dark for light without the lamp.

The veils of Karmas make us blind to the light of infinite perception, knowledge, bliss and power which are the emiable attributes of our own Self. The veils must be destroyed by Right understanding backed up by unstinted faith. It is the passions that bind us with fresh Karmas. He who has subdued the passions will find light from his own Soul. A blurred mirror can show only a dim image; so also, a person who has become a slave to his passions like anger, hatred, attachment etc cannot experience the joy of his own Soul. By Knowledge, the Self understands the principles of Jiva and the nature of

substances; by his perception, he acquires the intense purity of his Faith; and by the Force of his Right Conduct, he can break the shackles of Karma. By austerities, he can maintain the serenity of his mind and attain to greater purity. If purity of life is reinforced by Dharma-dhyana, he can go nearer the goal. If you bury your mind within the Soul in you, you would have marched very near your goal of liberation.

In fine, Jainism offers a practical solution to miseries of life. Right Conduct is the stepping stone to salvation. Attain purity of mind by subduing your passions; by purity of mind, you can acquire purity of soul. It is by attaining the purity of soul that the Atman can become the Paramatman. Be free from external and internal attachments and you will see the light of liberation. You cannot acquire purity without truth and Ahimsa. You cannot get the benefit of your religion, unless you have purity within you. Without realizing the core of the religion, you cannot reach the goal. Without liberation, there cannot be eternal bliss.

It is given to everyone to be in constant search. For the avrage individual, the message of Bhagavan Mahavira is that one should create an awareness in oneself that Knowledge of the Atman is bliss and white ignorance only involves one into interminable transmigrations. No one is high by birth; our virtues raise us high while our vices reduce us to lower state of existence. Whether to use our

human birth for Self-elevation or demotion, is entirely dependent upon our own personal exertion, gradual advancement from the first Gunasthana to the next higher, step by step by step till we reach the fourteenth stage of final beattitude should be our constant endeavour.

The only way of progressive enhancement of consciousness is to develop a conviction about the distinction between the soul and the body, about the futility of developing the latter at the cost of the former and about the ceaseless search for the light within. Remember the most realistic following picture of a Jiva in mundane existence as drawn by a great Jaina Acharya :—

A Jiva is wandering in the garden of mundane existence; an intoxicated angry elephant in the form of Death started running after it; the Jiva also starts running; the moment it becomes exhausted by running, it hides itself in a big tree; at the root of the tree a number of creepers like *gotra*, low birth, etc have spread all round; just then, the Jiva is about to fall into a well but it catches hold of a creeper in the form of *Ayus* (life-span). Catching hold of it, it remains dangling and struggling. Just then, *micc* in the form of dark half and bright half of a month begin to bite that creeper. Serpents in the seven hells begin moving about with mouths open to eat away the Jiva. From the tree,

the juice of happiness produced by contact with sons and others begins to trickle down. The Jiva gets a strong desire to taste the juice. The bees that had gathered round about begin to bite the Jiva. Yet the Jiva begins wasting its time in tasting the juice thinking that it alone constitutes the happiness. A food gets addicted like this: while the wise men instead of spending their time getting absorbed in tasting such sensual pleasures, renounce the attachments and spend their time in difficult austerities,

These are the realities of life. Bhagavan Mahavira woke up right from his childhood and renounced all attachments, including his royal throne and its grandeur, adopted a life of stringent austerities and attained liberation. The duty of those who desire to be free from the miseries of this life is clear; Acquire Right Faith, Right Knowledge and cultivate Right Conduct and note that your salvation lies in trying to get hold of the three jewels and get light from them to guide you in life.

Jainism is a practical way of life. It does not advise every one to jump high because all cannot reach the highest rung of the ladder by a single jump. Life is a long pilgrimage attended with the dangers of a long journey. Those who are cautious and possess the eternal lamp shall alone be able to wade through safely to liberation or some other place of happiness.



PEARLS

As all rivers one after the other
Merge their self in the ocean
So merge all religions
In bhagavati ahimsa

—*Sambodha-sittari*, 16

Truth is God
The very quintessence of worldly life,
Deeper than the ocean,¹
Steadier than the mountain,
More tranquil than the moon,
More radiant than the sun,
More transparent than the autumnal sky
More fragrant than the Gandhamadana.

—*Prasna-vyakaran*, 2

Truth uttered under rage is virtually falsehood.

—*Dasavaikalika Churni*, 7.7

જૈન ધર્મ-દર્શન

ચતુર્થ સ્કાઉડ

दर्शन के क्षेत्र में ज्ञान और ज्ञेय की भीमांसा चिर-काल से होती रही है। आदर्शवादी और विज्ञानवादी दर्शन ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे केवल ज्ञान की ही सत्ता को मान्य करते हैं। अनेकान्त का मूल आधार यह है कि ज्ञान की भाँति ज्ञेय की भी स्वतंत्र सत्ता है। द्रव्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, इसलिए वह ज्ञेय है। ज्ञेय चैतन्य के द्वारा जाना जाता है, इसलिए वह ज्ञान है। ज्ञेय और ज्ञान अन्योन्याश्रित नहीं हैं। ज्ञेय है, इसलिए ज्ञान है और ज्ञान है, इसलिए ज्ञेय है। इस प्रकार यदि एक के होने पर दूसरे का होना सिद्ध हो तो ज्ञेय और ज्ञान दोनों की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। द्रव्य का होना ज्ञान पर निर्भर नहीं है और ज्ञान का होना द्रव्य पर निर्भर नहीं है। इसलिए द्रव्य और ज्ञान दोनों स्वतंत्र हैं। ज्ञान के द्वारा द्रव्य जाना जाता है, इसलिए उनमें ज्ञेय और ज्ञान का संबंध है।

ज्ञेय अनन्त है और ज्ञान भी अनन्त है। अनन्त को अनन्त के द्वारा जाना जा सकता है। जानने का अगला पर्याय है कहना। अनन्त को जाना जा सकता है, कहा नहीं जा सकता। कहने की शक्ति बहुत सीमित है। जिसका ज्ञान अनावृत होता है, वह भी उतना ही कह सकता है, जितना कोई दूसरा कह सकता है। भाषा की क्षमता ही ऐसी है कि उसके द्वारा एक क्षण में एक साथ एक ही शब्द कहा जा सकता है। हमारे ज्ञान की क्षमता भी ऐसी है कि हम अनन्तधर्मा द्रव्य को नहीं जान सकते। हम अनन्त धर्मात्मक द्रव्य के एक धर्म को जानते हैं और एक ही धर्म का प्रतिपादन करते हैं। एक धर्म को जानना और एक धर्म को कहना नय है। यह अनेकान्त और स्याद्वाद का मौलिक स्वरूप है। उनका दूसरा स्वरूप है प्रमाण। अनन्तधर्मात्मक द्रव्य

तीर्थकर महावीर का अनेकांत और स्याद्वाद दर्शन



आचार्य श्री तुलसी

को जानना और उसका प्रतिपादन करना प्रमाण है। हम अनन्तधर्मा द्रव्य को किसी एक धर्म के माध्यम से जानते हैं। इसमें मुख्य और गौण दो दृष्टिकोण होते हैं। द्रव्य के अनन्त धर्मों में से कोई एक धर्म मुख्य हो जाता है और शेष धर्म गौण। नय हमारी वह ज्ञान पद्धति है, जिससे हम केवल धर्म को जानते हैं, धर्मों को नहीं जानते। प्रमाण हमारी वह ज्ञान पद्धति है, जिससे हम एक धर्म के माध्यम से समग्र धर्मों को जानते हैं। हम अँधेरे में बैठे हैं। कोई आदमी गुलाब के फूल ले आता है। हम नहीं देख पाते कि उसके पास क्या है? पर सुगंध से पता चल जाता है कि उसके पास गुलाब के फूल हैं। गुलाब के फूलों में केवल सुगंध ही नहीं है। उनमें रंग भी है, स्पर्श भी है और भी अनेक धर्म हैं। यदि प्रकाश होता तो हम उन्हें आँखों से देखकर जान लेते। अनेक धर्मों में से जो भी धर्म मुख्य होकर हमारे सामने आता है, वही उसके आवाहृत द्रव्य को जानने

का माध्यम बन जाता है। इस ज्ञान-पद्धति में द्रव्य और धर्म की अभिन्नता का बोध बना रहता है। यह प्रमाणात्मक अनेकान्त है। द्रव्य और धर्म या पर्याय सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। उनकी अभिन्नता एक अपेक्षा या एक दृष्टिकोण से सिद्ध है। इस अपेक्षा के सूत्र को ध्यान में रखकर धर्मों और धर्म की अभिन्नता को स्वीकार करने वाली ज्ञान-पद्धति का नाम अनेकान्त है। एकान्त ज्ञान से हम धर्मों और धर्म की अभिन्नता को स्वीकार नहीं कर सकते। धर्मों एक द्रव्य है और धर्म उसमें होने वाले पर्याय हैं, वे दोनों अभिन्न नहीं हो सकते। अनन्त धर्मात्मक द्रव्य का किसी एक धर्म के माध्यम से प्रतिपादन करना स्याद्वाद (या प्रमाण वाक्य) है।

ज्ञान पद्धति अनेकान्त है और प्रतिपादन पद्धति स्याद्वाद। अनेकान्त के दो रूप हैं—प्रमाण और नय। प्रतिपादन की दो पद्धतियाँ हैं—समग्र द्रव्य के प्रतिपादन का नाम स्याद्वाद है और एक धर्म के प्रतिपादन का नाम नय।

वस्तु के जितने धर्म होते हैं, उतने ही नय होते हैं। जितने नय होते हैं, उतने ही वचन के प्रकार हो सकते हैं। किन्तु कहा उतना ही जाता है, जितना कालमान होता है।¹ अनेकान्त का पहला फलित है अनाग्रह, सत्य के प्रतिपादन की क्षमता का बोध। सब लोगों में सत्य (या द्रव्य) के समग्र रूप को जानने की क्षमता नहीं होती। हम इस बात को छोड़ भी दें। सत्य को जानने का अधिकार सब को है, सब उसे जान सकते हैं, यह मान कर चलें। फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं

कर सकते कि सत्य के समग्र रूप को कहने की क्षमता किसी में भी नहीं होती। इसलिए सत्य की सारी व्याख्या नय के आधार पर होती है। हम अखण्ड को खण्ड रूप में जानते हैं और खण्ड रूप में ही उसका प्रतिपादन करते हैं। अतः किसी खण्ड को जानकर उसे अखण्ड कहने का आग्रह हमें नहीं करना चाहिए। खण्ड का आग्रह न बने, इसीलिए भगवान महावीर ने सापेक्ष दृष्टि का सूत्र किया। सोना पीला है, यह सोने का एक धर्म है। उसमें और भी अनेक धर्म हैं। यह प्रत्यक्ष देखते हुए भी हमें नहीं कहना चाहिए कि सोना पीला ही है। पीला रंग व्यक्त है, इसलिए हमें सोना पीला दिखाई देता है। अव्यक्त में न जाने और क्या-क्या है? उसके सूक्ष्म रूप में प्रवेश किए बिना केवल स्थूल रूप के आधार पर हम कैसे कह सकते हैं कि सोना पीला ही है। क्या इससे व्यवहार का अतिक्रमण नहीं होगा? सोना जब प्रत्यक्षतः पीला दिखाई दे रहा है, हरा काला दिखाई नहीं दे रहा है, तब हमें क्यों नहीं कहना चाहिए कि सोना पीला ही है। व्यक्त पर्याय में सोना पीला ही है, यह हम कह सकते हैं, किन्तु त्रैकालिक और अव्यक्त पर्यायों को दृष्टि में रखते हुए हम नहीं कह सकते कि सोना पीला ही है। इसलिए सोना पीला ही है, यह निरूपण सापेक्ष हो सकता है, निरपेक्ष नहीं। सोने में विद्यमान अनेक धर्मों को दृष्टि में रखते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि सोना पीला ही है। शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि सोने का पीला होना संदिग्ध नहीं है। कुछ लोग मानते हैं कि स्याद्वाद संदेहवाद है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। संदेह अज्ञान की दशा में होता

1. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ४५०

उबकोसयसुतणाणी वि जाणमाणो वि तेऽभिलप्पे वि ।
ण तरित सब्बे वोत्तुण पटुप्पति जेण कालो से ॥

—इह तानुत्कृष्टश्रुतो जाननोऽभिलाप्यानपि सर्वादं (न) भाषते, अनन्तत्वात्, परिमितत्वाच्चायुषः, कमवतिनीत्वाद् वाच इति ॥

है। हम जानते हैं कि सोना पीला है, किन्तु साथ-साथ यह भी जानते हैं कि वह केवल पीला ही नहीं है, कुछ और भी है। सापेक्षता की दृष्टि से हम कहते हैं सोना पीला है। सोना पीला है, यह कहना सदिग्ध नहीं है, व्यक्त पर्याय की दृष्टि से यह असदिग्ध है, इसलिए म्यादाद की भाषा में हम कहते हैं कि सोना पीला ही है।

अनेकान्त में नय का स्थान प्रधान रहा है। आगमसाहित्य में प्रमाण की अपेक्षा नय का अधिक व्यापक प्रयोग मिलता है। न्यायशास्त्र के विकास के साथ प्रमाण की चर्चा प्रारम्भ होती है। प्राचीन साहित्य में पाँच ज्ञान उपलब्ध होते हैं। उनमें मति, अवधि, मनः पर्यव और केवल—ये चार ज्ञान स्वार्थ होते हैं। श्रुत ज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों होता है। नय श्रुत ज्ञान के विकल्प हैं।¹ अन्य दार्शनिक प्रमाण को मानते थे पर नय का सिद्धान्त किसी भी दर्शन में निरूपित नहीं है। प्रमाण की चर्चा के प्रधान होने पर यह प्रश्न उठा कि नय प्रमाण है या अप्रमाण? यदि अप्रमाण है तो उससे कोई अर्थसिद्धि नहीं हो सकती। यदि वह प्रमाण है तो फिर प्रमाण और नय एक ही हो जाते हैं, दो नहीं रहते। जैन तार्किकों ने इसका समाधान प्रमाण और नय के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए दिया। उन्होंने कहा—ज्ञानात्मक नय न अप्रमाण है और न प्रमाण। वह प्रमाण का एक अंश है।² धर्मी में प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान जैसे प्रमाण होता है, वैसे ही धर्म (एक पर्याय) में प्रवृत्त ज्ञान नय होता

है। केवल प्रमाण को माननेवाले तार्किक इसीलिए एकान्तवादी हैं कि वे नय को नहीं मानते। अनेकान्त का मूल आधार नय है। द्रव्य के अनन्त धर्मों या पर्यायों को अनन्त दृष्टिकोणों से देखे बिना एकान्तिक आग्रह से मुक्ति नहीं मिल सकती। द्रव्य के अनन्त धर्मों में यदि अपेक्षा सूत्र न हो तो वे एक-दूसरे के प्रतिपक्ष में खड़े हो जाते हैं। नित्यता-अनित्यता के प्रतिपक्ष में खड़ी है और अनित्यता नित्यता के प्रतिपक्ष में। यह आमने-सामने खड़ी होने वाली सैनिक मनोवृत्ति को नय दृष्टि के द्वारा ही टाला जा सकता है।

द्रव्याधिक नय ध्रुव अंश का निरूपण करता है, इसलिए उसके मतानुसार द्रव्य नित्य है। पर्यायाधिक नय परिवर्तन अंश का निरूपण करता है, इसलिए उसके मतानुसार पर्याय अनित्य है। यदि द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य हो तो वे एक-दूसरे के प्रतिपक्ष में खड़े हो सकते हैं। पर द्रव्याधिक नय इस अपेक्षा को नहीं भूलता कि पर्याय के बिना द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं है और पर्यायाधिक नय इस बात को नहीं भूलता कि द्रव्य के बिना पर्याय का कोई अस्तित्व नहीं है। तब नित्यता और अनित्यता सापेक्ष हो जाती है। द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न नहीं हैं, इसलिए नित्य और अनित्य भी सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। सापेक्षता के मूल सूत्र ये है—

1 द्रव्य अनन्त धर्मात्मक है।

1. प्रमाणनयतत्वालोकालंकार ७।७।४
श्रुतार्थाशाश एवेह योऽभिप्रायः प्रवर्तते ।
इतरांशाप्रतिक्षेपी स नयः सुव्यवस्थितः ॥
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १२३, श्लोक २१
नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।
स्यात्प्रमाणेकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥

- 2 द्रव्य में द्रौव्य और परिवर्तनीय दोनों धर्म होते हैं। उन्हें कभी पृथक् नहीं किया जा सकता।
- 3 द्रौव्य और परिवर्तनीय धर्म अभिवक्त होते हुए भी अपने-अपने स्वभाव में रहते हैं, इसलिए द्रव्य की नित्यता और अनित्यता में कोई निरोध नहीं है।
- 4 अस्तित्व और नास्तित्व भी सापेक्ष हैं। वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं।
- 5 हम द्रव्य को एक धर्म के माध्यम से जानते हैं, समग्र द्रव्य को नहीं जान सकते।
- 6 हम एक क्षण में द्रव्य के एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकते हैं।
- 7 धर्मों की निरपेक्षता मानने से विरोध की प्रतीति होती है। सापेक्षता से विरोध का परिहार हो जाता है।

इन सूत्रों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि अनेकान्त और स्याद्वाद का जितना दार्शनिक मूल्य है, उतना ही आध्यात्मिक और अहिंसात्मक मूल्य है।



वर्तमान युग में श्रमण

○ उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी

उज्ज्वल श्रमण-परम्परा

श्रमण-संस्कृति की उज्ज्वल परम्परा ने शील, संयम; तप और शौच को चारित्र्य में परिवर्तित कर मानव-जीवन को युगों-युगों से विभूतिमय किया है। आचार और विचार के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किए हैं। मानव को मानव समझने का विवेक जन-मानस में अंकुरित किया है और अखिल मंगलमय अहिंसामूलक विश्व मैत्री का सन्देश दिया है। समय-समय पर आनेवाले दुरन्त उपसर्गों को पार कर आज भी वह अपने अर्ध धरातल पर अवस्थित है और काल प्रभाव से प्रभावित न होते हुए काल-दाषों को निरस्त करने में ही संलग्न है। आज जबकि विश्व में काले, गोरे तथा परस्पर भिन्न जाति सत्ताक मानवों में एक-दूसरे को समाप्त करने की स्पर्धा लगी हुई है, जिज्ञासु वृत्ति से सीमातिक्रमण किये जा रहे हैं, मानव को परित्राण देने का पाथेय केवल उदर श्रमण-संस्कृति में है। क्षमा और अहिंसा के मणि-पीठ से भगवती जिनवाणी

पुकार-पुकार कर कहती है। “खम्मामि सब्बजीवान्, सब्बे जीवा खमन्तु मे” मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और सारे जीव मुझे क्षमा करें। सम्पूर्ण भूगोल और खगोल पर एकाधिपत्य चाहने वालों को “परिग्रह—परिमाण के सूक्त श्रमण संस्कृति ने ही दिए हैं। जहाँ शरीर भी परिग्रह है वहाँ संग्रह वृत्ति के लिए स्थान कहाँ? ऐसी उदार, करुणावतार तीर्थंकरवाणी का प्रसार कर्ता निर्मल मन, काय, वचन दिखलाता, जन को मोक्ष द्वार। सम्यक्त्व-शिला पर लिखे यहाँ दर्शन ज्ञान-चारित्र्य-लेख, सम्पूर्ण विश्व को अभयदान देते जिनवाणी के प्रदेश। इसकी कल्प-वृक्ष छाया में स्थित होकर मानव धर्म ने अपना सर्वस्व प्राप्त किया है।

श्रमण-संस्कृति का मानव-जाति पर उपचार :

इस संस्कृति ने मानव को भक्ति मार्ग दिया, मुक्ति-पथ के रत्न-सोपानों की रचना की और विश्व-बन्धुत्व के भाव दिये। इसमें आश्रय में पल कर मनुष्य

ने अहिंसक समाज की रचना की और अपने को व्यसनों से मुक्त किया। व्रत-रहित-मत्तव्य मान से अज्ञान मानव को व्रत-निष्ठ किया तथा इन्द्रियों की दासता से मुक्त किया। इसी के नेतृत्व में मनुष्य आदर्शों के ऊँचे मार्गों का आरोही बना और इसी के आचार्य मार्ग से चलकर उसने कैवल्य प्राप्त किया।

न धर्मो धार्मिकैर्विना

ऐसी निर्दोष संस्कृति में आज जान बूझकर विकारों का प्रवेश कराया जा रहा है। जहाँ श्रमण श्रमणी और श्रावक श्राविका (चतुःसंघ) मिलकर धर्म के इस महारथ को खींचते थे, वहाँ आज ये पृथक्-पृथक् होकर 'महारथ' को गति देने में असमर्थ हो गये हैं। अंग अंगी के समान धर्म और धार्मिक का नित्य संबन्ध है। न धर्मो धार्मिकैर्विना यह अव्याभिचारी सूत्र है।

तीन रत्नों की माला

मोक्ष मार्ग का निरूपण करते हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र्याणि मोक्ष-मार्गः कहा गया है। "मोक्षमार्ग" पद एकवचनान्त है और सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र्याणी बहुवचन है। मोक्ष मार्ग में 'त्रितयमिदं व्याघ्रियते' ये तीनों साधन हैं। इनमें से किसी एक अंग को लेकर प्रवर्तमान होनेवाले सम्यक्त्व की अखिलता को जानकर उसके खण्ड से चिपके हुए है। समाज का पण्डित वर्ग सम्यक्त्व परिच्छिन्न ज्ञान को लिए घूमता है। श्रावक समदर्शन से सन्तुष्ट है, और त्यागी चारित्र्य मात्र में अपने श्रामण्य को कृतार्थ समझते हैं। एक सूत्र में पिरौने पर जो माला निर्माण की जाती है, उसी की एक-एक मणि को विकीर्ण करने में माला का गुम्फ नहीं आ पाता। सम्यक्त्व से विशिष्ट दर्शन ज्ञान और चारित्र्य की यह माला ही अपने अत्रुटित जाप्य से मोक्ष सिद्धि दे सकती है। इसे एकैकशः विभक्त करनेवाले तो 'अन्धगजान्याय' के अनुगामी हैं। जैसे 'अन्धगजान्याय-वादी परस्पर अपने 'गज' सम्बन्धी ज्ञान पर विवाद

करते हैं और अपने एकांगी एकांत ज्ञान को सत्य ठहराते हैं, उसी प्रकार मोक्ष मार्ग के त्रिरत्न-सत्य को विभक्त कर एक दूसरे से निरपेक्षता रखनेवाले सामाजिकों ने सर्वोदयी तीर्थ के तीन मणिसोपानों का अलग-अलग अपहरण कर लिया है।

भावात्मक विभिन्नता के दुष्परिणाम

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस अपहरण काण्ड से समाज में गिरावट ही आई है। एक के पास कर्म के संवर करने का दिव्यायुग रह गया है तो निर्जरा का अमोधास्त्र नहीं है तो दूसरे के पास निर्जरा मात्र रहकर 'संवर' का अभाव हो गया है। परिणाम स्वरूप विसंवाद और शिथिलाचार का प्रवेश हो गया है। समाज अपने संगठन की शक्ति को खोता जा रहा है। 'नागेन्द्रा अपि ब्रह्मवन्ते संहृतैस्तृणसंचर्यः' तिनकों की रस्सी बनाकर उससे गजराज को बांध लिया जाता है। किन्तु यदि तिनका-तिनका पृथक् कर दिया जाए तो स्पष्ट है कि उसमें गजेन्द्रबन्धन का सामर्थ्य नहीं है। सम्यक्त्वानुपूर्विक दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को एक बंटी हुई रस्सी के रूप में देखनेवाला ही उससे परम पुरुषार्थ की उपलब्धि कर सकता है। इस समन्वित दृष्टि कोण को चतुःसंघ की भावात्मक एकता से ही प्राप्त किया जा सकता है। आहार देनेवाला और उसे ग्रहण करने वाला तथा आहारशास्त्र की व्यवस्था देनेवाला (श्रावक-श्रमण और पण्डित) तीनों यदि संघ प्रेम से कर्तव्य-नियोजित हों तो आचारशैथिल्य आ ही नहीं पाएगा। अपना हाथ अपने मुँह में विषाक्त कवल नहीं देता। किन्तु अपने हाथ और मुँह जो शरीर के अंग हैं तथा अंगी के लिए कर्तव्य समर्पित हैं यदि अपना 'अंगांगी' भाव भूल जाएंगे तो विषकवल देना हाथ के लिए और उसे उदरसात् करना मुँह के लिए कठिन नहीं होगा। 'एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिणः त एव निधनं यान्ति' यह एक कथा है जिसमें बताया गया है कि एक पशु के पेट तो एक था, किन्तु मुख दो

थे। एक दिन दोनों मुख किसी बात पर झगड़ने लगे। परस्पर की बैर भावना से उनमें से एक मुख ने विष खा लिया। पेट तो एक ही था। परिणाम यह हुआ कि वह मर गया। जो एकोदर होकर विसंवादी मुख रखते हैं वे अपनी ही मृत्यु के निमग्नयिता बनते हैं।

परस्परोपग्रह-एकमात्र समाधान

भावात्मक एकता में कभी-कभी ऐसा ही होता है कि दूसरे के अनिष्ट चिन्तन में अपना अहित हम कर बैठते हैं। अपने सम्पूर्ण अंग से प्रेम करने वाला अंग के किसी अंश के दूषण को दूर करने में अपना सम्पूर्ण यत्न लगा देगा। यदि पाँव में काँटा चुभ गया है और सुई पाम नहीं है तो वह अपने नखों से भी उसे निकाल बाहर करेगा। यही अंग-धर्म है। चतुःस्र में। जैसा कि आज सुनने में आ रहा है, यदि आचार शैथिल्य प्रवेश कर गया है तो अंगी भाव से उसका निराकरण करना अधिक श्रेष्ठ है। एक दूसरे पर दोषारोपण न करके 'परस्परोपग्रह' से अपने आपको शैथिल्य को दूर कर सकें तो वह अच्छा रहेगा। कोई भी विनाशक तत्व सूचीमुख होकर प्रवेश करता है और जब निकलता है तो गोली के समान निकलने के मार्ग को विस्तीर्ण कर देता है। शिथिलाचार के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

लोकैषणा का अनुचित रूप

आजकल के छपे धार्मिक ग्रन्थों में अर्थ सहायता करनेवाले धनिक के फोटो छपे जाते हैं। जिनकी प्रेरणा से ग्रन्थ छपते हैं उन श्रमणों के भी चित्र उनमें होते हैं। जो लोग रात दिन हजारों लाखों रूपयों से खेलते हैं, वे धार्मिक ग्रन्थों के पृष्ठों से अन्यत्र अपना अर्थ-व्यय करते समय कभी 'फोटो' नहीं छपवाते किन्तु धर्मध्वज होने की तृष्णा में लोकैषणा साथ मिली होती है। केवल धर्म भाव से 'गुप्तदान' आजकल नहीं किया

जाता। भले ही अधर्म करते समय व्यय किये गये लाखों रूपयों पर उनकी 'फोटो' न लगे, किन्तु धर्म शरीर पर उनकी मुद्रा (द्रव्य) अमुद्रित कैसे रहे? अपने मान को करते समय धर्म ग्रन्थों की मर्यादा को भुलानेवाले स्वयं अपने कृत्य पर सोचें। इधर कुछ समय से मुनि मूर्तियाँ बनाई जा रही हैं। पहले जिनवाणी के साथ फोटो छपते थे अब 'जिन' भगवान के साथ मूर्ति भी रखी जाया करेगी। धीरे-धीरे प्रगति की जा रही है। एक वे त्यागी थे, जिन्होंने जिनवाणी को ग्रन्थ रचना का रूप देकर भी अपने आपको पर्दे में रखा, परिचय तक नहीं लिखा और धर्म ध्यान करते हुए जीवन को सार्थक किया। श्रावकों ने भावना से अभिभूत होकर उनकी 'चरण पादुका' विराजमान कर दी। उन चरण पादुकाओं का इतिहास भी विशेष विस्तृत नहीं। पंचम काल के श्रुतकेवली भद्रबाहु आचार्य और ज्ञान ज्योति से भासमान कुन्दकुन्द आचार्य जैसों की समाधि-मरणोत्तर प्रतिष्ठा के रूप में 'पद पादुकाएँ' मिलती हैं। चन्द्रगिरि पहाड़ी का शिला लेख है 'जिनशासना दावनवरत भद्रबाहु चन्द्र गुप्त' मुनिपतिचरण मुद्राकित विशालशी... '162। कुन्दाद्रि आदि क्षेत्रों में भी आचार्य कुन्दकुन्द की चरण पादुकाएँ ही मिलती हैं, मूर्तियाँ नहीं। आज तो पंचम काल अपनी सम्पूर्ण अश्रमविष्णुता के साथ ताल देकर नाच रहा है। शरीर को भी परिग्रह माननेवाले मुनि प्रतिमाओं के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। किन्तु नातस्त्वमसि नो महान्" कहने का साहस रखनेवाले परीक्षा प्रधानियों को आगम विरुद्धता से उत्कीर्ण ये प्रस्तर क्या मान्य होंगे?

समय की माँग

समय की माँग तो यह है कि सहस्रातिसहस्र मूर्ति से सम्पन्न जैन-जगत् नवीन मूर्ति-निर्माण से पूर्व अपने मन्दिरों, चैत्यालयों में प्रतिष्ठापित जिन विम्बों की पूजा प्रक्षाल की व्यवस्था करे। ग्रन्थों और मूर्तियों

की संख्या कम नहीं है। कभी है तो उनके स्वाध्यायियों और उपासकों की है। इस संख्या को बढ़ाने की ओर ध्यान देना अतीव आवश्यक है। भगवान की मूर्तियाँ, एक एक मन्दिर में अनेक है। देव दर्शन के नियमों का पालन करने में अपनी धर्म प्रवृत्ति लगाओ। धर्म और जीवन को एकाकार करो। मत समझो कि मन्दिर से लौटने पर मूर्ति आँखों से परोक्ष हो गई। भावचक्षुओं में उसे अहर्निश विराजमान रखो। दश दिनों में दश

लक्षण पर्वों को समर्पित मत करो। प्रत्येक दिन अहिंसा का है, क्षमावाणी का है। जब तक धर्म की इस दार्शनिक व्याख्या हृदयंगम नहीं करोगे, धर्म जीवन का अंग बनेगा। अग्नि और उसका दाहकत्व, पानी और उसका शीतत्व, अग्नि से पृथक् होकर नहीं रहता। धर्म और धर्मी एक नीड होकर रहते हैं। श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है।



जैन योग में कुंडलिनी

© मुनि श्री नथमल

योग की उपयोगिता जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे उस विषय में जिज्ञासाएँ भी बढ़ती जा रही हैं। योग की चर्चा में कुंडलिनी का सर्वोपरि महत्व है। बहुत लोग पूछते हैं कि जैन योग में कुंडलिनी सम्मत है या नहीं? यदि वह एक वास्तविकता है तो फिर कोई भी योग-परंपरा उसे अस्वीकृत कैसे कर सकती है? वह कोई सैद्धांतिक मान्यता नहीं है किन्तु एक यथार्थ शक्ति है। उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नहीं हो सकता।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में कुंडलिनी शब्द का प्रायोग नहीं मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। वह तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य में कुंडलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग में कुंडलिनी का जो वर्णन है, उसकी तेजोलेश्या से तुलना की जा सकती

है। अग्नि ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है। यह तप की विभूति से होनेवाली तेजस्विता है।

हम शरीरधारी हैं। हमारे शरीर दो प्रकार के हैं—स्थूल और सूक्ष्म। हमारा अस्थि-चर्ममय शरीर स्थूल है। तैजस और कर्म—ये दो शरीर सूक्ष्म हैं। हमारी सक्रियता, तेजस्विता और पाचन का मूल तैजस शरीर है। वह स्थूल शरीर के भीतर रहकर दीप्ति या तेजस्विता उत्पन्न करता रहता है। साधना के द्वारा उसकी शक्ति विकसित करली जाती है। तब उसमें निग्रह और अनुग्रह की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इस शक्ति का नाम तेजोलब्धि है। यह तैजस शक्ति उष्ण और शीत—दोनों प्रकार की होती है। उष्ण तेजोलब्धि के प्रहार की शीतल-तेजोलब्धि निष्फल बना देती है। बालतपस्वी वैश्यायन से मोशालक को जलाने के

1. ठाणं १।१६४, वृत्ति पत्र २६ :

तेज—अग्निज्वाला, तद् वर्णानि यानि द्रव्याणि लोहितानीत्यर्थः, तत्साचिव्याज्जाता तेजोलेश्या, शुभ-स्वभावा।

लिए उष्ण-तेजोलब्धि का प्रयोग किया तब महावीर ने शीतल-तेजोलब्धि का प्रयोग कर उसे निष्फल बना दिया। गोशालक ने महावीर से पूछा— 'भते ! यह तेजोलेश्या कैसे प्राप्त की जा सकती है ?' तब भगवान् ने उसे उपलब्ध करने की साधना बतलाई। उसकी चर्चा हम आगे करेंगे। वह तेजोलेश्या अप्रयोगकाल में संक्षिप्त और प्रयोगकाल में विपुल हो जाती है।²

वह विपुल अवस्था में सूर्य-बिम्ब के समान दुर्दर्श होती है³—इतनी चकाचौंध पैदा करती है कि आदमी उसे खुली आँखों से देख नहीं सकता। यही तथ्य हठयोग में 'सूर्यकोटिसमपुत्रम्' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया गया है। तेजोलब्धि का प्रयोग करनेवाला जब अपनी इस तैजस शक्ति को बाहर फेंकता है तब वह महाज्वाला के रूप में विकराल हो जाती है।⁴ तैजस शरीर की शक्ति के दो कार्य हैं—दाह (शाप या निग्रह) और अनुग्रह।⁵ तैजस शरीर दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और लब्धिहेतुक। स्वाभाविक तैजस शरीर

सबको प्राप्त होता है। तपो-विशेष या विशेष प्रकार की साधना करनेवाले व्यक्ति को लब्धिहेतुक तैजस शरीर उपलब्ध होता है।⁶ जिसे लब्धिहेतुक तैजस शरीर प्राप्त होता है वह क्रुद्ध होने पर अपनी तैजस शक्ति को बाहर निकालता है और लक्ष्य को शाक-भाजी की तरह पका देता है। वह शक्ति अपना काम कर फिर लौट आती है, फिर उसी में समाहित हो जाती है। यदि वह शक्ति बहुत समय तक बाहर ठहरती है तो उम लक्ष्य को जलाकर भस्म कर डालती है।⁷ तैजस शरीर की विकसित अवस्था का नाम तेजोलेश्या या तेजोलब्धि है और उसके प्रयोग का नाम तैजस समुद्घात है।

जो साधना के द्वारा तेजोलेश्या को प्राप्त कर लेता है वह सहज आनन्द की अनुभूति में चला जाता है। इस अवस्था में विषय-वासना और आकांक्षा की सहज निवृत्ति हो जाती है। इसीलिए इस अवस्था को 'सुखासिका' (मुख में रहना) कहा जाता है।⁸ विशिष्ट ध्यान-योग की साधना करने वाला एक क्षण में इतनी तेजो-

2. भगवई १५।६६, वृत्ति पत्र ६६८ :
संक्षिप्ताऽप्रयोगकाले, विपुला प्रयोगकाले।
3. ठाणं ३।३८६, वृत्ति पत्र १३६ :
विपुलापि—विस्तीर्णापि सती अन्यथा आदित्यबिम्बवत् दुर्दर्शः स्यादिति।
4. ठाणं ३।३८६, वृत्ति पत्र १३६ :
तेजोलेश्या—तपोविभूतिजं तैजस्वित्वं, तैजसशरीर-परिणतिरूप महाज्वालाकल्पम्।
5. तत्त्वार्थवार्तिक २।४६, पृष्ठ १५४ :
तैजसस्य सामर्थ्यं कोपप्रसादापेक्षं दाहानुग्रहरूपम्।
6. तत्त्वार्थ २।४८।
7. तत्त्वार्थवार्तिक २।४६, पृष्ठ १५३ :
यत्प्रेषचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसंयुक्त बहिर्निष्क्रम्य दाह्यं परिवृत्त्यावतिष्ठमानं निष्पावहरितपरिपूर्णं स्थालीमग्निरिवपचति पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते अग्निसाद् दाहोऽर्थो भवति।
8. भगवई १४।१३६, वृत्ति पत्र ६५७ :
तेजोलेश्यां—सुखासिकां, तेजोलेश्या हि प्रशस्तलेश्योपलक्षणं सा च सुखासिकाहेतुरिति कारणे कार्योपचारात् तेजोलेश्याशब्देन सुखासिका विवक्षितेति।

लेश्या को उपलब्ध होता है कि जिससे उत्कृष्टतम भौतिक सुखों की अनुभूति अतिक्रान्त हो जाती है। उसे इतना सहज सुख प्राप्त होता है जो किसी भी भौतिक पदार्थ से प्राप्त नहीं हो सकता।⁹

तेजोलेश्या के दो रूप

हम चैतन्य और परमाणु-पुद्गल — दोनों को साथ-साथ जी रहे हैं। हमारा जगत् न केवल चैतन्य का जगत् है और न केवल परमाणु-पुद्गल का। दोनों के संयोग का जगत् है। चैतन्य की शक्ति से परमाणु-पुद्गल सक्रिय होते हैं और परमाणु-पुद्गलों की सक्रियता से चैतन्य की उनके अनुरूप परिणति होती है। इस नियम के आधार पर तेजोलेश्या के दो रूप बनते हैं—भावात्मक और पुद्गलात्मक। भावात्मक तेजोलेश्या चित्त की विशिष्ट परिणति या चित्तशक्ति है।

तेजोलेश्यावाले व्यक्ति का चित्त नम्र, अवपल और ऋजु हो जाता है। उसके मन में कोई कुतूहल नहीं होता। उसकी इन्द्रियाँ सहज शान्त हो जाती हैं। वह योगी (समाधि-सम्पन्न) और तपस्वी होता है। उसे धर्म प्रिय होता है। वह धर्म का कभी अतिक्रमण नहीं करता।¹⁰

पुद्गलात्मक तेजोलेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श विशिष्ट प्रकार के होते हैं। उसका वर्ण हिंगुल,

बालसूर्य या प्रदीपशिखा के समान लाल होता है। उसका रस पके हुए आम के फल के रस से अत्यधिक मधुर होता है। उसकी गंध सुरभि कुसुम से अत्यधिक सुखद होती है। उसका स्पर्श नवनीत या विरीष कुसुम से भी अत्यधिक मृदु होता है।

तेजोलेश्या का विकास

तेजोलेश्या के विकास का कोई एक ही स्रोत नहीं है। उसका विकास अनेक स्रोतों से किया जा सकता है। संयम, ध्यान, वैराग्य, भक्ति उपासना, तपस्या आदि-आदि उसके विकास के स्रोत हैं। इन विकास-स्रोतों की पूरी जानकारी लिखित रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। यह जानकारी आचार्य शिष्य को स्वयं देता था। गोपालक ने भगवान् महावीर से पूछा—‘भगवन् ! तेजोलेश्या का विकास कैसे हो सकता है?’ भगवान् ने इसके उत्तर में उसे तेजोलेश्या के एक विकास-स्रोत का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा—‘जो साधक निरंतर दो-दो उपवास करता है, पारणा के दिन मुट्ठी भर उड़द या मूंग खाता है और एक चतुलू पानी पीता है, भुजाओं को ऊँचा कर सूर्य की आतापना लेता है वह छह महीनों के भीतर ही तेजोलेश्या को विकसित कर लेता है।’¹¹

9. भगवई १४।१३६।

10. उत्तरज्ज्ञयणाणि ३४।२७, २८ :

नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दन्ते जोगव उवहाणवं ॥
पियधम्मे दढधम्मे, वज्जमीरू हिएसए ।
एयजोगसमाउत्तो, तेउलेसं तु परिणमे ॥

11. भगवई १५।६६, ७० :

तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—कहणं भते ! सखित्त-विउलतेयलेस्से भवति ?

तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासीजेणं गोसाला ! एगाए सणहाए कुम्मासपिडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठंछट्ठेणं अणिविखत्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झय-पगिज्झय सूरामिभूहे आयावणंभूमीए आयावेमाणे विहरइ । से णं अंतो छण्हं मासाणं संत्तिविउलतेयलेस्से भवइ ।

स्थानांग सूत्र में तेजोलेश्या के तीन विकास-स्रोत बतलाए हैं¹²—

1. आतापना—सूर्य के ताप को सहना ।
2. क्षांतिक्षमा—समर्थ होते हुए भी क्रोध-निग्रह-पूर्वक अप्रिय व्यवहार को सहन करना ।
3. जल पिए बिना तपस्या करना ।

इनमें केवल क्षांतिक्षमा नया है । शेष दो उसी विधि के अंग हैं जो विधि महावीर ने गोशालक को सिखाई थी । तेजोलेश्या के निग्रह-अनुग्रह स्वरूप के विकास के स्रोतों की यह संक्षिप्त जानकारी है । उसका जो आनन्दात्मक स्वरूप है उसके विकास-स्रोत भावात्मक तेजोलेश्या की अवस्था में होनेवाली चित्तवृत्तियाँ हैं । चित्तवृत्तियों की निर्मलता के बिना तेजोलेश्या के विकास का प्रयत्न खतरों को निर्मलित करने का प्रयत्न है । वे खतरे शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक—तीनों प्रकार के हो सकते हैं ।

तेजोलेश्या का स्थान

तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर में रहता है । फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र हैं—मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग । मन और शरीर के बीच सबसे बड़ा सम्बन्ध-सेतु मस्तिष्क है । उससे तैजस शक्ति (प्राणशक्ति या विद्युतशक्ति) निकलकर शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करती है । नाभि के पृष्ठभाग में खाए हुए आहार का प्राण के रूप में परिवर्तन होता है । अतः शारीरिक दृष्टि से मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग ये दोनों तेजोलेश्या के महत्वपूर्ण केन्द्र बन जाते हैं । यह तेजोलेश्या एक शक्ति है । उसे हम नहीं

देख पाते । उसके सहायक परमाणु-पुद्गल सूक्ष्मदृष्टि से देखे जा सकते हैं । ध्यान करनेवालों को उनका यत्-किञ्चित् आभास होता रहता है ।

तेजोलेश्या और प्राण

तेजोलेश्या एक प्राणधारा है । किन्तु प्राणधारा और तेजोलेश्या एक ही नहीं है । हमारे शरीर में अनेक प्राणधाराएँ हैं । इन्द्रियों की अपनी प्राणधारा है । मन, वाणी और शरीर की अपनी प्राणधारा है । श्वास-प्रश्वास और जीवन शक्ति की भी स्वतन्त्र प्राणधाराएँ हैं । हमारे चैतन्य का जिस प्रवृत्ति के साथ योग होता है वहीं प्राणधारा बन जाती है । इसलिए सभी प्राणधाराएँ तेजोलेश्या नहीं हैं । तेजोलेश्या एक प्राणधारा है । इन प्राणधाराओं के आधार पर शरीर की क्रियाओं और विद्युत्-आकर्षण के संबंध का अध्ययन किया जा सकता है ।

प्राण की सक्रियता से मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की वृत्तियाँ उठती हैं और जब तक तेजोलेश्या के आनन्दात्मक स्वरूप का विकास नहीं होता तब तक वे उठती ही रहती हैं । कुछ लोग वायु-मंथन से उन्हें रोकने का प्रयत्न करते हैं । यह उनके निरोध का एक उपाय अवश्य है । किन्तु वायु-मंथन (या कुंमक) एक कठिन साधना है । उसमें बहुत सावधानी बरतनी होती है । कहीं थोड़ी-सी असावधानी हो जाती है अथवा योग्य गुरु का पथ-दर्शन न हो तो कठिनाइयाँ और बढ़ जाती हैं । मनः संयम ने चित्त वृत्तियों का निरोध करना निर्विघ्न मार्ग है । इसकी साधना कठिन है, पर यह उसका सर्वोत्तम उपाय है । प्रेक्षा ध्यान के द्वारा उसकी कठिनता को मिटाया जा सकता है । चित्त की प्रेक्षा चित्तवृत्तियों के निरोध का महत्वपूर्ण उपाय है ।

12. ठाण ३।३८६ :

तिहि ठाणेहि समणे णिग्गथे सखित्तविउलतेउलेस्से भवति, तेजहा —आयावणताए, खत्तिखमाए, अपाणगेण तवोकम्भेण ।



परिग्रह का स्वरूप

ॐ ह्रीं अं नमः

मनि श्री चरितमल जो

परिग्रह का यदि निरुक्त किया जाय तो “परि-समस्तात् गृह्यते—बध्यते प्राणी अनेन इति परिग्रहः; “जिसके द्वारा प्राणी चारों ओर से पकड़ा जाता है, जकड़न में आता है, निगूहीत होता है उसे परिग्रह कहा जाता है।” व्यावहारिक दृष्टि से बाह्य वस्तुओं को आप लोग परिग्रह मानते हैं। उन्हें त्यागनेवाला अपरिग्रही की कोटि में आ जाता है, परन्तु भगवान महावीर की पैनी दृष्टि बहुत गहराई तक पहुँचती है, मूल को पकड़ती है और कारणों को लक्षित करके नण्य दिशा देती है। वे परिग्रह को तीन भागों में विभक्त करते हैं:—

1- कर्म परिग्रह, 2-शरीर परिग्रह और 3-बाह्यमण्डोपकरण परिग्रह।

कर्म परिग्रह से ज्ञानावरणीयादि जो पाप पुण्य के कारण हैं उनको ग्रहण किया गया है। संसार में आत्मा को बांधनेवाले वास्तव में पुण्य-पाप ही हैं। क्योंकि पुण्य-पाप का समूल नाश ही तो मोक्ष है। यद्यपि पुण्य सोने की साँकल है और पाप लोहे की, पर है तो साँकल ही। चलते समय दोनों ही अवरोध पैदा करती हैं। पिंजड़ा चाहे सोने का हो या लोहे का, पक्षी को उड़ने न देने में तो दोनों समान ही हैं। जब तक पुण्य-पाप का अस्तित्व रहेगा तब तक भव-बंधन से आत्मा छूट नहीं सकती और बार-बार नव-नव शरीर को धारण करती रहेगी। इस पहले कारण का कार्य ही दूसरा ‘शरीर परिग्रह’ है जो ममत्व का भीषण हेतु और देहाध्यास का प्रबल साधन है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि—‘मूल संसारवृक्षस्य देह एकारमधीस्ततः’ “संसार वृक्ष का मूल देहाध्यास ही है। यथार्थ में देखा जाय तो सारा संसार देह का ही फैलाव है। सर्वप्रथम बच्चे के माता-पिता देह के सम्बन्ध से ही बनते हैं। छोटे-बड़े, भाई-बहन भी इसी के कारण कहलाते हैं। पश्चात् संयोग में स्त्री भी देह से ही सम्बन्धित है। फिर पुत्र-पुत्रियाँ, पोते-परपोते भी इसी का विस्तार हैं। शरीर के सुख में, सुख और शरीर के दुःख में, दुःख प्रति समय अज्ञानी मानता रहता है। शरीर को खिलाने-पिलाने, नहलाने-धुलाने में कितना समय व्यतीत होता है। इस शरीर की परि-तृप्ति के लिये ही फिर तीसरा मण्डोपकरण परिग्रह का व्याख्यान हुआ है। इसकी सुख-सुविधा के लिये ही धन-धान्यादिक की चाह है, उद्यान क्षेत्र गृहादिक की अपेक्षा है। इसकी सुरक्षा के लिये ही सर्दी-गर्मी के नये-नये परिधानों की लिप्सा है। इसे सजाने के लिये ही तो रत्नादि आभूषणों का आकर्षण है। इसलिये इन बाह्य वस्तुओं को परिग्रह की संज्ञा मिली है। यह बाह्य परिग्रह फिर

नव-भेदों में विभक्त किया गया है। जैसे क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, घन-घान्य, द्विपद-चतुष्पद, और कुंभी वास्तु नवर्वा परिग्रह है जो बाह्य मंड-कुण्ड, माचे-ढोलिये, आदि विविध प्रकार से गृह सामान से संबद्ध है। इस प्रकार यह एक परिग्रह की श्रृंखला बन जाती है। इन सभी का यदि संग्रहीत रूप एक ही शब्द में कहा जाय तो दशवैकालिक सूत्र का वह पद बहुत महत्वपूर्ण है। जैसे “मुच्छा परिग्रहो वृत्तो”। इसी का अनूदित रूप वाचक मुख्य उपास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि “मूर्च्छा परिग्रहः”। यह बहुत तात्त्विक एवं गम्भीर व्याख्या है। वस्तुतः वस्तु परिग्रह नहीं, मूर्च्छा ही परिग्रह है। वस्तु तो अपने स्वरूप में उपस्थित है, वह परिग्रह और अपरिग्रह क्या? उससे सम्बद्ध हमारी आसक्ति ममता ही परिग्रह है।

एक व्यक्ति ने पशुओं के मेले में से गौ खरीदी। उसके मुँह पर बँधे हुए रस्से को अपने हाथ में लपेट कर वह गौ को खींचता हुआ ले जा रहा था। एक महात्मा मार्ग में मिले। उन्होंने उस व्यक्ति से सवाल किया—“तू गौ से बँधा हुआ है या गौ तेरे से बँधी हुई है।”

उस व्यक्ति ने कहा—“यह तो स्पष्ट ही है कि गौ मेरे से बँधी है।”

महात्मा ने कहा—“नहीं, तू गौ से बँधा है।” व्यक्ति ने कहा—“कैसे?”

महात्मा ने कहा—“यदि रस्सा तुड़ाकर गौ दौड़ जाए तो तू गौ के पीछे दौड़ेगा या गौ तेरे पीछे?”

प्रत्युत्तर में उसने कहा—“महाराज! मैं गौ के पीछे दौड़ूँगा। क्योंकि गौ मेरी है न।”

स्मित मुद्रा में महात्मा ने कहा—“फिर तू कैसे कहता है कि गौ तेरे से बँधी है? वास्तव में तू ही गौ से बँधा हुआ है”। वस्तु परिग्रह नहीं, हम वस्तु से ममत्व के कारण परिग्रहीत हैं।

वैसे मूर्च्छा बेहोशी को भी कहते हैं। यथार्थतः अज्ञानी मूर्च्छित ही है, बेहोश ही है जो पर द्रव्य को स्व द्रव्य मानता है। उनके लाभ-अलाभ में सुख-दुःख का अनुभव करता है। मूर्च्छा ही ज्ञानावरणीयादि धन घातिक कर्मों का उपादान बनती है, अतः उपर्युक्त कर्म परिग्रह, शरीर परिग्रह एवं मण्डोपकरण परिग्रह मूर्च्छा का ही विस्तार है। इसलिये मूर्च्छा का त्याग ही सर्वोत्कृष्ट है। बाह्य पदार्थों का त्याग चाहे कितना ही करो, पर शरीर को तो आयुष्यावधि नहीं त्याग सकते। शरीर का त्याग हो भी जाय फिर भी तैजस् कार्मण्युक्त शरीर तो सत्गामी बने ही रहते हैं। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए विद्वद्गुरु श्री मोहन विजय लिखते हैं—

“बाहर क्रिया कलाप थी निर्मल न भयो कोय ।”
जिमि विष धर कंचुली तंज, निज निविष नहीं होय ।

कंचुली के त्याग से साँप निर्बिष थोड़े ही बन जाता है। कंचुली तो ऊपर की आवरण है विष तो उसकी दाढ़ में विद्यमान है। वैसे ही बाह्य त्याग से आंतरिक शुद्धि कैसे हो सकती है! इस भाव को लेकर सन्त कबीर की साखी करारी चाँट करती है—

बाँबी कूटे बाँपड़ा, साँप न मरयो जाय ।

बाँबी तो खावे नहीं, साँप जगत को खाय ॥

अज्ञानी बेचारे साँप की बाँबी को रोष करके पीटते हैं। पर साँप को मार नहीं सकते। अरे! बाँबी किसी को डसती नहीं, डसने वाला तो साँप है। फिर बाँबी पर रोष करने से क्या लाभ?

आज वैज्ञानिक युग है। प्रत्येक व्यक्ति चिन्तनशील है। भगवान महावीर ने निश्चय और व्यवहार, ज्ञान और क्रिया, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। अतः मूर्च्छात्याग के द्वारा ही सही रूप से अपरिग्रहवृत्ति अपनाना आज की समस्या का हल है।

○

जैन दर्शन में अनुमान परिभाषा



डॉ. दरबारी लाल कोठिया

प्रत्यक्ष की ही तरह प्रमाण एवं अर्थसिद्धि का सबल साधन माना है ।

यों तो अनुमान का भारतीय दर्शनों में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है और संख्याबद्ध ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, किन्तु यहाँ हम उसके मात्र स्वरूप पर विमर्श प्रस्तुत करेंगे ।

अनुमान शब्द की निरुक्ति—

अनु + मान इन दो शब्दों से अनुमान शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है पश्चाद्वर्ती ज्ञान, और ऐसा ज्ञान ही अनुमान है ।

प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष को छोड़कर शेष सभी (स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, चिन्ता आदि) ज्ञान प्रत्यक्ष के पश्चात् ही होते हैं । ऐसी स्थिति में ये सब ज्ञान भी अनुमान कहे जायेंगे । अतः अनुमान से पूर्व वह कौनसा ज्ञान विवक्षित है, जिसके पश्चात् होने वाले ज्ञान को अनुमान कहा है ?

भारतीय दर्शनों में प्रत्यक्ष की तरह अनुमान को भी अर्थसिद्धि का महत्वपूर्ण साधन माना गया है । सम्बद्ध और वर्तमान, आसन्न और स्थूल पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किया जा सकता है । पर असम्बद्ध और अवर्तमान, अतीत-अनागत तथा दूर और सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान उससे सम्भव नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार के पदार्थों को जानने की क्षमता इन्द्रियों में नहीं है । अतः ऐसे पदार्थों का ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है । इसे चावक दर्शन को छोड़कर, शेष सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है और उसे

इसका उत्तर यह है कि अनुमान से अव्यवहित पूर्ववर्ती वह ज्ञान विशेष है, जिसके अव्यवहित उत्तर-काल में अनुमान उत्पन्न होता है । वह ज्ञान-विशेष है, व्याप्ति-निर्णय (तर्क-ऊहा-चिन्ता) । उसके अनन्तर निवम से अनुमान होता है । लिङ्गदर्शन, व्याप्तिस्मरण और पक्षधर्मज्ञान¹ इनमें से कोई भी अनुमान का अव्यवहित पूर्ववर्ती नहीं है । लिङ्गदर्शन व्याप्तिस्मरण से, व्याप्तिस्मरण पक्षधर्मज्ञान से और पक्षधर्मज्ञान

1. व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्मज्ञानजन्मं ज्ञान मनुमितिः । तत्करणमनुमानम् ।

— गंगेश उपाध्याय, तत्त्व चि., अनु., जागदीशी, पृ. 13 ।

व्याप्ति-निश्चय से व्यवहित हैं। अतः लिंगदर्शन, व्याप्ति-स्मरण और पक्षधर्मज्ञान व्याप्ति-निश्चय से व्यवहित होने से अनुमान के साक्षात् पूर्ववर्ती नहीं हैं। यद्यपि पारम्पर्य से उन्हें भी अनुमान का जनक माना जा सकता है। पर अनुमान का अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान व्याप्ति-निश्चय है, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरकाल में नियम से अनुमान आत्मलाभ करता है। अतः व्याप्ति-निश्चय ही अनुमान का पूर्ववर्ती ज्ञान है। जैन तार्किक बादिराज भी यही लिखते हैं—

‘अनु व्याप्तिनिर्णयस्य पश्चाद् भावि मानमनु मानम्’।

व्याप्ति-निर्णय के पश्चात् होनेवाले मान-प्रमाण को अनुमान कहते हैं। वात्स्यायन³ अनुमान शब्द की निरुक्ति इस प्रकार बतलाते हैं—‘मितेन लिंगेन लिंगिनोऽर्थस्य पश्चात्मानमनुमानम्’—प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिंग से लिंगी-अर्थ के—अनु—पश्चात् उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। तात्पर्य यह कि लिंगज्ञान के पश्चात् जो लिंगी—साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है। वे एक दूसरे स्थल पर और कहते हैं कि—‘स्मृत्या लिंग दर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते’।⁴—लिंग-लिंगी सम्बन्ध स्मृति और लिंगदर्शन के द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार वात्स्यायन का अभिप्राय ‘अनु’ शब्द से सम्बन्ध स्मरण और लिंग दर्शन के पश्चात् अर्थ को ग्रहण करने का प्रतीत होता है। न्यायवार्तिककार उद्योतकर⁵ का मत है कि ‘यस्मा-ल्लिंग परामर्शोऽन्याय इति’—अतः लिंग परामर्श के अनन्तर लेशार्थ (अनुमेयार्थ) का ज्ञान होता है, अतः

लिंग परामर्श को अनुमान मानना न्याययुक्त है। इस तरह उद्योतकर के मतानुसार लिंग परामर्श वह ज्ञान है जिसके पश्चात् अनुमिति उत्पन्न होती है। किन्तु तथ्य यह है कि लिंगदर्शन आदि व्याप्ति-निश्चय से व्यवहित हैं। अतः व्याप्तिज्ञान ही अनुमान से अव्यवहित पूर्ववर्ती है।

अनुमान की परिभाषा—

अनुमान शब्द की निरुक्ति के बाद अब देखना है कि उपलब्ध जैन तर्कग्रन्थों में अनुमान की परिभाषा क्या की गयी है? स्वामी समस्तभद्र ने⁶ आप्तमीमांसा में ‘अनुमेयत्व’ हेतु में सर्वज्ञ की सिद्धि की है। आगे अनेक स्थलों पर ‘स्वरूपादिचतुष्टयात्’,⁷ ‘विशेषणत्वात्’⁸ आदि अनेक हेतुओं को दिया है। और उनसे अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था तथा स्याद्वाद⁹ की स्थापना की है। इससे प्रतीत होता है कि समस्तभद्र के काल में जैन दर्शन में विवादग्रस्त एवं अप्रत्यक्ष पदार्थों की सिद्धि अनुमान से की जाने लगी थी। जिन उपादानों से अनुमान निष्पन्न एवं सम्पूर्ण होता है उन उपादानों का उल्लेख भी उनके द्वारा आप्तमीमांसा में बहुलतया हुआ है। उदाहरणार्थ हेतु, साध्य, प्रतिज्ञा, सधर्म, अविनश्वरभाव, सपक्ष, साधर्म्य, वैधर्म्य, हृष्टान्त जैसे अनुमानोपकरणों का निर्देश इसमें किया गया है। पर परिभाषा ग्रन्थ न होने से उनकी परिभाषाएँ इसमें नहीं हैं। यही कारण है कि अनुमान की परिभाषा इसमें उपलब्ध नहीं है। एक स्थल पर हेतु (नय) का लक्षण¹⁰ अवश्य निबद्ध है, जिसमें अन्यथानुपपत्ति विशिष्ट त्रिलक्षण हेतु को साध्य का प्रकाशक कहा है, केवल त्रिलक्षण को नहीं। अकलक¹¹ और विद्यानन्द¹² द्वारा प्रस्तुत उसके

2. न्यायविनिश्चय विवरण, द्वि. भा. २।१ ; 3. न्यायभाष्य १।१।३ ; 4. वही, १।१।५ ; 5. न्या. वा. १।१।५, पृ. ४५ ; 6. आप्त मी. का. ५ ; 7. वही, का. १५ ; 8. वही, का. १७, १८ ; 9. वही, का. १६, १७, १०६ आदि ; 10. आ. मी. का. १०६ ; 11. अष्ट श. अष्ट स. पृ. २८६ ; 12. अष्ट स. पृ. २८६ ;

व्याख्यानों से भी यही अवगत होता है। आशय यह कि आप्तमीमांसा के इस सन्दर्भ से इतना ही ज्ञात होता है कि समन्तभद्र को अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्ट त्रिलक्षण हेतु से होनेवाला साध्यज्ञान अनुमान इष्ट रहा है।

सिद्ध सेन¹³ ने स्पष्ट शब्दों में अनुमान लक्षण दिया है—

साध्याविनाभुनो लिगात् साध्यनिश्चयक स्मृतम् ।
अनुमानं तदध्वान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥

साध्य के बिना न होनेवाले लिंग में जो साध्य का निश्चायक ज्ञान होता है वह अनुमान है। इस अनुमान लक्षण में समन्तभद्र का हेतुलक्षणगत 'अविरोधतः' पद, जो अन्यथानुपपत्ति—अविनाभाव का बोधक है, बीज रूप में रहा हो, तो आश्चर्य नहीं है।

अकलंक ने न्यायविनिश्चय और लघीयस्वयं दोनों में अनुमान की परिभाषा अंकित की है। न्यायविनिश्चय की अनुमान-परिभाषा निम्न प्रकार है—

साधनात्साध्य विज्ञानं मनुमानं तदत्यये ।¹⁴

साधन (हेतु) से जो साध्य (अनुमेय) का विशिष्ट (नियत) ज्ञान होता है वह अनुमान है।

अकलंक का यह अनुमान-लक्षण अत्यन्त सरल और सुगम है। परवर्ती विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, वादिराज, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, धर्मभूषण प्रभृति तार्किकों ने इसी को अपनाया है। स्मरणीय है कि जो साधन से साध्य का नियत ज्ञान होता है वह साधनगत अविनाभाव के

निश्चय के आधार पर ही होता है। जब तक साधन के साध्याविनाभाव का निश्चय न होगा तब तक उससे साध्य का निर्णय नहीं हो सकता।

यहाँ प्रश्न है¹⁵ कि इस अनुमान-परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में साधन को ही अनुमान में कारण माना गया है, साधन के ज्ञान को नहीं? इसका समाधान यह है कि¹⁶ उक्त 'साधन' पद से 'निश्चय-पथ प्राप्त साधन' अर्थ विवक्षित है, क्योंकि जिस धूमादि साधन का साध्याविनाभावविवक्षित रूप से निश्चय नहीं है वह साधन नहीं कहलाता। अन्यथा अज्ञायमान धूमादि लिंग से सुप्त तथा अगृहीत धूमादि लिंगवालों को भी बह्नि आदि का ज्ञान हो जाएगा। अतः 'साधन' पद से 'अविनाभावरूप में निर्णीत साधन' अर्थ अभिप्रेत है, केवल साधन नहीं। न्यायविनिश्चय के विवरणकार आचार्य वादिराज ने भी उसका यही विवरण किया है। यथा—

'साधनं साध्याविनाभावनियमनिर्णयैकलक्षणं
वक्ष्यमाणं लिंगम् ।'¹⁷

साधन वह है जिसके साध्याविनाभावरूप नियम का निश्चय है। इसी को लिंग (लीनमप्रत्यक्षमर्थं भगवति)—छिपे हुए अप्रत्यक्ष अर्थ का अवगम कराने वाला भी कहा है।

अकलंकदेव स्वयं उक्त अर्थ की प्रकाशिका एक दूसरी अनुमान-परिभाषा लघीयस्वयं में निम्न प्रकार करते हैं—

लिगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ।
लिङ्गिधोरनुमानं तत्कलं ज्ञानादिबुद्धयः ॥¹⁸

13. न्यायवार्ता का. ५ ; 14. न्यायविनिश्चय. द्वि. भा. २।२ ; 15. 'ननु भवतांमते साधनमेवानुमाने हेतुर्ननु साधनं ज्ञानं साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिति ।'—धर्म भूषण न्या. दी. पृ. ६७ ; 16. 'न, 'साधनात्' इत्यत्र निश्चयस्य प्राप्ताद्वमादेरिति विवक्षणात्'। वही, पृ. ६७ ; 17. वादिराज, न्या. वि. वि. द्वि. भा. २।१, भारतीय ज्ञान गीठ, दिल्ली ; 18. अकलंकदेव लघीयस्वयं का. १२ ।

साध्य के बिना न होने का जिसमें निश्चय है, ऐसे लिंग से जो लिंगी (साध्य अर्थ) का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। हान, उपादान और उपेक्षा का ज्ञान होना उसका फल है।

इस अनुमानलक्षण से स्पष्ट है कि साध्य का समक वही साधन अथवा लिंग हो सकता है जिसके अविनाभाव का निश्चय है। यदि उसमें अविनाभाव का निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है।¹⁹ भले ही उसमें तीन रूप और पाँच रूप भी विद्यमान हों। जैसे 'स श्यामः तत्पुत्रत्वात्, इतर पुत्रवत्', 'वज्र लोहतेल्य पार्थिवत्वात्, काष्ठवत्' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पाँच रूपों से सम्पन्न होने पर भी अविनाभाव के अभाव से सद्धेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास हैं और इसी से वे अपने साध्यों के समक-अनुमापक नहीं हैं। इस सम्बन्ध में और विशेष विचार किया जा सकता है।

विद्यानन्द ने अकलंकदेव का अनुमानलक्षण अद्वैत किया है और विस्तारपूर्वक उसका समर्थन किया है। यथा —

साधनात्साध्य विज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः।²⁰

साध्याभाषासम्भवनियमलक्षणात् साधनादेव शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य 'साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानं आचार्या विदुः।²¹

तात्पर्य यह कि जिसका साध्य के अभाव में न होने का नियम है ऐसे साधन में होनेवाला जो शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध साध्य का विज्ञान है उसे आचार्य (अकलङ्क देव) ने अनुमान कहा है।

विद्यानन्द²² अनुमान के इस लक्षण का समर्थन करते हुए एक महत्वपूर्ण युक्ति उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि अनुमान के आत्मलाभ के लिए उक्त प्रकार का साधन और उक्त प्रकार का साध्य आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यदि उक्त प्रकार का साधन न हो तो केवल साध्य का ज्ञान अनुमान प्रतीत नहीं होता। इसी तरह उक्त प्रकार का साध्य न हो, तो केवल उक्त प्रकार का साधनज्ञान भी अनुमान ज्ञात नहीं होता। आशय यह है कि अनुमान के मुख्य दो उपादान हैं — साधनज्ञान और साध्यज्ञान। इस दोनों की समग्रता होने पर ही अनुमान सम्पन्न होता है।

आचार्य माणिक्यनन्दि अकलंक के उक्त अनुमान-लक्षण को सूत्र का रूप देते हैं और उसे स्पष्ट करने के लिए हेतु का भी लक्षण प्रस्तुत करते हैं। यथा —

साधनात्साध्य विज्ञानमनुमानम्।²³

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।²⁴

हेमचन्द्राचार्य²⁵ ने भी माणिक्यनन्दि की तरह अकलंक की ही अनुमान-परिभाषा अक्षरशः स्वीकार की है और उसे उन्हीं की भाँति सूत्र रूप प्रदान किया है।

न्यायदीपिकाकार धर्मभूषण ने²⁶ भी अकलंक का न्यायविनिश्चयोक्त अनुमान-लक्षण प्रस्तुत करके उसका विशदीकरण किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने²⁷ उद्योतकर द्वारा उपज्ञ तथा वाचस्पति आदि द्वारा समर्थित 'लिंग परामर्शोऽनुमानम्'²⁸ इस अनुमानलक्षण की समीक्षा भी उपस्थित की है। उनका कहना है कि यदि लिंगपरामर्श (लिंगज्ञान-लिंगदर्शन) को अनुमान

19. विद्यानन्द, त. श्लो. १।१३।२००, पृ. २०६; 20. वही, १।१३।१२०, पृ. १६७; 21, 22. वही, १।१३।१२०, पृ. १६७; 23. माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख ३।१४; 24. वही, ३।१५; 25. प्रमा. मी. १।२।७ पृ. ३८; 26. धर्मभूषण न्याय दी. पृ. ६५, ६७ बीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; 27. वही, पृ. ६६; 28. उद्योतकर, न्याय वा. १।१।५, पृ. ४५।

माना जाय तो उससे साध्य (अनुमेय) का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि लिङ्गपरामर्श का अर्थ लिङ्गज्ञान है और लिङ्गज्ञान केवल लिङ्ग—साधन सम्बन्धी अज्ञान को ही दूर करने में समर्थ है, साध्य के अज्ञान को नहीं। यथार्थ में लिङ्ग में होनेवाले व्याप्तिविशिष्ट तथा पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श कहा गया है—‘व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानं परामर्शः’। अतः लिङ्गपरामर्श इतना ही ज्ञान करा सकता है कि धूमादि लिङ्ग अग्नि आदि साध्यों के सहचारी हैं और वे पर्वत आदि (पक्ष) में हैं। और इस तरह लिङ्गपरामर्श मात्र लिङ्ग सम्बन्धी अज्ञान का निराकरण करता है एवं लिङ्ग के वैशिष्ट्य को प्रकट करता है, अनुमेय (साध्य) सम्बन्धी अज्ञान का निरास कर उसका ज्ञान कराने में वह असमर्थ है। अतएव लिङ्गपरामर्श अनुमान की सामग्री तो हो सकता है, पर स्वयं अनुमान नहीं। अनुमान का अर्थ है अनुमेय सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक अनुमेयार्थ का ज्ञान। इसलिए साध्यसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्तिरूप अनुमिति में साधकतम करण तो साक्षात् साध्यज्ञान ही हो सकता है। अतः साध्यज्ञान ही अनुमान है, लिङ्गपरामर्श नहीं। यहाँ धर्मभूषण इतना और स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार धारणा नामक अनुभव स्मृति में, तात्कालिक अनुभव और स्मृति दोनों प्रत्यभिज्ञान में तथा साध्य एवं साधन विषयक स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनुभव तर्क में कारण माने जाते हैं, उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदि सहित लिङ्गज्ञान (लिङ्गपरामर्श) अनुमान की उत्पत्ति में कारण है।²⁹

यहाँ ज्ञातव्य है कि लिङ्गपरामर्श को अनुमान की परिभाषा मानने में जो आपत्ति धर्मभूषण ने प्रदर्शित की है वह उद्योतकर के भी ध्यान में रही जान पड़ती है अथवा उनके समक्ष भी उठायी गयी है। अतएव

उन्होंने ‘भवतु वाऽयमर्थो लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्, इति।’³⁰ अर्थात् ‘लिङ्गी का ज्ञान अनुमान है’ कहकर साध्यज्ञान को अनुमान मान लिया है। जब उनसे कहा गया कि साध्यज्ञान को अनुमान मानने पर फल का अभाव हो जायेगा तो वे उत्तर देते हैं कि ‘नहीं, हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धियाँ उसका फल है। उद्योतकर यहाँ एक महत्वपूर्ण बात और कहते हैं।³¹ वह यह कि सभी प्रमाण अपने विषय के प्रति भावसाधन हैं—‘प्रमितिः प्रमाणम्, अर्थात् प्रमिति ही प्रमाण है और विषयान्तर के प्रति करणसाधन हैं—‘प्रमीयतेऽनेनेति’ अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ (वस्तु प्रमित (सुज्ञात) हो उसे प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार वे अनुमान की उक्त साध्यज्ञानरूप परिभाषा भावसाधन में स्वीकार करते हैं। धर्मभूषण ने इसी तथ्य का ऊपर उद्घाटन किया तथा साध्यज्ञान ही अनुमान है, इसका समर्थन किया है।

इस तरह जैन दर्शन में अनुमान की परिभाषा का मूल स्वामी समन्तभद्र की ‘सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः’ (आप्तमी : १०६) इस कारिका में निहित है और उसका विकसित रूप सिद्धसेन के न्यायावतार (का. ५) से आरम्भ होकर अकलंक देव के उपर्युक्त लघीयस्त्रय (का. १२) और न्यायविनिश्चय (द्वि. भा. २।१) गत दोनों परिभाषाओं में परिसमाप्त है। लघीयस्त्रय की अनुमान परिभाषा तो इतनी व्यवस्थित, युक्त और पूर्ण है कि उसमें किसी भी प्रकार के सुधार, संशोधन, परिवर्द्धन या परिष्कार की भी गुंजायश नहीं है। अनुमान का प्रयोजक तत्त्व क्या है और स्वरूप क्या है, ये दोनों उसमें समाविष्ट हैं।

अक्षपाद गौतम की ‘तत्पूर्वकमनुमानम्’,³² प्रशस्तपाद की ‘लिङ्गदर्शनात् संजायमानं लैंगिकम्’³³ और

29. धारणाख्योऽनुभवः स्मृती हेतुः । ... तद्वल्लिङ्गज्ञानं व्याप्ति स्मरणादिसह कृतमनुमानोत्पत्तौ निवन्धन-
भिद्येत्सुसंगतमेव ।—न्या दी. पृ. ६६, ६७। 30. न्याय वा. १।१।३, पृ. २८ २९। 31. वही १।१।३,
पृ. २९। 32. न्याय सू. १।१।५। 33. प्रश. भाष्य पृ. ६६।

उद्योतकर की 'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्'³⁴ परिभाषाओं में हमें केवल कारण का निर्देश मिलता है, स्वरूप का नहीं। उद्योतकर की एक अन्य परिभाषा 'लिंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्'³⁵ में स्वरूप का ही उल्लेख है, कारण का उसमें सूचन नहीं है। दिङ्नाग की 'लिङ्गार्थदर्शनम्'³⁶ अनुमान-परिभाषा में यद्यपि कारण और स्वरूप दोनों की अभिव्यक्ति है परन्तु उसमें लिंग को कारण के रूप में सूचित किया है, लिंग के ज्ञान को नहीं। किन्तु तथ्य यह है³⁷ कि अज्ञायमान धूमादि लिंग अग्नि आदि के जनक नहीं हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है या जिसने साध्य और साधन की व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया है उसे भी पर्वत में घूम के सद्भाव मात्र से अनुमान होजाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। पर्वत में अग्नि का अनुमान उसी पुरुष को होता है जिसने पहले महानस (भोजनशाला) आदि में धूम-अग्नि को एक साथ अनेक बार देखा और उनकी व्याप्ति ग्रहण की है, फिर पर्वत के समीप पहुँचकर धूम को देखा, अग्नि और धूम की गृहीत व्याप्ति का स्मरण किया, और फिर पर्वत में उनका अविनाभाव जाना, तब उस पुरुष को 'पर्वत में अग्नि है' ऐसा अनुमान होता है,³⁸ केवल लिंग के सद्भाव से ही नहीं। अतः दिङ्नाग के उक्त अनुमानलक्षण में 'लिङ्गात्' के स्थान में 'लिङ्गदर्शनात्' पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमानलक्षण हो सकता है।

जैन तार्किक अकलंकदेव का 'लिङ्गात्साध्याविनाभावमिनिबोधक' लक्षणात्। लिङ्गिघोरमानुनं तत्फल हानादिबुद्ध्यः॥'³⁹ यह अनुमानलक्षण उक्त दोषों से मुक्त है। इसमें अनुमान के साक्षात्कारण का और उसके स्वरूप दोनों का प्रतिपादन है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें उन्होंने 'तत्फल' हानादि बुद्ध्यः' शब्दों द्वारा अनुमान के हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप फल का भी निर्देश किया है। संभवतः इन्हीं सब विशेषताओं के कारण सभी जैन तार्किकों ने अकलंक देव की इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषा को ही अपने तर्क ग्रन्थों में अपनाया है। विद्यानन्द जैसे तार्किक मूर्धन्य मनीषी ने तो 'अनुमानं विदुर्बुधाः' कहकर और आचार्यों द्वारा कथित बतला कर उसके, सर्वाधिक महत्व का भी ख्यापन किया है।

यथार्थ में अनुमान एक ऐसा प्रमाण है, जिसका प्रत्यक्ष के बाद सबसे अधिक व्यवहार किया जाता है। अतः ऐसे महत्वपूर्ण प्रमाण पर भारतीय तार्किकों ने अधिक ऊहापोह किया है। जैन तार्किक भी उनसे पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी अपने तर्क ग्रन्थों में उस पर विस्तृत चिन्तन किया है। यहाँ हमने अनुमान के मात्र स्वरूप पर यत्किंचित् विमर्श प्रस्तुत किया है। तर्क ग्रन्थों में उसके भेदों, अवयवों और अंगों आदि पर विस्तृत विचार किया गया है, जो उन ग्रन्थों से ज्ञातव्य है।

34. न्याय वा. १।१।५, पृ. ४५ ; 35. न्याय वा. १।१।३ ; 36. न्याय फले. पृ. ७ ; 37. न्या. दी. पृ. ६७ ; 38. तर्क मा. पृ. ७८, ७९ ; 39. लघी. का. १२।

जैन संघ

और

सम्प्रदाय

प्रत्येक धर्म में यथासमय संघ और सम्प्रदाय खड़े हो जाते हैं। उनके पीछे सैद्धान्तिक मतभेद की पृष्ठभूमि रहती है। सैद्धान्तिक मतभेद धर्म और सम्प्रदाय के विकास की कहानी है। इतिहास इसका साक्षी है कि जिन पन्थों में मतभेद नहीं हो पाये वे प्रायः अपने प्रवर्तकों अथवा प्रसारकों के साथ ही कालकवलित हो गये और जिनमें वैचारिक मतभेद पंदा हुए वे उत्तरोत्तर विकसित होते गये।

जैनधर्म भी इस तथ्य से दूर नहीं रहा। भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त ही उनके संघ में मतभेद प्रगट हो गये। पालि त्रिपिटक इसका साक्षी है।¹ वहाँ कहा गया है कि एक बार भगवान् बुद्ध शाक्य देश में सामग्राम में बिहार कर रहे थे। उसी समय निगण्ठ-नातपुत्त का निर्वाण पावा में हो गया था। उनके निर्वाण के बाद ही उनके अनुयायियों (निगण्ठों) में मतभेद पंदा हो गये। वे दो भागों (पक्षों) में विभक्त हो गये थे और परस्पर संघर्ष और कलह कर रहे थे। निगण्ठ एक-दूसरे को वचन-बाणों से बौधते हुए विवाद कर रहे थे—“तुम इस धर्म विनय को नहीं जानते, मैं इस धर्म विनय को जानता हूँ।” तू इस धर्म विनय

को कैसे जानेगा? तू मिथ्या दृष्टि है, मैं सम्यक्दृष्टि हूँ मेरा कथन सार्थक है, तेरा कथन निरर्थक है। पूर्वं कथनीय बात तूने पीछे कही और पश्चात् कथनीय बात आगे कही। तेरा वाद बिना विचार का उल्टा है। तूने वाद आरम्भ किया पर निगृहीत होगया। इस वाद से बचने के लिए इधर-उधर मटक। यदि इस वाद को समेट सकता है तो समेट। इस प्रकार नातपुत्तीय निगण्ठों में भागों युद्ध ही हो रहा था।

डा० भागचन्द्र जैन भास्कर

एवं मे सुतं एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामग्रामे। तेन खो पेन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति। तस्य कालङ्क करियाय मित्रा निगण्ठा द्वे धिक जाता मण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्जमञ्जं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति— “न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि, अहं छमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं धम्मविनयं आजानिस्सस्मि? मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो। सहितं मे असहितं ते।

1. विशेष देखिये, लेखक के ग्रन्थ Jainism in Buddhist Literature तथा बौद्ध संस्कृति का इतिहास— प्रथम अध्याय (आलोक प्रकाशन, नागपुर)।

पुरे वचनीयं पच्छ अवच पच्छा वचनीयं पुरे अवच ।
अधिविण्णं ते विपरावत्तां । आरोपितो ते वादो ।
निग्गहितोत्ति, चर वादप्यमोक्खाय; निष्पठेहि वा सत्ते
पहोसी” ति । वथो येव खो मञ्जे निग्गण्ठे सु नातपुत्ति-
येसु वत्तन्ति ।^२

आचार्य कालगणना

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद दिगम्बर
परम्परानुसार 62 वर्ष में क्रमशः तीन केवली और 100
वर्ष में पाँच श्रुतकेवली इस प्रकार हुए ।^३—

केवली

1. गौतम गणधर	—12 वर्ष
2. सुधर्मा स्वामी (लोहार्य)	—12 वर्ष
3. जम्बू स्वामी	—38 वर्ष
	62 वर्ष

इस प्रकार महावीर निर्वाण के 162 वर्ष
(62 + 100) पर्यन्त केवली और श्रुतकेवली रहे ।
श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर के जीवन काल में
ही 9 गणधरों का निर्वाण हो गया था । मात्र इन्द्रभूति
गौतम और आर्य सुधर्मा शेष रह गये थे । महावीर
निर्वाण में उत्तरवर्ती आचार्यों की कालगणना स्थविरा-
वली में इस प्रकार दी गई है—

1. सुधर्मा	—20 वर्ष
2. जम्बू	—44 वर्ष
3. प्रभव	—11 वर्ष
4. शर्पभद्र	—23 वर्ष
5. यशोभद्र	—50 वर्ष
6. संभूतिविजय	—8 वर्ष
7. भद्रबाहु	—14 वर्ष
8. स्थूलभद्र	—45
	215 वर्ष

श्रुतकेवली

1. विष्णुकुमार (नन्दि)	—14 वर्ष
2. नन्दिमित्र	—16 वर्ष
3. अपराजित	—22 वर्ष
4. गोवर्धन	—19 वर्ष
5. भद्रबाहु	—29 वर्ष
	100 वर्ष

यहाँ यह दृष्टव्य है कि जैन परम्परानुसार हेम-
चन्द्र ने 'परिशिष्टपर्वन' में भगवान महावीर निर्वाण
के 155 वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल बताया
है । आचार्य हेमचन्द्र अवन्ती राजा पालक के राज्यकाल
के 60 वर्षों की गणना को किसी कारणवश भूल गये
थे । अर्थात् महावीर के निर्वाण (155 + 60) 215
वर्ष बाद चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ होगा ।

उक्त आचार्य कालगणना के अनुसार दिगम्बर पर-
म्परा में भगवान महावीर निर्वाण के 12 वर्ष तक गौतम

- सुत्तपिटक, मज्झिमनिकाय, सामगायसुत्तन्त; दीधनिकाय, पथिकवग्ग. पासादिकसुत्त, संगीतिसुत्त.
- धवला, भाग 1, पृ० 66, तिलोपपणत्ति, 4. 1482-84; जयधवला: भाग 1, पृ० 85, इन्द्रभूतावतार
72-78. नन्दिसंघीय प्राकृत पट्टावली—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4.

गणधर का काल माना है । और उनके बाद उनके उत्तराधिकारी क्रमशः सुधर्मा और जम्बूस्वामी को रखा है पर स्थविरावली में गौतम के स्थान पर सुधर्मा का काल 20 वर्ष (12+8=20) रखा है जबकि कल्पसूत्र पूर्ववर्ती परम्परा को ही स्वीकार कर महावीर निर्वाण के बाद 12 वर्ष गौतम का और 8 वर्ष सुधर्मा का काल निर्धारण करता है । यह कालगणना जो जैसी भी हो, पर दोनों परम्पराएं भद्रबाहु के कुशल नेतृत्व को सहर्ष स्वीकार करती हुई दिखाई देती हैं । अन्तर यहाँ यह है कि दिगम्बर परम्परा महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद भद्रबाहु का निर्वाण समय मानती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा 170 वर्ष बाद । यहाँ लगभग आठ वर्ष का कोई विशेष अन्तर नहीं । पर समस्या यह है कि इस कालगणना से भद्रबाहु और

चन्द्रगुप्त मौर्य की समयकालीनता सिद्ध नहीं होती । उन दोनों महापुरुषों के बीच वही प्रसिद्ध 60 वर्ष का अन्तर पड़ता है । अर्थात् यदि भद्रबाहु के समय वीर नि. 162 में 60 वर्ष बढ़ा दिये जायें तो चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की समय कालीनता ठीक बन जाती है । अथवा चन्द्रगुप्तमौर्य के काल में से 60 वर्ष पीछे हटा दिये जायें जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने महावीर निर्वाण से 215 वर्ष की परम्परा के स्थान में 155 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त का राजा होना लिखा है तो दोनों की समयकालीनता बन सकती है ।⁴

श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर निर्वाण के उपरान्त जैन संघ परम्परा इस प्रकार दी जाती है⁵—

आचार्य कालगणना		राजकाल	
1. गौतम	— 12 वर्ष	पालक	— 60 वर्ष
2. सुधर्मा	— 8 वर्ष		
3. जम्बू	— 44 वर्ष		
4. प्रमद	— 11 वर्ष	नवतन्द	— 155 वर्ष
5. स्वयंभू	— 23 वर्ष		
6. यशोभद्र	— 50 वर्ष		
7. संभूतिविजय	— 8 वर्ष		
8. भद्रबाहु	— 14 वर्ष		
9. स्थूलभद्र	— 45 वर्ष		
215 वर्ष		— 215 वर्ष	

4. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका, पृ० 342.

5. पट्टाबली समुच्चय, पृ० 17.

10. महागिरि	— 30 वर्ष
11. सुहस्ति	— 46 वर्ष
12. गुणसुन्दर	— 32 वर्ष
13. गुणसुन्दर-क्षेप	— 12 वर्ष
14. कालिक	— 40 वर्ष
15. स्कन्दिल	— 38 वर्ष
16. रेवतीमित्र	— 36 वर्ष
17. आयं भंगु	— 20 वर्ष
18. बहुल	
19. श्रीव्रत	
20. स्वाति	
21. हारि	
22. श्वामायं	= 111 वर्ष
23. शाण्डिल्य आदि	
24. भद्रगुप्त	
25. श्रीगुप्त	
26. वज्रस्वामी	

 580 वर्ष

	मौर्य वंश	— 108 वर्ष
	पुष्यमित्र	— 30 वर्ष
	(1) बलमित्र	
	(2) भानुमित्र	— 60 वर्ष
	(1) नरवाहन	— 40 वर्ष
	(2) गर्दभिल्ल	— 13 वर्ष
	(3) शक	— 4 वर्ष
	(1) विक्रमादित्य	— 60 वर्ष
	(2) धर्मादित्य	— 40 वर्ष
	(3) भाइल्ल	— 11 वर्ष

 581 वर्ष

इस प्रकार महावीर निर्वाण के 581 वर्ष व्यतीत हुए। उसके बाद पुष्यमित्र और नाहड़ का राज्यकाल 24 वर्ष का रहा। तदनन्तर। (581 + 24 = 605 वर्ष बाद) शक संवत् की उत्पत्ति हुई। आगे भ० महावीर निर्वाण के 980 वर्ष पूर्ण हो जाने पर महागिरि की परम्परा में उत्पन्न देवद्विगणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र की रचना की।⁶

दिगम्बर परम्परानुसार⁷ जिस दिन भ० महावीर का परिनिर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम गणघर ने केवल-ज्ञान प्राप्त किया। गौतम के सिद्ध हो जाने पर सुधर्मा स्वामी केवली हुए। सुधर्मा स्वामी के सिद्ध हो जाने पर जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए। इन तीनों केवलियों का काल 62 वर्ष है। उनके बाद नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजिल, गोवर्धन और मद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली

6. कल्पसूत्र स्थविरावली.

7. जयघवला, भाग-1, प्रस्तावना, पृ० 23-30. हरिवंशपुराण

हुए जिनका समय 100 वर्ष है। उनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य क्रमशः दश पूर्वधारी हुए। उनका काल 183 वर्ष है। उनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कस ये पाँच आचार्य ग्यारह अंग के धारी हुए। उनका समय 220 वर्ष है। उनके बाद भरत क्षेत्र में कोई भी आचार्य ग्यारह अंग का धारी नहीं हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशो-भद्र, यशोबाहु और लोह ये चार आचार्य आचारंग के धारी हुए। ये सभी आचार्य शेष ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के एकदेश के ज्ञाता थे। उनका समय 118 वर्ष होता है। इस प्रकार गौतम गणधर से लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल काल का परिणाम 683 वर्ष हुआ। अर्हद्बली आदि आचार्यों का समय इस काल परिमाण के बाद आता है।

(1) तीन केवली	—62 वर्ष
(2) पाँच श्रुतकेवली	—100 वर्ष
(3) 11 दश पूर्वधारी	—183 वर्ष
(4) पाँच ग्यारह अंग के धारी	—220 वर्ष
(5) चार आचारंग धारी	—118 वर्ष

कुल — 683 वर्ष

नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली कुछ भिन्न है। उसमें उपर्युक्त लोहाचार्य तक का समय कुल 565 वर्ष बताया है। पश्चात् एकांगधारी अर्हद्बलि, माघनन्दिद, घरसेन, भूतबलि, और पुष्पदन्त इन पाँच आचार्यों का काल क्रमशः 28, 21, 19, 30, और 20 वर्ष निर्दिष्ट है। इस दृष्टि से पुष्पदन्त और भूतबली का समय 683 वर्ष के ही अन्तर्गत आ जाता है।¹ इस प्रकार धवला आदि ग्रन्थों में उल्लिखित और नन्दिसंघ की

प्राकृत पट्टावली में उद्धृत इन दोनों परम्पराओं में आचार्यों की कालगणना में 118 वर्ष (683-565 = 118) का अन्तर दिखाई देता है। पर यह अन्तर एकादशांगधारी आचारांगधारी आचार्यों में ही है, केवली, श्रुतकेवली और दशपूर्वधारी आचार्यों में नहीं।

आचार्य भद्रबाहु

आचार्य कालगणना की उक्त दोनों परम्पराओं को देखने से यह स्पष्ट है कि जम्बूस्वामी के बाद होनेवाले युगप्रधान आचार्यों में भद्रबाहु ही एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व को दोनों परम्पराओं ने एक स्वर में स्वीकार किया है। बीच में होनेवाले प्रभव, शष्यभब, यशोभद्र और सभूतिविजय आचार्यों के विषय में एकमत नहीं। भद्रबाहु के विषय में भी जो मनभेद हैं वह बहुत अधिक नहीं। दिगम्बर परम्परा भद्रबाहु का कार्यकाल 29 वर्ष मानती है और उनका निर्वाण महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद स्वीकार करती है पर श्वेताम्बर परम्परानुसार यह समय 170 वर्ष बाद बताया जाता है और उनका कार्यकाल कुल चौदह वर्ष माना जाता है। जो भी हो दोनों परम्पराओं के बीच आठ वर्ष का अन्तराल कोई बहुत अधिक नहीं है।

परम्परानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु निमित्तज्ञानी थे। उनके ही समय संघभेद प्रारम्भ हुआ है। अपने निमित्तज्ञान के बल पर उत्तर में होनेवाले द्वादश वर्षीय दुष्काल का आगमन जानकर भद्रबाहु ने बारह हजार मुनि संघ के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। अपना अन्त निकट जानकर उन्होंने संघ को चोल, पाण्ड्य प्रदेशों की ओर जाने का आदेश दिया और स्वयं श्रमणवेलगोल में ही कालमप्र नामक पहाड़ी पर समाधिभरण पूर्वक देह

8. धवला, आदिपुराण तथा श्रुतावतार आदि ग्रन्थों में भी लोहाचार्य तक के आचार्यों का काल 683 वर्ष ही दिया गया है।

त्याग किया। इस आशय का छठी शती का एक लेख पुत्राड के उत्तरी भाग में स्थित चन्द्रगिरि पहाड़ी पर उपलब्ध हुआ है। उसके सामने विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोमटेश्वर बाहुबलि की 57 फीट ऊँची एक भव्य मूर्ति स्थित है। उत्तरभारत में रह जाने वाले साधुओं और क्षुलकों में दुर्मिक्ष जन्य परिस्थितियों के कारण आचार शैथिल्य घर कर गया और उत्तरकाल में यही घटना संघभेद का कारण बनी। परिशिष्टपर्वन के अनुसार भद्रबाहु दुष्काल समाप्त होने के बाद दक्षिण से मगध वापिस हुए और पश्चात् महाप्राण ध्यान करने नेपाल चले गये। इसी बीच जैन साधु संघ ने अनभ्यासवश विस्मृत श्रुत को किसी प्रकार से स्थूलभद्र के नेतृत्व में एकादश अंगों का संकलन किया और अवशिष्ट द्वादशवें अंग दृष्टिवाद के संकलन के लिए नेपाल में अवस्थित भद्रबाहु के पास अपने कुछ शिष्यों को भेजा उनमें स्थूलभद्र ही वहाँ कुछ समय रुक सके जिन्होंने उसका कुछ यथाशक्य अध्ययन कर पाया। फिर भी दृष्टिवाद का संकलन अवशिष्ट ही रह गया।

देवसेन के भाव संग्रह में भद्रबाहु के स्थान पर शान्ति नामक किसी अन्य आचार्य का उल्लेख है। भट्टारक रत्नन्द ने संभवता देवसेन और हरिवेण की कथाओं को सम्बद्ध करके भद्रबाहुचरित्र लिखा है। प्रथम भद्रबाहु का कोई भी ग्रन्थ प्रामाणिक तौर पर नहीं मिलता। छेद सूत्रों का कर्ता उन्हें अवश्य कहा गया है पर यह कोई सुनिश्चित परम्परा नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने बोहपाहुड़ में अपने गुरु का नाम भद्रबाहु लिखा है और उन भद्रबाहु को गमकगुरु कहा है। कुन्दकुन्द के ये गमकगुरु निश्चित ही श्रुतकेवली भद्रबाहु रहे होंगे।

सहवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो सह कहियं णयं रीसेण य भद्रबाहुस ॥ 6।

वारस अंग विद्याणं चउदश पुब्बंग विडलवित्थरणं ।
सुयाणि भद्राबाहु गमय गुरु भयवओ जयओ ॥62॥

बोहपाहुड़ की इन दोनों गाथाओं से यह स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हो चुके थे। प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु जिन्हें कुन्दकुन्द ने गमकगुरु कहा है और द्वितीय भद्रबाहु जो कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु थे। ये दोनों व्यक्तित्व पृथक् पृथक् हुए हैं अन्यथा कुन्दकुन्द दोनों गाथाओं में भद्रबाहु शब्द का प्रयोग नहीं करते।

आचारंग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रजप्ति, व्यवहार, कल्प दशाश्रुतस्कन्ध, उत्तराध्यायन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित ग्रन्थों पर किसी अन्य भद्रबाहु नामक विद्वान ने नियुक्तियाँ लिखी हैं। ऐसी एक परम्परा है। ये नियुक्तिकार तृतीय भद्रबाहु होना चाहिए जो छेदसूत्रकार भद्रबाहु से भिन्न रहे होंगे। नियुक्तियों में आर्यवज्ज, आर्यरक्षित, पादलिप्ताचार्य, कालिकाचार्य, शिवभूति आदि अनेक आचार्यों के नामों के उल्लेख मिलने हैं। ये आचार्य निश्चित ही उक्त प्रथम और द्वितीय भद्रबाहु से उत्तरकाल में हुए हैं।

भद्रबाहु के चरित विषयक भद्रबाहुचरित्र के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं—देवाधि-क्षमाश्रमण की स्थविरावली, भद्रेश्वर सूरी की कहावलि, तिस्थोगालि प्रकीर्णक, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक पर हरिभद्रीया वृत्ति तथा हेमचन्द्रसूरी के त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित का परिशिष्टपर्वन्। उनमें उपलब्ध विविध कथाएँ ऐतिहासिक सत्य के अधिक समीप नहीं लगती। मेरुगुणाचार्य की प्रबन्ध चिन्तामणि और राजेश्वर सूरि का प्रबन्ध कोष भी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है।

प्रबन्धचिन्ता मणि⁹ में एक किवदन्ति का उल्लेख है कि भद्रबाहु बराहमिहिर के सहोदर थे। ब्राह्मण परिवार

9. प्रबन्धचिन्तामणि, सं. मुनि जिनविजय, सिद्धी जैन सीरिज प्रकाश 5, 5-118.

में उत्पन्न ये दोनों भाई कुशल निमित्तवेत्ता थे। इन दोनों भाइयों में भद्रबाहु ने जैन दीक्षा ले ली पर बराहमिहिर ने स्वधर्म परित्याग नहीं किया। बराहमिहिर के पुत्र के सम्बन्ध में भद्रबाहु का निमित्तज्ञान बराहमिहिर की अपेक्षा प्रबल निकलफलतः बराहमिहिर जैनों से द्वेष करने लगे। इस द्वेषभाव के परिणाम स्वरूप बराहमिहिर कालकवलित होने पर व्यन्तर जाति के देव हुए और जैनों पर घनघोर उपसर्ग करने लगे। इन उपसर्गों को दूर करने के लिए भद्रबाहु ने उपसर्गहरस्तोत्र लिखा। प्रबन्धकोष में इससे भिन्न अन्य कथा का उल्लेख है। तदनुसार बराहमिहिर और भद्रबाहु दोनों ने जैन मुनिव्रत ग्रहण किए। इनमें भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वज्ञान के धारी थे। जिन्होंने नियुक्तियों तथा भद्रबाहुसंहिता जैसे ग्रन्थों की रचना की। परन्तु स्वभाव से उद्धत होने के कारण आचार्य बराहमिहिर को जैन मुनि दीक्षा त्यागकर पुनः ब्राह्मणव्रत धारण करना पड़ा। इसी के पश्चात् उन्होंने बृहत्संहिता लिखी यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रबन्धकोष के पूर्ववर्ती अन्य किसी ग्रन्थ में भद्रबाहु को भद्रबाहु संहिताकार अथवा बराहमिहिर का सहोदर नहीं बताया गया। प्रबन्धकोष¹⁰ में भी इसी से मिलती जुलती घटनाका उल्लेख मिलता है।

परम्परानुसार बराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु ने ही उपर्युक्त नियुक्तियों की रचना की है। जिन ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु का चरित्र चित्रण मिलता है। उनमें द्वादशवर्षीय दुष्काल, नेपाल, प्रयाण, महाप्राण ध्यान का आराधन, स्थूलभद्र की शिक्षा छेद सूत्रों की रचना आदि का वर्णन तो मिलता है परन्तु बराहमिहिर का भाई होना, नियुक्तियों, उपसर्गहरस्तोत्र तथा

भद्रबाहु संहिता आदि ग्रन्थों की रचना तथा नैमित्तिक होने का कतई उल्लेख नहीं। अतः छेदसूत्रकार भद्रबाहु तथा नियुक्तिकार भद्रबाहु दोनों का व्यक्तित्व निश्चित ही पृथक् पृथक् रहा होगा। बराहमिहिर ने अपनी पंच सिद्धांतिका शक संवत् 427 (ई. 505) में समाप्त की थी। अतः तृतीय भद्रबाहु का भी यही समय निश्चित किया जा सकता है।

प्रश्न है, बराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहु ने प्रस्तुत भद्रबाहु संहिता की रचना की या नहीं? हमें ऐसा लगता है कि बराहमिहिर की बृहत्संहिता के समकक्ष में कोई अन्य जैन संहिता रखने की दृष्टि से किसी दिगम्बर जैन लेखक ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं उपयोगी आचार्य समझ और उन्हीं के के नाम पर एक संहिता ग्रन्थ की रचना कर दी। बृहत्संहिता का विशाल सांस्कृतिक कोष, विषय निरूपण उदात्त कवित्व शक्ति, सूक्ष्म निरीक्षण और असाधारण विद्वता आदि जैसी विशेषताएँ भद्रबाहु संहिता में दिखाई नहीं देती। अतः यह निश्चित है कि भद्रबाहु संहिताकार ने ही बृहत्संहिता का आधार लिया होगा। “भद्रबाहुवचो यथा” आदि शब्दों से भी यही बात स्पष्ट होती है। भद्रबाहु संहिता में छन्दोभंग, व्याकरण दोष, पूर्वापर विरोध, वस्तु वर्णन शैथिल्य, क्रमबद्धता का अभाव, प्रभावहीन निरूपण-इत्यादि अनेक अक्षम्य दोष भी उक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

त्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. गोपाणी का अनुसरण करते हुए भद्रबाहु संहिता को इधर-उधर का बेढ़गा संग्रह मानते हैं जिसे 16-17 वीं शती में संकलित किया गया था। यह ठीक नहीं क्योंकि 16-17 वीं

10. प्रबन्धकोश-सं. मुनि जिनविजय सिंघी जैन सौरिज. 1.2

11. भद्रबाहु संहिता, सं.—ए. एस. गोपाणी, पुष्पिका, पृ. 70

12. वही, प्राक्कथन, पृ. 3-4

शती तक का सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक कोई प्रमाण इसमें नहीं मिलता जिसके आधार पर मुह्तार साहब के मत को समर्थन दिया जा सके। मुनि जिन-विजय ने यह समय 11-12वीं शती निश्चित किया है। यह मत कहीं अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। वैसे ग्रन्थ के अन्त प्रमाणों के आधार पर इस समय को भी एक दो शताब्दी आगे किया जा सकता है।

कुछेक वर्षों पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ से डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित भद्रबाहु संहिता का प्रकाशन हुआ था। उसकी प्रस्तावना में डॉ. शास्त्री ने एक स्थान पर भद्रबाहु को बराहमिहिर से प्रभावित बताया। दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा कि कुछ विषयों का वर्णन बराहमिहिर से भी अधिक भद्रबाहु संहिता में मिलता है और यही नवीनता प्राचीनता की पोषिका है। फलतः भद्रबाहु बराहमिहिर के पूर्ववर्ती हो सकते हैं और अन्त में डॉ. शास्त्री ने इस कृति का समय 8-9 वीं शती भी बता दिया। इन तीन मतों में कौन-सा मत उनका माना जाय, निश्चित नहीं किया जा सकता। लगता है, वे स्वयं इस समय की परिधि को निश्चित नहीं कर पाये।

इस सन्दर्भ में मेरा अपना मत है कि भद्रबाहु 11-12 वीं शती के होना चाहिए, जो न तो श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं, न कुन्द कुन्द के साक्षात् गुरु और न ही नियुक्तिकार भद्रबाहु। इनके अतिरिक्त अन्य कोई चतुर्थ भद्रबाहु ही होना चाहिए, क्योंकि नियुक्तिकार भद्रबाहु की भाषा प्रायः शुद्ध और समीचीन जान पड़ती है जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ इस दृष्टि से अस्पष्ट तथा व्याकरण दोषों से परिपूर्ण है।

भद्रबाहु संहिता की रचना 12-13 वीं शती की है। इस मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(1) चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा वर्णसंकर का उल्लेख भ० सं० में अनेक स्थानों पर विकसित अवस्था में हुआ है। जैन संस्कृति में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जिनसेन द्वारा की गई जिसका परिपोषक रूप सोमदेव के ग्रन्थों में मिलता है।

(2) अरिष्टों के वर्णन के प्रसंग में दुर्गाचार्य और एलाचार्य का उल्लेख है। दुर्गाचार्य का ग्रन्थ रिष्ट-समुच्चय का रचनाकाल 1032 ई. है।

(3) चन्द्र, वरुण, रुद्र, इन्द्र, बलदेव, प्रद्युम्न, सूर्य, लक्ष्मी, भद्रकाली, इन्द्राणी, धन्वन्तरि, परशुराम, रामचन्द्र, तुलसा, गरुड, भूत, अर्हन्त, वरुण, रुद्र, सूर्य, शुक, द्रोण, इन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, विश्वकर्मा, प्रजापति, पार्वती, रति आदि की प्रतिमाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में है। इन सभी के रूप 12वीं शती तक विकसित हो चुके थे।

(4) भद्रबाहु वची यथा (ई० 64), यथावदनु-पूर्वशः (91) आदि जैसे वाक्यों का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भ. सं. की रचना श्रुतकेवली भद्रबाहु ने तो नहीं की। उनके अनुसार अन्य किसी भद्रबाहु ने की हो अथवा उनके नाम पर किसी यद्वा तद्वा विद्वान ने।

(5) भौगोलिक और राजनीतिक वर्णन।

(6) बृहत्संहिता की अपेक्षा विषय वर्णन में नवीनता।

इन सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु संहिता की रचना 11-12 वीं शती से पूर्ववर्ती नहीं होना चाहिए। मूल ग्रन्थ प्राकृत में रहा हो यह भी समीचीन नहीं जान पड़ता। बौद्ध साहित्य की श्रेणी में इसे नहीं रखा जा सकता क्योंकि प्राकृत के रूप इतने अधिक भ० सं० में नहीं मिलते। अतः इस ग्रन्थ

की उपरिष्ठम सीमा 12-13वीं शती मानी जानी चाहिए ।

संघ भेद

प्रायः हर तीर्थंकर अथवा महापुरुष के परिनिर्वृत अथवा देहावसान हो जाने के बाद उसके संघ अथवा अनुयायियों में मतभेद पैदा हो जाते हैं । इस मतभेद के मूल कारण आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के परिवर्तित रूप हुआ करते हैं । मतभेद की गोद में विकास निहित होता है जिसे जागृति का प्रतीक कहा जा सकता है । पार्श्वनाथ और महावीर के संघ में भी उनके निर्वाण में बाद मतभेद उत्पन्न होना आरम्भ हो गया था । उस मतभेद के पीछे भी आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के बदलते हुए रूप थे ।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद उनका संघ अन्तिम रूप में दो भागों में विभक्त हो गया— दिगम्बर और श्वेताम्बर । संघभेद के संदर्भ में दोनों सम्प्रदायों में अपनी अपनी परम्पराएँ हैं । दिगम्बर सम्प्रदाय पूर्णतः अचेलत्वव्य को स्वीकार करता है पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय सक्त्र अवस्था को भी मान्यता प्रदान करता है । दोनों परम्पराओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि मतभेद का मूल कारण वक्त्र था ।

पालि साहित्य से पता चलता है कि निगण्ठ नात-पुत्त के परिवर्तन के बाद ही संघभेद के बीज प्रारम्भ हो चुके थे । आनन्द ने बुद्ध को चुन्द का समाचार दिया था कि महावीर के निर्वाण के उपरान्त उनके

अनुयायियों में परस्पर विषान और कलह हो रहा है । ये एक दूसरे की बातों को गलत सिद्ध कर रहे हैं ।¹³ बुद्ध ने इसका कारण बताया कि निगण्ठों के तीर्थंकर निगण्ठनातपुत्त न तो सर्वज्ञ हैं और न ठीक तरह से उन्होंने धर्मदेशना दी है ।¹⁴ अट्ठकथा में इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि निगण्ठनातपुत्त ने अपने अपने सिद्धांतों की निरर्थकता को समझ कर अपने अनुयायियों से कहा था कि वे बुद्ध के सिद्धांतों को स्वीकार कर लें । आगे वहाँ बताया गया है कि उन्होंने अन्तिम समय में एक शिष्य को शाश्वतवाद की शिक्षा दी और दूसरों को उच्छेदवाद की । फलतः वे दोनों परस्पर संघर्ष करने लगे । संघभेद का मूल कारण यही है ।¹⁵

उक्त उद्धरण कहां तक सही है, कहा नहीं जा सकता पर यह अवश्य है कि शासन भेद निगण्ठनात-पुत्त के परिनिर्वाण के बाद किसी न किसी अंश में प्रारम्भ हो गया था ।

इस शासनभेद को श्वेताम्बर परम्परा में निम्हव कहा गया है । उनकी संख्या सात बताई गयी है । जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, विश्वमित्र, गंग, रोह-गुप्त और गोष्ठामाहिल । निम्हव का तात्पर्य है—किसी विशेष दृष्टिकोण से आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करनेवाला । यह यहाँ दृष्टव्य है कि प्रत्येक निम्हव जैनागमिक परम्परा के किसी एक पक्ष को अस्वीकार करता है और शेष पक्षों को स्वीकार करता है अतः वह जैन धर्म के ही अन्तर्गत अपना एक पृथक् मत स्थापित करता है । ये सातों निम्हव संक्षेपतः इस प्रकार हैं ।

13. माज्झिमनिकाय भा. 2. पृ.-243 (रो.); दीघनिकाय भा. 3- 117, 120 (रो.)

14. दीघनिकाय भा. 3, पृ. 121.

15. दीघनिकाय : अट्ठकथा भा-5, पृ. 996

१. प्रथम तिन्हव-(जामालि); बहुरत सिद्धान्त :

जामालि म० महावीर का शिष्य था। श्रावस्ती में उसने अपने शिष्य से एक बार विस्तर लगाने के लिये कहा। शिष्य ने कहा—विस्तर लग गये। जामालि ने जाकर जब देखा कि अभी विस्तर लग रहा है तो उसे महावीर का कहा हुआ “कियमाणं कृत”, (किया जाने वाला कर दिया गया) वचन असत्य प्रतीत हुआ। तब उसने उस सिद्धांत के स्थान पर बहुरत सिद्धांत की स्थापना की जिसका तात्पर्य है कि कोई भी क्रिया एक समय में न होकर अनेक समय में होती है मृदानयन आदि से घट का प्रारम्भ होता है पर घट तो अन्त में ही दिखाई देता है। यह ऋजु सूत्रनय का विषय है जिसे जामालि ने नहीं समझा।¹⁶

२. द्वितीय तिन्हव-(तिष्यगुप्त); जीवप्रादेशिक सिद्धांत :

तिष्यगुप्त वसु का शिष्य था। एक समय ऋषभपुर में आत्म प्रवाद पर चर्चा चल रही थी। प्रश्न था—क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कह सकते हैं। भगवान महावीर ने उत्तर दिया—नहीं।

सम्पूर्ण प्रदेश युक्त होने पर ही ‘जीव’ कहा जायगा तब तिष्यगुप्त ने कहा कि जिस प्रदेश के कारण वह जीव नहीं कहलायेगा। उसी चरम प्रदेश को जीव क्यों नहीं कहा जाता, यही उसका जीव प्रादेशिक मत है। एवंभूतनय न समझने के कारण ही उसने यह मत स्थापित किया।¹⁷

३. तृतीय तिन्हव-(आषाढ़ आचार्य); अव्यक्त मत

स्वेताविका नगरी में आषाढ़ नामक एक आचार्य थे। वे अकस्मात् मरकर देव हुए और पुनः मृत शरीर में आकर उपदेश देने लगे। योग साधना समाप्त होने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—“मैंने असंयमी होने हुए भी आप लोगों से आज तक वन्दना कराई श्रमणों, मुझे क्षमा करना।” इतना कहकर वे चले गये तब शिष्य कहने लगे—कौन साधु वन्दनीय है, कौन नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। अतः किसी की भी वन्दना नहीं करनी चाहिए। व्यवहार नय को न समझने के कारण यह तिन्हव पैदा हुआ।¹⁸

४. चतुर्थ तिन्हव-(कौण्डिण्य); सामुच्छेदक :

कौण्डिण्य का शिष्य अश्वमित्र मिथिला नगरी में अनुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन कर रहा था। उसमें एक स्थान पर प्रसंग आया कि वर्तमान कालीन नारक विच्छिन्न हो जायेंगे द्वितीयादि समय के नारक भी विच्छिन्न हो जायेंगे। अतः उसके मन में आया कि उत्पन्न होते ही जब जीव नष्ट हो जाता है तो कर्म का फल कब भोगता है। यह क्षणभंवाद पर्यायनय को न मानने के कारण उत्पन्न हुआ। इसे समुच्छेदक नाम दिया गया है। इसका अर्थ है—जन्म होते ही अत्यन्त विनाश हो जाता है।¹⁹

५. पञ्चम तिन्हव-द्विक्रिया (गंग)

धनगुप्त का शिष्य गंग एक बार शरदऋतु में उलुकातीर नामक नगर से आचार्य की वन्दना करने

16. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 2308-32.

17. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-2333-2355.

18. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-2356-2388.

19. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा,-2389-2433.

के लिए निकला मार्ग में उसने गर्मी और ठण्ड दोनों का अनुभव एक साथ किया। तब उसने यह मत प्रतिपादित किया कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव हो सकता है। नदी में चलने पर ऊपर की सूर्य उष्णता और नदी की शीतलता, दोनों का अनुभव होता है। गंग ने अपने द्विक्रिया मत की स्थापना करली। तथ्य यह यह है कि मन की सूक्ष्मता के कारण यह भान नहीं होता क्रिया का वेदन तो क्रमशः ही होता है।

६. षष्ठ निन्हव-त्रैराशिक (रोहगुप्त)

एक बार अन्तरजिका नगरी में रोहगुप्त अपने गुरु की वन्दना करने जा रहा था। मार्ग में उसे अनेक प्रवादी मिले जिन्हें उसने पराजित किया। अपने वाद स्थापन काल में उसने जीव और अजीव के साथ ही नोजीव की भी स्थापना की गृहकिकिलादि की उसने 'नोजीव' बतलाया। समाभिम्ब नय को न समझने के कारण उसने इस मत की स्थापना की इसे त्रैराशिक कहा गया है।

७. सप्तम निन्हव-अबद्ध (गोष्ठामाहिल)

एक बार दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल कर्मप्रवाद पढ़ रहा था उसमें आया कि कर्म केवल जीव का स्पर्श करके अलग हो जाता है। इस पर उसने सिद्धान्त बनाया कि जीव और कर्म अबद्ध रहते हैं। उनका बन्ध ही नहीं होता व्यवहारनय को न समझने के कारण ही गोष्ठामाहिल ने यह मत प्रस्थापित किया।

८. अष्टम निन्हव-बोटिक- (शिवभूति)

रथवीरपुर नामक नगर में शिवभूति नामक साधु रहता था। वहाँ के राजा ने एक बार एक बहुमूल्य रत्न कंबल भेंट किया। शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण ने

कहा कि साधु के मार्ग में अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले इस कम्बल को ग्रहण करना उचित नहीं। पर शिवभूति को उस कम्बल में आसक्ति उत्पन्न हो गई थी। यह समझकर आर्यकृष्ण ने शिवभूति की अनुपस्थिति में उस के पादप्रोच्छेदक बना दिये। यह देखकर शिवभूति को कषाय उत्पन्न हो गई। एक समय आर्यकृष्ण जिनकाल्पियों का वर्णन कर रहे थे और कह रहे थे कि उपयुक्त संहनन आदि के अभाव होने से उसका पालन सम्भव नहीं। शिवभूति ने कहा—“मेरे रहते हुए कैसे हो सकता है। यह कह कर अभिनिवेशवश निर्वस्त्र होकर यह मत स्थापित किया कि वस्त्र कषय का कारण होने से परिग्रह रूप है अतः त्याज्य है।

ये निन्हव किसी अभिनिवेश के कारण आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करने वाले होते हैं। प्रथम निन्हव महावीर के जीवन काल में ही उनकी जानोत्पत्ति के चौदह वर्ष बाद हुआ। इसके दो वर्ष बाद ही द्वितीय निन्हव हुआ। शेष निन्हव महावीर के के निर्वाण होने पर क्रमशः 214, 220, 218, 544, 584, और 609 वर्ष बाद उत्पन्न हुए। सिद्धान्त भेद से प्रथम सात निन्हवों का उल्लेख मिलता है। पर जिनभद्र ने विशेष्यावश्यक भाष्य में एक और निन्हव जोड़ कर उनकी संख्या 8 कर दी। इसी अष्टम निन्हव को दिगम्बर कहा गया है। आश्चर्य की बात है, इन निन्हवों के विषय में दिगम्बर साहित्य बिल्कुल मौन है। प्रथम सात निन्हवों के कारण किसी सम्प्रदाय विशेष की उत्पत्ति नहीं हुई। ठाणाङ्ग सूत्र (587) में केवल सात निन्हवों का उल्लेख है पर आवश्यकनिर्मुक्ति (गाथा-779-783) में स्थान काल का उल्लेख करते समय आठ निन्हवों का और उपसंहार करते समय मात्र सात निन्हवों का निर्देश किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ही सर्वप्रथम

20. एवं एए कहिआ ओसप्पिणिए उ निह्वया सन्त ।

वीर वरस्स पवयणे संसाणं पवयणे नत्थि ॥784॥

अष्टम निन्हव के रूप में दिगम्बर मत की उत्पत्ति की कल्पना की है। उन्होंने यह भी कहा है कि उपयुक्त संहननादि का अभाव होने से जिनकल्प का धारण करना अब शक्य नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति अर्वाचीन नहीं, प्राचीनतर है। ऋषभदेव ने जिनकल्प की ही स्थापना की थी और वह अविच्छिन्नरूप से श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार भी जम्बूस्वामी तक चला आया। बाद में उसका विच्छेद हुआ। शिवभूति ने उसकी पुनः स्थापना की। अतः जिनकल्प को निन्हव कैसे कहा जा सकता है! और फिर बोटिक का सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय से कैसे लिया जाय, इसका स्पष्टीकरण श्वेताम्बर साहित्य में नहीं मिलता। सम्भव है, बोटिक नाम का कोई पृथक् सम्प्रदाय ही रहा होगा जिसका अधिक समय तक अस्तित्व नहीं रह सका।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति

दिगम्बर साहित्य में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में जो कथानक मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—

हरिषेण के बृहत्कथाकोश (शक संवत् 853) में यह उल्लेख मिलता है कि गोवर्धन के शिष्य श्रुत-केवली भद्रबाहु ने उज्जयिनी में द्वादशवर्षीय दुष्काल को निकट भविष्य में जानकर मुनि विशाखाचार्य (चन्द्र-गुप्त मौर्य) के नेतृत्व में मुनिसंघ को दक्षिणापथवर्ती पुन्नार नगर भेज दिया और स्वयं भाद्रपद देश में जाकर समाधिभरण पूर्वक शरीर त्याग दिया। इधर दुष्काल की समाप्ति हो जाने पर विशाखाचार्य संसंघ वापस आ गये। संघ में से रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य सिन्धु देश की ओर चले गये थे। वहाँ अभिक्ष पीड़ितों के कारण लोग रात्रि में भोजन करते थे। फलतः

मुनियों-निर्ग्रन्थों को भी रात्रि भोजन प्रारम्भ करना पड़ा। एक बार अंधकार में भिक्षा की खोज में निकले निर्ग्रन्थ को देखकर भय से एक गर्भिणी का गर्भपात हो गया। इस घटना के मूल कारण को दूर करने के लिये श्रावकों ने मुनियों को "अर्धफलक" (अर्धवस्त्र-खण्ड) धारण करने के लिये निवेदन किया। सुभिक्ष हो जाने पर रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य ने तो मुनिव्रत धारण कर लिये पर जिन्हें वह अनुकूल नहीं लगा, उन्होंने जिनकल्प के स्थान पर अर्धफलक सम्प्रदाय की स्थापना कर ली। उत्तरकासा में इसी अर्धफलक सम्प्रदाय से काम्बल सम्प्रदाय, फिर वापनीय संघ और बाद में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।

देवसेन के 'दर्शनसार'²¹ (वि. सं. 999) में एतत् सम्बन्धी कथा इस प्रकार मिलती है—

विक्रमाधिपति की मृत्यु के 136 वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के बलभीपुर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इस संघ की उत्पत्ति में मूल कारण भद्रबाहुमणि के आचार्य शान्ति के शिष्य जिनचन्द्र नामक एक शिष्य-ताचारी साधु था। उसने स्त्री-मोक्ष, कवलाहार, सब-स्व मुक्ति, महावीर का गर्भ परिवर्तन आदि जैसे मत प्रस्थापित किये थे।

दर्शनसार में व्यक्त ये मत नि सन्देह श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने सम्बद्ध हैं। उनके संस्थापक तो नहीं, प्रबल पोषक कोई जिनचन्द्र नामक आचार्य हुए होंगे। पर चूँकि आचार्य शान्ति और उनके शिष्य जिनचन्द्र का अस्तित्व देवसेन के पूर्व नहीं मिलता अतः ये जिनचन्द्र जिनभद्रमणि क्षमाश्रमण (सप्तम शती) होना चाहिये। उन्होंने विशेषावश्यक माध्य में उक्त मतों का भरपूर समर्थन किया है।

एक अन्य देवसेन ने भावसंग्रह में भी श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति इसी प्रकार बतायी है। थोड़ा-सा जो भी अन्तर है, वह यह है कि यहाँ शान्ति नामक आचार्य सौराष्ट्र देशीय बलभी नगर अपने शिष्यों सहित पट्टचे पर वहाँ भी दुष्काल का प्रकोप हो गया। फलतः साधु-वर्ग यथेच्छ भोजनदि करने लगा। दुष्काल समाप्त हो जाने पर शान्ति आचार्य ने उनसे इस वृत्ति को छोड़ने के लिए कहा पर उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तब आचार्य ने उन्हें बहुत समझाया। उनकी बात पर किसी शिष्य को क्रोध आया और उसने गुरु को अपने दीर्घ दण्ड से सिर पर प्रहार कर उन्हें स्वर्ग लोक पहुँचाया और स्वयं संघ का नेता बन गया। उसी ने सवस्त्र मुक्ति का उपदेश दिया और श्वेताम्बर संघ की स्थापना की।²²

भट्टारक रत्ननन्दि का एक भद्रबाहुचरित्र मिलता है, जिसमें उन्होंने कुछ परिवर्तन के साथ इस घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि दुर्भिक्ष पड़ने पर भद्रबाहु ससंघ दक्षिण गये। पर रामल्य, स्थूलाचार्य आदि मुनि उज्जयिनी में ही रह गये। कालान्तर में संघ में व्याप्त शिथिलाचार्य को छोड़ने के लिए जब स्थूलाचार्य ने मार डाला। उन शिथिलाचारी साधुओं से ही बाद में अर्ध फलक और श्वेताम्बर संघ की स्थापना हुई।

इन कथानकों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भद्रबाहु की परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय से और स्थूलभद्र की परंपरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुड़ी हुई है। यह श्वेताम्बर सम्प्रदाय अर्धफलक संघ का ही विकसित रूप है।

अर्धफलक सम्प्रदाय का यह रूप मथुरा कंकाली टीले से प्राप्त शिलापट्ट में अंकित एक जैन साधु की

प्रतिकृति में दिखाई देता है। वहाँ एक साधु 'कण्ह' बाये हाथ से वस्त्रखण्ड के मध्य भाग को पकड़कर नग्नता को छिपाने का यत्न कर रहा है। हरिभद्र के सम्बोधनप्रकरण में भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के इस पूर्व रूप पर प्रकाश पड़ता है। कुछ समय बाद उसी वस्त्र को कमर में घागे से बंध दिया जाने लगा। यह रूप मथुरा में प्राप्त एक आयागपट्ट पर उद्भूत रूप से मिलता-जुलता है। इस विकास का समय प्रथम शताब्दी के आस पास माना जा सकता है।

ऊपर के कथानकों से यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बीच विभेदक रेखा खींचने का उत्तरदायित्व वस्त्र की अस्वीकृति और स्वीकृति पर है। उत्तराध्ययन में केशी और गौतम के बीच हुए संवाद का उल्लेख है। केशी पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी हैं और गौतम महावीर परम्परा के। पार्श्वनाथ ने सन्तरुत्तर (सान्त्रोत्तर) का उपदेश दिया और महावीर ने अचेलकता का। इन दोनों शब्दों के अर्थ की ओर हमारा ध्यान श्री० पं० कलाशचन्द्रजी शास्त्री ने आकर्षित किया है। उन्होंने लिखा है कि उत्तराध्ययन की टीकाओं में सान्त्रोत्तर का अर्थ महामूल्यवान् और अपरिमित वस्त्र (सान्त्र-प्रमाण और वर्ग में विशिष्ट, तथा उत्तर-प्रधान) किया गया है और उसी के अनुरूप अचेल का अर्थ वस्त्रभाव के स्थान में क्रमशः कुत्तिसतचेल, अल्पचेल, और अमूल्यचेल मिलता है। किन्तु आचारंग सूत्र 209 में आये 'सतरुत्तर' शब्द का अर्थ दृष्टव्य है। वहाँ कहा गया है कि तीन वस्त्रधारी साधु का कर्तव्य है कि वह जब शीत ऋतु व्यतीत हो जाय जाय और ग्रीष्म ऋतु आ जाये और वस्त्र यदि जीर्ण न हुए हों तो कहीं रख दे अथवा सान्त्रोत्तर हो जाये। शिलांक ने सान्त्रोत्तर का अर्थ किया है—सान्त्र है उत्तर ओढ़ना जिसका अर्थ है, जो आवश्यकता होने पर

वस्त्र का उपयोग कर लेता, है अन्यथा उसे पास रखे रहता है।²³

केशी और गौतम के संवाद²⁴ में आये हुए सान्तर-रोत्तर का तात्पर्य भी यही है कि पार्श्वनाथ परम्परा के साधु अचेलक तो थे पर आवश्यकता पड़ने पर वे वस्त्र भी धारण कर लेते थे जबकि महावीर के धर्म में साधु पूर्णतः अचेलक अवस्था में रहता था। साधु सचेलक बही हो सकता था जो अचेलक होने में असमर्थ रहता था। पालि साहित्य में निग्गण्ठ साधुओं को जो 'एकसाटका' कहा गया है वह भी हमारे मत का पोषण करता है।²⁵

पार्श्वनाथ परम्परा में महावीर के समय तक उसमें चारित्रिक पतन हो गया था। इसलिए उस परम्परा के अनुयायी साधुओं को 'पासावज्जिय (पार्श्वपत्तीय) अथवा 'पासज्ज' (पार्श्वस्थ) कहा जाने लगा। पासज्ज का तात्पर्य है कर्म से बँधा हुआ साधु। यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया कि चरित्र से पतित साधु का वह पर्यायवाची बन गया।²⁶ सूत्रकृतांग में पार्श्वस्थ साधुओं को अनाय, बाल, जिनशासन से विमुख एवं स्त्रियों में आसक्त कहा गया है।²⁷ भगवती आराधना (गाथा 1300) आदि में भी पार्श्वस्थ साधुओं का चरित्र चित्रण इसी प्रकार किया गया है।

इसका मूल कारण है कि पार्श्व परम्परा में ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह व्रत में सम्मिलित कर दिया गया था।

'पञ्चाशक विवरण' में कहा गया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के अनुयायी साधु स्वभावतः कठिन और वक्रजङ्ग होने थे। इसलिए उन्हें अचैलावस्था का पालन करना आवश्यक बताया गया जबकि बीच के बाईस तीर्थ करों के अनुयायी साधु स्वभावतः सरल और बुद्धिमान थे, अतः उन्हें आवश्यकता पड़ने पर सचैलावस्था को भी विहित बना दिया गया।²⁸

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी साधु को अपरिग्रही होना आवश्यक बताया गया है।²⁹ आचारंगसूत्र एतदर्थं द्रष्टव्य है। उसमें अचेलक साधु की प्रशंसा की गयी है और उसे वस्त्रादि से निश्चिन्त बताया गया है।³⁰ ठाण्ग (सूत्र 171) में वस्त्र धारण करने के तीन कारणों का उल्लेख मिलता है—लज्जा निवारण, ग्लानि निवारण और परिषह निवारण। आने पाँच कारणों से अचैलावस्था की प्रशंसा की गई है—प्रति-लेखना की अल्पता, लाघवता, विश्वस्तरूपता, तपशीलता और इन्द्रिय निग्रहता।³¹ और भी अन्य आगमों में अचैलावस्था की प्रशंसा की गई है। मात्र असमर्थता होने पर ही वस्त्र ग्रहण करने की अनुज्ञा दी गई है।

23. जैन साहित्य का इतिहास: पूर्व पीठिका-397-98.

24. उत्तराध्ययन, 23-29-33.

25. तत्रिदं भन्ते, पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजातिपञ्जाता, निग्गण्ठा एकसाटका, अंगुत्तरनिकाय 6-6-3.

26. सूत्रकृतांग-1-1-2-5 वृत्ति;

27. सूत्रकृतांग-3-4-3 वृत्ति.

28. पञ्चाशक विवरण 17-8-10;

29. आचारंग-5, 150-152.

30. आचारंगसूत्र-182.

31. ठाण्गसूत्र-5

कालान्तर में वस्त्रग्रहण की प्रवृत्ति बढ़ती गई और उसी के साथ आगमों की टीकाओं और चूणियों आदि में अचेलकता के अर्थ में परिवर्तन किया जाने लगा। जिन-भद्रगणि क्षमाश्रमण के काल तक स्थिति बिलकुल बदल गई। फलतः उन्हें आचार के दो रूप करना पड़े—जिन-कल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्परूप अचेलकता का प्रतिपादक बना तथा स्थविरकल्प सचेलकता का। जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के बाद जिनकल्प को विच्छिन्न बना दिया गया। बृहत्कल्पसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य (गाथा 2598-2601) में इसका विशेष विवेचन मिलता है। वहाँ अचेल के दो भेद कर दिये गये हैं—संताचेल और असंताचेल। संताचेल (वस्त्र रहते हुए भी अचेल) जिनकल्पी आदि सभी प्रकार के साधु कहलाते हैं और असंताचेल के अन्तर्गत मात्र तीर्थंकर आते हैं।

उत्तरकाल में इस प्रकार के अर्थ करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ती गई। हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिक सूत्र में आये शब्द नग्न का अर्थ उपचरितनग्न और निरूपचरितनग्न किया है। कुचेलवान् साधु को उपचरितनग्न और जिनकल्पी साधु को निरूपचरित नग्न कहा गया है।³² बाद में अचेल का अर्थ अरूपमूल्यचेल भी किया गया है। सिद्धसेनगणि ने भी दसकल्पों में आये अचेलक्य कल्प का अर्थ यही किया गया है।³³ धीरे-धीरे साधु बस्तियों में रहने लगे, कतिवस्त्र के स्थान पर चुल-पट्ट का प्रयोग होने लगा और उपकरणों में वृद्धि हो गई। लगभग आठवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह विकास हो चुका था।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शिथिलाचार की पृष्ठभूमि में सश्रभेद के बीच जम्बूस्वामी के बाद से ही

प्रारम्भ हो गये थे जो भद्रबाहु के काल में दुर्भिक्ष की समाप्ति पर कुछ अधिक उभरकर सामने आये। 'परिशिष्ट पर्वन' (9-55-76) तथा तित्थोगाली पञ्चम (गा० 730-33) के अनुसार भी पाटलिपुत्र में हुई प्रथम वाचना काल में संश्रभेद प्रारम्भ हो गया था। यह वाचना भद्रबाहु की अनुपस्थिति में हुई थी। इसी के फलस्वरूप दोनों परम्पराओं की गुर्विलियों में भी अन्तर आ गया। यह रवामाविक भी था। उत्तरकाल में इस अन्तर ने आचार-विचार क्षेत्र को भी प्रभावित किया और देवधिगणि क्षमाश्रमण के काल तक दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परायें सदैव के लिये एक-दूसरे से पृथक् हो गईं।

भद्रबाहु के समय तक बौद्धधर्म के मध्यममार्ग का प्रचार अपने पूरे जोर पर था। जैन संघ के आचार शैथिल्य में वह विशेष कारण बना। विचारों में भी परिवर्तन हुआ जो विभिन्न वाचनाओं के बीच हुए संवादों से ज्ञात होती है। यहाँ वस्त्र और पात्र के रखने के तरह-तरह से विधान बने। महावीर भगवान के साथ देवद्वय वस्त्र की कल्पना का सम्बन्ध भी ऐसे ही विधानों से रहा होगा। इतना ही नहीं, प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों का धर्म अचेलक कहा गया तथा शेष बाईस तीर्थंकरों को अचेलक और सचेलक दोनों माना गया।

आचेलकको धम्मो पुस्त्रस्म य. पच्छिमस्स जिणस्स ।
अज्झिमगाण जिणाण होइ सचेलो अचेलो य ॥ पंचाशक

आचारांग सूत्र की टीका में शीलार्क ने अचेलक का जिनकल्प का और सचेलक को स्थविरकल्प का आधार बताया है। इस मत में दृढ़ता लाने के लिये एषणा समिति में वस्त्र और पात्र एषणा को सम्मिलित किया

32. दशवैकालिक सूत्र, गाथा-64 चूण.

33. तत्त्वार्थसूत्र-9-9, व्याख्या,

गया। पार्श्वनाथ की परम्परा को संचलित बनाने के लिए केशी-गौतम संवाद को जोड़ा गया। स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति, केवलिमुक्ति आदि सम्बन्धी वाक्य भी अन्तर्मुक्त कर दिये गये। जिनदासगणि क्षमाश्रमण ने तो अन्तर्मुक्त के लोप की भी बात कर दी। (विशेषावश्यक अस्य, 2593 गा.) पं. बेचरदास दोसी ने ऐसे ही कथनों या उल्लेखों की भर्त्सना की है। (जैन साहित्यमां विकार थलाथयेली, हति, पृ. 103) इसी प्रकार की प्रवृत्तियों ने संघ और सम्प्रदाय को जन्म दिया।

दिगम्बर संघ और सम्प्रदाय

दिगम्बर परम्परा संघभेद के बाद अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गई। वीर निर्वाण से 683 वर्ष तक चली आयी लोहाचार्य तक की परम्परा में गण, कुल, संघ आदि की स्थापना नहीं हुई थी। उसके बाद अंग पूर्व के एकदेश के ज्ञाताचार आरातीय मुनि हुए। उनमें आचार्य शिवगुप्त अथवा अर्हदबली से नवौंन संघ और गणों की उत्पत्ति हुई। महावीर के निर्वाण के लगभग इन 700 वर्षों में आचार-विचार में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। समाज का आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक ढांचा बदल चुका था। शिथिलाचार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। इसी कारण नये-नये संघ और सम्प्रदाय खड़े हो गये।

कदम्ब एवं गंगवंशी लेखों से पता चलता है कि समूचे दिगम्बर संघ को निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ कहा जाता था। कालान्तर में जब शिथिलाचार बढ़ने लगा तो उसकी विशुद्धि के लिए नये-नये आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। भट्टारक युगीन संघ तो इस शिथिलाचार का बहुत अधिक शिकार हुआ। फलस्वरूप विभिन्न संघ-सम्प्रदाय बन गये। इन संघ सम्प्रदायों में मतभेद का विशेष आधार आचार-प्रक्रिया थी। विचारों में भेद अधिक नहीं आ पाया। कर्तों से सिद्धास करने वाले मुनि नगर की ओर आने लगे, मन्दिरों और चैत्यों में

निवास करने लगे। लगभग 10 वीं शताब्दी तक यह प्रवृत्ति अधिक दृढ़ हो गई। विशुद्ध आचारवान् भिक्षुओं ने इसका विरोध किया और शिथिलाचारी साधुओं की भर्त्सना कर उन्हें जैनाभासी और मिथ्यात्वी जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित किया। इन सभी कारणों से दिगम्बर सम्प्रदाय में अनेक संघों की स्थापना हो गई। देवसेन ने दर्शनसार में श्वेताम्बर, यापनीय, द्रविड, काष्ठा संघ और मधुर संघ को जैनाभास बताया है।

मूलसंघ

शिथिलाचारी साधुओं के विरोध में विशुद्धतावादी साधुओं ने जिस आन्दोलन को चलाया उसे मूल संघ कहा गया है। मूल संघ के स्थापकों ने यह नाम देकर अपना सीधा सम्बन्ध महावीर से बताने का प्रयत्न किया और शेष संघ को अमूल्य बता दिया। इस संघ की उत्पत्ति का स्थान और समय अभी तक निश्चित नहीं हो पाया पर यह निश्चित है कि इस संघ का विशेष सम्बन्ध कुन्दकुन्द से रहा है। साधारणतः कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है। कालान्तर में मूल संघ जैसे ही काष्ठा, द्रविड आदि और संघ भी स्थापित हुए। इन सभी संघों पर निर्ग्रन्थ और यापनीय संघों का प्रभाव अधिक है।

मूलसंघ का प्राचीनतम उल्लेख 'नोया मंगल' के दानपत्र में पाया जाता है, जिसका समय शक सं. 347 (वि. सं. 482) के आसपास है। आचार्य इन्द्रनन्दि (11 वीं शताब्दी) ने मूलसंघ का परिचय देते हुए लिखा है कि पुण्डवर्धनपुर (बोगरा, बंगाल) के निवासी आचार्य अर्हद्वली (लगभग वि. सं. 275) पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन में रहने मुनियों को एकत्र कर युगप्रतिक्रमण किया करते थे। एकबार इसी प्रकार प्रतिक्रमण के समय उन्होंने मुनियों से पूछा—'क्या सभी मुनि आ चुके? मुनियों से उत्तर मिला—हाँ, सभी मुनि आ चुके। अर्हद्वली ने उत्तर पाकर यह सोचा कि समय बदल रहा है। अब

जैन धर्म का अस्तित्व गणपक्षपात के आधार पर ही रह सकेगा, उदासीन भाव से नहीं। तब उन्होंने संघ अथवा गण स्थापित किये। गुहाओं से आनेवाले मुनियों को 'नन्दि' और 'वीर' संज्ञा दी, अशोक वाटिका से आनेवालों को "देव" और "अपराजित" कहा, पञ्चस्तूप से आनेवालों को "सेन" या "भद्र" नाम दिया, शाल्मलिबृक्ष से आनेवालों को "गुणधर" या गुप्त बताया तथा खण्डकेशर वृक्षों से आनेवालों को सिंह और चन्द्र कहकर पुकारा।³⁴ इसी संदर्भ में इन्द्रनन्दि ने कुछ मतभेदों का भी उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है कि इन्द्रनन्दि को भी संघभेद का स्पष्ट ज्ञान नहीं था। पर यह निश्चित है कि उस समय विशेषतः नन्दि। सेन देव और सिंह गण ही प्रचलित थे।³⁵ उन्होंने गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय, और निपिच्छ को जैनाभास कहा है।

इनमें नन्दि संघ प्राचीनतम संघ प्रतीत होता है। इस संघ की एक प्राकृत पट्टावली भी मिली है। ये कठोर तपस्वी हुआ करते थे। यापनीय और द्राविड संघ में भी नन्दिसंघ मिलता है। लगभग 14-15 वीं शताब्दी में नन्दिसंघ और मूलसंघ एकान्त वाची से हो गये। नन्दिसंघ का नाम "नन्दि" नामान्तधारी मुनियों से हुआ जान पड़ता है।

सेनसंघ का नाम भी सेनान्त आचार्यों से हुआ होगा। जिनसेन एक संघ के प्रधान नायक कहे जा सकते हैं। उनके पूर्व संभव है उसे पञ्चस्तूपान्वय कहा जाता हो। जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन को इसी अन्वय का लिखा है। इस अन्वय का उल्लेख पहाड़पुर (बंगाल) के पाँचवीं शताब्दी के शिलालेखों

में तथा हरिवंश कथाकोष में भी मिलता है। 'सेनगण' नाम भी उत्तरकालीन ही प्रतीत होता है। यह दक्षिण भारत के भट्टारकों में अधिक प्रचलित रहा है।

मूलसंघ के अन्तर्गत जो शाखाएँ प्रशाखाएँ उपलब्ध होती हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं।³⁶

1. अन्वय — कोण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, किन्तु रान्वय, चन्द्रकवायन्वय, शिश्रुकूटान्वय निगमान्वय आदि।
2. बलि — इनसोगे या पनसोगे इंगुलेदवर एवं वाणद बलि आदि।
3. गच्छ — चित्रकूट, होत्तगे, तगरिक, होगरि, पारिजात, मेघपाषाण, तित्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि।
4. संघ — नावित्मूरसंघ, मयूरसंघ, किचूरसंघ, कोशलनूर संघ, गनेश्वरसंघ, गौड़संघ, श्रीसंघ, सिंहसंघ, परलूरसंघ आदि।
5. गण — बलात्कार, सूरस्थ, कालोग्र, उदार, योगरिय, पुलागवृक्ष मूलगण, पंकुर, देवगण, सेनागण, सूरस्थगण, क्राणूरगण आदि।

ये गण दक्षिण भारत में अधिक पाये जाते हैं, उत्तर भारत में कम। उनमें प्रधानतः उल्लेखनीय हैं— कोण्डकुन्दान्वय, सरस्वतीपुस्तक गच्छ, सूरस्थगण, क्राणूरगण एवं बलात्कारगण।

34. श्रुतावतार, 96.

35. नीतिसार, 6-8;

36. चौधरी गुलाबचन्द्र-दिगम्बर जैन संघ के अतीत की झांकी, आचार्य मिश्र स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ. 295.

कोण्डकुन्दान्वय का ही रूपान्तर कुन्दकुन्दान्वय है, जिसका सम्बन्ध स्पष्टतः आचार्य कुन्दकुन्द से है। यह अन्वय देशीगण के अन्तर्गत गिना जाता है। इसका (देशीगण) उद्भव लगभग 9वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में देश नामक ग्राम (पश्चिमघाट के उच्चभूमिभाग और गोदा वरी के बीच) में हुआ था। कर्नाटक प्रान्त में इस गण का विशेष विकास 10-11 वीं शताब्दी तक हो गया था।

मूलसंघ के अन्य प्रसिद्ध गणों में सूरस्थगण, क्राणूर गण और बलात्कारगण विशेष उल्लेखनीय हैं। सूरस्थ गण सौराष्ट्र धारवाड़ और बीजापुर जिले में लगभग 13 वीं शती तक अधिक लोकप्रिय रहा है। क्राणूरगण का अस्तित्व 14 वीं शती तक उपलब्ध होता है। इसकी तीन शाखाएँ थीं। तन्मिणी गच्छ, मेघपाषण गच्छ और पुस्तक गच्छ। बलात्कारगण के प्रभाव से ये शाखाएँ हतप्रभ हो गई थीं। इनके अनुयायी भट्टारक पद्मनन्दि को अपना प्रधान आचार्य मानते रहे हैं। पद्मनन्दी स्वभावतः आचार्य कुन्दकुन्द का द्वितीय नाम था। बलात्कारगण का उद्भव बलमार ग्राम में हुआ था। यह कहा जाता है कि बलात्कारगण के उद्भावक पद्मनन्दि ने गिरनार पर पाषण से निमित सरस्वती को वाचाल कर दिया। इसलिए बलात्कारगण के अन्तर्गत ही एक सारस्वत गच्छ का उदय हुआ। इसका सर्वप्रथम उल्लेख शक सं. 993-994 के शिलालेख में मिलता है। कर्नाटक प्रान्त में इस गण का विकास अधिक हुआ है पर इसकी शाखाएँ कान्जा, मलयखेड़, लातूर, देहली, अजमेर, जयपुर, सूरत, ईडर, नागौर, सोनागिर आदि स्थानों पर भी स्थापित हुई हैं। भट्टारक पद्मनन्दी और सकलकीर्ति आदि जैसे कुशल साहित्यकार इसी बलात्कारगण में हुए हैं। राजस्थान मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में इस बलात्कारगण का कार्यक्षेत्र अधिक रहा है। एक अन्य शाखा सेतगण की परम्पराएँ कोल्हापुर, जिनकांची (मद्रास), पेनुगोण्ड (आन्ध्र) और कान्जा (विदर्भ) में उपलब्ध होती हैं।

मूलसंघ के आचार्यों ने इतर संघों को जैनाभास कहा है। ऐसे संघों में उन्होंने द्राविड़ काष्ठा एवं यापनीय की गणना की है। जैनाभास बताने का मूल कारण यह था कि उनमें शिथिलाचार की प्रवृत्ति अधिक आ चुकी थी। वे मन्दिर आदि का निर्माण कराते थे और तन्निमित्त दान स्वीकार करते थे। पर यह ठीक नहीं। क्योंकि आशाधर जैसे विद्वान इसी तथाकथित जैनाभास संघों में से थे, जिन्होंने शिथिलाचार की कठोर निन्दा की है।

द्राविड़ संघ

द्राविड़ संघ का सम्बन्ध स्पष्टतः तमिल प्रदेश से रहा है। ई० पूर्वं चतुर्थ शताब्दी में वहाँ जैन धर्म पहुँच चुका था। सिंहल द्वीप में जो जैनधर्म पहुँचा वह तमिल प्रदेश होकर ही गया। आचार्य देवसेन ने इस संघ की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि बज्रनन्दि ने वि सं. 526 में मधुरा में इस संघ की स्थापना की थी। इस संघ की दृष्टि में वाणिज्य व्यवसाय से जीविकार्जन करना और शीतल जल से स्नानादि करना विहित माना गया है। तमिल प्रदेश में शैव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। सप्तम शताब्दी में उसके साथ अनेक संघर्ष भी हुए। इस संघ को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इसके यक्ष याक्षिणियों की पूजा-प्रतिष्ठा आदि की भी स्वीकार कर लिया गया। पद्मावती की मान्यता यहीं से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है।

होयसल नरेशों के लेखों से पता चलता है कि वे इस संघ के संरक्षक रहे हैं। उन्हीं के लेख इस संघ के विषय में सामग्री से भरे हुए हैं। द्राविड़ संघ के साथ ही इस संघ में कोण्डकुन्दान्वय, नन्दिसंघ, पुस्तकगच्छ और अरुंगलान्वय को भी जोड़ दिया गया है। संभव है अपने संघ को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से यह कदम उठाया गया हो मंसूर प्रदेश इसके प्रचार प्रसार का केन्द्र रहा है।

द्राविड़ संघ में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उनमें वादिराज और माल्लिखेण विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके ग्रन्थों में मंत्र तंत्र के प्रयोग अधिक मिलते हैं। भट्टारक प्रथा का प्रचलन विशेषतः द्राविड़ संघ से ही हुआ होगा।

काष्ठा संघ

काष्ठासंघ की उत्पत्ति मथुरा के समीपवर्ती काष्ठा ग्राम में हुई थी। दर्शनसार के अनुसार वि. सं. 753 में इसकी स्थापना विनयसेन के शिष्य कुमारसेन के द्वारा की गई थी। तदनानुसार मथुरा पक्ष के स्थान पर गोपिच्छ रखने की अनुमति दी गई वि. सं. 853 में रामसेन ने माधुर संघ की स्थापना कर गोपिच्छ रखने को भी अनावश्यक बताया है। बुलाकीचन्द के वचन कोश (वि.सं. 1737) में काष्ठा संघ की उत्पत्ति उमा स्वामी के शिष्य लोहाचार्य द्वारा निर्दिष्ट है।

काष्ठा संघ का प्राचीनतम उल्लेख श्रवण बेलगोला के वि. सं. 1119 के लेख में मिलता है। मुरेन्द्र कीर्ति (वि. सं. 1747) द्वारा लिखित पट्टावली के अनुसार लगभग 14 वीं शताब्दी तक इस संघ के प्रमुख चार अवान्तर भेद हो गये थे — माधुरगच्छ, वामङ्गगच्छ, लाट-वामङ्गगच्छ एवं नन्दितगच्छ। बारहवीं शती तक के शिलालेखों में ये नन्दितगच्छ को छोड़कर शेष तीनों गच्छ स्वतन्त्र संघ के रूप में उल्लिखित हैं। उनका उदय क्रमशः मथुरा, बागड़ (पूर्व गुजरात) और लाट दक्षिण गुजरात) देश में हुआ था। चतुर्थ गच्छ नन्दितट की उत्पत्ति नान्देड़ (महाराष्ट्र) में हुई दर्शनसार के अनुसार नान्देड़ महाराष्ट्र ही काष्ठा संघ का उद्भव स्थान है। संभव है इस समय तक उक्त चारों गच्छों

को एकीकरण कर काष्ठासंघ नाम दे दिया गया हो। इस संघ में जयमेन, महासेन आदि जैसे अनेक प्रसिद्ध आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं। अथवाल, खण्डेलवाल आदि उपजातियाँ इसी संघ के अन्तर्गत निमित्त हुई हैं।

यापनीय संघ

दर्शनसार के अनुसार इस संघ की उत्पत्ति वि. सं. 205 में श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु ने की थी। संघभेद होने के बाद शायद यह प्रथम संघ था जिसने श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों की मान्यताओं को एकाकार कर दोनों को मिलाने प्रयत्न किया था। इस संघ के आचार के अनुसार साधु नग्न रहता, मथुरा-पिच्छ धारण करता, पाणितलभोजी होता और नग्न मूर्ति की पूजन करता था।³⁷ पर विचार की दृष्टि से वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समीप थे। तदनुसार वे स्त्रीमुक्ति, केवलीकवलाहार और सबस्त्रमुक्ति मानते थे उनमें आवश्यक छेदसूत्र, निर्युक्ति, दशवर्कालिक आदि श्वेताम्बरीय ग्रन्थों का भी अध्ययन होता था।³⁸

आचार विचार का यह संयोग यापनीय संघ की लोकप्रियता का कारण बना। इसलिए इसे राज्य संरक्षण भी पर्याप्त मिला। कदम्ब, चालुक्य, गंग राष्ट्रकूट, रट्ट आदि वंशों के राजाओं ने यापनीय संघ को प्रभूत दानादि देकर उसका विकास किया था। इस संघ का अस्तित्व लगभग 15 वीं शताब्दी तक रहा है, यह शिलालेखों से प्रमाणित होता है। ये शिलालेख विशेषतः कर्नाटक प्रदेश में मिलते हैं। यही इसका प्रधान केन्द्र रहा होगा। बेलगांव, बीजापुर, धारवाड़ कोल्हापुर आदि स्थानों पर भी यापनीय संघ का प्रभाव देखा जाता है।

37. षडर्शन समुच्चय, षट्प्राभृतटीका, पृ. 7 छ.

38. अमोघ वृत्ति 1-2-201-4.

यापनीय संघ भी कालान्तर में अनेक शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हो गया। उसकी सर्वप्रथम शाखा 'नन्दिगण, नाम से प्रसिद्ध है। कुछ अन्य गणों का भी उल्लेख शिलालेखों में मिलता है जैसे—कनकोपलसम्भूतवृक्षमूल गण, श्रीमूलगण, पुन्नगवृक्षमूलगण कौमुदीगण मड्डुवगण, वान्दियूरगण, कण्डूरगण, वलहारीगण आदि ये नाम प्रायः वृक्षों के नामों पर रखे गये हैं। सम्भव है इस संघ ने उन वृक्षों को किसी कारणवश महत्व दिया हो। लगता है, बाद में यापनीय संघ मूलसंघ से सम्बद्ध हो गया होगा। लगभग 11 वीं शताब्दी तक नन्दिसंघ का उल्लेख द्रविड़संघ के अंतर्गत होता रहा और 12 वीं शताब्दी से वह मूलसंघ के अंतर्भूत होता हुआ दिखता है।

यापनीय संघ के आचार्य साहित्य सर्जना में भी अग्रणी थे। पाल्यकीर्ति का शकटायन व्याकरण, अपराजित की मूलाराधना पर विजयोदया टीका और शिवार्य की भगवती आराधना का विशेष उल्लेख यहाँ किया जा सकता है।

भट्टारक सम्प्रदाय

उक्त संघों की आचार विचार परम्परा की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट आभास होता है कि जैन संघ में समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। यह संघ मूलतः निष्परिग्रही और वनवासी था, पर लगभग चौथी पाँचवीं शताब्दी में कुछ साधु चैत्यों में भी आवास करने लगे। यह प्रवृत्ति श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों परम्पराओं में लगभग एक साथ पनपी। इस तरह वहाँ साधु सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त हो गया वनवासी और चैत्यवनी पर ये

दोनों शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित हुए दिगम्बर सम्प्रदाय में उनका स्थान क्रमशः मूलसंघ और द्राविड़ संघ ने ले लिया। बाद में तो मूलसंघी भी चैत्यवासी बनते दिखाई देने लगे। आचार्य गुणभद्र (नवीं शताब्दी) के समय साधुओं की प्रवृत्ति नगरवास की ओर अधिक झुकने लगी थी। इसका उन्होंने तीव्र विरोध भी किया।³⁹

मध्ययुग तक आते-आते जैनधर्म की आचार व्यवस्था में काफी परिवर्तन आ गया। साधु समाज में परिग्रह और उपभोग के साधनों की ओर खिंचाव अधिक दिखाई देने लगा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो यह प्रवृत्ति बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो गई थी। पर दिगम्बर सम्प्रदाय भी अब वस्त्र की ओर आकर्षित होने लगा। इसका प्रारम्भ वसन्तकीर्ति (13 वीं शताब्दी) द्वारा मण्डपदुर्ग (मांडलगढ़, राजस्थान) में किया गया।⁴⁰ भट्टारक प्रथा भी लगभग यहीं से प्रारम्भ हो गई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वे दिगम्बर भट्टारक नग्नमुद्रा को पूज्य मानते थे और यथावसर उसे धारण करते थे। स्नान को भी वे वर्जित नहीं मानते थे। पिच्छी के प्रकार और उपयोग में भी अन्तर आया धीरे-धीरे ये साधु-मठाधीश होने लगे और अपनी पीठ स्थापित करने लगे। उस पीठ की प्रचुर सम्पदा के भी वे उत्तराधिकारी होने लगे। इसके बावजूद उनमें निर्वस्त्र रहने अथवा जीवन के अन्तिम समय नग्न मुद्रा धारण करने की प्रथा थी। प्रसिद्ध विद्वान भट्टारक कुमुदचन्द्र पालकी पर बैठते थे, छत्र लगाते थे और नग्न रहते थे।⁴¹

लगभग बारहवीं शती तक आते-आते भट्टारक समुदाय का आचार मूलाचार से बहुत भिन्न हो गया।

39. आत्मानुशासन, 197.

40. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोहरापुरकर, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड पृ. 37.

41. जैन निबन्ध रत्नावली 405.

आशाधर ने उनके आचार को म्लेच्छों के आचार के समान बताया है।⁴² सोमदेव ने भी यशस्तिलक चम्पू में इसका उल्लेख किया है।⁴³ श्वेताम्बर चैत्यवासियों में भी इसी प्रकार का कुत्सित आचरण घर कर गया था, जिसका उल्लेख हरिभद्र ने संबोध प्रकरण में किया है। उन्होंने लिखा है कि ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, देव द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन मन्दिर और शालाएँ चिनवाते हैं, रंग-बिरंगे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहिन्ते हैं, बिना नाथ के बँलों के सदृश स्त्रियों के आगे भाते हैं, आर्थिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते हैं और तरह तरह के उपकरण रखते हैं। जल, फल, फूल आदि संचित द्रव्यों का उपभोग करते हैं, दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवंगादि भी खाते हैं।

ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं। ज्योंनारों में मिष्ठानहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते।

स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना प्रतिक्रिया कराते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, श्रृंगार करते और हथ फुल्ले का उपयोग करते हैं। अपने हीनाचारी मृतक गुरुओं की दाहभूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष ध्याख्यास देते हैं और स्त्रियों उनके गुणों के गीत गाती हैं।

सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के बहाने बिकथायें किया करते हैं। चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते, भोले लोगों को ठगाते और जिन प्रतिमाओं को भी बेचते खरीदते हैं। उच्चा-

टन करते और वैद्यक यन्त्र, मन्त्र, गण्डा, ताबीज आदि में कुशल होते हैं।

ये श्रावकों को सुविहित साधुओं के पास जाते हुए रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं, और चेलों के लिए एक दूसरे से लड़ मरते हैं।

जो लोग इन भ्रष्टचारियों को भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य करके हरिभद्र ने कहा है, "कुछ अज्ञानी कहते हैं कि यह तीर्थंकरों का वेष है, इसे भी नमस्कार करना चाहिए। अहो ! धिक्कार हो इन्हें। मैं अपने शिर के शूल की पुकार किसके आगे जाकर कहूँ।"⁴⁴

दिगम्बर साधुओं में भी लगभग इसी प्रकार का आचरण प्रचलित हो गया था। महेन्द्रसूरि की शतपदी (वि. स. 1263) इसका प्रमाण है। तदनुसार दिगम्बर मुनि नग्नत्व के प्रावरण के लिए योगपट्ट (रेशमी वस्त्र) आदि धारण करते थे। उत्तर काल में उसका स्थान वस्त्र ने ले लिया। श्रुतसगर की तत्त्वार्थसूत्र टीका में यह भी लिखा है कि शीतकाल में ये दिगम्बर मुनि कम्बल आदि भी ग्रहण कर लेते थे और शीतकाल के व्यतीत होने के उपरान्त वे उन्हें छोड़ देते थे। धीरे-धीरे ऋतु काल का भी बन्धनत्व दूर हो गया और साधु यथेच्छ वस्त्र धारण करने लगे। साथ ही गद्दे, तकिये, पालकी छत्र, चंवर, मठ, सम्पत्ति आदि विलासी सामग्री का भी परिग्रह बढ़ने लगा। ऐसे साधुओं को भट्टारक अथवा चैत्यवासी कहा गया है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन जैन संघ में यह शिथिलाचार सुरसा की भाँति बढ़ता चला जा रहा था। विशुद्धतावादी आचार्यों ने उसकी घनघोर

42. अनागार धर्माभूत, 2, 96.

43. जैन साहित्य और इतिहास-पृ. 489.

44. संबोध प्रकरण, 76: जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 480-81.

निन्दा की फिर भी उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरा मूल कारण था कि समाज का मानसिक परिवर्तन बड़ी तीव्रता से होता चला जा रहा था। भट्टारकों का मुख्य कार्य मूर्तियों की प्रतिष्ठा, मन्दिरों का निर्माण और उनकी व्यवस्था, यान्त्रिक, मान्त्रिक और तान्त्रिक प्रतिपादन तथा यक्ष-यक्षणियों और देवी-देवताओं का भजन-पूजन हो गया। साधारण समाज में ये कार्य बड़े लोकप्रिय हो गये थे। अतः उपासकों में भट्टारक समाज के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो गई थी। भट्टारकों के कारण मूर्ति और स्थापत्य कला को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला। जैन ग्रन्थभण्डार स्थापित किये गये, साहित्य सृजन और संरक्षण की ओर अभिरुचि जाग्रत हुई तथा जैनधर्म का प्रभावना-क्षेत्र बढ़ गया। जैन संघ और सम्प्रदाय को भट्टारक सम्प्रदाय की यह देन अविस्मरणीय है।

तेरहपन्थ और बीसपन्थ

भट्टारक सम्प्रदाय का उक्त आचार-विचार जैन धर्म के कुशल जाताओं के बीच आलोचना का विषय बना रहा। कहा जाता है कि उसके विरोध में पण्डित प्रवर बनारसी दास ने सत्रहवीं शताब्दी में आगरा में एक आन्दोलन चलाया। इसी आन्दोलन का नाम तेरह पन्थ रखा गया। इसके नाम के विषय में कोई निर्विवाद सिद्धान्त नहीं है। इस तेरहपन्थ की दृष्टि में भट्टारकों का आचार सम्यक नहीं। वह तो महावीर के द्वारा निदिष्ट मूलाचार को ही मूल सिद्धान्त स्वीकार करता है। यह पन्थ समाज में काफी लोकप्रिय हो गया। दूसरी ओर भट्टारकों अथवा चैत्यवातियों के अनुयायी अपने आप को बीसपन्थी कहने लगे। इस पन्थ के अनुयायी प्रतिमाओं पर केसर लगाते तथा पुष्पमालाएँ और हरे फल आदि चढ़ाते हैं। तेरहपन्थ के अनुयायी इसके विरोधक हैं।

तारणपन्थ

पन्द्रहवीं शताब्दी तक मुस्लिम आक्रमणों ने जैन

मूर्तिकला और स्थापत्यकला को गहरा आघात पहुँचा दिया था। उन्होंने इन सभी सांस्कृतिक धरोहरों को अधिकाधिक परिमाण में नष्ट भ्रष्ट कर दिया था। ये अचेतन मूर्तियाँ इस कार्य का कोई विरोध नहीं कर सकी। प्रत्युत उन्होंने आपत्तियों को निमन्त्रित किया। फलस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय के ही व्यक्ति के मन में यह बात जम गई कि मूर्ति पूजा अनावश्यक है और उसने अपना नया पन्थ प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर में इस पन्थ के संस्थापक तारणतरण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् 1515 में उनका स्वर्गवास मल्हारगढ़ (भ्वालियर) में हुआ। यही स्थान आज नसिया जी कहलाता है, जो आज एक तीर्थ स्थान बन गया है। इस पन्थ का विशेष प्रचार मध्यप्रदेश में हुआ। इसके अनुयायी मूर्ति के स्थान पर शास्त्र की पूजा करते हैं। ये दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य सभी ग्रन्थों को स्वीकार करते हैं। तारणतरण स्वामी ने तारणतरण श्रावकाचार, पण्डितपूजा, मालारोहण, कमलबन्नीसी, उपदेशशुद्धसार, ज्ञानसमुच्चसार, अमल पाहुड़, चौबीसठाण, त्रिभङ्गीसार आदि 14 छोटे-मोटे ग्रन्थों की रचना की है। उनमें श्रावकाचार प्रमुख है।

श्वेताम्बर संघ और सम्प्रदाय

जैसा हम पहले कह चुके हैं, श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति एक विकास का परिणाम है। कुछ समय तक श्वेताम्बर माधु वस्त्र की अपवाद के रूप में ही कटिवस्त्र धारण किया करते थे। पर बाद में लगभग आठवीं शती में उन्होंने उन्हें पूर्णतः स्वीकार कर लिया। साधारणतः उनके पास ये चीजें उपकरण होते हैं—पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रप्रमार्जनिका, पटल, रजस्मान; गुच्छक, दो चादर, कम्बल (ऊनी वस्त्र), रजोहरण, मुखवस्त्रिका, मात्रक और चोलक। महावीर निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष बाद देवधिगणि क्षमा-श्रमण के नेतृत्व में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपने ग्रन्थों का संकलन श्रुति परम्परा के आधार पर किया जिन्हें

दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया। इसका मूल कारण था कि वहाँ कनिष्य प्रकरणों को काट-छाँट और तोड़-मरोड़कर उपस्थित किया गया था। श्वेताम्बर संध में निम्नलिखित प्रधान सम्प्रदाय उत्पन्न हुए।

चैत्यवासी

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वनवासी साधुओं के विपरीत लगभग चतुर्थ शताब्दी में एक चैत्यवासी साधु सम्प्रदाय खड़ा हो गया, जिसने वनों को छोड़कर चैत्यों (मन्दिरों) में निवास करना और ग्रन्थ संग्रह के लिए आवश्यक द्रव्य रखना विहित माना। इसी के पोषण में उन्होंने निगम नामक शास्त्रों की रचना भी की। हरिभद्रसूरि ने इन चैत्यवासियों की ही निन्दा अपने संबोध प्रकरण में की है। चैत्यवासियों ने 45 आगमों को प्रमाणिक स्वीकार किया है।

वि. सं. 802 में अणहिलपुर पट्टाण के राजा चावड़ा ने अपने चैत्यवासी गुरु शीलगुणसूरि की आज्ञा से यह निर्देश दिया कि इस नगर में वनवासी साधुओं का प्रवेश नहीं हो सकेगा। इससे पता चलता है कि लगभग आठवीं शताब्दी तक चैत्यवासी सम्प्रदाय का प्रभाव काफी बढ़ गया था। बाद में वि. सं. 1070 में दुर्लभदेव की सभा में जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागर सूरि ने चैत्यवासी साधुओं से शास्त्रार्थ करके उक्त निर्देश को वापिस कराया। इसी उपलक्ष्य में राजा दुर्लभदेव ने वनवासियों को खरतर नाम दिया। इसी नाम पर खरतरगच्छ की स्थापना हुई।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय कालान्तर में विविध गच्छों में विभक्त हो गया। उन गच्छों में प्रमुख गच्छ इस प्रकार हैं⁴⁵ :-

१. उपदेशगच्छ -- पार्श्वनाथ का अनुयायी केशी इसका संस्थापक कहा जाता है।

2. खरतरगच्छ -- जैसा उपर कहा जा चुका है, खरतरगच्छ की स्थापना में दुर्लभदेव का विशेष हाथ रहा है। उनके अतिरिक्त वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ किया था।

३. तपागच्छ -- वि. सं. 1285 में जगच्चन्द्रसूरि की कठोर साधना को देखकर मेवाड़ के राजा ने उन्हें 'तपा' अभिधान दिया। तभी से उनका संध तपागच्छ के नाम से पुकारा जाने लगा। कालान्तर में उन्हीं के अन्यतम शिष्य विजयचन्द्रसूरि ने शिथिलाचार को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने यह स्थापित किया कि साधु अनेक वस्त्र रख सकता है, उन्हें धो सकता है, घी, दूध शाक्, फल आदि खा सकता है, साध्वी द्वारा अर्जित भोजन ग्रहण कर सकता है।

४. पार्श्वनाथगच्छ -- वि. सं. 1515 में तपागच्छ से पृथक् होकर आचार्य पार्श्वचन्द्र से इस गच्छ की स्थापना की। वे नियुक्ति, भाष्य, चुणि, और छेद ग्रन्थों को प्रमाण कोटि में नहीं रखते थे।

५. सार्ध पौर्णमीयकगच्छ -- आचार्य चन्द्रप्रभसूरि ने प्रचलित क्रियाकाण्ड का विरोधकर पौर्णमीयक गच्छ की स्थापना की। वे महानिशीथ सूत्र को प्रमाण नहीं मानते थे। कुमारपाल के विरोध के कारण इस गच्छ का कोई विशेष विकास नहीं हो पाया। कालान्तर में सुमति सिंह ने इस गच्छ का उद्धार किया। इसलिए इसे सार्ध पौर्णमीयकगच्छ कहा जाने लगा।

6. अंचलगच्छ -- उपाध्याय विजयसिंह (आर्य-रक्षितसूरि) ने मुखपट्टी के स्थान पर अंचल (वस्त्र का छोर) के उपयोग करने की घोषणा की। इसीलिए अंचलगच्छ कहा जाता है।

45. विस्तार से देखें--जैन धर्म--कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. 290-2.

७. आगमिकगच्छ—इस गच्छ के संस्थापक शील-गुण और देवभद्र पहले पौर्णमेयक थे, बाद में आंचलिक हुए और फिर आगमिक हो गये। वे क्षेत्रपाल की पूजा को अनुचित बताते थे। सोलहवीं शती में इसी गच्छ की एक शाखा 'कटुक' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा के अनुयायी केवल श्रावक ही थे।

इन गच्छों की स्थापना छोटे-मोटे कारणों से हुई है। प्रत्येक गच्छ की साधु-चर्या पृथक्-पृथक् है। इन गच्छों में आजकल खरतरगच्छ, तपागच्छ और आंचलिकगच्छ ही अस्तित्व में हैं।

स्थानकवासी

स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति चैत्यवासी सम्प्रदाय के विरोध में हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में अहमदाबादवासी मुनि ज्ञानश्री के शिष्य लोकाशाह ने आगमिक ग्रन्थों के आधार पर यह प्रस्थापित किया कि मूर्ति पूजा और आचार-विचार जो आज के समाज में प्रचलित हैं वह आगम विहित नहीं हैं। इसे लोकागच्छ नाम दिया गया।

उत्तरकाल में सूरतवासी एक साधु ने लोकागच्छ की आचार परम्परा में कुछ सुधार किया और दूढ़िया सम्प्रदाय की स्थापना की। लोकागच्छ के सभी अनुयायी इस सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। इसके अनुसार अपना धार्मिक क्रियाकर्म मन्दिरों में न कर स्थानकों अथवा उपाश्रयों में करते हैं। इसलिए इस सम्प्रदाय को स्थानकवासी सम्प्रदाय कहा जाने लगा। इसे साधुमार्गी भी कहते हैं। यह सम्प्रदाय तीर्थयात्रा में भी विशेष श्रद्धा नहीं रखता। इसके साधु श्वेतवस्त्र पहनते और मुखपट्टी बांधते हैं। अठारहवीं शती में सत्यब्रिजय पंथास ने साधुओं को श्वेतवस्त्र के स्थान पर पीत वस्त्र पहिनने का विधान किया, पर आज यह आचार में दिखाई नहीं देता। भट्टारक प्रथा भी इसी समय प्रारम्भ हुई।

तेरापन्थ

स्थानकवासी सम्प्रदाय में आचार-विचार की शिथिलता बढ़ रही थी। श्रावकों में उसकी प्रतिक्रिया के दर्शन हो रहे थे। उनका मानस भिक्षुओं के प्रति श्रद्धा से विदूर हो रहा था। यह सब देखकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित आचार्य भिक्षु (जन्म वि. स. 1783, कन्टालिया-जोधपुर) ने वि. सं. 1817 चैत्र-शुक्ला 9 के दिन अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना का सूत्रपात किया। लगभग तीन माह बाद उन्होंने तेरापन्थ की दीक्षा स्वीकार की। इस अवसर पर उनके साथ तेरह साधु थे और तेरह श्रावक। इसी संख्या पर इस सम्प्रदाय का नाम "तेरापन्थ" रख दिया गया। 'तेरा' शब्द से यह भी आशय निकलता है कि हे भगवान ! यह तुम्हारा ही मार्ग है जिस पर हम चल रहे हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के समान तेरापन्थ भी बत्तीस आगमों को प्रामाणिक मानता है। तदनुसार प्रमुख मान्यतायें इस प्रकार हैं—

(1) षष्ठ या षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती सुपात्र संयमी को यथाविधि प्रदत्त दान ही पुण्य का मार्ग है।

(2) जो आत्मशुद्धिपोषक दया है वह परमार्थिक है और जिसमें साध्य और साधन शुद्धि नहीं है, वह मात्र लौकिक है।

(3) मिथ्यादृष्टि के दान, शील, तप आदि अनवद्य अनुष्ठान मोक्ष प्राप्ति के ही हेतु हैं और निर्जरा धर्म के अन्तर्गत हैं।

इस सम्प्रदाय में एक ही आचार्य होता है और उसी का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होता है। इससे संघ में फूट नहीं हो पाती। अभी तक तेरापन्थ के आठ आचार्य हो चुके हैं—भिक्षु (भीखम), भारमल, रामचन्द्र, जीतमल, मल्लवागणी, माणकगणी, डालगणी,

और कालूगणी । इसी श्रृंखला में आचार्य तुलसी जी नवम् आचार्य हैं ।

तेरापन्थ की संघ व्यवस्था विशेष प्रशंसनीय है । उदाहरणतः (1) साधु के भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति का सामुदायिक उत्तरदायित्व संघ पर है । (2) प्रति वर्ष साधु-साध्वियाँ आचार्य के सान्निध्य में एकत्रित होकर अपने-अपने कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हैं और आगामी वर्ष का कार्यक्रम तैयार करते हैं । इसे मर्यादा महोत्सव कहा जाता है । (3) संघ में दीक्षित करने का अधिकार मात्र आचार्य को है, अन्य किसी को नहीं ।

इस व्यवस्था से संघ का एक ओर जहाँ सामुदायिक विकास होता है वहाँ वैयक्तिक विकास की भी संभावनाएँ

अधिक बन जाती हैं । विकास में बाधक होती है रुढ़िया जो तेरापन्थ में यथा समय भग्न होती चली जाती हैं । आचार-विचार की दिशा में भी यह पन्थ आगे हैं ।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद जैन संघ और सम्प्रदाय अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गया । पर उनका आचार-विचार जैन धर्म के मूल रूप से बहुत दूर नहीं रहा । इसलिए उनमें वह-हास नहीं आया जो बौद्धधर्म में आ गया था । जैन संघ की यह विशेषता जनेतर संघों की दृष्टि से निःसंदेह महत्वपूर्ण है ।



भगवान महावीर का अपरिग्रह

एक दार्शनिक विवेचन

प्रो० श्रीचन्द्र जैन

संग्रह—एक चिरंतन प्रवृत्ति—

अनादि काल से मनुष्य संचय एवं संग्रह की ओर आकर्षित होता चला आ रहा है। केवल आकर्षण ही नहीं अपितु विविध प्रकार के संग्रहों में इस मानव ने स्वयं को इतना संलग्न कर रखा कि वह अपने उदात्त अस्तित्व को भूला एवं अपनी आध्यात्मिक चेतना को भी विस्मृत कर बैठा इस संदर्भ में उसने गुरुओं से बहुत कुछ सुना सांसारिक परिवर्तनों ने उसे अनेक बार झकझोरा, स्वानुभूति के आलोक में उसने अपनी कमजोरियों को विविध रूपों में परखा अपने साथी के सम्पर्क में आकर अपनी भूलों को भी पहचाना तथा धार्मिकता एवं सामाजिकता के आदान-प्रदान में धनादि की संग्राहक अनुभूति की निस्सारता को अनुभूत किया, फिर भी वह अपनी ललक लालसा की उपेक्षा

न कर सका। अपने खुले नेत्रों से इसी मानव ने धनवान् की प्रतिष्ठा देखी, दीन-हीन का अनादर देखा और श्रीमान के अत्याचारों से प्रपीड़ित कराहती हुई मानवता को एक बार नहीं अनेक बार देखा। धन-वैभवादि की निन्दा करने वाले उन विद्वानों को जब इस इन्सान ने धनवानों के प्रशस्ति गान में संलग्न पाया तो उसका अपरिग्रहवादी उन्मेष बालुका-निर्मित भित्ति की भांति शीघ्र बिखर गया। तथ्य तो यह है कि सांसारिक जीवन यापन में धनादि की आवश्यकता अनिवार्य है फिर भी इनके प्रति अमर्यादित मुद्रता अक्षम्य है।

मर्तृहरि जैसे अनुभवी मनीषी का यह कथन कि सभी गुण सुवर्ण (धनादि) में रहते हैं सार्गभौमिक सत्य की परिधि में नहीं माना जा सकता है,¹ धन-संग्रह की यह एकदेशीय उपयोगिता कही जायगी।

1. यस्यातिवित्तं स नरः कुलीनः स पंडितः स श्रुतबान्गुणजः।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।

— सभी गुण सुवर्ण में निवास करते हैं। (क्योंकि) जिसके पास धन है वही आदमी आदमी अच्छे कुल का है, वही विद्वान, वही शास्त्रज्ञ और गुणों का पारखी है, वही भाषण देने में कुशल है और उसी का दर्शन करना चाहिए। (मर्तृहरि कृत शतकत्रयम्, अनुवादक श्रीकांत खरे, नीति शतकम्, पृष्ठ 34)

परिग्रह—एक मानसिक संघर्ष—

सैतान की एक अनुकृति है, परिग्रह पशुता है, उल्लंघन है, संग्राम है, शोषण है, अनर्थ है, संकीर्णता है, कालिमा है, विष है, मदिरालय है और माया का जघन्यरूप है।

परिग्रही का आचरण इतना हेय होता है कि सर्व-साधारण में भी उसकी प्रतिष्ठा कलंकित हो जाती है और उसका आचरणजन्य घेराव उसकी आत्मिक-शक्ति को कुंठित कर देता। फलतः उसका मानसिक तनाव इतना असंतुलित हो जाता है कि वह स्व पर का विभेद भी भूल उठता है। उल्लंघनों से लिपटा हुआ उसका चिन्तन संकीर्ण होकर अनेक अनर्थों को जन्म देता है और पाप कालिमा से कलुषित उसकी जीवन सरिता कुंठित धूमिल हो जाती है। परिग्रही की घन लिप्सा पशुता का ही दूसरा रूप है, जिसमें न करुणा है और न उदारता। भोगों के जाल में आवद्ध ऐसा संग्राहक विषय बासना की कल्पित पूर्ति में ही अपने लक्ष्य की समाप्ति मान लेता है जो उसके पतन का प्रारम्भिक एवं चरम रूप दोनों ही हैं।

सम्पूर्ण ग्रन्थियों का आगार यह अनावश्यक संग्रह यद्यपि कांचन-आकर्षण अवश्य है लेकिन इसकी चरमोवलब्धि घृणित मृत्यु मानी गई है।

सब पापों का मूल परिग्रह—

विश्व में जितने अनर्थ पाप दुष्कर्म होते हैं उनका एक मात्र कारण परिग्रह है। इसी घन घान्यादि के अनावश्यक संग्रह संचय ने इस पुष्प भूमि को नरकीय रूप में परिवर्तित कर दिया है। आज नहीं अपितु एक बड़े समय से इंसान अर्थ लोलुपता के कारण अपना सब कुछ भूल चुका है। छोटे-बड़े संचय इसीलिए हो रहे हैं, कि मनुष्य अपनी लालसा बढ़ाता जा रहा है और बढ़ती हुई उसकी कामना जब अपूर्ण रह जाती है तब वह हिंसा करता है मिथ्या बोलता कुकर्म करता, चोरी करके धनादि को

एकत्रित करता हुआ व्यभिचारी तक बन जाता है। गंभीरता से विचार करते पर यह सत्य हमें प्रभावित करता है कि अपरिग्रही ही सच्चा जैन बनता है। मानव कहलाता है और सद्गुणी बनकर विश्व की धरती पर सम्मानित होता है। सन्तोष की उपलब्धि का अर्थ है कि मानव के मानस में संचय की भावना नहीं है।

भगवान महावीर का कथन है—

संगनिमित्त मारइ, मणइ अत्नीअं करेइ चोरिवकं ।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमोण कुणइ जीवो ॥

जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता, चोरी करता है। मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। (इस प्रकार परिग्रह पाँचों पापों की जड़ है।)

राग द्वेष की अग्नि को प्रज्वलित करने वाला यह परिग्रह ही है जिसने यत्र-तत्र सर्वत्र विभीषिका के अशोभनीय दृश्यों को अधमाधम धरातल पर प्रदर्शित किया है। कविवर स्व० दुष्यंतकुमार की ये पंक्तियाँ समाज के रक्तरंजित इतिहास के काले पन्नों को हमारे आगे विचारार्थ रख रही हैं। इनमें दर्द है, वेदना है दीन की चीरकार है और शोषण का आर्तनाद है:—

कैसे मंजर सामने आने लगे हैं,

गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं ।

अब नयी तहबीज के पेशे नजर हम,

आदमी को भूनकर खाने लगे हैं ।

मूर्च्छा ही परिग्रह है

लालसा, ललक, आकांक्षा, उन्माद, माया, लोलुपता आदि को मूर्च्छा कहा गया है। इसीलिए एक अर्द्धनग्न बनवासी अपरिग्रही नहीं है क्योंकि उसके मानस में धनादि के संग्रह की कामना भावना निरन्तर जीवित

रहती है जो अपूर्ण होने के कारण उसकी विह्वलता को दहकाती है। इसके विपरीत एक नृपति जो विशाल वैभव का स्वामी है। जो राज्यश्री से असंप्रक्त है उसे अपरिग्रही कहा गया है। इस संबंध में अनेक धार्मिक कथाओं को प्रस्तुत किया जा सकता है। मोक्ष शास्त्र के सप्तम अध्याय में वर्णित है—

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। मूर्च्छा का अर्थ है— बाह्य धन, धान्यादि तथा अन्तरंग क्रोधादि कषायों में वे मेरे हैं ऐसा भाव रहना।^१

चार संज्ञाओं में परिग्रह संज्ञा को भी परिमेणित करके तत्त्वार्थ सार में बताया गया है कि अन्तरंग में लोभ कषाय की उदारणता होने से तथा बहिरंग में उपकरणों के देखने, परिग्रह की ओर उपयोग जाने तथा मूर्च्छाभाव—ममता भाव के होने से जो इच्छा होती है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा दशम गुणस्थान तक होती है। (देखिए श्रीमदमृतचन्द्र सूरि कृत तत्त्वार्थ सार, सम्पादक—पंडित पञ्चालाल साहित्याचार्य, पृ. 46)

परिग्रह का संघन होकर यदि इसका आवश्यकता-नुसार वितरण होता रहे तो संसार की विषमता शीघ्र समाप्त होगी और संघर्षों में खनखनाते हुए तड़ितड़ाते हुए अस्त्र-शस्त्रों का प्रलाप समाप्त हो जावेगा। अन्यथा यह विरोध कभी न समाप्त होगा और सदा भवातुरता व्याप्त रहेगी। कविवर दिनकर की ये चार पंक्तियाँ परिग्रह से आतंकित बेचैनी को उधाड़ती हैं उजागर करती हैं :—

जब तक मनुज-मनुज का यह,
सुख भोग नहीं कम होगा।
शांत न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा।

परिग्रह के भेद :

परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यांतर और बाह्य आभ्यांतर परिग्रह चौदह प्रकार का है : 1. मिथ्यात्व, 2. स्त्रीवेद, 3. पुरुषवेद, 4. नपुंसकवेद, 5. हास्य, 6. रति, 7. अरति, 8. शोक, 9. भय, 10. जुगुप्सा, 11. क्रोध, 12. मान, 14. माया, 14. लोभ।

बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है :—

1. खेत, 2. मकान, 3. धन-धान्य, 4. वस्त्र, 5. भाण्ड, 6. दास-दासी, 7. पशु, 8. धान, 9. शय्या, 10. आसन। (दृष्टव्य—समण सुत्त, पृष्ठ 47)

आन्तरिक शुद्धि और बाह्य शुद्धि के लिए दोनों प्रकार के परिग्रह का क्रम से परित्याग आवश्यक है। लेकिन आभ्यांतर परिग्रह के त्याग से बाह्य आडम्बर (परिग्रह) के प्रति अनुरक्ति स्वतः नष्ट हो जाती है।

मानसिक परिशुद्धि, आत्मोत्थान के लिए सर्वदा वाञ्छित कही गई है।

अविनश्वर विश्रान्ति के हेतु इन्द्रियनिग्रह प्रमुख साधन है तथा एतदर्थ परित्याग सर्वप्रधान है। कहा गया है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ (परिग्रह) से मुक्त, शीतीभूत प्रसन्न चित्त श्रमण जैसा मुक्तिमुख पाता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता।

2. तत्त्वार्थसार में भी इसी तथ्य को इस प्रकार प्रमाणित किया गया है :—

ममेदमिति संकल्प रूपः मूर्च्छा परिग्रहः ॥ ७७.१

—‘यह मेरा है’ इस प्रकार के संकल्प रूप मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

जैसे हाथी को वश में रखने के लिए अंकुश होता है, और नगर की रक्षा के लिए खाई होती है वैसे ही इन्द्रिय-निवारण के लिए परिग्रह का त्याग (कहा गया) है। असंगत्व (परिग्रह-त्याग) से इन्द्रियाँ वश में होती हैं।

(समण सुत्त पृष्ठ 47)

माया का त्याग—संतोष से अनुराग

परिग्रह-त्याग का वास्तविक अर्थ है माया से विराग। यही माया है जिसने ब्रह्माण्ड की शान्ति को कुंठित कर दिया है, पंगु बना दिया है और अहंनिश इस विश्रान्ति के आंगन में प्रस्फुटित कोमल अंकुरों को यही विधातिनी तोड़ रही है। यही लोभ—आसक्ति समत्व की विरोधनी है, समता की नाशिनी है, नरक का द्वार है। संसार के समस्त संतों ने इसी-लिए माया का तिरस्कार किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में (अध्याय 16) कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

हे अर्जुन ! काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के द्वार आत्मा का नाश करनेवाले हैं। अर्थात्

अर्धोगति में ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

माया के विविध रूपों को वर्णित करके संत कवि कबीर ने इसे पापणी कहा है।

माया तजु तजी नहि जाई ।

फिरि फिरि माया मोहि लपटाई ॥

माया आदर माया मान ।

माया नहीं तहं ब्रह्म गियाल ॥

माया रस माया कर जान ।

माया कारनि तज परान ॥

माया माता माया पिता ।

अति माया अस्तरी सुता ॥

माया मारि करे व्योहार ।

कहे 'कबीर' मेरे राम अघार ॥

कबीर माया पापणी, हरि सूं करे हराम ।

मुखि कड़ियाली कुमति की कहण न देई राम ।

(कबीर ग्रन्थावली)

आशारूपी नदी की जननी यही माया है और

इसे जिस महानानव ने 'संतोष' के माध्यम से जीता है—पार किया है—वही धन्य है।³ आत्म संतुष्टि का नाम

3. मोह से महान ऊँचे परबत सों डर आई,
तिहूँ जगमूतल को पाय बिस्तरी है ।
विविध मनोरथ में भूरि जल भरी वहै,
तिसना तरंगिनसों आकुलता धरी है ।
परै भ्रम भीर जहाँ राग सो मगर तहाँ,
चिता चित तट हुंग धर्म वृक्ष डाय परी है ।
ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध,
ताको धन्य साधु धीरज जहाज चढ़ि तरी है
(जेन शतक छंद 76)

ही संतोष है। इससे निर्लोभ की भावना बलवती होती है, दया की वृद्धि होती है, और उदारता में सत्व का अनुभव होने लगता है। यही सन्तोष अनन्त कामना को समाप्त करता है और आत्मा में ही विराट् विश्व की कल्पना को साकार बनाता है। सन्तोष ही परम सुख है। अतः परिग्रह के परित्याग में इसी गुण (सन्तोष) का विशेष महत्व है। आशा तृष्णा को निर्मूल करनेवाला सन्तोष ही है जो आत्म चिंतन को सफल बनाकर नर को नारायणत्व प्रदान करता है। कविवर बनारसीदास का निम्नस्थ पद यहाँ उल्लेख्य है :—

रे मन, कर सदा संतोष,
जातें मिटत सब दुःख दोष ।
रे मन कर सदा संतोष ।

बढ़त परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तिसना होति ।
बहुत ईधन जरत जैसे, अग्नि जैसी ज्योति,
रे मन, कर सदा संतोष ।

लोभ लालच मूढ़ जन सो कहत कंचन दान ।
फिरत आरत नहि बिचारत, धरम धन की हान ।
रे मन कर सदा संतोष,

नारकिन के पादसेवत सकुच मानत संक ।
ज्ञान करि बूझैं 'बनारसि' को नृपति को रक ।
रे मन, कर सदा संतोष ।
आध्यात्म-पदावली, पृष्ठ : 05 ।

स्व-पर-भेद का प्रकाशक संतोष है जिमने—संतोष ने—मायाजनित विकारों को नष्ट किया एवं मन के समस्त दोषों का परिमार्जन कर उसे (मन को) शुद्ध चिंतन में लगाया है।⁴ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विनय

पत्रिका के अनेक पद इस सदर्थ में पठनीय हैं। काम-नाओं को त्याग करनेवाला संतोषी ही है जिसे अपरिग्रही भी कहा गया है। भगवान महावीर ने कहा है—

कामे कमा ही कमियं खु दुखं ।'

जो कामनाओं को त्याग देता है वह समस्त दुःखों से छुटकारा पा लेता है। क्योंकि :—

इच्छा हु आमास समा अणंतिया । उक्त०

इच्छाएँ (कामनाएँ) आकाश के समान अनंत हैं, एवं इनकी पूर्ति असंभव है। एक ही पूर्ति दूसरी (कामना) को जन्म देती है।

एक संत कवि का यह दोहा सन्तोष की व्याख्या में पर्याप्त है :—

भोधन, गजधन, रत्नधन, कंचन खान सुखान ।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूल समान ॥

गोस्वामी तुलसीदास संतोष की महिमा अंकित करते हुए कहते हैं—

संतोष के बिना कोई भी आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

सोरठा—

कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु ।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मगिअ।

(दोहावली 275)

स्व-भाविक संतोष के बिना क्या कोई शान्ति पा सकता है? चाहे करोड़ों प्रकार से जतन करते-करते

4. माया मरी न मन मरा, मर मर गया शरीर ।
आशा तृप्तिना ना मरी, सो कह गए दास कबीर ।
—संत कबीर

मर जाय, जल के बिना सूखी जमीन पर क्या कभी नाव चल सकती है ?

‘जैन धर्माभूत’ में कहा गया है कि जिस पुरुष को संतोष रूपी आभूषण प्राप्त है उसके समीप में सदा निधियाँ विद्यमान रहती हैं, कामधेनु अनुगामिनी बन जाती है और अमर किकर बन जाते हैं :-

सन्निधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी ।

अमराः किङ्करायन्ते संतोषो यस्य भूषणम् ।

(चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ 135)

प्राणी की तृप्ति होना असंभव सा है’ जैसे ईंधन से अग्नि की, और हजारों नदियों से लवण समुद्र की तृप्ति नहीं होती, वैसे ही तीन लोक की सम्पत्ति प्राप्त हो जाने पर भी जीव की तृप्ति नहीं होती । यह असाध्य रोग संतोष से ही साध्य बनता है और शनैः शनैः निर्मूल हो जाता है ।

भगवान् महावीर ने कहा है कि कामना और भय से अतीत होकर यथालाभ संतुष्ट रहनेवाले मेधावी पाप नहीं करते :-

मेहाविणो लोभ भयावईया संतोषिणो व पकरेंति पावं ।

संतप्रवर गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी संतोष वृत्ति की कामना की है :-

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगे ।

श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तैं संत-सुभाव गहौंगे ।

जथा लाभ संतोष सदा, काहूँ सों कछु न चहौंगे ।

परहित-निरत निरन्तर, मन क्रम वचन नेम निवहौंगे
परिहरि देह जनित चिंता, दुःखमुख समधुद्धि सहौंगे
तुलसीदास प्रभु यह पथि रहि, अविचल हरिभक्ति लहौंगे

(विनय पत्रिका पद 172)

स्वाहित एवं राष्ट्र-हित में परिग्रह-मर्यादा आवश्यक हैं ।

परिग्रह-परिधि के लिए हमें सदा सजग रहना चाहिए । यह सर्वमान्य है कि जैन श्रावक -- गृहस्थ के लिए धन-धान्यादि की आवश्यकता निरन्तर रहती है । फिर भी उनका परिमाण निश्चित होना जरूरी है । दिगम्बर मुनि-साधक के लिए तो पूर्णरूपेण अपरिग्रही होना परमावश्यक है ।⁵

उसे परिग्रह त्याग महाव्रती होना, जरूरी है -- अन्यथा उसका स्वरूप ही कलंकित हो जायगा । बाह्य परिग्रह का दिगम्बर साधु त्यागी रहता ही है और साथ ही साथ आभ्यांतर परिग्रह के परित्याग में वह सदैव संलग्न माना गया है । जैन मुनि की इस साधना में न अतिचार आना चाहिए और न अनाचार । लेकिन जैन श्रावक के लिए परिग्रह परिणाम व्रत का विशेष महत्व है । कहा भी है :-

धन-धान्य आदि बाह्य दस प्रकार के परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक वस्तुओं में निस्पृहता रखना सो इच्छा परिमाण नामका पांचवा परिग्रह परिमाण व्रत है ।

5. चेतनेतर बाह्यान्तरग विवर्जनम् ।

ज्ञान संयमसंगो वा निर्ममस्त्वमसंगता । (जैन धर्माभूत पंचम अध्याय)

चेतन और अचेतन तथा बाह्य और अन्तरंग सर्व प्रकार के परिग्रह को छोड़ देना और निर्गमत्व भाव को अंगीकार करना अथवा ज्ञान और संयम का ही संगम करना सो असंगता नामक परिग्रह त्याग महाव्रत जानना चाहिए ।

धन्य-धान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता ।
परिमित परिग्रहः स्याद्विच्छा परिमाण नामापि ।
(जैन धर्माभूत, चतुर्थ अध्याय)

इसी प्रकार प्रत्येक श्रावक को यह जानना चाहिए कि संसार के मूल कारण आरम्भ हैं, और इन आरम्भों का मूल कारण परिग्रह है। इसलिए श्रावक को चाहिए कि वह अपने परिग्रह को दिन प्रतिदिन कम करता जावे ।

संसार मूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः ।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्यं परिग्रहम् ।
(जैन धर्माभूत, चतुर्थ अध्याय, 72)

जैन धर्म विश्वधर्म है और इसका प्रत्येक सिद्धांत जन-जन का हितकारी है, कल्याणकारी है मंगलकारी है । हर एक जैन साधक देव पूजा में लोक कल्याण की कामना करता है ।¹⁶ तथा मानव-समाज में कल्पित भेद-भाव को भूल कर प्राणी मात्र के हित में अपने जीवन को समर्पित करने का संकल्प करता है । ऐसी स्थिति

में दूसरों को पीड़ित कर अन्य के देय को हड़पकर, दीन की कुटिया को नष्ट कर एवं जनता की हरी-भरी कामना को मिटाकर अपना महल बनाना, गुप्त गृहों को धन-धान्यादि से भरना, अपने परिवार के सदस्यों को सोने-चाँदी के आभूषणों से अलंकृत करना तथा रेशमी गद्दों पर लेटकर अपनी थकान मिटाना कहाँ तक उचित है ? लोक कल्याण में संलग्न हमारी माननीया प्रधान मंत्री के बीस सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम की पूर्ण सफलता भगवान महावीर के परिग्रह में ही सन्निहित है । प्रत्येक भारतीय को इस पर विचार करना चाहिए— बाँट के खाइए, बैकुंठ जाइए—यह एक ग्रामीण कहावत है, जिनमें जन कल्याण की भावना मुखरित हुई है । एक दूसरी कहावत है जिसका भाव है कि जो दूसरों के हाथ से छीनकर खाता है, वह नरकगामी होता है । इसलिए हमें कामनाओं को कम करके दूसरों के दुख दर्दों की चिन्ता करनी चाहिए, अन्यथा मनुष्य एवं पशु में क्या भेद है ?

परिग्रह परिमाण पाँच अणुव्रतों में अंतिम है और चार व्रतों का संरक्षण करना एवं बढ़ाना इसके अधीन

6. (क) होवें सारी प्रजा को सुख बलयुत धर्म धारी नरेशा ।
होवें वर्षा सम पै तिलभर न रहै ब्याधियों का शन्देसा ।
होवें चोरी न जारी सुसमय वरतें हों न दुस्काल भारी ।
सारे ही देश धारें जिनवर वृषको जो सदा सौख्यकारी । (शांतिपाठ)
- (ख) सत्त्वेषुमैत्री गुणीषु प्रमोदं ।
विलष्टेषु जोबेषु कृपादरत्वं ।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ ।
सदा ममात्मा बिदधातु देव ॥ (सामयिक पाठ)
- (ग) मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहै ।
दीन दुखी जीवों पर मेरे उर से कृपा खोत बहै ।
दुर्जन-क्रूर कुमार्ग रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवै ।
साम्य भाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावै । (मेरी भावना)
- (घ) परस्परपग्रहो जीवानाम् । (जैन धर्म का प्रमुख सिद्धांत—तत्त्वायंसूत्र)

है। परिग्रह को घटाने में हिंसा, असत्य, अस्तेय, कुशील, इन चारों पर रोक लगती है। इस व्रत के परिणामस्वरूप जीवन में शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है। निश्चिन्ता और निराकुलता आती है। ऐसी स्थिति होने से धर्म क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है। इस व्रत के ये वैयक्तिक लाभ हैं। किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है। आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, इस व्रत का पालन न करने का ही परिणाम है। आर्थिक वैषम्य इस युग की एक बहुत बड़ी समस्या है। आज कुछ लोग यंत्रों की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते हैं तो दूसरे लोग धनभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने से भी वंचित रहते हैं। उन्हें पेट भर रोटी, तन ढँकने को वस्त्र और औषधि जैसी चीजें भी उपलब्ध नहीं। इस स्थिति का सामना करने के लिए अनेक वादों का जन्म हुआ है। समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद आदि इसी के फल हैं। प्राचीन काल में परिग्रह वाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जाता था। अतएव अगर परिग्रह व्रत का व्यापक रूप में प्रचार और अंगीकार हो तो न अर्थ-वैषम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे और न वर्ग-संघर्ष का अवसर उपस्थित हो।⁷

सब इस तथ्य से परिचित हैं कि यह सब बाह्य वैभव है, क्षणिक है और मृत्यु होने पर मानव की आत्मा एकाकी हो जाती है। अन्यायोपाजित सब द्रव्यादि यहीं पर पड़े रहते हैं, फिर भी मोहवश मनुष्य उन्मत्तवत् इस व्यापक तत्त्व से अज्ञात सा रहता है। श्मशान वैराग्य

कुछ क्षणों के लिए अवश्य कभी-कभी मानव चेतना को सजग बनाता है लेकिन यह सजगता निरर्थक ही रहती है। वस्तुतः यह कितनी बड़ी मूढ़ता है कि संचय संग्रह के दुष्परिणामों को हम निरर्थक प्रति देख रहे हैं फिर भी पशु के समान पारस्परिक विद्वेष बढ़ाकर संग्रह में हम लीन हैं।

यदि हम मानव हैं, अमीर-गरीब की खाई को पाटना चाहते हैं, दीन-हीन के भेद को मिटाना चाहते हैं तो हमें अपरिग्रह को शीघ्र अपना लेना चाहिए, अन्यथा परिणाम बड़े दुःखद होंगे। समाजवाद के प्रति भारतीय जनता विशेषतः आकर्षित है, यह आकर्षण सर्वथा उचित है, यह वाद शोषण में मुक्ति दिलाता है, सबको भरपेट रोटी देता है अत्याचारों एवं अनाचारों से प्रपीड़ित जन को सुख की सांसे लेने का पूरा अवसर देता है और समानता की भावना को निरंतर मूर्त रूप देता रहता है। इसके (समाजवाद) अन्तर्गत सब को समान अधिकार प्राप्त होते हैं सब अपनी योग्यतानुसार कार्य करने के लिए साधन सम्पन्न कराये जाते हैं तथा आर्थिक दृष्टि से सब में एकरूपता लाने का सफल प्रयास किया जाता है वस्तुतः यह वाद भारत के लिए वरदान के रूप में धरेण्य है।⁸

ऐसे तो अपरिग्रह सभी धर्मों का आवार है। अपरिग्रह कहने से नहीं करने से होता है। समाज के सभी धर्मों में अपरिग्रह की साधुओं और गृहस्थों के लिए अलग-अलग व्याख्याएं हैं। हमें व्याख्या करनी है अपने लिये ना कि दूसरों के लिए अपरिग्रह के लिए प्रथम बात है कि इच्छा को जैसे चाहे मोड़े, बुरी इच्छा न करें और यदि सदिच्छा भी करें तो उसे परमित ही रखें

7. आचार्य—श्री हस्तीमल जी, म. सा.—परिग्रह-मर्यादा, व्यक्ति और समाज के संदर्भ में, जिनवाणी, मार्च 1976 से साभार.

8. समाजवाद में उत्पादन, वितरण एवं उपभोग पर सामाजिक नियंत्रण होता है।

अपरिग्रह की व्याख्या है कि कोई भी अपनी जरूरत से ज्यादा न रखे...अपरिग्रह का सिद्धान्त समाजवाद से भी आगे है। जहाँ समाजवाद की सीमा है उससे आगे अपरिग्रह है समाजवाद अपरिग्रह में ही निहित है, अपरिग्रह का लक्ष्य है भगवान और मनुष्य को एक बनाना। धर्म क्या है? धर्म एक है, मानव धर्म, मानव धर्म कि मनुष्य मनुष्य का शोषण न करें समाज में ऊँच नीच का भेद न हो। आर्थिक असमानताएं कम हों, समाजवाद में सब मनुष्य समान होते हैं। इस प्रकार अपरिग्रह और समाज का अटूट सम्बन्ध है समाजवाद लोकतांत्रिक तरीके से आता है तानाशाही से नहीं।⁹

धन शाप है वरदान नहीं

सांसारिक संघर्ष का प्रमुख कारण धन है जिसके लिए पिता पुत्र की हत्या करता है, पति पत्नी को मृत्यु के मुख में डालता है, और भाई बहन के गले को दबाते हुए भी नहीं हिचकता है। एक अंग्रेजी कहावत है जिसमें कहा गया है कि धन ही सब अनर्थों की जड़ है। इस धन अर्जन में दुःख है संरक्षण में कष्ट है तथा इसके व्यय में वेदना होती है इसलिए यह धन निरंतर पीड़ा दायक है इसमें सुख कहाँ?

अर्थानामर्जने दुःखं अजितानाञ्चरक्षणे ।

आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं शोक भाजनम् ॥

एक संस्कृत कवि

धन का सदुपयोग यही है कि हम इसका संचय न करें अपितु जरूरतमंदों में इसे बाँट दें:—

पानी बाढ़े नाब में, घर में बाढ़े दाम ।

दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥

निश्चयतः धन विष है कामना की अतृप्ति है, और माया का मोहक रूप है।

भगवान महावीर ने कहा —

(१)—मुच्छा परिग्रहो वृत्तो ।

(वस्तु के प्रति रहे हुए ममत्व भाव को परिग्रह कहा है।)

(२) वितोण ताणं न लभे पमत्ते

इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।

(प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ही।)

(३) नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि,

सव्व जीवाणं सव्व लोए ।

(विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नहीं बंधन नहीं।)

(४) बहु पि लद्धुं न तिहे

परिग्रहाओ अप्पाणं अवसविकज्जा ।

(बहुत मिलने पर भी संग्रह न करे। परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे।)

(५) जया निव्विदए भोगे, जे दिव्वे जे य माणुसे ।

तया चयइ संजोगं, सन्निभतर-बाहिरं ।

(जब मनुष्य दैविक और मानुषिक (मनुष्य संबंधी) भोगों से विरक्त हो जाता है, तब आभ्यन्तर और बाह्य-परिग्रह को छोड़कर आत्म साधना में जुट जाता है।)

(६) जे पावकम्महि धणं मणूसा,

समायन्ती अमयं गहाय ॥

9. मोरारजी देसाई—समाजवाद—अपरिग्रह के सिद्धान्त में निहित—‘तीर्थंकर’, जून 1972., पृष्ठ 37.

पहाय ते पास पर्याप्तिए नरे ।
वेराणुवद्धा नरयं उगेंति ॥

(जो मनुष्य धन को अमृत मानकर अनेक पाप कर्मों द्वारा उसका उपाजन करते हैं, वे धन को छोड़कर मौत के मुँह में जाने को तैयार हैं, वे बैर से बंधे हुए मरकर नरकवास प्राप्त करते हैं ।)

(7) परिग्रहं निदिठ्ठाणं, वैरं तेसि पवड्ढई ।

(जो परिग्रह संग्रह वृत्ति में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति बैर की ही अभिवृद्धि करते हैं ।)

(8) थोवाहारो थोवभणिओय, जो होइथोवनिछोय
थोवोवहि उवगरणो, तत्स हु देवा वि पणमंति ।

(जो साधक मिताहारी, मित-भाषी मित-शाधी और मित परिग्रही है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।)

(9) जे ममाइअ मइ जहाइ से जहाइ ममाइअ ।

(जो साधक अपनी ममत्व बुद्धि का त्याग कर सकता है वही परिग्रह का त्याग करने में समर्थ हो सकता है ।)

(10) एतदेव एगेसि महम्मयं भवइ ।

(परिग्रह ही इस लोक में महामय का कारण होता है ।)

(11) लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामाव ।

(संग्रह करना, यह अंदर रहने वाले लोभ की शलक है ।)

(12) मा नो द्विक्षत कश्चन ।

(हम किसी से द्वेष न करें)

(13) नाञ्जामञ्जस्स दुक्खमिच्छेय ।

(कोई भी किसी दूसरे के लिये दुःख की इच्छा न करें ।)

(14) सव्वे सत्ता अवेरिनो होन्तु मा वेरिनो ।

(सभी व्यक्ति अबैर बनें कोई भी किसी के साथ बैर न रखें ।)

(15) सव्वे सत्ता भवन्तु, सुख वत्ता ।

(संसार के सभी जीव सुखी हों, सुखी रहें !)

(श्री गणेश मुनि शास्त्री, सं.-भगवान महावीर के हजार उपदेश)

यह शरीर भी परिग्रह है

जिस शरीर के लिये इतने अधिक आडम्बर एकत्रित किए जाते हैं तथा जिसकी संरक्षा के हेतु रात-दिन चिंतित रहना पड़ता है वह तन भी कम विधातक नहीं है । करोड़ों के सौन्दर्य प्रसाधन इसी देह की कमनीयता की बुद्धि को अधिक आकर्षक बनाने के लिए खरीदे जाते हैं । इस भौतिक युग में चंचल तरुणाई अधिक भ्रमित है जिसका कारण शारीरिक सुन्दरता कही जा सकती है ।

भगवान् महावीर ने परिग्रह को तीन रूपों में विभाजित किया है जिसमें शरीर को भी परिग्रह बताया गया है

कर्मपरिग्रह, शरीरपरिग्रह, बाह्यभण्ड-मात्र-उपकरण परिग्रहः—

तिविहे परिग्रहे पण्णत्ते, त जहाकम्म—परिग्रहे,
बाहिर भंडमत्त परिग्रहे ।

परिग्रही नरक में जाता है

अर्थात् संग्रह में लोलुपी जितना पर-पीड़न करता है उससे हजार गुना कष्ट उसे भोगना न्यायतः समुचित

ही है। इसलिए परशोधक को नारकीय जीवन रो-रो कर बिताना ही चाहिए अन्यथा शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफलन कैसे प्रमाणित होगा। आचार्य श्री उमा-स्वामी ने मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के अध्याय 6 में कहा है कि बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्या युवः। बहुत आरंभ और परिग्रह का होना नरक आयु का अस्तित्व है। इसी प्रकार माया (छल-कपट) तिर्यञ्च आयु का आस्त्रव है:—माया तैर्यग्योनस्य (मोक्षशास्त्र अध्याय 6 सूत्र 16) निष्पक्ष विचारक इस मान्यता के पूर्ण समर्थक हैं कि परिग्रह जब स्वयं नरक है तब उसके स्नेही को पातकी बनकर नरक में रहना और तड़पना स्वाभाविक ही है।

वीर-युग-अनेक द्वन्दों का आतंक

महावीर के समय को यदि आत्मघातों कहा जाय तो कुछ सीमा तक अनुचित नहीं है। इस युग में मानवता खंडित थी, धर्मों के रूप प्रशस्तन, ये स्वार्थपूर्ण मनोवृत्तियाँ जन्तु के मानस की खसोट रही थीं एवं दीन अमीर का भेद व्यापकता ले चुका था। नारी का करुण क्रन्दन किसी हृदय को प्रभावित करने में असमर्थ था। दास दासियाँ बाजारों में मूक पशुओं की तरह खरीदे

और बेचे जाते थे। विलासता, वैभव का उच्छ्वसल ताण्डव नृत्य था। भगवान ने सामाजिक विषमता को समझा एवं उसके परिमार्जन में सफल प्रयास किये। (देखिए महावीर युग में समाज और धर्म की स्थिति लेखक डा० ज्योति प्रसाद जैन, भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ खण्ड 3, पृष्ठ 3।)

जिस प्रकार स्वस्थ शरीर के लिए शुद्ध आचार विचार आवश्यक है उसी प्रकार मानवता के उदात्त संरक्षण में अपरिग्रहवाद सर्वोपरि है। इस सृजनात्मक सत्य के दृष्टिकोण को भगवान ने भली भाँति अंगीकार कर अपरिग्रह की गरिमा को बहुरूपों में समाज के सन्मुख प्रस्तुत किया और कराहती हुई इन्सानियत को शुद्ध जिजीविषा प्रदान की। भगवान महावीर का यही अपरिग्रह है और यही जैन मत का मूलाधार है।

यदीया वांगंगा विविध-नय-कल्लोल-विमला ।
बृहद् ज्ञानाम्मोभिर्जगति जनतां या स्तपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालः परिचिता ।
महावीर स्वामी नयस-पथ-गामी भवन्तु तः ।

—पंडित भागचन्द्र महावीराष्टक.

□ □

जैन कर्म सिद्धान्त

श्यामलाल पाण्डवीय

भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही आध्यात्मिकता के अधिक निकट रही है। समय-समय पर अनेकों दिव्य एवं महान् आत्माओं द्वारा विभूषित इस देश का इतिहास धर्म एवम् दर्शन से अत्याधिक प्रभावित रहा है। भारतीय दर्शन के विविध पक्षों के रूप में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन में हमें मानव जीवन के प्रति विविध मतों के दर्शन होते हैं। इनमें से चार्वाक को छोड़कर अन्य समस्त भारतीय दर्शनों ने परलोक, पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष की धारणा को ग्रहण किया है। ये सभी मानते हैं कि मानव जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है।

शाब्दिक दृष्टि से कर्म के तीन अर्थ प्रमुख हैं। पहला—कर्म कारक; कर्म का यह अर्थ जगत प्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ है—क्रिया। इसके अनेक प्रकार हैं। सामान्यतः विविध दार्शनिकों ने कर्म के द्वितीय अर्थ को

आधार मान कर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। तीसरा अर्थ है—जीव के साथ बंधने वाले विशेष जाति के स्कन्ध। यह अर्थ अप्रसिद्ध है, केवल जैन सिद्धान्त ही इसका विशेष प्रकार से निरूपण करता है।

भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त —

न्याय दर्शन के अनुसार मानव शरीर द्वारा सम्पन्न विविध कर्म; राग, द्वेष और मोह के वशीभूत होकर किये जाते हैं। अच्छा आचरण पुण्य प्रवृत्ति है, जो धर्म को उत्पन्न करती है। धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप उत्पन्न होता है। धर्माधर्म को अदृष्ट भी कहते हैं। अदृष्ट कर्मफल के उत्पादन में कारण होता है। किन्तु अदृष्ट जड़ है और जड़ में फलोत्पादन शक्ति चेतन की प्रेरणा के बिना संभव नहीं है। अतः ईश्वर की प्रेरणा से ही अदृष्ट फल देने में सफल होता है।¹

1. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, प्रो. उदयचन्द्र जैन, जैन सिद्धान्त भास्कर—किरण १, प्र.—श्री देवेन्द्र कुमार जैन ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, आरा। पृ. ३८।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार अयस्कान्त मणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर की ओर चढ़ना, अग्नि की लपटों का ऊपर की ओर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की प्रथम परिस्पन्दात्मक क्रिया, ये सब कार्य अदृष्ट द्वारा होते हैं।²

सांख्य दर्शन के मत में—“क्लेश रूपी सलिल से सिक्ता भूमि में कर्म बीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान रूपी ग्रीष्म के कारण क्लेश जल के सूख जाने पर ऊसर जमीन में क्या कभी कर्म-बीज उत्पन्न हो सकते हैं।³

योग दर्शन के अनुसार पातञ्जल योगसूत्र में क्लेश का मूल कर्माशय वासना को बतलाया है।⁴ यह कर्माशय इस लोक और परलोक में अनुभव में आता है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार—प्रत्येक कर्म में अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। कर्म से अपूर्व उत्पन्न होता है, और अपूर्व से फल उत्पन्न होता है। अतः अपूर्व, कर्म तथा फल के बीच की अवस्था का

द्योतक है। शंकराचार्य ने इसीलिये अपूर्व को कर्म की सूक्ष्मा उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है।⁵

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से संसार का उदय होता है। विज्ञान दीपिका में यह बतलाया गया है, कि जिस प्रकार घर में तथा क्षेत्र में स्थित अन्न का विनाश विविध रूप से किया जा सकता है, किन्तु मुक्त अन्न का विनाश पाचन द्वारा ही होता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का अय भोग के द्वारा ही होता है।⁶

बौद्ध धर्म में भी, जो कि अनात्मवादी है कर्मों की विभिन्नता को ही प्राणियों में व्याप्त विविधता का कारण माना है। अंगुत्तर निकाय में सम्राट मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर में भिक्षु नागसेन कहते हैं—“राजन ! कर्मों के नानात्व के कारण सभी मनुष्य समान नहीं होते। भगवान ने भी कहा है कि मानवों का सद्भाव कर्मों के अनुसार है। सभी प्राणी कर्मों के उत्तराधिकारी हैं। कर्मों के अनुसार ही योनियों में जाते हैं। अपना कर्म ही बन्धु है, आश्रय है, और वह जीव का उच्च और नीच रूप में विभाग करता है।

2. मणिगमनं सूक्ष्मभिसर्पणं मित्य दृष्ट कारणम् ।—वे. सू. ५।१।१५
वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम् ।—वे. सू. ५।२।७
3. क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धि भूमौ कर्मबीजान्यंकुरं प्रसुवते ।
तत्त्वज्ञान निदाघणीतसकलक्लेशसलिलायां ऊषरायां कुतः कर्मबीजानामंकुरं प्रसत ।
—तत्त्व कौमुदी सांख्य का० ६७
4. क्लेशमूलः कर्माशयः दृष्टादृष्टवेदनीयः ।—योग सूत्र २।१२
5. न चाप्यनुत्पाद्य किमपि अपूर्वं कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति ।
अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्था अपूर्वनाभास्तीति तर्क्यते ।
—शा. भा. ३।२।४०
6. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन; पूर्वार्ध, पृ. ४०
7. “महाराज कम्ममं नानाकरणेन मनुस्सा न सव्वे समका । भासितं एतं महाराज भगवता कम्मस्स कारणेन भाणवसत्ता, कम्मदायादा कम्मयोनी, कम्मबन्धु कम्मपरिसरणा कम्मं सत्तो विभजति यदिद हीनप्पणीततायीति ।”
—अंगुत्तर निकाय

यही नहीं भारत के लगभग सभी प्रमुख धार्मिक ग्रंथों में कर्म सिद्धान्त की महत्ता तथा प्रकृति का यथा—संभव उल्लेख मिलता है। गीता का मान्य सिद्धान्त है कि—प्राणी को कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु कर्म के फल का त्याग करना चाहिये। प्राणी का अधिकार कर्म करने में ही है, फल में नहीं।⁸ महाभारत में भी आत्मा को बांधने वाली शक्ति को कर्म कहा है।⁹ गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरित मानस में कर्म को प्रधान कहा है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।

जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

इस प्रकार भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है। लगभग सभी दार्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार प्रकट कर इसे जीवन-दर्शन का प्रमुख आधार माना है।

जैन कर्म दर्शन—

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का जितना सविस्तार विवेचन किया गया है, वह अन्य दर्शनों में कर्म सिद्धान्त के विवेचन से कई गुना है। जैन बाइमय में इस संबंध में विपुल साहित्य भण्डार उपलब्ध है। प्राकृत भाषा का जैन ग्रंथ “महाबन्ध”, कर्म सिद्धान्त पर विश्व का सबसे बृहद ग्रंथ है, जिसमें चालीस हजार श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम, गोम्मटसूत्र कर्मकाण्ड, लब्धिसार तथा क्षणसासार आदि कर्म सिद्धान्त विषयक बृहद ग्रंथ हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म दर्शन को विशेष महत्व दिया गया है, तथा उसकी सूक्ष्म विवेचना की गई है।

‘कर्म’ का अर्थ —

भौतिक अर्थ की दृष्टि से तो कर्म का अर्थ वास्तव में क्रिया से ही सम्बन्धित है। मन, वचन एवं काय के द्वारा जीव जो कुछ करता है, वह सब क्रिया या कर्म है। मन, वचन और काय ये तीन उसके माध्यम हैं। इसे जीव कर्म या भाव कर्म कहते हैं, यहाँ तक कर्म की धारणा सभी को स्वीकार है। यह धारणा केवल संसारी जीवों की क्रिया पर ही विचार करती है, अर्थात् केवल चेतन की क्रियाएँ ही इसकी विषय वस्तु हैं, जड़ की क्रियाओं अथवा जड़ एवं चेतन की क्रियाओं में सम्बन्धों पर अन्य धारणाओं में विचार नहीं किया जाता, जैन दर्शन इन दोनों के सम्बन्ध में भी गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। इस कारण उसमें कर्म की व्याख्या अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। जैन दार्शनिक कर्म शब्द की भौतिक व्याख्या करते हैं।

परिभाषा एवं व्याख्या —

श्री क्षु. जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार¹⁰—“भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ पुद्गल स्कन्ध जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं और उसके साथ बंधते हैं, यह बात केवल जैनागम ही बताता है। यह सूक्ष्म स्कन्ध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहलाते हैं और रूप रसादि धारक मूर्तों के होते हैं। जैसे कर्म, जीव करता है, वैसे ही स्वभाव को लेकर द्रव्य कर्म उसके साथ बंधते हैं और कुछ काल पश्चात् परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं। उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते हैं। यही उनका फल-दान कहा जाता है। सूक्ष्मता के कारण वे दृष्ट नहीं हैं।”

8. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्तवकर्मणि ॥—भगवद्गीता २।४७
9. “कर्मणा बध्यते जन्तुविद्ययातु विमुच्यते”, महाभारत—शान्तिपर्व (२४०-७)
10. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा. १,—जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. २५

इस प्रकार जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि यदि 'कर्म' भौतिक स्वरूप का है, तो 'कारण' भी भौतिक स्वरूप का होगा। अर्थात् जैन धर्म यह मानता है कि—चूँकि विश्व की सभी वस्तुएँ सूक्ष्म स्कन्धों या परमाणुओं से बनी हैं, अतः परमाणु ही वस्तु का 'कारण' हैं और चूँकि परमाणु भौतिक तत्व है, अतः वस्तुओं के 'कारण' भी भौतिक तत्व हैं। इस सम्बन्ध में आलोचकों की इस आपत्ति का कि "अनेकों क्रियाएँ, यदा-सुख, दुःख, पीड़ा आदि विशुद्ध रूप से मानसिक हैं, इसलिये उनके कारण भी मानसिक होने चाहिये, भौतिक नहीं।" उत्तर देते हुए कहा है कि—ये अनुभव शारीरिक कारणों से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि सुख, दुःख इत्यादि अनुभव, उदाहरणार्थ—भोजन आदि से सम्बन्धित होते हैं। अभौतिक सत्ता के साथ सुख आदि का कोई अनुभव नहीं होता, जैसे कि आकाश के साथ।¹¹ अतः यह माना गया है कि—इन अनुभवों के पीछे 'प्राकृतिक कारण' हैं, और यही कर्म है। इसी अर्थ में सभी मानवीय अनुभवों के लिये सुखद या दुःखद तथा पसंद या नापसंद—कर्म जिम्मेवार हैं।¹²

इसी कारण विभिन्न जैन दार्शनिकों ने जीव के रागद्वेषादिक परिणामों के निमित्त से जो कामण वर्गणा रूप पुद्गल-स्कन्ध जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, उन्हें कर्म कहा है। आचार्य कुन्द-कुन्द के अनुसार—“जब रागद्वेष से युक्ता आत्मा अच्छे या बुरे कार्यों में

प्रवृत्त होता है, तब कर्म रूपी रज ज्ञानवरणादि रूप से आत्म प्रदेशों में प्रविष्ट होकर स्थित हो जाता है।¹³ श्री अकलंक देव ने कर्म की सोदहारण व्याख्या करते हुए कहा है कि—“जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गए अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मदिरा रूप में परिणमन होता है; उसी प्रकार, क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायों तथा मन, वचन और काय योग के निमित्त से आत्म प्रदेशों में स्थित पुद्गल परमाणुओं का कर्मरूप में परिणमन होता है।¹⁴

इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने कर्म की विषद् एवं सूक्ष्म व्याख्या की है जो अन्य दर्शनों में की गई व्याख्याओं से नितान्त भिन्न है। जहाँ अन्य दर्शन परिणमनरूप भावात्मक पर्याय को कर्म न कहकर केवल परिस्पन्दन रूप क्रियात्मक पर्याय को ही कर्म कहते हैं, वहाँ जैन कर्म सिद्धान्त इन दोनों को ही कर्म कहता है। जैन दर्शन में कर्म की यह व्याख्या अत्यन्त व्यापक है।

कर्म और आत्मा—

लगभग सभी दर्शन, जो कर्म की धारणा पर विचार करते हैं, कर्म को आत्मा से सम्बन्धित अवश्य मानते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धन से युक्त है, कर्म बन्धन जन्म जन्मांतर आत्मा को बांधे रहते हैं, इस दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। परन्तु एक दृष्टि से वह सादि भी है; जिस

11. 'कर्म ग्रन्थ', 1. ३

12. जैन दर्शन की रूपरेखा, एस. गोपालन, वाईली इस्टर्न लि., पृ. १५१.

13. परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोस जुदो।

तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहि ॥

—प्रवचन सार—२५

14. यथा भोजन विशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीज पुष्पलतानां मदिराभावेन परिमाणः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् परिमाणो वेदितव्यः।

—तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. २६४

प्रकार वृक्ष और बीज का सम्बन्ध सन्तति की दृष्टि से अनादि है, और पर्याय की अपेक्षा से वह सादि है। इसी प्रकार कर्मबन्धन सन्तान या उत्पत्ति की दृष्टि से अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि है। जैन दर्शन में कर्म और आत्मा के सम्बन्ध में इस व्याख्या के कारण ही आगे चलकर उसे वैज्ञानिक रूप दिया है जिस कारण वह अन्य दर्शनों से अलग है। जैन दर्शन कर्मबन्धन को अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि मानकर ही आगे यह और व्याख्या करता है, कि—पर्याय की दृष्टि से सादि होने के कारण पूर्व के कर्मबन्धनों को तोड़ा भी जा सकता है। कोई भी सम्बन्ध अनादि होने से अनन्त नहीं हो जते, विरोधी कारणों का समागत होने पर अनादि सम्बन्ध टूट भी जाते हैं, जिस प्रकार बीज और वृक्ष का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी, पर्याय विशेष में सादि होता है, और पर्याय विशेष में किसी बीज विशेष के जल जाने पर, अर्थात् विरोधी कारणों के समागम के कारण उसमें अंकुर उत्पन्न नहीं होता। इस विषय में आचार्य अकलक देव तत्त्वार्थराज वातिक (२/७) में ऐसा ही दृष्टांत देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अंकुर नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।

यही कारण है कि, जैन दार्शनिकों ने आत्मा के स्वभाव की सकारात्मक व्याख्या करते हुए उसे विशुद्ध एवं अमीम क्षमताओं वाली कहा है। उनके अनुसार कर्म के दुष्ट प्रभाव के कारण वह अपने को सीमित अनुभव करती है। कर्म के इस दुष्ट प्रभाव से आत्मा को मुक्त करा पाने पर ही सदकर्मों की उत्पत्ति होती है, सदकर्मों से कर्मबन्ध टूटते हैं और कर्मबन्धों से पूर्ण

मुक्ति पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में मोक्ष की धारणा का विकास, कर्म दर्शन के विकास पर ही आधारित है।

कर्म के भेद —

जैन दार्शनिकों ने कर्म की वृहद व्याख्या करते हुए कहा है कि—कर्म मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।¹⁵ इस प्रकार कर्म को दो आधारों भौतिक तथा मानसिक के आधार पर दो भेद किये गए हैं—‘द्रव्य कर्म’ एवं ‘भाव कर्म’। द्रव्य कर्म का अर्थ है जहाँ द्रव्य का आत्मा में प्रवेश हो गया हो अर्थात् जहाँ रागद्वेषादि रूप भावों का निमित्त पाकर जो कार्मण बर्णारूप पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ बंध जाते हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। यह पीद्गलिक हैं, और इनके और भी भेद किये गए हैं।

भाव कर्म, आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक हैं। इनमें इच्छा तथा अनिच्छा जैसी मानसिक क्रियाओं का समावेश होता है। अर्थात् ज्ञानरणादिरूप द्रव्य कर्म के निमित्त से होने वाले जीव के राग द्वेषादि रूप भावों को भावकर्म कहते हैं।

द्रव्य कर्म और भाव कर्म की पारस्परिक कार्य-कारण परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इन दोनों में नैमित्तिक सम्बन्ध है। भावकर्म का निमित्त द्रव्यकर्म है और द्रव्य कर्म का निमित्त भावकर्म है। राग द्वेषादिरूप भावों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बंधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा में राग द्वेषादि भावों की उत्पत्ति होती है।¹⁶

15. मिच्छस्त पुण दुःखं जीवमजीव तद्देव अण्णाण । अविरदि जोगो मोहो कोहादिया इमे भावा । समयसार ।

मूल । ८७ । प्र. —अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली

16. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, पूर्वाक्ष, पृ. 47

कर्म बन्ध—

जैन दर्शन के अनुसार दोनों ही प्रकार के कर्मों से उत्पन्न कर्मणु विभिन्न कालावधियों के लिये मनुष्य को बांधकर रखते हैं। इस प्रकार कर्मबन्ध कर्म और आत्मा के सम्बन्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न अवस्था है। यह अवस्था कषाय एवं योग के कारण उत्पन्न होती है। आचार्य श्रुतपिच्छ ने कहा है कि¹⁷— "जीव कषाय सहित होने के कारण कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इसी का नाम बन्ध है। शुद्ध आत्मा में कर्म का बन्ध नहीं होता है, किन्तु कषायवान् आत्मा ही कर्म का बन्ध करता है। आचार्य जिन सेनाचार्य ने भी कर्मबन्ध की लगभग ऐसी ही व्याख्या करते हुए कहा है कि— "यह अज्ञानी जीव इष्ट और अनिष्ट सकल्प द्वारा वस्तु में प्रिय और अप्रिय की कल्पना करता है, इससे रागद्वेष उत्पन्न होता है और इस रागद्वेष से कर्म का बन्ध होता है, इस प्रकार रागद्वेष के निमित्त से संसार का चक्र चलता रहना है।"¹⁸

इस प्रकार रागद्वेष रूप भावकर्म का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बंधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा में रागद्वेष रूपी भाव कर्म उत्पन्न होता है। इन कर्मों से उत्पन्न परमाणु प्रत्येक समय बंधते रहने से अनन्तानन्त होते हैं। यह बन्ध केवल जीवप्रदेश के क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओं का होता है, बाहर के क्षेत्र में स्थित कर्म परमाणुओं का नहीं। आत्म प्रदेशों में होने वाला यह कर्मबन्ध प्रति समय होता है। यह सम्भव नहीं है कि किसी समय किन्हीं आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध हो और किसी समय अन्य आत्मप्रदेशों के साथ।

कर्मफल—ईश्वरवादी दर्शन ईश्वर को कर्म का फल-दाता मानते हैं। उनके अनुसार यह अज्ञ प्राणी अपने सुख

और दुःख में असमर्थ है। यह जीव ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग में या तरक में जाता है।¹⁹ जैन दर्शन के अनुसार कर्म स्वयं अपना फल देते हैं, किसी के माध्यम से नहीं। इसी कारण कहा है कि उस कम से उत्पन्न किया जाने वाला सुख दुःख कर्मफल है।²⁰ यह कर्मफल कर्म की प्रकृति से प्रभावित होता है। जैन दर्शन के अनुसार शुभ एवं अशुभ भावों से किये गए कर्मों में जीव पर अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति होती है, अतः इन भावों का प्रभाव कर्म परमाणुओं पर भी होता है, और इसी के अनुसार वे कर्म अपने उदय के अवसर पर तदनुरूप सुख और दुःख प्रदान करते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की अत्यन्त सूक्ष्म एवं विषद तथा वैज्ञानिक विवेचना की गई है जो यह बतलाती है कि मनुष्य स्वयं अपने कर्म का सृष्टा एवं भाग्य विधाता है। ईश्वर या अन्य कोई शक्ति न तो उसके कर्म को निर्धारित करती है, न ही उसके फल को। यही नहीं ईश्वरीय या अन्य कोई ऐसी शक्ति उसे बुरे कर्मों के उदय या फल भोगने से मुक्त भी नहीं करा सकती। कर्मों से मुक्ति के लिये कर्ता द्वारा स्वयं कर्मक्षय करना आवश्यक है। कर्मक्षय से कोई भी जीव शुद्ध अवस्था अर्थात् मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि न तो कोई लक्ष्मी देता है, और न कोई इसका उपकार करता है। शुभ और अशुभ कर्म ही जीव का उपकार और अवकार करते हैं।

णय को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणई उवयार उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहामुहं कुणदि ॥

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३१८



17. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादस्ते स बन्धः । —तत्त्वार्थसूत्र ८।२
18. संकल्पवशो मुढः बस्तिवष्टा निष्टता नयेत, रागद्वेषो ततस्ताम्यां बन्धं दुर्मोचमश्नुते ॥ महापुराण २४।२१
19. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः ।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ —महाभारत, वन पर्व ३०।२८
20. तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुख दुःख तत्कर्म फलम् । प्रवचनसार/त. प्र./१२४.



जैन दर्शन में



मोक्ष का स्वरूप,



एक तुलनात्मक अध्ययन

जैन दर्शन के अनुसार संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने पर और निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर^१ आत्मा की जो निष्कर्म शुद्धावस्था होती है उसे 'मोक्ष' कहा जाता है। कर्म मलों के अभाव में कर्म जनित आवरण या बन्धन भी नहीं रहते और यह बन्धन का अभाव ही मुक्ति है^२। मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है^३। अनात्मा में ममत्व आसक्ति रूप आत्माभिमान का दूर हो जाना यही मुक्ति है^४। यही आत्मा की शुद्धावस्था है। बन्धन और मुक्ति की यह समग्र व्याख्या पर्याय दृष्टि का विषय है। आत्मा की विरूप पर्याय ही बन्धन है और स्वरूप पर्याय मोक्ष है। पर पदार्थ, पुद्गल परमाणु या जड़ कर्म वाणिओं के निमित्त से आत्मा में जो पर्याये उत्पन्न होती हैं और जिनके कारण पर में

(मेरा पन) उत्पन्न होता है यही विरूप पर्याय है, परपरिणति है, स्व की पर में अवस्थिति है, यही बन्धन है और इसका अभाव ही मुक्ति है। बन्धन और मुक्ति दोनों एक ही आत्म द्रव्य या चेतना की दो अवस्थाएं मात्र हैं, जिस प्रकार स्वर्ण कुण्डल और स्वर्ण मुकुट

डॉ. सागरमल जैन

स्वर्ण की दो अवस्थाएं हैं। लेकिन यदि मात्र विशुद्ध तत्व दृष्टि से विचार किया जाए तो बन्धन और मुक्ति दोनों की व्याख्या सम्भव नहीं है क्योंकि आत्मतत्त्व स्वरूप का परित्याग कर परस्वरूप में कमी भी परिणित नहीं होता। विशुद्ध तत्वदृष्टि से तो आत्मा नित्य मुक्त

1. कृत्स्न कर्मक्षयान् मोक्षः, तत्त्वार्थ सूत्र १०१
2. बन्ध वियोगो मोक्षः—अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ६, पृ. ४३१
3. मुक्तो जीवस्स शुद्ध रूवस्स—वही, खण्ड ६, पृ. ४३१
4. तुलना कीजिए (अ) आत्मा मीमांसा (दत्तसुखभाई), पृ. ६६-६७
(ब) ममेति बध्यते जन्तुर्नममेति प्रमुच्यते।—गरुड पुराण ।

है। लेकिन जब तत्व की पर्यायों के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ किया जाता है तो बन्धन और मुक्ति की सम्भावनाएं स्पष्ट हो जाती हैं, क्योंकि बन्धन और मुक्ति, पर्याय अवस्था में ही सम्भव होती है। मोक्ष को तत्व माना गया है लेकिन वस्तुतः मोक्ष बन्धन के अभाव का ही नाम है। जैनाग्रमों में मोक्ष तत्व पर तीन दृष्टियों से विचार किया है 1. भावात्मक दृष्टिकोण 2. अभावात्मक दृष्टिकोण 3. अनिर्वचनीय दृष्टिकोण।

मोक्ष पर भावात्मक दृष्टिकोण से विचार—

जैन दार्शनिकों ने मोक्षावस्था पर भावात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे निबाध अवस्था कहा है⁵। मोक्ष में सभस्त बाधाओं के अभाव के कारण आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाने हैं, मोक्ष बाधक तत्वों की अनुपस्थिति और पूर्णता प्रगटन है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने मोक्ष की भावात्मक दशा का चित्रण करते हुए उसे शुद्ध, अनन्त चतुष्टय युक्त अक्षय, अविनाशी, निर्दाघ, अतीन्द्रिय अनुपम, नित्य, अविचल, अनालम्ब कहा है⁶। आचार्य उसी ग्रन्थ में आगे चलकर मोक्ष में निम्न बातों की विद्यमानता की सूचना करते हैं⁷। (1) पूर्णज्ञान (2) पूर्णदर्शन (3) पूर्णसौख्य (4) पूर्णवीर्य (शक्ति) (5) अमूर्तता (6) अस्तित्व (7) सप्रदेशता। आचार्य कुन्द-कुन्द ने मोक्ष दशा के जिन सात भावात्मक तथ्यों का उल्लेख किया है वे सभी भारतीय दर्शनों को स्वीकार नहीं है। वेदान्त सप्रदेशता को अस्वीकार कर देता है। सौख्य, सौख्य एवं वीर्य को,

और न्याय, वैशेषिक ज्ञान और दर्शन को भी अस्वीकार कर देते हैं। बौद्ध शून्यवाद अस्तित्व को भी निराश कर देता है और चार्वाक दर्शन मोक्ष की धारणा को भी समाप्त कर देता है। वस्तुतः मोक्षावस्था को अनिर्वचनीय मानते हुए भी विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के प्रति उत्तर के लिए ही मोक्ष की इस भावात्मक अवस्था का चित्रण किया गया है। भावात्मक दृष्टि से जैन विचारणा मोक्षावस्था में अनन्त चतुष्टय की उपस्थिति पर बल देती है। अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को जैन विचारणा में अनन्त चतुष्टय कहा जाता है। बीज रूप में यह अनन्त चतुष्टय सभी जीवात्माओं में उपस्थित है मोक्ष दशा में इनके अवरोधक कर्मों का क्षय हो जाने से यह पूर्ण रूप में प्रगट हो जाते हैं। यह प्रत्येक आत्मा के स्वभाविक गुण है जो मोक्षावस्था में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो जाता है। अनन्त चतुष्टय में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सौख्य (अव्यावाधसुख) आते हैं। लेकिन अष्टकर्मों के प्रहाण के आधार पर सिद्धों के आठ गुणों की मान्यता भी जैनविचारणा में प्रचलित है। 1. ज्ञानवरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से मुक्तात्मा अनन्त ज्ञान या पूर्ण ज्ञान से युक्त होता है। 2. दर्शनवरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से अनन्त दर्शन से सम्पन्न होता है। 3. वेदनीय कर्म के क्षय हो जाने से विशुद्ध, अनश्वर, आध्यात्मिक सुखों से युक्त होता है। 4. मोह कर्म के नष्ट हो जाने से यथार्थ दृष्टि (क्षायिक सम्यकत्व) से युक्त होता है। मोह कर्म के दर्शन मोह और चारित्र्यमोह ऐसे, दो भाग किए जाते हैं। दर्शन मोह के प्रहाण से यथार्थ दृष्टि और चारित्र्य मोह के यथार्थ

5. अत्रावाहं अवत्याणं — अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ६, पृ. ४३१

6. नियमसार १७६-१७७

7. विज्जदि केवलणार्ण, केवलसोक्खं च केवलविरियं।

केवलदिट्ठि अमुत अत्यत्त सप्पदेसत ॥ — नियमसार १८१

से चारित्र (क्षाधिकचारित्र) का प्रगटन होता है, लेकिन मोक्ष दशा में क्रिया रूप चारित्र नहीं होता, मात्र दृष्टि रूप चारित्र ही होता है, अतः उसे क्षाधिक सम्पत्त्व के अन्तर्गत ही माना जा सकता है, वैसे आठ कर्मों की 31 प्रकृतियों के प्रहाण के आधार पर सिद्धों के 31 गुण माने गये हैं, उसमें यथाख्यात चारित्र को स्वतंत्र गुण माना गया है। 5 आयुर्कर्म के श्रय हो जाने से मुक्तात्मा अशरीरी होता है अतः वह इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। 7 गोत्र कर्म के नष्ट हो जाने से वह अगुरुलघुत्व⁸ से मुक्त हो जाता है अर्थात् सभी सिद्ध समान होते हैं उनमें छोटा बड़ा या ऊँच नीच का भाव नहीं होता। 8. अन्तरायकर्म का प्रहाण हो जाने से बाधा रहित होता है, अर्थात् अनन्त शक्ति सम्पन्न होता है⁹। अनन्त शक्ति का यह विचार मूलतः निषेधात्मक ही है यह मात्र बाधाओं का अभाव है। लेकिन इस प्रकार अष्ट कर्मों के प्रहाण के आधार पर मुक्तात्मा के आठ गुणों की व्याख्या का मात्र एक व्यवहारिक संकल्पना ही है। उसके वास्तविक स्वरूप का निर्वचन नहीं है। व्यवहारिक दृष्टि से उसे समझने का प्रयास मात्र है इसका मात्र व्यवहारिक मूल्य है। वस्तुतः तो वह अनिर्वचनीय है। आचार्य नेमीचन्द्र गोम्मटसार में स्पष्ट रूप से कहते हैं, सिद्धों के इन गुणों का विधान मात्र सिद्धात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जो एकात्मिक मान्यताएँ हैं उनके निषेध के लिए है¹⁰। मुक्तात्मा में केवल ज्ञान और केवल दर्शन के रूप में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को स्वीकार करके मुक्तात्मा को जड़

मानने वाली वैभाषिक बौद्धों और न्याय-वैशेषिक दर्शन की धारणा का प्रतिषेध किया गया है। मुक्तात्मा के अस्तित्व या अक्षयता को स्वीकार कर मोक्ष को अभावात्मक रूप में मानने वाले जड़वादी तथा सौत्रान्तिक बौद्धों की मान्यता का निरसन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष दशा का समग्र भावात्मक चित्रण अपना निषेधात्मक मूल्य ही रखता है। यह विधान भी निषेध के लिए है।

अभावात्मक दृष्टि से मोक्ष तत्त्व पर विचार—

जैनागमों में मोक्षावस्था चित्रण निषेधात्मक रूप से भी हुआ है। प्राचीनतम जैनागम आचारांग में मुक्तात्मा का निषेधात्मक चित्रण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। मोक्षावस्था में समस्त कर्मों का श्रय हो जाने से मुक्तात्मा में समस्त कर्म जन्य उपाधियों का भी अभाव होता है अतः मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृताकार है, न त्रिकोण है न चतुष्कोण है, न परिमण्डल संस्थान वाला है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेतवर्ण वाला भी नहीं है, वह सुगन्ध और दुर्गन्धवाला भी नहीं है। न वह तीक्ष्ण कटुक, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रस वाला है। उसमें गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध कक्ष, शीत एवं उष्ण आदि स्पर्श गुणों का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न तपुंसक है। इस प्रकार मुक्तात्मा में रूप, रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श भी नहीं है¹¹। आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार में

8. कुछ विद्वानों ने अगुरुलघुत्व का अर्थ न हल्का न भारी ऐसा भी किया है।
9. प्रवचनसारोद्धार द्वार २७६, गाथा १५६३-१५६४
10. सदासिब सखो मक्कडि बुद्धी जेयाइयो य वेसेसी।
ईसर मंडलि दंसण विदूषणट्ठं कयं एदं ॥ —गोम्मटसार (नेमीचन्द्र)
11. से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिदे, न सुकिल्ले, न सुरभिगन्धे, न दुरभिगन्धे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न मेहुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लघुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न सगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, —से न सद्दे, न रुवे, न मंघे, न रसे, न फासे। आचारांगसूत्र १।५।६

मोक्षदशा का निषेधात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं मोक्षदशा में न सुख है न दुःख है, न पीला है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है। न वहां इन्द्रियां हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न व्यामोह है, न निद्रा है; न वहां चिन्ता है, न आर्त और रौद्र विचार ही, वहां तो धर्म (शुभ) और शुक्ल (प्रशस्त) विचारों का भी अभाव है¹²। मोक्षावस्था तो सर्व संकल्पों का अभाव है, वह बुद्धि और विचार का विषय नहीं है वह पक्षातिक्रान्त है। इस प्रकार मुक्तावस्था का निषेधात्मक विवेचन उसकी अनिर्वचनीयता को बताने के लिए है।

मोक्ष का अनिर्वचनीय स्वरूप —

मोक्षतत्त्व का निषेधात्मक निर्वचन अनिवार्य रूप से हमें उसकी अनिर्वचनीयता की ओर ही ले जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हुए जैन दार्शनिकों ने उसे अनिर्वचनीय ही माना है।

आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है समस्त स्वर वहां से लौट आते हैं, अर्थात् मुक्तात्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है, वाणी उसका निर्वचन करने में कदापि समर्थ नहीं है। वहां वाणी मूक हो जाती, तर्क की वहां तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है,

अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी भी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता, है क्योंकि उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्ताधान है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके¹³। उसके बारे में केवल इतना ही कहा जा सकता है, वह अरूप, अरस अवर्ण, अगंध और अस्पर्श है क्योंकि वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है।

गीता में मोक्ष का स्वरूप —

गीता की समग्र साधना का लक्ष्य परमतत्त्व, ब्रह्म अक्षर पुरुष अथवा पुरुषोत्तम की प्राप्ति कहा जा सकता है। गीताकार प्रसंगान्तर से उसे ही मोक्ष निर्वाणपद, अव्यय पद, परमपद, परमगति और परमधाम भी कहता है। जैन एवं बौद्ध विचारणा के समान गीताकार की दृष्टि में भी संसार पुनरागमन या जन्म मरण की प्रक्रिया से युक्त है जबकि मोक्ष पुनरागमन या जन्म मरण का अभाव है। गीता का सावक इसी प्रेरणा की लेकर आगे बढ़ता है (जरामरणमोक्षाय 7.29) और कहता है, “जिसको प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में नहीं लौटना होता है उस परम पद की गवैषणा करना चाहिए”¹⁴। गीता का ईश्वर भी साधक

12. णवि दुःखं णवि सुखं णवि पीडा णेवविज्जदे बाहा ।

णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होई णिव्वाणं ॥

णिव इदिय उवसग्गा णिव मोहो विम्विथो ण णिद्वाय ।

ण य तिग्हा णेव छुहा तत्थेव हवदि णिव्वाणं ॥ —नियमसार १७८-१७९

13. सब्बे सारा नियदुत्तं, तव्वक जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गहिंया ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयत्ते

—उवप्प न विज्जए अरूबी सत्ता अप्पयस्स पयं नत्थि । —आचारांग १।५।२।१७१

तुलना कीजिए—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह —तैत्तिरीय २।६

न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा —मुण्डक ३।१।८

14. ततः पदं तत्परिमागितव्यं, यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः । —गीता १५।४

को आश्वस्त करते हुए यही कहता है कि “जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में आना नहीं होता, वही मेरा परमधाम (स्वस्थान) है।” परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मेरे को प्राप्त होकर दुःखों के घर इस अस्थिर पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होते हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त समग्र जगत पुनरावृत्ति युक्त है। लेकिन जो भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है उसका पुर्नजन्म नहीं होता¹⁵। “मोक्ष के अनावृत्ति रूप लक्षण को बताने के साथ ही मोक्ष के स्वरूप का निर्वचन करते हुए गीता कहती है “इस अव्यक्त से भी परे अन्य सनातन अव्यक्त तत्त्व है, जो सभी प्राणियों में रहते हुए भी उनके नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है अर्थात् चेतना पर्यायों में जो अव्यक्त है उनसे भी परे उनका आधार भूत आत्मतत्त्व है। चेतना की अवस्थाएँ नश्वर हैं। लेकिन उनसे परे रहने वाला यह आत्मतत्त्व सनातन है जो प्राणियों में चेतना (ज्ञान) पर्यायों के रूप में अभिव्यक्त होते हुए भी उन प्राणियों तथा उनकी चेतना पर्यायों (चेतन अवस्थाओं) के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। उसी आत्मा को अक्षर और अव्यक्त कहा गया है, और उसे ही परमगति भी कहते हैं वही परमधाम भी है वही मेरा परमात्म स्वरूप आत्मा का निज स्थान है, जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः निवर्तन नहीं होता¹⁶। उसे अक्षर

ब्रह्म परमतत्त्व, स्वभाव (आत्मा की स्वभाव दशा) और आध्यात्म भी कहा जाता है¹⁷। गीता की दृष्टि में मोक्ष निर्वाण है परमशान्ति का अधिस्थान है¹⁸। जैन दार्शनिकों के समान गीता भी यह स्वीकार करती है कि मोक्ष सुखावस्था है। गीता के अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्मभूत होकर अत्यन्त सुख (अनन्त सौख्य) का अनुभव करता है¹⁹। यद्यपि गीता एवं जैन दर्शन में मुक्तात्मा में जिस सुख की कल्पना की गई है वह न ऐन्द्रिय सुख है न वह मात्र दुःखाभाव रूप सुख है। वरन् वह अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य अनश्वर सुख है²⁰।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण का स्वरूप—

भगवान बुद्ध की दृष्टि में निर्वाण का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न प्रारम्भ से विवाद का विषय रहा है। स्वयं बौद्ध दर्शन के आवन्तर सम्प्रदायों में भी निर्वाण के स्वरूप को लेकर आत्यन्ति विरोध पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं जो एक तुलनात्मक अध्ययन को अधिक कठिनाई में डाल देते हैं। वस्तुतः इस कठिनाई का मूल कारण पालि निकाय में निर्वाण का विभिन्न दृष्टियों से अलग-अलग प्रकार से विवेचन किया जाना है। आदरणीय श्री पुसे²¹ एवं प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त²²

15. (अ) यंप्राप्य न निर्वर्तन्ते तद्धाम परमं मम । —गीता ८।२१
- (ब) यंगत्वा न निर्वर्तन्ते तद्धाम परमं मम । —गीता १५।६
- (स) मामुपेत्य पुर्नजन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः । —गीता ८।१५
16. गीता—८।२०-२१
17. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । —गीता ८।३
18. शान्तिं निर्वाणपरमं । —गीता ६।१५
19. सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते । —गीता ६।२८
20. सुखमात्यन्तिकं यताद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । —गीता ६।२१
21. इनसाइक्लोपेडिया आफ इथिक्स एण्ड रिलीजन
22. आस्पेक्टस ऑफ महायान इन रिलेशन टु हीनयान

ने बौद्ध निर्वाण के सम्बन्ध में विद्वानों के दृष्टिकोणों को निम्न रूप से वर्गीकृत किया है।

- (1) निर्वाण एक अभावात्मक तथ्य है।
- (2) निर्वाण अनिवर्चनीय अव्यक्त अवस्था है।
- (3) निर्वाण की बुद्ध ने कोई व्याख्या नहीं दी है।
- (4) निर्वाण भावात्मक विशुद्ध पूर्ण चेतना की अवस्था है।

बौद्ध दर्शन के आवन्तर प्रमुख सम्प्रदायों का निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से दृष्टि भेद हैं—

(1) वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार निर्वाण संस्कारों या संस्कृत धर्मों का अभाव है क्योंकि संस्कृत धर्मता ही अनित्यता है, यही बन्धन है, यही दुःख है, लेकिन निर्वाण तो दुःख निरोध है, बन्धनाभाव है और इसलिए वह एक असंस्कृत धर्म है और असंस्कृत धर्म के रूप में उसकी भावात्मक सत्ता है। वैभाषिक मत के निर्वाण के स्वरूप को अभिधर्म कोष व्याख्या में निम्न प्रकार से बताया गया है “निर्वाण नित्य असंस्कृत स्वतन्त्र सत्ता, पृथक्-भूत, सत्य पदार्थ (द्रव्यसत्) है”²³। निर्वाण में संस्कार या पर्यायों का अभाव होता है लेकिन यहां संस्कारों के अभाव का अर्थ अनस्तित्व नहीं है, बरन् एक भावात्मक अवस्था ही है। निर्वाण असंस्कृत

धर्म है। प्रोफेसर शरवात्स्की²⁴ ने वैभाषिक निर्वाण की अनन्त मृत्यु कहा है। उनके अनुसार निर्वाण आध्यात्मिक अवस्था नहीं बरन् चेतना एवं क्रिया शून्य जड़ अवस्था है। लेकिन समादरणीय एस. के. मुकर्जी, प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त²⁵ और प्रोफेसर भूति²⁶ ने प्रोफेसर शरवात्स के इस दृष्टिकोण का विरोध किया है। इन विद्वानों के अनुसार वैभाषिक निर्वाण निश्चित रूप के एक भावात्मक अवस्था है। जिसमें यद्यपि संस्कारों का अभाव होता लेकिन फिर भी उसकी असंस्कृत धर्म के रूप में भावात्मक सत्ता होती है। वैभाषिक निर्वाण में चेतना का अस्तित्व होता है या नहीं है? यह प्रश्न भी विवादास्पद है, प्रोफेसर शरवात्स्की निर्वाण दशा में चेतना का अभाव मानते हैं लेकिन प्रोफेसर मुकर्जी²⁷ इस सम्बन्ध में एक परिष्कारित दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, उनके अनुसार यशोमित्र की अभिधर्मकोष की टीका के आधार पर निर्वाण की दशा में विशुद्ध मानस या चेतना रहती है।

डा. लाड ने अपने शोध प्रबन्ध में एवं विद्वत्वर्य बलदेव उपाध्याय ने बौद्ध दर्शन मीमांसा में वैभाषिक बौद्धों के एक तिन्वतीय उप सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में केवल वासनात्मक एवं बलेशोत्पादक (सास्त्रव) चेतना का ही अभाव होता है। इसका तात्पर्य यह है कि निर्वाण की दिशा में अनास्त्रव विशुद्ध चेतना का अस्तित्व बना रहता है²⁸। वैभाषिकों के इस उप सम्प्रदाय का यह

23. द्रव्य सत् प्रतिसंख्या निरोधः सत्यचतुष्टय—निर्देश—निर्दिष्टत्वात् मार्ग सत्येव इति वैभाषिकाः।

—यशोमित्र-अभिधर्म कोष व्याख्या, पृ. १७।

24. बुद्धिस्ट निर्वाण, पृ. २७

25. आस्पेक्ट्स ऑफ महायान इन रिलेशन टु हीनयान, पृ. १६२

26. सेंट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ. २७२-७३

27. बुद्धिस्ट फिलासफी आफ युनिवर्सल फलक्स पृ. २५२

28. ए कम्परेटिव स्टेडी ऑफ दी कानसेप्ट आफ लिबरेशन इन इंडियन फिलासफी, पृ. ६६

(ब) बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ. १४७

दृष्टिकोण जैन विचारणा के निर्वाण के अति समीप आ जाता है। क्योंकि यह जैन विचारणा के समान निर्वाणावस्था में सत्ता (अस्तित्व) और चेतना (ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग) दोनों को स्वीकार करता है। वैभाषिक दृष्टिकोण निर्वाण को संस्कारों की दृष्टि से अभावात्मक, द्रव्य सत्यता की दृष्टि से भावात्मक एवं बौद्धिक विवेचना की दृष्टि से अनिर्वचनीय मानता है, फिर भी उसकी व्याख्याओं में निर्वाण का भावात्मक या सत्तात्मक पक्ष अधिक उभरा है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय वैभाषिक सम्प्रदाय के समान यह मानते हुए भी कि निर्वाण संस्कारों का अभाव है, वह स्वीकार नहीं करता है कि असंस्कृत धर्म की कोई भावात्मक सत्ता होती है। इनके अनुसार केवल परिवर्तनशीलता ही तत्त्व का यथार्थ स्वरूप है। अतः सौत्रान्तिक निर्वाण की दशा में किसी असंस्कृत अपरिवर्तनशील नित्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता में ऐसा करना बुद्ध के अनित्यवाद और क्षणिकवाद की अवहेलना करना है। शरवात्स्की के अनुसार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में 'निर्वाण का अर्थ है जीवन की प्रक्रिया समाप्त हो जाना जिसके पश्चात् ऐसा कोई जीवन शून्य तत्त्व शेष नहीं रहता है, जिसमें जीवन की प्रक्रिया समाप्त हो गई है'। निर्वाण अधिक चेतना प्रवाह का समाप्त हो आना है, जिसके समाप्त हो जाने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता। क्योंकि इनके अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। परिवर्तनशीलता के अतिरिक्त तत्त्व की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। और निर्वाण दशा में परिवर्तनों की श्रृंखला समाप्त हो जाती है, अतः उसके परे कोई सत्ता शेष नहीं रहती है। इस प्रकार सौत्रान्तिक निर्वाण मात्र अभावात्मक अवस्था है वर्तमान में वर्मा और लंका

के बौद्ध निर्वाण को अभावात्मक एवं अस्तित्व के रूप में देखते हैं। निर्वाण के भावात्मक, अभावात्मक और अनिर्वचनीय पक्षों की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक विचारणा निर्वाण के अभावात्मक पक्ष पर अधिक बल देती है। यद्यपि इस प्रकार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का निर्वाण अभावात्मक दृष्टिकोण जैन विचारणा के विरोध में जाता है। लेकिन सौत्रान्तिकों में भी एक ऐसा उपसम्प्रदाय था, जिसके अनुसार निर्वाण पूर्णतया अभावात्मक दशा नहीं था। उनके अनुसार निर्वाण अवस्था में भी विशुद्ध चेतना पर्यायों का प्रवाह निर्वाण की अवस्था में रहता है। यह दृष्टिकोण जैन विचारणा की इस मान्यता के निकट आता है, जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में भी आत्मा में परिणामीपन बना रहता है अर्थात् मोक्ष दशा में आत्मा में चैतन्य ज्ञान धारा सतत रूप से प्रवाहित होती रहती है।

(3) विज्ञानवाद (योगाचार)—महायान के प्रमुख ग्रंथ लंकावतारसूत्र के अनुसार निर्वाण सप्त प्रवृत्ति विज्ञानों की अप्रवृत्तावस्था है; चित्त प्रवृत्तियों का निरोध है।²⁹ स्थिरमति के अनुसार निर्वाण क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय है।³⁰ असंग के अनुसार निवृत्त चित्त (निर्वाण) उचित है क्योंकि वह विषयों का ग्राहक नहीं है। वह अनुपलम्भ है क्योंकि उसको कोई बाह्य आलम्बन नहीं है और इस प्रकार आलम्बन रहित होने से लोकोत्तर ज्ञान है। दौण्डुल्य अर्थात् आवरण (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के नष्ट हो जाने से निवृत्त चित्त आलम्बनविज्ञान परावृत्त नहीं होता प्रवृत्त नहीं होता।³¹ वह अनावरण और आस्त्रवधानु है, लेकिन असंग केवल

29. लंकावतार सूत्र—२।६२

30. क्लेशज्ञेयावरण प्रहाणमपि मोक्ष सर्वज्ञस्वाधिगमार्थम्।—स्थिरमति त्रिशिकी को वि. भा. पृ. १५

31. अचित्तोऽनुपलम्भो सो ज्ञानं लोकोत्तरं चतत। आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौण्डुल्य हानितः।

—त्रिशिका २६

इस निषेधात्मक विवेचन से सन्तुष्ट नहीं होते, वे निर्वाण की अनिवर्चनीय एवं भावात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। निर्वाण अचिन्त्य है क्योंकि तर्क से उसे जाना नहीं जा सकता लेकिन अचिन्त्य होते हुए भी वह कुशल है, शाश्वत है, सुख रूप है, विमुक्तकाय है, और धर्मस्थ है।³² इस प्रकार विज्ञानवादी मान्यता में निर्वाण की अभाव परक और भावपरक व्याख्याओं के साथ-साथ उनकी अनिवर्चनीयता को भी स्वीकार किया गया है वस्तुतः निर्वाण के अनिवर्चनीय स्वरूप के विकास का श्रेय विज्ञानवाद और शून्यवाद को ही है। लंकावतार सूत्र में निर्वाण के अनिवर्चनीय स्वरूप का सर्वोच्च विकास देखा जा सकता है। लंकावतार सूत्र के अनुसार निर्वाण विचार की कोटियों से परे है लेकिन फिर भी विज्ञानवाद निर्वाण को इस आधार पर नित्य माना जा सकता है कि निर्वाण लाभ से ज्ञान उत्पन्न होता है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर विज्ञानवादी निर्वाण का जैन विचारणा से निम्न अर्थों में साम्य है। (1) निर्वाण चेतना का अभाव नहीं है, वरन् विशुद्ध चेतना की अवस्था है। (2) निर्वाण समस्त संकल्पों का क्षय है, वह चेतना की निर्विकल्पावस्था है। (3) निर्वाणावस्था में भी चैतन्य धारा सतत प्रवाहमान रहती है (आत्मपरिणमीपन) यद्यपि डा. चन्द्रधर शर्मा ने

आलय विज्ञान को अपरिवर्तनीय या कूटस्थ माना है।³³ लेकिन आदरणीय बलदेव उपाध्याय उसे प्रवाहमान या परिवर्तनशील ही मानते हैं।³⁴ (4) निर्वाणावस्था सर्वज्ञता की अवस्था है। जैन विचारणा के अनुसार उस अवस्था में केवल ज्ञान और केवल दर्शन है। असंग ने महायान सूत्रालंकार में धर्मकाय को, जो कि निर्वाण की पर्यायवाची है, स्वाभाविक काय कहा है।³⁵ जैन विचारणा भी मोक्ष को स्वभाव दशा कहा जाता है। स्वाभाविक काय और स्वभाव दशा अनेक अर्थों में अर्थ-साम्य रखते हैं।

(4) शून्यवाद—बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय में निर्वाण के अनिवर्चनीय स्वरूप का सर्वाधिक विकास हुआ है। जैन तथा अन्य दार्शनिकों ने शून्यता का अभावात्मक अर्थ ग्रहण कर माध्यमिक निर्वाण को अभावात्मक रूप में देखा है, लेकिन यह उस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण को समझने में सबसे बड़ी भ्रांति ही कही जा सकती है। माध्यमिक दृष्टि से निर्वाण अनिवर्चनीय है, चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है, वही परमत्व है। वह न भाव है, न अभाव है।³⁶ यदि वाणी से उसका निर्वचन करना ही आवश्यक हो तो मात्र यह कहा जा सकता है कि निर्वाण अप्रहाण, असम्प्राप्त अनुच्छेद अशाश्वत, अनिरुद्ध, अनुत्पन्न है।³⁷ निर्वाण को भाव रूप इसलिए नहीं माना जा सकता है कि भावात्मक वस्तु या तो

32. स एवानास्त्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।—त्रिशिका 30

33. देखिये—A critical survey of Indian Philosophy—by C. D. Sharma

34. बौद्ध दर्शन मीमांसा

35. महायान सूत्रालंकार १।६० (महायान-शान्तिमिश्र पृष्ठ ७३)

36. भावाभाव परामर्शक्षयो निर्वाणं उच्यते।—माध्यमिककारिका वृत्ति पृष्ठ ५२४
[उद्धृत दी सेंट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म (टी. आर. व्ही. मुर्ती) पृष्ठ २७४]

37. अप्रहीणम सम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।

अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥ —माध्यमिक कारिका वृत्ति पृ. ५२१

नित्य होगी या अनित्य । नित्य मानने पर निर्वाण के लिए किये प्रयासों का कोई अर्थ नहीं होगा । अनित्य मानने पर बिना प्रयास ही मोक्ष होगा । निर्वाण को अभाव भी नहीं कहा जा सकता, अन्यथा तथागत के द्वारा उसकी प्राप्ति का उपदेश क्यों दिया जाता । निर्वाण को प्रहाण और सम्प्राप्त भी नहीं कहा जा सकता, अन्यथा निर्वाण कृतक एवं कालिक होगा और यह मानना पड़ेगा । वह काल विशेष में उत्पन्न हुआ और यदि वह उत्पन्न हुआ तो वह जरामरण के समान अनित्य ही होगा । निर्वाण को उच्छेद या शाश्वत भी नहीं कहा जा सकता अन्यथा शास्ता के मध्यम मार्ग का उल्लंघन होगा और हम उच्छेदवाद या शाश्वतवाद की मिथ्या दृष्टि से ग्रसित होंगे । इसलिए माध्यमिक नय में निर्वाण भाव और अभाव दोनों नहीं हैं । वह तो सर्व संकल्पनाओं का क्षय है, प्रपंचोपशमता है ।

बौद्धदार्शनिकों एवं वर्तमान युग के विद्वानों में बौद्ध दर्शन में निर्वाण के स्वरूप को लेकर जो मतभेद दृष्टिगत होता है उसका मूल कारण बुद्ध द्वारा निर्वाण का विविध दृष्टिकोणों के आधार पर विविध रूप से कथन किया जाना है । पाली-निकाय में निर्वाण के इन विविध स्वरूपों का विवेचन उपलब्ध होता है । उदान नामक एक लघु ग्रन्थ में ही निर्वाण के इन विविध रूपों को देखा जा सकता है ।

निर्वाण एक भावात्मक तत्त्व है—

इस सन्दर्भ में बुद्ध वचन इस प्रकार है । “भिक्षुओं

(निर्वाण) अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत है । भिक्षुओं यदि वह अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत नहीं होता तो जात, भूत, कृत, और संस्कृत का व्युपशम नहीं हो सकता । भिक्षुओं क्योंकि वह अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है इसलिए जात भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है³⁸ । धम्मपद में निर्वाण को परम सुख³⁹ अच्युत स्थान अमृत पद⁴⁰ कहा गया है । जिसे प्राप्त कर लेने पर न च्युति का भय होता है, न शोक होता है । उसे शान्त ससारोपशम एवं सुख पद भी कहा गया है⁴¹ । इति वृत्तक में कहा गया वह ध्रुव, न उत्पन्न होने वाला, शोक और राग रहित है, सभी दुःखों का वहां निरोध हो जाता है, वहां संस्कारों की शान्ति एवं सुख है⁴² । आचार्य बुद्ध घोष निर्वाण की भावात्मकता का समर्थन करते हुए विशुद्धिमग्न लिखते हैं—निर्वाण नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए । प्रभव और जरामरण के अभाव से नित्य है—अशिथिल, पराक्रम सिद्ध, विशेष ज्ञान से प्राप्त किए जाने से और सर्वज्ञ के वचन तथा परमार्थ से निर्वाण अविधमान नहीं है⁴³ ।

निर्वाण की अभावात्मकता—निर्वाण की अभावात्मकता के सम्बन्ध में उदान के रूप में निम्न बुद्ध वचन है, “लोहे पर घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियां उठती है सो तुरन्त ही बुझ जाती है—कहां गई कुछ पता नहीं चलता । इसी प्रकार काम बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाए हुए पुरुष की गति का कोई भी पता नहीं लगा सकता”⁴⁴ ।

38. उदान ८।३ पृ. ११०-१११ (ऐसा ही वर्णन इतिवृत्तक २।२।६ में भी है)

39. धम्मपद २०३, २०४ (निर्वाणं परम सुखं)

40. अमरं सन्ति निब्बाण पदमत्तुतं—सुत्त-निपात-पारायण वग्ग

41. पद सन्त सखारूपसमं सख —धम्मपद ३६८

42. इतिवृत्तक २।२।६

43. विशुद्धि मग्न (परिच्छेद १६) भाग २, पृ. ११६-१२१ (हिन्दी अनुवाद-भिक्षुधर्म रक्षि)

44. उदान पाटलिग्राम वग्ग ८।१०

शरीर छोड़ दिया, संज्ञा निरुद्ध हो गई,
सारी वेदनाओं को भी बिलकुल जला दिया।
संस्कार शान्त होगए; विज्ञान अस्त हो गया⁴⁵ ॥

लेकिन दीप शिखा और अग्नि के बुझ जाने अथवा संज्ञा के निरुद्ध हो जाने का अर्थ अभाव नहीं माना जा सकता, आचार्य बुद्धघोष विशुद्धिमग्न में कहते हैं निरोध का वास्तविक अर्थ तृष्णाशय अथवा विराग है⁴⁶। प्रोफेसर कीथ एवं प्रोफेसर नलिनाक्षदत्त अग्नि वच्छ-गोत्तमुत्त के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि बुझ जाने का अर्थ अभावात्मकता नहीं है, वरन् अस्तित्व की रहस्यमय, अवर्णनीय अवस्था है। प्रोफेसर कीथ के अनुसार निर्वाण अभाव नहीं वरन् चेतना का अपने मूल (वास्तविक शुद्ध) स्वरूप में अवस्थित होना है। प्रोफेसर नलिनाक्षदत्त के शब्दों में निर्वाण की अग्नि शिखा के बुझ जाने से, की जाने वाली तुलना समुचित है, क्योंकि भारतीय चिन्तन में आग के बुझ जाने से तात्पर्य उसके अनस्तित्व से न होकर उसका स्वभाविक शुद्ध अदृश्य अव्यक्त अवस्था में चला जाना है, जिसमें की वह अपने दृश्य प्रगटन के पूर्व रही हुई थी। बौद्ध दार्शनिक संघभद्र का भी यही निरूपण है कि अग्नि की उपमा से हमको यह कहने का अधिकार नहीं है कि निर्वाण अभाव है⁴⁷। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार भी निर्वाण अस्ति धर्म (अत्थिधम्म) एकान्त भुव एवं अप्रतिमाग है

उसका लक्षण स्वरूपतः नहीं बताया जा सकता किन्तु गुणतः दृष्टान्त के रूप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जल प्यास को शान्त करता है, निर्वाण त्रिविध तृष्णा को शान्त करता है। निर्वाण को अकृत कहने से भी उसकी एकान्त अभावत्मकता सिद्ध नहीं होती। आर्य (साधक) निर्वाण का उत्पाद नहीं करता फिर भी वह उसका साक्षात्कार (साक्षीकरोति) एवं प्रतिलाम (प्राप्नोति) करता है। वस्तुतः निर्वाण को अभावात्मक रूप में इसीलिए कहा जाता है कि अनिर्वचनीय का निर्वचन करना भावात्मक भाषा की अपेक्षा अभावात्मक भाषा अधिक युक्तिपूर्ण होती है।

निर्वाण की अनिर्वचनीयता—निर्वाण की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में निम्न बुद्ध वचन उपलब्ध है—
“भिक्षुओ; न तो मैं उसे अगति और न गति कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ, उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता हूँ। वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है यही दुःखों का अन्त है।⁴⁸ भिक्षुओ ! अनन्त⁴⁹ का समझना कठिन है, निर्वाण का समझना आसान नहीं। ज्ञानी की तृष्णा नष्ट हो जाती है उसे (रागादिक्लेश) कुछ नहीं है।⁵⁰ जहाँ (निर्वाण) जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु नहीं ठहरती, वहाँ न तो शुक्र और न आदित्य प्रकाश करते हैं। वहाँ चन्द्रमा की प्रभा भी नहीं है, न वहाँ अंधकार ही होता है। जब क्षीणाश्रय भिक्षु अपने आपको जान लेता है

45. उदान ८।६

46. विशुद्धिमग्न, परिच्छेद ८ एवं १६

47. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. २६४ पर उद्धृत

48. उदान ८।१

49. मूल पाली में, यहाँ पाठान्तर है—तीन पाठ मिलते हैं १. अनत्तं २. अनत्त ३. अनन्तं। हमने यहाँ “अनन्त” शब्द का अर्थ ग्रहण किया है। आदरणीय काश्यपजी ने अनत्त (अनात्म) पाठ को अधिक उपयुक्त माना है लेकिन अट्ठकथा में दोनों ही अर्थ लिए गए हैं।

50. उदान ८।३

तब रूप-अरूप तथा सुख-दुःख से छूट जाता है।⁵¹ उदान का यह वचन हमें गीता के उस कथन की याद दिला देता है, जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं जहाँ न पवन बहता है, न चन्द्र सूर्य प्रकाशित होते हैं, जहाँ जाने पर पुनः इस संसार में आया नहीं जाता वही मेरा (आत्मा का) परम धाम (स्वस्थान) है।

बौद्ध निर्वाण की यह विशद विवेचना हमें इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन का निर्वाण अभावात्मक तथ्य नहीं था। इसके लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं :—

(1) निर्वाण यदि अभाव मात्र होता तो वह तृतीय आर्य सत्य कैसे होता? क्योंकि अभाव आर्यचित का आलम्बन नहीं हो सकता।

(2) तृतीय आर्य सत्य का विषय द्रव्य सत नहीं है तो उसके उपदेश का क्या मूल्य होगा?

(3) यदि निर्वाण मात्र निरोध या अभाव है तो उच्छेद दृष्टि सम्यक दृष्टि होगी लेकिन बुद्ध ने तो सदैव ही उच्छेद दृष्टि को मिथ्या दृष्टि कहा है।

(4) महावान की धर्म काय की धारणा और उसकी निर्वाण से एकरूपता तथा विज्ञानवाद के आलय विज्ञान की धारणा निर्वाण की अभावात्मक व्याख्या के विपरीत पड़ते हैं। अतः निर्वाण का तात्त्विक स्वरूप अभाव सिद्ध नहीं होता है। उसे अभाव या निरोध कहने का तात्पर्य यही है कि उसमें वासना या तृष्णा

का अभाव है। लेकिन जिस प्रकार रोग का अभाव, अभाव होते हुए भी सदभूत है, उसे आरोग्य कहते हैं उसी प्रकार तृष्णा का अभाव भी सदभूत है उसे सुख कहा जाता है। दूसरे उसे अभाव इसलिए भी कहा जाता है कि साधक में शाश्वतवाद की मिथ्या दृष्टि भी उत्पन्न नहीं हो। राग का प्रहाण होने से निर्वाण में मैं (अत्त) और मेरापन (अत्ता) नहीं होता इस दृष्टिकोण के आधार पर उसे अभाव कहा जाता है। निर्वाण राग का अहं का पूर्ण विगलन है। लेकिन अहं या ममत्व की समाप्ति को अभाव नहीं कहा जा सकता। निर्वाण की अभावात्मक कल्पना 'अनत्त' शब्द का गलत अर्थ समझने से उत्पन्न हुई है। बौद्ध दर्शन में अनात्म (अनत्त) शब्द आत्म (तत्त्व) का अभाव नहीं बताता वरन् यह बताता है कि जगत में अपना या मेरा कोई नहीं है, अनात्म का उपदेश असक्ति के प्रहाण के लिए, तृष्णा के क्षय के लिए है, निर्वाण 'तत्त्व' का अभाव नहीं वरन् अपनेपन या अहं का अभाव है। वह वैयक्तिकता का अभाव है, व्यक्तित्व का नहीं। अनत्त (अनात्म) वाद की पूर्णता यह बताने में है कि जगत में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मेरा या अपना कहा जा सके। सभी अनात्म है। इस शिक्षा का सच्चा अर्थ यही है कि मेरा कुछ भी नहीं है। क्योंकि जहाँ मेरापन (अत्त भाव) आता है वहाँ राग एवं तृष्णा का उदय होता है। स्व पर में अवस्थित होता है, आत्म दृष्टि (ममत्व) उत्पन्न होती है। लेकिन यही आत्म दृष्टि स्व का पर में अवस्थित होना अथवा राग एवं तृष्णा की वृत्ति बन्धन है, जो तृष्णा है, वही राग है;

51. तस्य आपो न पठवी तेजो वायो न गाघति ।

न तस्य सुक्का जोवन्ति आदिच्चो न प्पकासति ॥

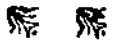
न तस्य चन्दिमा भाति तमो तस्य न विज्जति । उदान १।१०

तुलना कीजिए—न तम्हासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यदगत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ गीता १५।६

और जो राग है वही अपनापन है। निर्वाण में तृष्णा का क्षय होने से राग नहीं होता, राग नहीं होने से अपनापन (अत्ता) भी नहीं होता। बौद्ध निर्वाण की अभावात्मकता का सही अर्थ इस अपनेपन का अभाव है वह तत्त्व अभाव नहीं है। वस्तुतः तत्त्व लक्षण की दृष्टि से निर्वाण एक भावात्मक अवस्था है। मात्र वासनात्मक पर्यायों के अभाव के कारण ही वह अभाव कहा जाता है। अतः प्रोफेसर कीथ और तलिनाक्षदत्त की यह मान्यता कि बौद्ध निर्वाण अभाव नहीं है, बौद्ध विचारणा की मूल विचारदृष्टि के निकट ही है। यद्यपि बौद्ध निर्वाण एक भावात्मक तथ्य है फिर भी भावात्मक

भाषा उसका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है क्योंकि भाव किसी पक्ष को बताता है और पक्ष के लिए प्रतिपक्ष की स्वीकृति अनिवार्य है जबकि निर्वाण तो पक्षातिक्रांत है। निषेधमूलक कथन की यह विशेषता होती है कि उसके लिए किसी प्रतिपक्ष की स्वीकृति को आवश्यक नहीं बढ़ा सकता। अतः अनिर्वचनीय का निर्वचन करने में निषेधात्मक भाषा का प्रयोग ही अधिक समीचीन है। इस निषेधात्मक विवेचनाशैली ने निर्वाण की अभावात्मक कल्पना को अधिक प्रबल बनाया है। वस्तुतः निर्वाण अनिर्वचनीय है।



जैन संस्कृति एवम् कला

पंचम खण्ड

जैन पुरातत्व एवं कला

मधुसूदन तरहरि देशपाण्डे

जब हम प्राचीन भारतीय स्थापत्य-शिल्प और चित्र-कला के विकास का विहंगावलोकन करते हैं तब हमें एक विशिष्टता प्रतीत होती है कि इन कलाओं के विकास का एक अखण्ड और शक्तिशाली प्रवाह रहा है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि बौद्ध, हिन्दू और जैन धर्माधिष्ठित कला का पृथक्-पृथक् प्रवाह रहा है; वास्तव में उनको भारतीय संस्कृति का मर्म ही ज्ञात नहीं है, ऐसा कहना पड़ेगा। भारतीय कला के विकास में धार्मिक स्थलों की सौन्दर्यपूर्ण विकास करने की भावना, मूर्ति-पूजा और तदनुसंगिक धर्माचरण में प्रेरणादायक होती है। राजा हो या धनिक दाता हो या सामान्य मानव हो, हर एक ने अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप भारतीय संस्कृति के कला भण्डारों से अद्भुत एवं सुन्दर रत्न निकाले हैं। और अपनी-अपनी निष्ठा और श्रद्धा के अनुरूप कलात्मक वस्तु या वास्तु का निर्माण किया है; उन सभी का मूल्यांकन और रसास्वादन भी भारतीय कला के आविष्कार के रूप में ही होना चाहिए। हर एक शैली में कम या अधिक वैशिष्ट्य जरूर होता है परन्तु भारतीय कला के पुष्पहार में धर्मनिष्ठ पृथक्त्व की कल्पना करना सर्वथा अयोग्य और अनुचित है। वैसे देखा जाय तो शैली भी कालानुरूप परिवर्तित होती

रहती है, लेकिन इस शैली के ऐसे परिवर्तन में आशय, प्रेरणा और प्राणतत्व की दृष्टि से मूलभूत परिवर्तन कभी होता ही नहीं। अपितु परिवर्तन के स्वरूप में परिवर्धन, संशोधन और संवर्धन होता है। इसीलिए भारतीय कला के प्रांगण में आशय, प्रेरणा और प्राण-तत्व की दृष्टि से सर्वत्र एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। ऐसे कला-प्रवाह में अलग-अलग स्रोत की कल्पना करना, वैसा ही हास्यास्पद होगा, जैसा कि त्रिवेणी प्रवाह से गंगा, यमुना और सरस्वती के स्रोतों को अलग करना। भारतीय संस्कृति के गर्भ से पैदा हुए आचार, विचार और संस्कारित हुए कलात्मक मान-बिन्दु, जब तत्कालीन कला माध्यम से अपना रूप धारण करते हैं तब उनमें पृथक्त्व देखना भारतीय कला संस्कृति की महती परंपरा पर अन्याय करने के समान है।

जैसा कि ईसा पूर्व तीन शताब्दि से मथुरा नगरी बौद्ध, हिन्दू और जैन कला का मायका माना जाता है। परन्तु वहाँ की कला “भारतीय कला” इसी नाम से जानी पहचानी जाती है। वहाँ उक्त तीनों धर्म प्रचलित थे। अपने-अपने धर्म के अनुयायी अहंमहमिका

की भावना से स्तूप, मूर्ति, भवन और प्रासाद निर्माण करने लगे। हर-एक के पीछे जो आशय और रचना का ढंग था, उसके पीछे थोड़ी-सी मित्र (अलग) प्रेरणा थी परंतु कलामूल्य और कला माध्यम की दृष्टि से उन सब में एक विलक्षण साम्य प्रतीत होता है। गुप्त कालोत्तर बनाए हुए जैन और हिन्दू मन्दिर स्थापत्य और कला की दृष्टि से अलग नहीं हैं। विषय अलग हो सकते हैं लेकिन उनका कलात्मक रूप सम्पूर्ण एकात्मक एवं भारतीय है। इस पार्श्वभूमि में भारतीय कला में जैनों का योगदान क्या रहा है? इसका सामान्य परिचय इस संक्षिप्त लेख में दिया जा रहा है। परंतु इससे पहले जैन धर्म के उद्गम और विकास पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

श्री वर्द्धमान महावीर स्वामी जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। इस वर्ष हम उनके महानिर्वाण की 25 वीं शताब्दी मना रहे हैं। उनसे पहले परंपरा के अनुसार 23 तीर्थंकर हो चुके थे। उनमें से तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे, जो महावीर स्वामी के महानिर्वाण से 250 वर्ष पूर्व हो चुके थे। ऐसे विश्वसनीय प्रमाण मिलते हैं कि वे एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक पुरुष थे। उन्होंने “चाउज्जाम धम्म” (चार व्रतों का धर्म) प्रतिपादित किया। उसी को “पंच सिखिओ” (पंच महाव्रतयुक्त) बनाकर महावीर जी ने पुनः प्रतिपादित किया ऐसा उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र में मिलता है। “चाउज्जमों या जो धम्मो, जो इमो पंच सिखिओ। देसिओ बद्धंमारोण पासेण य महामुनी” यह चतुर्थीय धर्म है, जिसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्वनाथ ने किया था और यह पंचशिखा युक्त धर्म है जिसका प्रतिपादन वर्द्धमान महावीर जी ने किया। भगवान महावीरजी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस धर्म का उपदेश लोक भाषा में किया, “सव्वाणुगामिणीए सक्कर मधुराए भाषाए” अर्थात् सबको सहजरूप से समझ में आनेवाली शंकरा के समान मधुर भाषा का सहारा लिया। उच्च वर्ग की

संस्कृत भाषा को त्याग करके उन्होंने अहिंसा और त्यागमय नैतिक जीवनयुक्त तत्त्वज्ञान का उपदेश लोकभाषा में दिया। इतना ही नहीं उन्होंने मोक्ष का द्वार जनसाधारण के लिए खोल दिया। यज्ञ कांड प्रचुर ब्राह्मणी वर्चस्व और जातिनिष्ठ परंपरा से जनता को निकालकर मुक्ति का एक प्रशस्त मार्ग दिखाया। उन्होंने ब्राह्मण की व्याख्या ही बदल डाली—

न हि मुडिए समणो, न ओंकारेणे बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेण, कुसवीरेण, न तावसो ॥
समयाए समणो होई, बम्भचारेण बम्भणो :
नाणेण च मुणी होई, तवेण होइ तावसो ॥

(उत्तराध्ययनसूत्र)

अर्थात् मुंडन करने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करने से कोई मुनि नहीं होता और कुशवस्त्र पहनने से कोई तपस्वी नहीं होता। अपितु समभाव से श्रमण; ब्रह्मचर्य पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।

भगवान महावीर लोकामिमुख नेतृत्व से सामान्य जनो को तर्कप्रधान विचार करने में बड़ी सहायता मिली। इस प्रकार ईसा पूर्व 6वीं शताब्दी में लगाया गया नव विचार और नवधर्म का नन्हा-सा पौधा अब महावृक्ष बन गया है और उसके पुष्पपरिमल से आसेतु हिमाचल पर्यन्त की भारत भूमि सुगन्धित हो गयी है।

प्राकृत (अर्ध-मागधी भाषा) में रचित आगम साहित्य, श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन साहित्य, महाराष्ट्री अपभ्रंश में और संस्कृत भाषा के अन्तर्गत विविध टीका साहित्य पैतृक दैन के रूप में भारत की सब भाषाओं की प्राप्त हुआ है। इस साहित्य सम्पदा का परीक्षण भारतीय संस्कृति के विकास के सभी

स्रोतों पर प्रकाश डालता है, जैसे साहित्य, स्थापत्य, कला, तत्त्वज्ञान, सामाजिक जीवन, धर्माचरण और भारतीय भाषाओं का क्रमिक विकास इत्यादि। इस धर्म के विकास में चेदि कलिंग नृपति खारवेल से कुषाण, गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल, पांड्य, गंग, परमार, चन्देल, यादव, होयसल, विजयनगर आदि अनेक राजवंश नृपतियों और धनिक श्रेष्ठियों तथा श्रावक-श्राविकाओं का उल्लेखनीय योगदान रहा है। इतना ही नहीं मुगल सम्राट अकबर के विचारों पर भी जैन मत का प्रभाव पड़ा था। महात्मा गांधीजी की विचार-धारा पर भी जैन धर्म और आचार का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

प्राचीन भारत में इस धर्म की नींव समण (श्रमण) नाम से संबंधित किये जानेवाले और एक स्थान से दूसरे स्थान पर अखंड परिभ्रमण करनेवाले अत्यन्त कठिन व्रतधारी साधुओं ने डाली थी। श्रमणों की एक बहुत प्राचीन परंपरा है। प्राचीन जैन और बौद्ध वाङ्मय में ऐसे श्रमण समुदायों का उल्लेख मिलता है:—

“संबहुला नानातिथियया नाना दिठ्ठिका,
नाना रुचिका, नानादिठ्ठिनिस्सथानिस्सिता,”

अर्थात् “बहुत बड़ी संख्या में अनेक गुरुओं को माननेवाले, विविध आचार-विचार, विविध योग, प्रवृत्ति के विविध रुचिवाले और विविध दार्शनिक विचारधारा में विश्वास करने वाले ऐसे विविध सम्प्रदाय वाले भारतसमाज की पार्श्वभूमि पर बुद्ध और महावीर दीपस्तम्भ जैसे दिखाई देते हैं। उन्होंने दीर्घ और गहरा विचार मंथन करके अपनी स्वतन्त्र अनुभूति से नवीन धर्म की नींव डाली। बौद्ध धर्म को माध्यम मार्ग (मज्झिमा पटिपदा) के रूप में हम सब जानते हैं। जैन मत में उग्र तपस्या अभिप्रेत है। परन्तु ऐसे कठोर तपस्या मार्गी पथ ने भी कला के

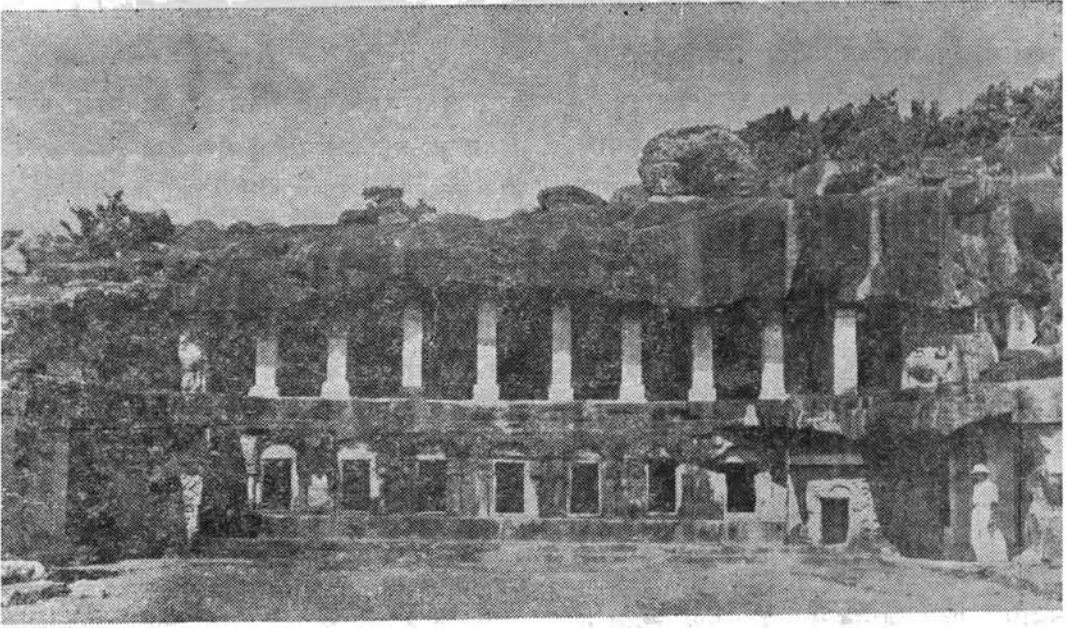
क्षेत्र में अत्यन्त महत्व का कार्य किया है, यह एक बड़ा विरोधाभास है। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी है कि एक तरफ श्रमणों ने अपने जीवन में असिधारा जैसे व्रती जीवन का आदर्श सँभाला और साथ-ही-साथ साहित्य और कलाप्रेमी श्रावक-श्राविकाओं ने अपने स्वाभाविक कला प्रेम से इस धर्म के तत्त्वज्ञान के साथ-साथ सुसंगत कला साधना भी आरम्भ की। जैन धर्मावलम्बी धनिक श्रेष्ठियों ने स्थापत्य कला में अग्रगण्य माने जाने वाले जिन-देवालय बनाये और भारतीय स्थापत्य कला को समृद्ध बनाया। भगवान महावीर जी की प्रमुख कार्य-भूमि बिहार राज्य थी। उनका जन्म वैशाली के निकट कुंडलपुर ग्राम में हुआ था और केवल ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त महावीर जी ने मगध देश की राजधानी राजगृह में अंगदेश की राजधानी चम्पा में, विदेह के अन्तर्गत मिथिला में तथा श्रावस्ती में अपने वर्षावास व्यतीत किए।

जैन कला का पहला आविष्कार

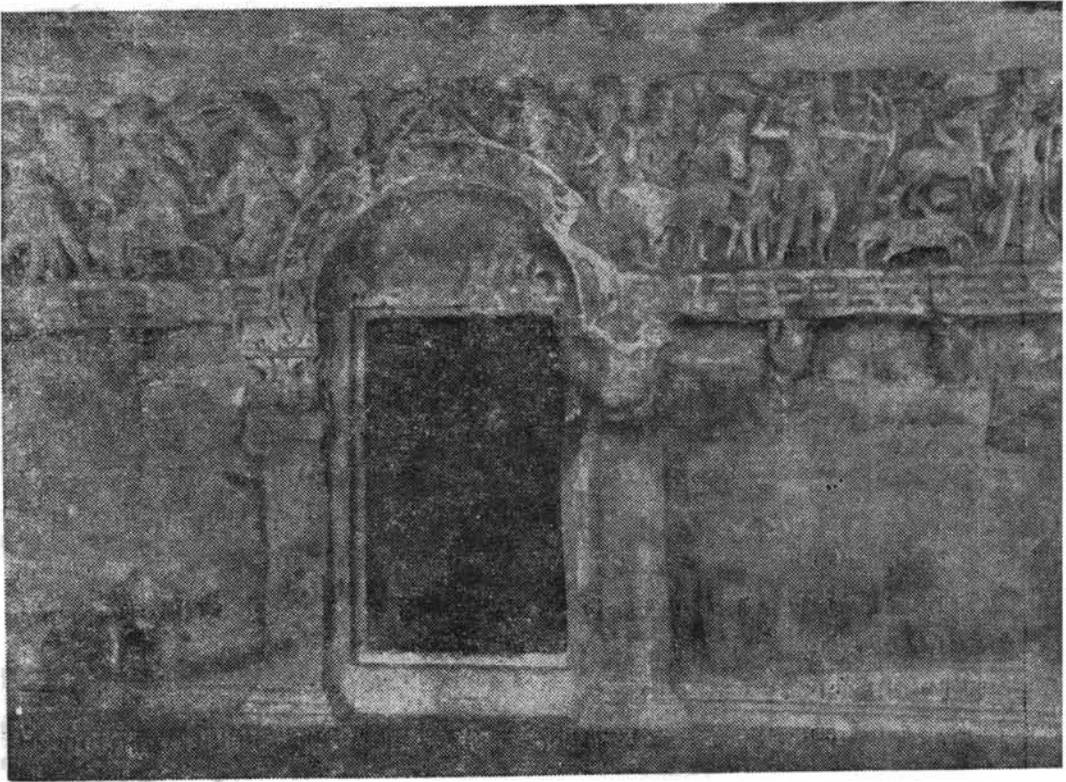
जैन मूर्तिकला का पहला आविष्कार यथार्थ रूप से हमको बिहार में दिखाई देता है। पटना संग्रहालय में रखी एक मस्तकहीन दिग्म्बर तीर्थंकर प्रतिमा, जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी, मौर्य मूर्तिशिल्प की तरह चमकदार पालिशयुक्त है। बिहार में बक्सर के निकट चौसा ग्राम में पाई गई एक शताब्दी ईसा पूर्व की, कुषाणकालीन ऋषभ व पार्श्वनाथ की कांस्य प्रतिमाएँ जैन धातु शिल्प में अत्यन्त प्राचीन मानी जाती हैं। ये दोनों प्रतिमाएँ पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

कलिंग, सौराष्ट्र और महाराष्ट्र की प्राचीन जैन गुफाएँ

मौर्य वर्चस्व के पश्चात् कलिंग देश के चेदि नृपति खारवेल ने ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में जैन धर्मी श्रमणों के लिए कलात्मक गुफा-समूह उत्कीर्ण करके



राणी गुम्फा का सुविख्यात दुमंजिला शैलगृह, उदयगिरि (ईसा पूर्व, २—री शताब्दी)



राणी गुम्फा में उत्कीर्ण शिल्पपट्ट उदयगिरि (ईसा पूर्व, २—री शताब्दी)

एक अप्रतिम कला आदर्श प्रस्तुत किया। ये गुफा समूह भुवनेश्वर नगर के निकट खंडगिरि और उदयगिरि नामक पहाड़ों में स्थित हैं। उदयगिरि पहाड़ पर हाथी नामक गुफा में खारवेल का एक सुप्रसिद्ध शिलालेख है, जिसका प्रारम्भ ही “नमो अरिहंताणं नमो सबसिधान” अर्थात् अर्हत् और सिद्ध के नमस्कार से ही हुआ है। खारवेल की अग्रमहिषी ने स्वप्नपुरी के लेख में लिखा है—“अरहंत पसादाय कलिंगन समनानं लेणसिरि खारवेलस अगम महिसिन कारियाम”। उदयगिरि स्थित राणी गुम्फा और गणेश गुम्फा नाम से सुविख्यात दुर्भजिले शिलागृहों में सुन्दर शिल्पकला उत्कीर्ण किये गये हैं। इनका विषय पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बद्ध प्रसंगों से होगा, ऐसा कई विद्वानों का मत है। ये सुन्दर शिलापट शैली की दृष्टि से भाजा और भरहुत शिल्पकला के समान दिखाई देते हैं। खंडगिरि गुफा समूह में आठवीं और नवमीं शताब्दी में उत्कीर्ण कई जिन-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं।

सौराष्ट्र में जूनागढ़ के निकट और भावनगर के पास तलाजा में जैन गुफा समूह क्षत्रपों के काल में उत्कीर्णित माना जाता है। उपरकोट की गुफा में स्थित स्तम्भ शीर्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

महाराष्ट्र में सह्याद्रि पर्वत माला पर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर 6वीं और 7वीं शताब्दियों तक के शैल मन्दिर पाये जाते हैं। जिसमें अजन्ता, एलोरा कारला, भाजा, पितरखोरा, एलीफंटा आदि बौद्ध और हिंदू, गुफाएँ सुविख्यात हैं। हाल ही में पूना के पास कारला और भाजा बौद्ध गुफाओं के पास पालेगाँव की एक गुफा में ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का शिलालेख मिला है। “नमो अरहंताणं” से यह लेख आरम्भ किया गया है। यह प्राचीन गुफा जैन साधुओं के निवास के लिए सातवाहन राजाओं के वर्चस्व काल में बनाई गई होगी, ऐसी सम्भावना है।



पालेगांव (पूना) की गुफा में प्राप्त नवीन शिलालेख

मथुरा नगरी और जैन कला

मथुरा एक कलानगरी के रूप में प्राचीन भारत में अनेक शताब्दियों तक विख्यात रही है। कुषाण और गुप्तकाल में कलावंतों ने इस नगरी को देवालयों, अर्हत आयतनों, स्तूप और मूर्तियों से सुशोभित किया। यहाँ की शिल्प शालाओं में बनाई हुई लाल रंग की प्रस्तर मूर्तियाँ सारनाथ, बौधगया आदि स्थानों पर भेजी जाती थीं। मथुरा में कंकाली टीला नामक एक प्राचीन स्थान है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इस टीले के स्थान पर ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में एक जैन बस्ती रही होगी। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में यहाँ पर खुदाई करने पर कुषाणकालीन आयागपट्ट मिला, जिस पर अष्टमंगल सहित मध्यवर्ती जिन प्रतिमा उत्कीर्ण है। दूसरे एक

शिलापट्ट पर लोणशोधिका नाम की वैश्या की पुत्री वसु द्वारा अरहत देवकुल को दान देने का उल्लेख है। इस पट्ट पर एक स्तूप व सोपानयुक्त तोरण और प्रदक्षिणापथ बहुत ही कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। कुषाणकालीन पार्श्वनाथ की मूर्ति, जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है, एक उत्कृष्ट कुषाणकालीन शिल्पकला का नमूना मानी जाती है। महावीरजी की जन्मकथा से संबन्धित हरिण-गमेशी की मूर्तियाँ भी मिली हैं। गए तीन साल से कंकाली टीले पर पुनः उत्खनन कार्य हो रहा है। इसके फलस्वरूप यहाँ एक अतीव सुन्दर पक्की ईंटों की बनी कुषाणकालीन पुष्करिणी मिली है। इसमें एक खंडित प्रतिमा जो लेखांकित है, प्राप्त हुई है। एक विशेष उल्लेखनीय लेख की उपलब्धि, जो इस पुष्करिणी से हुई है, उसमें



आयागपट्ट पर मंगल चिन्ह सहित मध्यवर्ती जिन प्रतिमा (मथुरा से प्राप्त) दूसरी शताब्दी



मथुरा से प्राप्त दूसरा आयागपट्ट सोपानयुक्त तोरण और प्रदक्षिणापथ सहित
कुषाणकालीन स्तूप (मथुरा म्यूजियम)

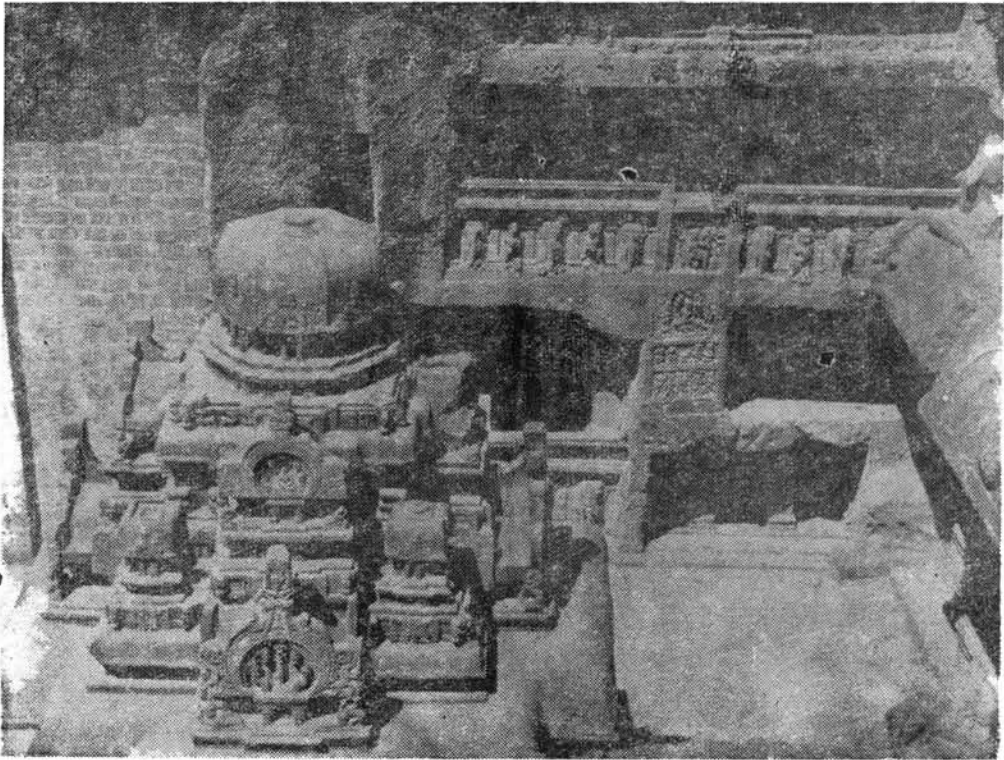
कनिष्क प्रथम के पंचम वर्ष में विशाखमित्रा द्वारा किये दान का उल्लेख, कदाचित् इसी पुष्करिणी से सम्बन्धित है। दूसरी भी कई सुन्दर जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं।

गुप्तकालीन जैन कला

गुप्तकाल में हिन्दू मन्दिरों का प्राथमिक स्वरूप निश्चित होने लगा था। मध्यप्रदेश में सांची, देवगढ़,

नाचना कुथारा, तिगोवा आदि स्थलों पर हिन्दू मंदिरों का निर्माण हो रहा था । देवगढ़ के पास अनेक जैन देवालय और उनके अवशेष मौजूद हैं । उनका काल गुप्तकालोत्तर 8 या 9वीं शताब्दी का बताया जाता है । यहाँ के अनेक शिल्पों पर गुप्तकाल का प्रभाव दिखाई देता है । देवगढ़, ललितपुर, चँदेरी, चाँदपुर, आदि स्थलों पर सहस्रों की संख्या में जैन प्रतिमाओं का निर्माण किया गया और तत्कालीन मंदिरों में उनकी प्रतिष्ठापना की गई । इस प्रदेश में गुप्तकालीन जैन मंदिर मिलने की संभावना है । विदिशा से दो जिन प्रतिमाओं पर रामगुप्त का उल्लेख मिला है इसी उपलब्धि पर मेरा यह अनुमान है कि गुप्तकाल में भी जैन देवालय मध्यप्रदेश में बने होंगे ।

अकोटा (प्राचीन अंकोटक) नामक स्थान गुजरात में बड़ौदा के निकट है । यहाँ 1949 में डा. यू. पी. शाह के प्रयत्नों से एक अद्वितीय 68 जैन धातु मूर्तियों का संग्रह प्रकाश में आया । यहाँ पर अंकोटक-वसति नाम का जैन मंदिर रहा होगा । इस संग्रह की कांस्य मूर्तियों पर गुप्तशिल्प कला का प्रभाव दिखाई देता है । ऋषभनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा और जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के ऊपर गुप्तकाल का सौन्दर्य यथार्थ रूप से दिखाई देता है । यहाँ 7, 8, 9, 10वीं शताब्दी की कांस्य प्रतिमाएँ भी पाई गई हैं, जो बड़ौदा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं । यह मूर्ति संग्रह बड़ौदा संग्रहालय का अलंकार माना जाता है ।



ऐलोरा स्थित जैन गुफा प्रांगण में एकाश्य मंदिर (9वीं,-10वीं शताब्दी)

एलोरा की जैन गुफाएँ

चालुक्य और राष्ट्रकूट आधिपत्य में भी महान जैन-शैल-गृह कर्नाटक में बनाये गये हैं। सातवीं शताब्दी में बदामी और ऐहोली में चालुक्यकालीन जैन गुफाएँ और राष्ट्रकूटकालीन एलोरा की गुफाएँ अपनी विशेषता रखती हैं। बदामी और ऐहोली गुफाओं में पार्श्वनाथ और बाहुबली के शिल्पपट उत्कीर्ण हैं। एलोरा की गुफाओं में स्थापत्य, शिल्प और चित्रकारी का मनोहर त्रिवेणी संगम दृष्टिगोचर होता है। एलोरा



सुपार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा (बादामी की गुफा)
गुफा क्र. 4 (7वीं शताब्दी)

में लगभग 6वीं शताब्दी से एक अखंडित कला साधना का स्रोत दिखाई देता है। जहाँ हिन्दू गुफाएँ समाप्त होती हैं वहाँ से ही जैन गुफाओं का आरम्भ होता है—छोटा कैलास, जगन्नाथ सभा और इन्द्र सभा जैनो की प्रमुख गुफाएँ हैं। इन जैन गुफाओं का काल 9 और 10वीं शताब्दी का माना जाता है और ये गुफाएँ जैनमत प्रेमी राष्ट्रकूट नृपति गोविन्द और अमोघवर्ष के शासनकाल में खोदी गईं। इनमें पार्श्वनाथ और बाहुबली की मूर्ति का शिल्पपट बहुत ही प्रेक्षणीय है। पार्श्वनाथ पर कमठ का किया गया आक्रमण और धरणेन्द्र यक्ष द्वारा किया गया संरक्षण बहुत ही आकर्षक है। इस शिल्प-पट्ट को देखकर बुद्ध पर मार द्वारा किये आक्रमण की याद आ जाती है जिसको अजंता की चित्रकला और शिल्पकला पटों पर सुन्दर ढंग से दिखाया गया है। यहाँ की यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियाँ भी प्रेक्षणीय हैं। एलोरा की जैन गुफाओं के भित्ति चित्रों का भारतीय कला में प्रमुख स्थान माना जाता है। जैन गुफाओं की छतों और भित्तियों पर जो शेष चित्रपटल हैं, वे अजंता और मध्ययुगी ताड़पत्रीय और हस्तलिखित चित्रकला की श्रृंखला की एक कड़ी मानी गई हैं। इन्हीं भित्ति चित्रों में भारतीय चित्रकला का अखंड विकास समझ में आता है।

पश्चिम भारतीय जैन हस्तलिखित ग्रन्थ जिसमें कई चित्र अंकित हैं, गुजरात के पाटन और खंभात में और राजस्थान के जैसलमेर के ज्ञान भण्डार में उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थ के संरक्षण के लिए, जो लकड़ी के पटल ऊपर और नीचे रखे जाते थे, वे भी सुन्दर चित्रों से अलंकृत हैं। यह चित्र सम्पदा 12 वीं और 16 वीं शताब्दी के बीच की है। इन चित्र पटलों पर चित्र प्रदर्शनों में नाट्यपूर्ण गतिमानता के साथ-साथ चित्र अंकित किये गये हैं।

कर्नाटक में जैन कला वास्तु

कर्नाटक में जैन धर्म का प्रचार अति प्राचीन है। मौर्यकाल में उत्तरी भारत में जब भीषण अकाल पड़ा

था, उससे बचने के लिए भद्रबाहु मुनि के नेतृत्व में कई श्रमण दक्षिण की ओर चले गये । भद्रबाहु मुनि ने श्रमण-बेल-गोल के निकट कर्नाटक राज्य में चन्द्रगिरी नामक पर्वत पर तपस्या करते हुए देह त्याग किया । ऐहोली में मेगुती का जैन मंदिर 644 ई० में चालुक्य नरेश द्वितीय पुलकेशी के काल में बनाया गया है ।

कर्नाटक ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष का अत्यन्त अनूठा भव्य शिल्प जिसको कहा जा सकता है वह है गोमटेश्वर को श्रावण बेलगोल स्थित शैल प्रतिमा, यह एकाग्र शिल्प राष्ट्रमल्ल सत्यवाक गंगराजा के काल में उसके मंत्री चामण्डवराय ने बनवाया था । इस प्रचण्ड मूर्ति का समय 983 ई. माना जाता है । कर्नाटक में



गोमटेश्वर (बाहुबलि) स्वामी की एकाग्र शैल प्रतिमा, श्रावण बेलगोला, (कर्नाटक), 983 ईस्वी

चालुक्य-आधिपत्य के उत्तर काल में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। लकगुंडी, जिला धारवाड़ में बार-हवीं शताब्दी का पार्श्वनाथ का मन्दिर है। इस मन्दिर में तथा अन्य मन्दिरों में अनेक सुन्दर जिन प्रतिमाएँ हैं। बेलगाँव में कमल बस्ती नाम का एक जैन मन्दिर है। इस देवालय की छतों की कला सौन्दर्य बहुत ही प्रेषणीय है। कानरा जिले के भटकल गाँव में और मंगलौर के पास मुडबिनद्री स्थलों पर जैन मन्दिरों की ऐसी विशिष्ट रचना है जिसे देखकर नेपाली स्थापत्य का आभास होता है। भटकल के मन्दिर के सामने एक ऊँचा स्तम्भ है जिन पर तीर्थंकरों की चहुमुख प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं।

तामिल देश में जैन प्रभाव

तामिलनाडु राज्य के पदुकोटाई जिले में कई प्राचीन जैन गुफाएँ मिली हैं। इन गुफाओं में जैन मुनियों के लिए पत्थरों पर तराशी हुई शय्याएँ मिलती हैं और यहाँ पाये गये ब्राह्मणी लेख ईसा पूर्व पहली शताब्दी के हैं। तामिलनाडु में और दूसरे जैन स्थापत्य कला के केन्द्र स्थान हैं किन्तु इनमें उल्लेखनीय है सित्तन्नवासल की जैन गुफा में अजन्ता शैली के 7 वीं शताब्दी के भित्ति चित्र सुरक्षित हैं। दूसरा महत्वपूर्ण स्थल कांचीपुरम, जिसे जिन-कांची भी कहते हैं। 640 ई. में ह्यू एन त्संग ने लिखा है कि कांची में जैनों की एक बड़ी बस्ती थी। कांचीपुरम की इस बस्ती को तिरुपति कुण्डम् भी कहते हैं। यहाँ चोल राजाओं के आधिपत्य काल में चन्द्रप्रभ-वर्धमान स्वामी और त्रिकूट बस्ती नाम के जैन मन्दिरों का परिवर्धन किया गया। यहाँ संगीत मंडप नाम का एक भाग विजयानगर राजाओं के आधिपत्य में चित्रांकित किया गया। इस मंडप और मुखमंडल की छतों पर महावीर स्वामी के समवरण के प्रसंग चित्रित किए गये हैं इनके साथ ही ऋषभदेव और नेमिनाथ आदि तीर्थंकरों के जीवन प्रसंग चित्रित किये गये हैं और हर एक प्रसंग के नीचे उचित लेख भी है।

गुजरात-एक महत्वपूर्ण जैन कला केन्द्र

गुजरात में जैन धर्म का प्रभाव बहुत ही गहरा और प्राचीन है। तलाजा और गिरनार का उल्लेख तो मैंने पहले ही किया है इसके बाद बल्लभी या बल्लभी-पुर एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहा था। महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग 980 वर्ष के उपरान्त यहाँ देवघि-गणी क्षमा-श्रमण के नेतृत्व में एक जैनमुनि सम्मेलन हुआ था, जिसमें श्वेताम्बर जैन आगम का संकलन किया गया। श्वेताम्बर परम्परा इन आगम ग्रन्थों को प्रमाणभूत मानती है। बल्लभी में जैन बस्ती के अवशेष और कांस्य प्रतिमाएँ मिली हैं।

गुजरात में चालुक्यों के अभिपत्य काल में कुमार-पाल राजा ने तारंगा में अजितनाथ का मन्दिर बनवाया, जो एक प्रसिद्ध जैन तीर्थ है, यह जिला मेहसाना में सिद्धपुर के निकट है। सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत पर और शत्रुंजय पहाड़ी पर अनेक जैन मन्दिर स्थित हैं। ये दोनों स्थान महत्वपूर्ण जैन-तीर्थ माने जाते हैं। गिरनार में नेमिनाथ के भव्यमन्दिर का जीर्णोद्धार 1278 ई. में किया गया था। शत्रुंजय पर्वत पर; जिसको पालिताना भी कहते हैं, ग्यारह प्राकारों के बीच 500 जैन मन्दिर हैं। इनमें से कुछ तो 11 वीं शताब्दी के हैं। परन्तु बहुत से मन्दिर 16 वीं शताब्दी के बाद के हैं। 1618 ई. में यहाँ एक सुन्दर शिखर युक्त दो मंजिला मन्दिर अहमदाबाद के एक श्रेष्ठी ने बनवाया। इस मन्दिर के स्तम्भ शीर्ष पर नर्तक और वादक वृन्द उत्कीर्ण हैं। यहाँ 19 वीं शताब्दी में भी अहमदाबाद के एक नगर श्रेष्ठी ने एक मन्दिर बनवाया था जिसने पाँच तीर्थों का मानचित्र भी उत्कीर्ण कराया था।

अलौकिक आबू

राजस्थान के आबू पर्वत के अत्यन्त सुरम्य स्थल पर चार प्रमुख देवालय हैं। इनमें विमलशा और तेजपाल ने क्रमशः 1032 ई.

और 1232 ई. में शुभ संगमरमर के मन्दिर बनवाये जो अपने विलक्षण सौन्दर्य से दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देते हैं। यहाँ का उत्कीर्ण कलाकौशल बहुत ही कोमल और बारीकी का है। ऐसा लगता है कि शुभ्र पाषाण को तराश कर निर्माण किया गया है। यह जनश्रुति प्रचलित है कि हथौड़ा और छैनियों से पत्थर को काटा नहीं गया अपितु छोटे औजारों द्वारा तराशने से निकले हुए चूर्ण की माप के अनुसार कारीगरों को मजदूरी दी जाती थी। इसके मंडप की छत पर उत्फुल्ल कलाकृति का अकन और अप्सराओं का मूर्ति शिल्प देखकर ऐसा लगता है कि इतना कोमल और कलापूर्ण काम कैसे किया गया होगा। कलापूर्ण चातुर्य के चरमोत्कर्ष की अनुभूति इस मन्दिर के दृष्टि-गोचर से होती है।

मध्यप्रदेश में खजुराहो के चन्देल राजाओं ने जो मन्दिर बनवाये हैं उनमें एक जैन मन्दिर समूह भी है। इसमें से पार्श्वनाथ मन्दिर चन्देल नृपति धंग की प्रेरणा से एक जैन श्रावक ने 955 ई. में बनवाया था। इसकी रचना खजुराहो के मन्दिर से थोड़ी अलग है परन्तु इसका वास्तु कौशल और शिल्प सौन्दर्य अत्यन्त मनोहारी है। भारतीय शिल्प कला का परमोत्कर्ष यहाँ के मूर्ति शिल्प में परिलक्षित होता है। राजस्थान में और कई जैन स्थापत्य के केन्द्र हैं। जिनमें से 3 या 4 का उल्लेख करना अनिवार्य है। 1439 ई. में राणकपुर का 26 मंडप और 420 स्तम्भ युक्त आदिनाथ का चतुर्मुख मन्दिर स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है। गर्भगृह चतुर्मुखी है और प्रत्येक दिशा में प्रांगण युक्त चार मंदिर हैं, जिनकी रचना अत्यन्त कौशल पूर्ण है। प्राकार में 86 लघु देव कुलिकाएँ हैं। इतना सब होते हुए भी प्रकाश योजना ऐसी है कि मन्दिर का प्रत्येक कोना प्रकाशित रहता है, जिससे उसके कलापूर्ण स्तम्भों और छतों की नक्काशी के काम को मन भर के देखा जा सके। चित्तौड़ किले पर स्थित चैत्यालय के सामने का 25

मीटर ऊँचा मानस्तम्भ स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है, इस स्तम्भ पर आदिनाथ और अन्य तीर्थ-करों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। जोधपुर जिले में



अम्बिका (सरस्वती) की कलात्मक संगमरमर प्रतिमा
(पल्लुगांव — राजस्थान से प्राप्त)

ओसिया नाम के ग्राम में एक प्रेक्षणीय महावीर मन्दिर है। इस मन्दिर के स्तम्भों की नक्काशी बहुत सुन्दर है यह मन्दिर गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज (770-840) के समय का है परन्तु इसका सभा मंडल 10 वीं शताब्दी में सन् 926 का है। जैसलमेर में 15 वीं शताब्दी के जैन मन्दिर हैं। जब भारत वर्ष के उत्तरी प्रदेशों में मन्दिर स्थापत्य निर्माण समाप्त हो गया था तब यहाँ एक कलात्मक जैन मन्दिर समूह का निर्माण हुआ।

गुफाओं और शैल मन्दिरों की निर्मिति में लगभग अंतिम प्रयोग खालियर के दुर्ग के परिसर में हुआ। यहाँ की गुफा में उत्कीर्ण विशाल जिन प्रतिभाएं तोमर राजा झूंगर सिंह और कीर्ति सिंह के जमाने में बनाई गईं। इन प्रतिमाओं के सौन्दर्य से उनकी भव्यता दर्शकों

को अधिक प्रभावित करती हैं। मध्ययुगीन जैन धर्म शिल्पकला का सर्वोत्कृष्ट नमूना मानने योग्य राजस्थान के पत्तलू ग्राम से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति है जो दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में संगृहीत है। यह मूर्ति भारतीय कला को प्रदान की गई अमोल भेंट है। यथायोग्य रूप, भेद प्रमाण बद्धता और लावण्य का सुयोग्य मिश्रण इस मूर्ति में दिखाई देता है।

जैन कला सम्पदा का मैंने बिहंगमावलोकन ही किया है इनके अतिरिक्त अनेक वस्तु और वास्तु हैं। जिनका मैंने उल्लेख ही नहीं किया। इन चीजों का अध्ययन विद्या प्रेमी विद्वानों को करना चाहिए। मेरी आशा है कि 2500 वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के निमित्त से इस सुन्दर विषय की अनेक छटाएँ प्रकाश में आयेंगी।



जैन मूर्तिशास्त्र

(मध्यप्रदेश की जैन मूर्तिकला के सन्दर्भ में)

भारतीय स्थापत्य या भवन निर्माण कला का ऐतिहासिक विवेचन करने से ज्ञात होता है कि जैन देवालयों का निर्माण मौर्य-शासनकाल में होने लगा था। बिहार में गया के समीप बराबर नामक पर्वत गुफाओं में कई शिलालेख मिले हैं। उनसे ज्ञात हुआ है कि मौर्य सम्राट अशोक ने आजीविक नामक एक संप्रदाय के सन्यासियों के निवास के लिए पहाड़ की चट्टानों को काटकर शैल-गृहों का निर्माण कराया। उसके वंशज दशरथ नामक शासक ने भी इस कार्य को आगे बढ़ाया। आजीविक संप्रदाय के प्रारंभकर्ता आचार्य को तीर्थंकर महावीर का समकालीन माना जाता है। बराबर की पहाड़ी से कुछ दूर नागार्जुनी नामक पहाड़ी है। वहाँ भी मौर्यकाल में साधुओं के निवास के लिए कई शैल-गृह बनवाए गए। भारतीय साहित्य में पर्ण-शालाओं के उल्लेख मिलते हैं। भूमि में मोटी लकड़ी के बड़े टुकड़ों को गाड़कर उन पर पत्ते छा दिए जाते थे। इस प्रकार पत्ते की कुटियाँ या पर्णशालाएँ बनायी जाती थीं। उन्हीं के ढंग पर शैल-गृहों का निर्माण किया गया। जैन साधुओं के लिए शैल-गृह बनाने के कई उदाहरण तामिलनाडु में भी मिले हैं।

ईसवी पूर्व दूसरी और पहली शती में उड़ीसा तथा पश्चिमी भारत में पर्वतों को काटकर देवालय बनाने की

परंपरा विकसित हुई। उड़ीसा के भुवनेश्वर के समीप कई बड़ी गुफाएँ पत्थर की चट्टानों को काटकर बनायी गयीं। वहाँ खण्डगिरि तथा उदयगिरि नामक जैन गुफाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। तीसरी गुफा का नाम हाथीगुफा है। उसमें कालिंग के जैन शासक खारवेल का एक शिलालेख खुदा हुआ है। लेख से ज्ञात हुआ है कि ईसवी पूर्व चौथी शती में मगध के राजा महापद्मनन्द तीर्थंकर की एक मूर्ति कालिंग से अपनी राजधानी पाटलिपुत्र उठा ले गए थे। खारवेल ईसवी पूर्व दूसरी शती के मध्य में उस प्रतिमा को मगध से अपने राज्य में लौटा लाए और उसे उन्होंने अपने मुख्य नगर में प्रतिष्ठापित किया।

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी

इस शिलालेख से पता चलता है कि तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण नन्दराज महापद्मनन्द के कुछ पहले प्रारम्भ हो चुका था। जैन साहित्यिक अनुश्रुति से भी पता चलता है कि चन्दन की तीर्थंकर मूर्तियाँ भगवान् महावीर के समय से या उनके निर्वाण के पश्चात् ही बनने ली थीं।

उत्तर भारत में जैन कला के जिनके केन्द्र थे उनमें मथुरा का स्थान महत्वपूर्ण है। ईसवी पूर्व दूसरी शती

से लेकर ईसवी बारहवीं शती तक के दीर्घकाल में मथुरा में जैन धर्म का विकास होता रहा। यहाँ के चित्तीदार लाल बलुए पत्थर की बनी हुई कई हजार जैन कला-कृतियाँ अब तक मथुरा और उसके आसपास के जिलों से प्राप्त हो चुकी हैं। उनमें तीर्थंकर आदि प्रतिमाओं के अतिरिक्त चौकोर आयागपट्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन पर प्रायः बीच में तीर्थंकर मूर्ति तथा उसके चारों ओर विविध प्रकार के मनोहर अलंकरण मिलते हैं। स्वस्तिक, नन्दयावर्त, वर्धमानक्षय, श्रीवत्स, भद्रासन, दर्पण, कलश और मोन युगल—इन अष्टमंगल द्रव्यों का आयागपट्टों पर सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है। एक आयागपट्ट पर आठ दिक्कुमारियाँ एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए आकर्षक ढंग से मंडल नृत्य में संलग्न दिखाई गई हैं। मण्डल या 'चक्रवाल' अभिनय का उल्लेख 'रायपलेनिय सूत्र' नामक जैन ग्रंथ में भी मिलता है। एक दूसरे आयागपट्ट पर तोरण द्वार तथा वेदिका का अत्यन्त सुन्दर अंकन है। वास्तव में ये आयागपट्ट प्राचीन जैन कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें से अधिकांश अभिलिखित हैं, जिन पर ब्राह्मीलिपि में लगभग ई. पू. एक सौ से लेकर ईसवी प्रथम शती के मध्य तक के लेख हैं। मथुरा की जैन कला का प्रभाव मध्यप्रदेश में विदिशा, तुमैन आदि स्थानों की कला पर पड़ा।

पश्चिमी भारत, मध्य भारत तथा दक्षिण में पर्वतों को काटकर जैन देवालय बनाने की परंपरा दीर्घकाल तक मिलती है। विदिशा के समीप उदयगिरि की पहाड़ी में दो जैन गुफाएँ हैं। वहाँ संख्या एक की गुफा में गुप्तकालीन जैन मन्दिर के अवशेष उपलब्ध हैं। उदयगिरि की संख्या 20 वाली गुफा भी जैन मंदिर है। उसमें गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम के समय में निर्मित कलापूर्ण तीर्थंकर प्रतिमा मिली है।

जैन मंदिर-स्थापत्य का दूसरा रूप भूमिज मन्दिरों में मिलता है। इन मंदिरों का निर्माण प्रायः समतल

भूमि पर पत्थर और ईंटों द्वारा किया जाता था। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, बंगाल और मध्यप्रदेश में समतल भूमि पर बनाए गए जैन मंदिरों की संख्या बहुत बड़ी है। कभी-कभी ये मंदिर जैन स्तूपों के साथ बनाए जाते थे।

जैन स्तूपों के संबंध में प्रचुर साहित्यिक तथा अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं। उनसे ज्ञात होता है अनेक प्राचीन स्थलों पर उनका निर्माण हुआ। मथुरा, कौशांबी आदि कई स्थानों में प्राचीन जैन स्तूपों के भी अवशेष मिले हैं। उनसे यह बात स्पष्ट है कि इन स्तूपों का निर्माण ईसवी पूर्व दूसरी शती से व्यवस्थित रूप में होने लगा था। प्रारंभिक स्तूप अर्धवृत्ताकार होते थे। उनके चारों ओर पत्थर का बाड़ा बनाया जाता था। उसे 'वेदिका' कहते थे। वेदिका के स्तंभों पर आकर्षक मुद्राओं में स्त्रियों की मूर्तियों को विशेष रूप से अंकित करना प्रशस्त माना जाता था। गुप्त काल से जैन स्तूपों का आकार लंबोतरा होता गया। बौद्ध स्तूपों की तरह जैन स्तूप भी परवर्ती काल में अधिक ऊँचे आकार के बनाए जाने लगे।

मध्य काल में जैन मंदिरों का निर्माण व्यापक रूप में होने लगा। भारत के सभी भागों में विविध प्रतिमाओं से अलंकृत जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। इस कार्य में विभिन्न राजवंशों के अतिरिक्त व्यापारी वर्ग तथा जन-साधारण ने भी प्रभूत योग दिया।

चन्देलों के समय में खजुराहो में निर्मित जैन मंदिर प्रसिद्ध हैं। इन मंदिरों के बहिर्भाग खजुराहो की विशिष्ट शैली में उकेरे गए हैं। मंदिरों के बाहरी भागों पर समानांतर अलंकरण पट्टिकाएँ उत्खचित हैं। उनमें देवी-देवताओं तथा मानव और प्रकृतिजगत को अत्यन्त सजीवता के साथ आलेखित किया गया है। खजुराहो के जैन मंदिरों में पार्श्वनाथ मंदिर अत्यधिक विशाल है। उसकी ऊँचाई 68 फुट है। मंदिर के भीतर का भाग

महामण्डप, अन्तराल तथा गर्भगृह—इन तीन मुख्य भागों में विभक्त है। उनके चारों ओर प्रदक्षिणा मार्ग है। इस मंदिर की छत का कटाव विशेष कलात्मक है और खजुराहो के स्थापत्य विशेषज्ञों की दक्षता का परिचायक है। मंदिर के प्रवेश-द्वार पर गरुड़ पर दसभुजी जैन देवी आरूढ़ है। गर्भगृह की द्वारशाखा पर पद्मासन तथा खड्गासन में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उकेरी गई हैं। खजुराहो के इन मंदिरों में विविध आकर्षक मुद्राओं में सुरसुंदरियों या अप्सराओं की भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इन मूर्तियों में देवांगनाओं के अंग-प्रत्यंगों के चारुबिन्यास तथा उनकी भावभंगिमाएँ विशेष रूप से दर्शनीय हैं। खजुराहो का दूसरा मुख्य जैन मंदिर आदिनाथ का है। इसका स्थापत्य पार्श्वनाथ मंदिर के समान है।

विदिशा जिले के ग्यारसपुर नामक स्थान में माला-देवी का मंदिर है। उसके बहिर्भाग की सज्जा तथा गर्भगृह की विशाल प्रतिमाएँ कलात्मक अभिरुचि की द्योतक हैं। मध्य भारत में मध्यकाल में खालियर, देवगढ़, चन्देरी, अजयगढ़, अहार आदि स्थानों में स्थापत्य तथा मूर्तिकला का प्रचुर विकास हुआ।

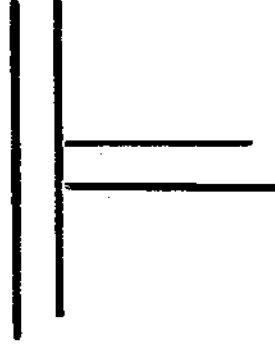
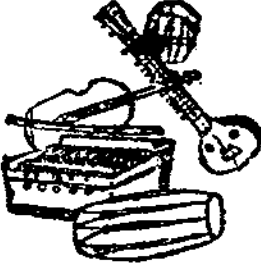
जैन स्थापत्य तथा मूर्तिकला का प्राचुर्य 'देवालय-नगरों' में देखने को मिलता है। ऐसे स्थलों पर सैकड़ों

मंदिर पास-पास बने हुए हैं। मध्यप्रदेश में पपौरा, अहार, धूबोन, कुण्डलपुर, सोनागिरि आदि अनेक स्थलों पर जैन मंदिर-नगर निर्मित हुए। ऐसे मंदिर-नगरों के लिए पर्वत शृंखलाएँ विशेष रूप से चुनी गयीं।

भारत के अनेक राजवंशों ने जैन-कला की उन्नति में योग दिया। गुप्त शासकों के बाद चालुक्य, राष्ट्रकूट, कलचुरि, गंग, कदम्ब चोल तथा पाण्ड्य वंश के अनेक राजाओं ने जैन-कला को संरक्षण तथा प्रोत्साहन दिया। इन वंशों के कई राजा जैन धर्मानुयायी थे। इनमें सिद्ध-राज जयसिंह, कुमारपाल, अमोध वर्ष, अकालवर्ष तथा गंगवंशी भारसिंह द्वितीय के नाम उल्लेखनीय हैं। इन शासकों को जैन धर्म की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय स्वनामधेय हेमचन्द्र, जिनसेन, गुणभद्र, कुन्दकुन्द आदि जैन आचार्यों को है। राज्य-संरक्षण प्राप्त होने एवं विद्वान् आचार्यों द्वारा धार्मिक प्रचार में क्रियात्मक योग देने पर जैन साहित्य तथा कला की बड़ी उन्नति हुई। मध्यकाल में अठारहवीं शती के अन्त तक प्रायः समस्त भारत में जैन मंदिरों एवं प्रतिमाओं का निर्माण जारी रहा। सामाजिक-धार्मिक इतिहास की जानकारी के लिए यह सामग्री महत्व की है।

□ □

जैन धर्म और संगीत



मगवान महावीर ने संसार को अनादि-अनंत कहा है। संसार का न आदि है और न अंत। इसलिये जैन दर्शनकारों ने कहा है कि संसार के उत्थान और पतन का क्रम चलता रहता है। इसी उत्थान और पतन की अवस्था में तीर्थंकरों का जन्म होता है और वे इस क्रमानुसार अनन्त हो गये हैं और होते रहेंगे। जितने भी पूर्वकाल में तीर्थंकर हो गये हैं उन्होंने अपना प्रवचन राग 'मालकोश' में ही दिया और भविष्य में होने वाले

गुलाबचन्द्र जैन

भी 'मालकोश' की ध्वनि में ही देंगे। संगीत के विषय की उत्पत्ति का निश्चय करना बालचेष्टा ही है। इतना अवश्य है कि रागों में उत्थान और पतन समयानुकूल, प्रकृति के परिवर्तनानुसार होता ही रहता है। इसी दृष्टि से हम लोग ऐतिहासिक तथ्यों पर विशेष भार देकर उसमें उलझने लगते हैं और ध्वनि की वास्तविक तरंगों और उसके क्रिया एवं शक्ति से हम वंचित हो जाते हैं। जैन दर्शन में रागों का कितना महत्व है और

उसका काल कितना लंबा है, यह साधारण मानव के बुद्धिग्राह्य के बाहर की बात है। वर्तमान में मानव, जिनकी बुद्धि सीमित है और अनुप्रेक्षा से रहित है, उपरोक्त तथ्य को मानने को आज भी तैयार नहीं हैं परन्तु जो नवीन वस्तुओं को पुनः प्रकाशित करना चाहते हैं वे तथ्यों को कभी भी अस्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि भूतकाल में जो शक्ति उत्पन्न हुई है उनका नाश कभी नहीं हुआ है। वे इसी आकाश प्रदेश में विद्यमान हैं क्योंकि यदि हम वस्तुओं का विनाश मान लेते हैं तो वस्तुओं का अभाव हो जाता है। वस्तुओं के ही अभाव होने पर उत्पत्ति के आधार का अभाव होता है जो युक्ति संगत नहीं है। जिस प्रकार वायु अस्थिर रहती है उसी तरह प्रत्येक परमाणु भी स्थिर नहीं रहते वे निरंतर गमनागमन कार्य करते रहते हैं। वायु को जिस प्रकार एकत्रित कर उसमें शक्ति पैदा की जाती है उसी प्रकार परमाणु को भी संग्रहीत कर उससे मनचाहा काम लिया जाता है। प्रत्येक परमाणु में रूप, रंग, गंध, स्पर्श एवं शब्द आदि गुण एक दूसरे से मिला और अभिन्न रहते हैं। इसलिये उनके संग्रहीत करने में इस बात का ध्यान रखना पड़ता

है कि किस प्रकार के कंपन का और कितनी मात्रा में उपयोग किया जाय कि परमाणुओं का समूह हमारी इच्छा के अनुसार कार्यरूप में परिणत हो। भगवान महावीर ने कहा है कि हमारे मुँह से जो शब्द निकलते हैं वे हमें या दूसरों को सुनाई नहीं पड़ते। जो भाषा या शब्द हमारे मुँह से निकलते हैं, वे इतने सूक्ष्म और तीव्र गतिशील होते हैं कि एक समय जिसका दो भाग नहीं हो सकता, उतने समय में सारे लोकाकाश में वे फैल जाते हैं और दूसरे समय में लोकाकाश के अंतिम हिस्से से टकराकर समूह रूप में परिणित होते हैं तब सामूहिक परमाणु में ध्वनि उत्पन्न होती है जो हमें सुनाई पड़ती है। इसकी पुष्टि शकभाष्य के प्रथम खण्ड और भगवतीसूत्र, परमाणु उद्देशक, पुदगल उद्देशक और भाषा उद्देशक में मिलती है। उपरोक्त उद्देशकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'परमाणु' पुदगल के रूप में किस प्रकार परिवर्तित होता है और भाषा वर्णनाओं के लिये कितने परमाणुओं एवं परमाणुओं के स्कंधों की आवश्यकता पड़ती है, जो श्रोतेन्द्रियों के ग्रहण योग्य बनती हैं।

वैशेषिक और न्याय दर्शन में भी परमाणु के विषय में बताया गया है कि सूर्य की किरणें छिद्र से से होकर बाहर आती हैं तथा उसमें जो छोटे-छोटे अति सूक्ष्म रजकण दिखाई पड़ते हैं उनका साठवां भाग परमाणु मान लिया गया है। परन्तु जैन दर्शनकारों का कथन है कि अनन्त परमाणुओं का स्कंध बनने पर भी वे दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। जैन दर्शनानुसार अनन्त परमाणु के स्कंध वाले, स्कंधों से भी जो अनन्त हो और जब उसका पिण्ड बनता है तब वे इन्द्रिय-ग्राह्य बनते हैं। ऊपर कह आये हैं कि हर एक परमाणु में अपनी विशेष वर्णन शक्ति रहती है। जिस परमाणुओं से भाषा बनती है उन्हें जैन दर्शन में भाषा वर्णना कहा है। परमाणुओं का स्कंध किस तरह बनता है इसके विषय में कहा गया है कि, 'काय वाङ्मय मन ; कर्म-

योगः'। अर्थात् मन, वचन और काया के योग से जो एक प्रकार का विशेष रूप से कंपन होता है अथवा जिसे कंपन किया कहा जाता है उस कम्पनानुसार ही परमाणुओं का स्वतः संचय होता रहता है। जिस प्रकार चुम्बकीय शक्ति से लोह के परमाणु स्वतः खिंच कर उसमें आ मिलते हैं उसी प्रकार अपने गुणों के अनुसार स्वधर्मी स्वधर्मी में आकर मिलते रहे हैं और कार्यरूप में परिणत होते रहते रहते हैं। उसमें उतार-चढ़ाव अथवा हानि और वृद्धि जो होती रहती है उसका कारण आपस में मिलकर और पुनः अलग-विलग हो जाने में होती है। सामान्य दृष्टि से कम्पन की मात्रा एक सैकेण्ड में 240 मान ली है और उस ध्वनि को मन्द, मध्य तथा तीव्र में विभाजित की है जो 22 श्रुतियों के नाम से कही जाती है। तीव्र में 3800 मात्रायें संगीत के रूप में मान ली गयी है। उससे अधिक मात्रा होने पर वह ध्वनि संगीत न कहलाकर कोलाहल की श्रेणी में आती है। कहने का आशय यह है कि संगीत-शास्त्र में जो श्रुतियों और ध्वनि मात्राओं की रूपरेखा तैयार की है, वह सूक्ष्म दृष्टि से न कर स्थूल दृष्टि से है, क्योंकि कार्य रूप में और इंद्रियों के ग्राह्य योग्य कितना कम्पन कम से कम आवश्यक है, ताकि वह व्यवहार में सुचारु रूप से उपयोग हो सके। इसलिये उस ध्वनि का नाम संगीत रखा—'सम' अर्थात् सम्यक प्रकार में श्रोतेन्द्रिय की शक्ति में किसी प्रकार से विकार पैदा न करे उसकी शक्ति से वृद्धि और सुचारु रूप से उसमें सहायक भूत हो वह सम्यक ध्वनि ही संगीत कही जाती है। संगीत में तीन अक्षर हैं सं-गी-त बीच के अक्षर 'गी' अर्थात् गीवा वाणी को निकालने से, 'संत' बचता है। संतों की 'गी'—अर्थात् वाणी को संगीत कहते हैं। रागद्वेष से रहित संतों के हृदय के भाव, उनके उद्गार जो निकलते थे, उसमें ऐसी शक्ति थी कि लोग आकर्षित हो जाते थे और उसको ही भव्य प्राणी लक्ष्य मानकर अनुकरण करते और वही संगीत कहा जाता था।

यशोधरा में कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी गीत की परिभाषा कही है—“अधर पर मुस्कराहट है, नैनों से नीर बहता है, हृदय की हूक हँस पड़ती, जिसे जग गीत कहता है।”

जैन आगमों में यह कहा गया है कि जिस समय भगवान महावीर के कान से खीले खींच कर निकाले गये उस समय उन्हें इतनी अधिक वेदना हुई थी कि उनके मुख से ऐसी तेज ध्वनि (चीख) निकली कि जिस पहाड़ी के तले वे काउसगंग में खड़े थे उसमें दरार पड़ गयी। आज के युग में इस बात को शायद ही कोई बिरला व्यक्ति मानने पर तैयार हो; पर अधिकांश मानने को तैयार नहीं हैं। संगीत की ध्वनि में इतनी शक्ति है तथा आकर्षण है कि वह बड़े-बड़े पहाड़ों में भी दरारें पैदा कर देती है।

प्राणियों को “संगीत” ध्वनि तरंगों के अनुसार सात्विक, राजस तथा तामस प्रकृतियों में बदल देता है। ध्वनि तरंगों का कितना अकाद्य प्रभाव पड़ता है जिसका साक्षात्कार हमें नृत्य में और सरकसों में, मौत की सीढ़ी पर चढ़ने वालों में, लड़ाई में अनेक कर्त्तव्यों को देखकर होता है। शास्त्रों में जो लिखा गया है कि ध्वनि से अनेक बीमारियाँ कट जाती हैं; उसे आज वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।

प्रश्न यहां यह रह जाता है कि भगवान महावीर ने तथा इनके पूर्व में जितने भी तीर्थंकर हुये वे सभी ने “मालकोश” की ध्वनि में ही क्यों प्रवचन दिये हैं। इस विषय के लिये जिज्ञासुओं को चाहिये कि नंदी सूत्र, आवश्यक भाव्य द्रव्यानयोग और भगवती सूत्र आदि आगमों को सूक्ष्म दृष्टि से देखें। इसका सामान्य एक कारण यह भी है कि मालकोश राग में तेज तत्त्व विशेष रूप से रहे हुये हैं। वैशेषिक जिसके कर्त्ता कणाद, न्याय सूत्र जिसके कर्त्ता गौतम हैं तथा तर्क-संग्रह जिसके कर्त्ता अन्नमदृ है, उन्होंने अपने ग्रंथों में तेज का स्वरूप

बताते हुये बताया कि तेज में एक विशेष नित्य समवाय संबंध तेज-गुण, रूप रहा हुआ है, वही रूप, तेज, हर प्राणी को आकर्षित करता है और उसको ग्रहण करने वाली आँख है। इन सब बातों से यह सरलता से समझ में आ सकता है कि मालकोश की ध्वनि का यही अभि-प्राय है कि मानव के अन्दर अज्ञान, अंधकार, मिथ्या ज्ञान, अविवेक जो रहा हुआ है उसे निकालने के लिये तेज शक्ति ताप और वैसे ही रूप की आवश्यकता रहती है कि वह अंधकार रूपी मिथ्याभिमान से निकलकर वास्तविक अपने स्वरूप को देखे और उस तेज को ग्रहण कर अंधकार से छुटकारा पाये। कहावत भी है कि जिसके चहरे और बाणी में तेज (नूर) नहीं, वह नर होते हुये भी नराधम है। हम आप सभी यही बात कहते हैं कि सामान्य मानव की बाणी कितनी गंभीर और तेजपूर्ण है कि उसके बाणी को सुनकर क्रूर से क्रूर हिसक प्राणी भी; जिस तरह आंच पाकर लोहा पिघल कर बहने लगता है, उसी प्रकार उसमें भी रहे हुये बुरे विचार पिघलकर बहने लगते हैं। ऐसी अवस्था में यदि हम मिथ्या अभिमान को एक बाजू में रखकर शान्त चित्त से विचार करें तो वास्तविकता हमारे समझ में आ जावेगी कि सामान्य जन की बाणी में ध्वनि का इतना प्रभाव है तो जो तीर्थंकर या अवतारी पुरुष या भगवान होते हैं उनकी बाणी की ध्वनि कितनी तेज युक्त रहती होगी कि उस बाणी के प्रभाव से तीनों लोक के प्राणी अपनी भूलों को स्वीकार करके उनके चरणों में मस्तक झुकाकर अपने को अहोभाग्य समझते हैं।

जैन दर्शन संसार को जब अनादि—अनंत मानता है तब यह कथन प्रागैतिहासिक काल का हो जाता है। इसलिये हम ऐतिहासिक दृष्टि से इसके विषय में भगवान महावीर की उपस्थिति में संगीत का जैन दर्शन में कितना स्थान था इसी को लक्ष्य कर ही इसका प्रति-पादन करते हैं। आगमों में जो संकलन किया गया वह क्रमबद्ध न होकर प्रसंगानुसार पाया जाता है। हमारे सामने इस समय जो संकलन है वह वाचना देववृद्धि

गणिका है। इसके पूर्व 3 वाचना का संकलन हुआ था जो लिपिबद्ध नहीं मिलता। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे वाचनायें पुनरावर्ती के रूप में मुख्याग्रही करा दी गयी होंगी। यदि लेख रूप में होते तो कुछ अंशों में अवश्य मिलते। जैन आगमों के सिवाय अन्य प्रकरणों में और स्वतंत्र रूप से भी अति सूक्ष्म दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थ संपूर्ण नहीं मिलते। उन ग्रन्थों का नाम अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है। इसमें अनुमान लगाया जाता है कि कुछ असावधानी से खराब हो गये, कुछ बाहर विदेश चले गये और इसके पूर्व भारतीय दर्शन का अधिकांश भाग जैन, वैदिक आदि सभी दर्शनों सहित नष्ट कर दिया गया। इसलिये हमारे सामने जो वर्तमान में ग्रन्थ आगम आदि हैं उन्हीं के आधार पर कुछ दिग्दर्शन कराया जा सकता है। वर्तमान अनुसंधानकर्ता (रिसर्च करने वाले) वर्तमान ग्रन्थों के आधार पर ही अंतिम छाप लगा बैठते हैं। पर यह विचारणीय है कि अंतिम छाप तो वह लगा सकता है जो सर्वज्ञ और अंतर्यामी हो। छद्मस्थ यदि ऐसा करता है तो यह उसकी अनाधिकार चेष्टा है।

वाद्यों से संबंधित ग्रंथ

स्थानाङ्ग 4

प्रस्तुत ग्रन्थ में वाद्यों के चारों प्रकारों के वर्गीकरण का उल्लेख है। जैसे :—

- (1) तत् — तंतुवाद्य, वीणा आदि,
- (2) तितत — मंडे हुये वाद्य, पटह आदि,
- (3) घन — कांस्यताल
- (4) भुशिर — शुशिर-फूँक द्वारा बजने वाले वाद्य, बांसुरी आदि।

राजप्रज्ञेय सूत्र 64

प्रस्तुत ग्रन्थ में (1) शंख, (2) शृंग, (3)

शंखिका, (4) खरमुही, (5) पेया (6) पीरिपिरिया—शूकर-पुटावनद्धमुखोवाद्य विशेष, (7) पणव-लघु पटह, (8) पटह, (9) होरंभ (10) महाढक्का, (11) मेरी, (12) झल्लरी, (13) दुंदुभि-वृक्ष के एक भाग को भेदकर बनाया गया वाद्य, (14) मुरज-शंकटमुखी, (15) मृदंग आदि 60 प्रकार के वाद्यों का उल्लेख किया गया है।

बृहत्कल्पभाष्यपीठिका 24 वृत्ति

इस पुस्तक में वाद्यों के नामों का निम्न प्रकार से उल्लेख मिलता है :—

- (1) भंभा (2) मुकुन्द (3) मद्दल (4) कडंब (5) झल्लरि (6) हुडुक्क (7) कांस्यताल (8) काहल (9) तलिमा (10) वंश (11) पणव तथा (12) शंख।

स्थानाङ्ग ग 7, उ. 3 एवं अनुयोग द्वार

उपरोक्त ग्रन्थों में 'संगीत' की व्याख्या विशद रूप से की गयी है। इसमें गीत के तीन प्रकार बताये गये हैं :—

- (1) प्रारम्भ में मृदु (2) मध्य में ते (3) अन्त में मन्द।

गीत के दोष

- (1) भीतं—भयभीत मानस से गया जाय,
- (2) द्रुतं—बहुत शीघ्र शीघ्र गाया जाय,
- (3) अपित्वं—स्वास युक्त शीघ्र गाया जाय अथवा ह्रस्व स्वर लघु स्वर से ही गाया जाय।
- (4) उत्तालं—अति उत्ताल स्वर से व अवस्थान ताल से गाया जाय।
- (5) काकस्वरं—कोए की तरह कर्ण-कटु शब्दों से गाया जाय।

(6) अनुनासिकम्—अनुनासिका से गाया जाय।

अक्षरादि सम भी सात प्रकार का है :—

गीत के आठ गुण

- (1) पूर्ण—स्वर, लय और कला से युक्त गाया जाय।
- (2) रक्त—पूर्ण तल्लीन होकर गाया जाय।
- (3) अलंकृत—स्वर विशेष से अलंकृत होकर गाया जाय।
- (4) व्यक्त—स्पष्ट गाया जाय।
- (5) अविधुष्ट—अविपरीत स्वर से गाया जाय।
- (6) मधुर—कोकिला की तरह मधुर गाया जाय।
- (7) सम—ताल, वश, व स्वर से समत्व गाया जाय।
- (8) सुललित—कोमल स्वर से गाया जाय।

- (1) अक्षर सम—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सानुनासिका से युक्त।
- (2) पद—सम : पद विन्यास से युक्त।
- (3) ताल—सम : ताल के अनुकूल कर आदि का हिलाना।
- (4) ग्रह—सम : बांसुरी या सितार की तरह गाना।
- (5) लय—सम : वाद्य यंत्रों के साथ स्वर मिला कर गाना।
- (6) निश्वासितोच्छ्वसितो—सम : श्वास ग्रहण करने और निकालने का क्रम व्यवस्थित।
- (7) संचार—सम : वाद्य यंत्रों के साथ गाना।

प्रकारान्तर से अन्य आठ गुण :

अन्य आठ गुण

- (1) उरोविशुद्ध—अक्षस्थल से विशुद्ध होकर निकलना।
- (2) कण्ठविशुद्ध—जो स्वर भंग न हो।
- (3) शिरोविशुद्ध—मूर्धा को प्राप्त होकर भी जो स्वर-नासिका से मिश्रित नहीं होता।
- (4) मृदुक—जो राग कोमल स्वर से गाई जाय।
- (5) रिगित—आलाप के कारण स्वर अठखेलियां करता सा प्रतीत हो।
- (6) पदबद्ध—जो गेय पद विशिष्ट लालित्य युक्त भाषा में निमित्त किये गये हों।
- (7) समताल प्रत्युत्सेप—नर्तकी का पाद निक्षेप और ताल आदि परस्पर मिले हों।
- (8) सप्त स्वर सोमर—सातों स्वर अक्षरादि से मिलान खाते हों।

- (1) निर्दोष—गीत के बत्तीस दोष से रहित गाना।
- (2) सारवन्तं—विशिष्ट अर्थ से युक्त गाना।
- (3) हेतुयुक्त—गीत से निबद्ध, अर्थ का गमक और हेतु युक्त।
- (4) अलंकृत—उपमादि अलंकारों से युक्त।
- (5) उपनीत—उपनय से युक्त।
- (6) सोपचारं—कठिन न हो, विशुद्ध हो।
- (7) मितं—संक्षिप्त व सार युक्त।
- (8) मधुरंभ—मोक्ष शब्दों के चयन से श्रुति मधुर।

छन्द के तीन प्रकार :—

- (1) सम—चारों पाद के अक्षरों की संख्या समान।
- (2) अर्धसम—प्रथम और तृतीय, द्वितीय और चतुर्थ पाद समान संख्या वाले हों।

(3) विषमसम—किसी भी पाद की संख्या एक दूसरे से नहीं मिलती हो ।

सप्त-स्वर :—

(1) षडज : नासिका, कंठ, छाती, तालु, जिह्वा, दांत इन छह स्थानों से उत्पन्न ।

(2) ऋषभ : जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर कण्ठ और मूर्ध्वा से टक्कर खाकर वृषभ के शब्द की तरह निकलता हो ।

(3) गांधार : जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर हृदय और कण्ठ को स्पर्श करता हुआ समंघ निकलता हो ।

(4) मध्यम : जो शब्द नाभि से उत्पन्न होकर हृदय से टक्कर खाकर पुनः नाभि में पहुँचे । अर्थात् अन्दर ही अन्दर गूँजता रहे ।

(5) पंचम : नाभि, हृदय, छाती, कंठ और सिर इन पांच स्थानों से उत्पन्न होने वाला स्वर ।

(6) धैवत : अन्य सभी स्वरों का जिसमें मेल हो, इसका अपर नाम धैवत भी है ।

(7) निषाद : जो स्वर अपने तेज से अन्य स्वरों को दबा देता है और जिसका देवता सूर्य हो ।

ग्राम और मूर्च्छनाएँ :

सात स्वरों के तीन ग्राम हैं :—

(1) षडज ग्राम (2) मध्य ग्राम तथा (3) गांधार ग्राम ।

षडज ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ :

(1) मार्गा (2) कौरवी (3) हरिता (4) रत्ना (5) सारकान्ता (6) सारसी (7) शुद्ध षडजा ।

मध्य ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ :

(1) उत्तरमंदा (2) रत्ना (3) उत्तरा (4) उत्तरासमा (5) समकान्ता (6) सुवीरा (7) अमिरूपा ।

गांधार ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ :

(1) नदी (2) क्षुद्रिका (3) पूरिमा (4) शुद्ध गांधार (5) उत्तरगांधार (6) सुष्ठुतर मायाभा (7) उत्तरायत कोटिया ।

संगीत-शास्त्र में मूर्च्छनाओं के नाम अन्य उपलब्ध होते हैं :—

(1) ललिता (2) मध्यमा (3) चित्रा (4) रोहिणी (5) मतंगजा (6) सौबोरी (7) षण्मध्या ।

(1) पंचमा (2) मत्सरी (3) मृदुमध्यमा (4) शुद्धा (5) अत्रा (6) कलावती (7) तीव्रा ।

(1) रौद्री (2) ब्राह्मी (3) वैष्णवी (4) खेवरी (5) सुरा (6) नादावती (7) विशाला ।

वर्तमान की उपलब्धियों से वैदिक ग्रन्थों के आधार पर भरत का नाट्यशास्त्र आदि माना जाता है, जिसमें संगीत विभाग (28 से 36 तक) है । उसमें गीत और वाद्यों का विवरण पाया जाता है किन्तु रागों के नाम और उनका विवरण नहीं बताया गया ।

भरत के शिष्य दत्तिल, कोहल और विशाखिय इन तीनों ने ग्रन्थ की रचना की थी । प्रथम का दत्तिलम्, दूसरे का कोहलीयम् और तीसरे का विशाखिलियम् ग्रन्थ था । वर्तमान में विशाखिलियम् अप्राप्त है ।

मध्यकाल में हिन्दुस्तानी और कर्णाटक की पद्धतियों का प्रचार हुआ और उसके साथ आचार्यों ने संगीत पर अनेक ग्रन्थ भी लिखने प्रारंभ कर दिये। सन् 1200 में सब पद्धतियों का मंथन कर शारंगदेव ने, “संगीत रत्नाकार” नामक ग्रंथ लिखा। उस पर छः टीका ग्रंथ भी लिखे गये। इनमें से चार टीका ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। अर्धभागधी (प्राकृत) में रचित “अनुयोग द्वार” सूत्र में संगीत विषयक सामग्री पद्य में मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत संस्कृत में भी अनेक ग्रंथ रहे होंगे क्योंकि कोई भी ग्रंथ लिखने के लिये उसके पूर्व की आधारशिला आवश्यक रहती है। उपरोक्त जैन आगमों और अन्य ग्रन्थों के आधार पर जैन आचार्यों ने भी संगीत पर कुछ ग्रन्थों की रचना अति पौनी दृष्टि से की है।

“संगीत समयसार”

(यह ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला में छापा गया है)।

दिगम्बर जैन मुनि अभयचन्द्र के शिष्य महादेवाचार्य और उनके शिष्य पार्श्वचन्द्र ने, “संगीत समयसार” नाम के ग्रन्थ की रचना लगभग वि. सं. 1380 में की है। इस ग्रन्थ में नव अधिकरण है, जिनमें नाद, ध्वनि, स्थायी, राग, वाद्य, अभिनय, ताल, मस्तार और आध्वयोग—इस प्रकार अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें प्रताप दिगम्बर और शंकरनामक ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है और भोज, सामेस्वर, परमदीं इन तीन राजाओं का नाम भी पाया जाता है। (विशेष परिचय के लिये देखें जैन सिद्धांत भास्कर भाग-9 अंक-2 और भाग-10 अंक-10)।

“संगीतोपनिषत् सारोद्धार”

यह ग्रन्थ आचार्य राजशेखर सूरि के शिष्य सुधाकलश ने वि. सं. 1406 में लिखा। यह ग्रंथ गायकवाड़ा

आरियेन्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित हो गया है। यह ग्रन्थ स्वयं सुधाकलश द्वारा वि. सं. 1380 में रचित “संगीतोपनिषद” का स्वरूप है। इस ग्रंथ में 6 अध्याय हैं और 610 श्लोक हैं। प्रथम अध्याय में गीत प्रकाशन, दूसरे में प्रशस्ति सौपाश्रय—ताल प्रकाशन, तीसरे में गुणस्वर रागादि प्रकाशन और छठे में नित्य पद्धति प्रकाशन है।

यह कृति “संगीत मकरंद” और संगीत पारिजात से भी विशिष्टतर और अधिक महत्व की है।

इस ग्रंथ में नरचन्द्र सूरि का, “संगीतज्ञ” के रूप में भी उल्लेख हुआ है। प्रशस्ति में अपनी “संगीतोपनिषत्” रचना के वि. सं. 1380 होने का उल्लेख भी है।

मलधारी, अभयदेवसूरि की परम्परा में अभीचन्द्र सूरि हो गये हैं। वे संगीत-शास्त्र में विशारद थे, ऐसा उल्लेख सुधाकलश मुनि ने किया है।

“संगीतोपनिषत”

आचार्य राजशेखर सूरि के शिष्य सुधाकलश ने “संगीतोपनिषत” ग्रन्थ की रचना सं. 1308 में की। ऐसा उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वयं सं. 1406 में अपने “संगीतोपनिषत सारोद्धार” नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति में किया है। यह बहुत बड़ा था जो अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया।

सुधाकलश ने “एकाक्षरनाम माला” की भी रचना की है।

“संगीत मंडन”

मालवा—मांडवगढ़ के सुलतान आलमशाह के मंत्री मंडन ने विविध विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उनमें

“संगीत मंडल” भी एक है। इस ग्रंथ की रचना सं. 1490 के आस-पास हुई है। इसकी हस्त-लिखित प्रति मिलती है। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है।

“संगीत दीपक, संगीत रत्नवाली, संगीत पिंगल”

इन तीनों ग्रंथों का उल्लेख जैन ग्रन्थावली में मिलता है। परन्तु इनके विषय में अभी तक नाम के सिवाय विशेष जानकारी नहीं मिलती।

नाट्य

यो यं स्वभावो लोकस्य सुख दुःख समन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयो येतो, नाट्यमित्यभिधीयते ॥

दुःखी, शोकार्त, श्रान्त एवं तपस्वी व्यक्तियों को विश्रान्त देने के लिये नाट्य की सृष्टि की गयी। सुख-दुःख से युक्त लोक स्वभाव ही आंगिक, वाचिक इत्यादि अभिनवों से युक्त होने के कारण नाट्य कहलाता है। नाट्य मुद्रायें और चित्रकला—प्राणियों के लिये एक विशेष स्वाभाविकता रही है, जिसके आधार पर ही यह अपने मानसिक, वाचिक और कायिक भावों का दूसरों पर प्रभाव डालता है। नाट्यकला, मुद्राकला और संगीत कला ये तीनों कला आपस में इस तरह मिली हुई हैं कि जिस प्रकार सूर्य से ताप या प्रकाश अलग नहीं किया जा सकता। मानव के अंतःस्थल में जन भावावेश की जागृति होती है। तदनुकूल उसकी मन-सिक, वाचिक तथा कायिक चेष्टायें स्वतः स्वाभाविक (नेचुरल) प्रकट होने लगती हैं। ये तीनों कलायें सीखनी नहीं पड़ती। वह (मानव) जन्म से ही साथ लेकर जन्मता है और मरणोपरांत भी पुनर्जन्म के समय उसके साथ बनी रहती हैं। लोक आकर्षण के लिये मानसिक प्रवृत्ति न होने पर भी वैसा भाव दिखाना जब कभी आवश्यक होता है और उसका निराकरण करना भी आवश्यक होता है ऐसी अवस्था में उसमें विशेष रूप

से शिक्षा-दीक्षा आदि देकर साधक की रुचि के अनुसार उसमें उसे प्रवीण करा दिया जाता है। किसी भी कार्य की पूर्ति के लिये मुख्य दो साधन होते हैं। प्रथम आंतरिक तथा दूसरा बाह्य। बाह्य साधन आंतरिक का पूरक है। इसलिये ग्रंथों का प्रकाशन शिक्षा-दीक्षा जितने भी कार्य किये या कराये जाते हैं, आंतरिक भावों की जागृति विशेष के लिये ही होते हैं। वह जागृत अवस्था चाहे भौतिक वस्तु की प्राप्ति के लिये हो अथवा आध्यात्मिक निःश्रेय मार्ग को प्राप्त करने के लिये हो; यह तो साधक के मानसिक विचारों और उसके पक्ष पर ही आधारित है। ऋषि-मुनियों ने जो मार्ग दर्शन हमें कराया उनका एकमात्र लक्ष्य निश्रेय मार्ग अर्थात् अपवर्ग मार्ग का ही विशेष लक्ष्य रहा है। परन्तु भौतिक या अर्थ की ओर जिनका लक्ष्य रहा, उन्होंने इसका उपयोग अर्थ प्राप्ति के लिये ही किया। इससे इन कलाओं में स्वाभाविक गुण और शक्ति का ह्रास होने लगा है क्योंकि लक्ष्य, लोक रुचि की ओर होने से लोक रुचि अनुसार रजकता लाने के लिये इन रागों, मुद्राओं और नाट्य कलाओं में परिवर्तन करना पड़ता है। इससे वहाँ की वस्तुकला वास्तविकता से हटकर अपने स्वरूप को खो बैठती है।

“नाट्य दर्पण”

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरि के दो शिष्यों कवि कहारथल विरुद्धधारक रामचन्द्र सूरि और उनके गुरु माई गुणचन्द्र गणि ने मिलकर “नाट्यदर्पण” की रचना वि. सं. 1200 के आस-पास की है।

नाट्यदर्पण में चार विवेक हैं जिनमें सब मिलकर 207 पद्य हैं।

प्रथम विवेक “नाट्यदर्पण” में नाटक संबंधी सब बातों का निरूपण किया गया है। इसमें 1 नाटक, 2 प्रकरण, 3 नाटिका, 4 प्रकरणी, 5 व्यायोग, 6 समवकार, 7 भाण, 8 प्रहसन, 9 डिम, 10-उत्तसास्ति-

कार्तिक 11 इहामृता तथा 12 वीथी—इस प्रकार बारह प्रकार के रूपक बताये गये हैं। पांच अवस्थाओं और पांच संधियों का भी उल्लेख है।

द्वितीय विवेक “प्रकरणाद्यकादशनिर्णय” में प्रकरण से लेकर वीथी तक के 11 रूपकों का वर्णन है। इसमें वृत्ति, रस, भाव और अभिनय का विवेचन है।

तृतीय विवेक “वृत्तिरस-भावामिनय विचार” में चार वृत्तियों, नव रसों, नव स्थायी भावों, तैत्तिरीय व्यभिचारी भावों, रस आदि आठ अनुभावों और अभिनवों का निरूपण है।

चतुर्थ विवेक “सर्वरूपक साधारण लक्षण निर्णय” में सभी रूपकों के लक्षण बताये गये हैं।

आचार्य रामचन्द्र सूरि समर्थ आशुकवि के रूप में प्रसिद्ध थे; गुण-दोषों के बड़े परीक्षक थे। इन्होंने नाटक आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। गुरु हेमचन्द्रचार्य ने जिन नाटक आदि ग्रंथों पर नहीं लिखा था उन विषयों पर इन्होंने अपनी लेखनी चलाई। ये प्रबंध शतकर्ता भी माने गये हैं। प्रबंध शतक ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसे समय कवि की अकाल मृत्यु सं. 1230 के आस-पास राजा अजयपाल के निमित्त हुई। ऐसी सूचना प्रबंध से मिलती है। इनके गुरुभाई गुणचन्द्र सूरि भी समर्थ विद्वान् थे। उन्होंने “संवृत्तिक द्रव्यालंकार” आचार्य रामचन्द्र सूरि के साथ रचना की है।

आचार्य रामचन्द्र सूरि ने जो ग्रंथ लिखे हैं, उनमें वर्तमान समय में निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं :—

(1) कौमुदीमियाणंद (प्रकरण), (2) नलविलास (नाटक), (3) निर्भय, (4) मल्लिकामकरंद (प्रकरण), (5) यादवाभ्युदय (नाटक), (6) रघुविलास (नाटक), (7) राघवाभ्युदय (नाटक), (8) रोहिणी मृगांक (प्रकरण), (9) बनमाला (नाटिका), (10) सत्य-

हरिश्चन्द्र (नाटक), (11) सुधाकलश (कोष), (12) आदिदेवस्तवन, (13) कुमार विहारशतक, (14) जिनस्तेव, (15) नेमिस्तव, (16) मनुसुब्रस्तव, (17) यदुविलास, (18) सिद्ध हेमचन्द्र, शब्दानुशासन, लघु-न्यास, (19) सोलह साधारण जिनस्तव, (20) प्रसाद्वान्निशिकर, (21) युगादिद्वान्निशिका, (22) व्यतिरेकद्वान्निशिका, (23) प्रबंधशत—यह ग्रंथ अभी तक अप्राप्त है।

“आचार्य दर्पणवृत्ति”

आचार्य रामचन्द्र सूरि और गुण चन्द्र गणि ने अपने नाट्यदर्पण पर स्वोषज्ञ विवृत्ति की रचना की है। इसमें रूपकों के उदाहरण 55 ग्रंथों से दिये गये हैं। स्वरचित कृतियों से भी उदाहरण लिये हैं। इसमें उपरूपकों के स्वरूप का आलेख किया गया है।

घनंजय के “दशरूपक” ग्रंथों को आदर्श रूप में रखकर यह विवृत्ति लिखी गयी है। विवृत्तिकार ने कहीं-कहीं घनंजय के मत से भिन्न मत भी प्रदर्शित किया है। भरत के नाट्य में पूर्वापर विरोध है, ऐसा भी उल्लेख किया है। अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्राचार्य के “काव्यानुशासन” में भी कहीं-कहीं भिन्न मत का भी निरूपण मिलता है। इस दृष्टि से यह कृति विशेष तौर से अध्ययन करने योग्य है। नाट्यदर्पण स्वपोत विवृत्ति के साथ गायकवाड़ा ओरियेन्टल सीरीज में दो भागों में छपा है। इस ग्रंथ का के. एच. त्रिवेदिकृत आलोचनात्मक अध्ययन लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, से प्रकाशित हुआ है।

“प्रबंध शतक”

आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्यत्व आचार्य रामचन्द्र सूरि ने “नाट्यदर्पण” के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र विषयक “प्रबंध शतक” नामक ग्रंथ की भी रचना की थी जो अप्राप्य है।

कला

“चित्रवर्ण संग्रह”

सोमराज रचित “रत्न परीक्षा” ग्रन्थ के अंत में “चित्रवर्ण” संग्रह के 42 श्लोकों का प्रकरण अत्यंत उपयोगी है।

इसमें मित्तचित्र बनाने के लिये भित्ति कैसी होनी चाहिये, रंग कैसा बनाना चाहिये, इत्यादि व्योरेवार वर्णन है।

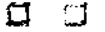
प्राचीन भारत में सित्तनबासल, अजंता, वाघ आदि गुफाओं में और राजा-महाराजों तथा श्रृंष्टियों के प्रसादों में चित्रों को जो आलेखित किया जाता था, उसकी विधि इस छोटे से ग्रंथ से बताई गई है। यह प्रकरण अप्रकाशित है।

“कला-कलाप”

वायड गच्छीय जिनदत्त सूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि की कृतियों के बारे में प्रबंध कोश में उल्लेख है, जिसमें “कला-कलाप” नामक कृति का भी निर्देश है। इस ग्रंथ का शास्त्र रूप में उल्लेख है। परन्तु अभी तक यह अप्राप्य है। इसमें 72 या 74 प्रकरणों का निरूपण है, ऐसी संभावना है।

“मसी-विचार”

“मसी-विचार” नामक ग्रन्थ जेसलमेर भंडार में है, जिसमें ताड़पत्र और कागज पर लिखने की स्याही बनाने की प्रक्रिया बतायी गयी है। इसका जैन ग्रन्थावली पृ. 362 में उल्लेख है।



भारतीय शिल्पकला के विकास में

जैन शिल्पकला का योगदान

डा० शिवकुमार नामदेव

भारत की प्राच्य संस्कृति के लिए जहाँ जैन साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, वहीं जैन कला के अध्ययन का भी कुछ कम महत्व नहीं है। जैन कला अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताओं के कारण भारतीय कला में अपना विशिष्ट महत्व रखती है। जैन धर्म की स्वर्णिम-गौरव-गरिमा की प्रतीक प्रतिमाएँ, पुरातन मंदिर, विशाल स्तंभादि प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के ज्वालंत निदर्शन हैं। अतीत इसमें अंतर्निहित है। सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा एवं अभिवृद्धि में साहित्यकार जहाँ लेखनी के माध्यम से समाज में अपने भावों को व्यक्त करता है, वहीं कलाकार पार्थिव उपादानों के माध्यम द्वारा आत्मस्थ भावों को अपनी सधी हुई छैनी से व्यक्त करता है।

मूर्तिकला के क्षेत्र में जैनकला ने अर्हन्तों की अगणित कायोत्सर्ग एवं पद्मासन ध्यान मग्न मूर्तियों का निर्माण किया है जो पाषाण से लेकर सूँगा, हीरा,

पुखराज, नीलम आदि से निर्मित है। मामूली ताँबा, पीतल से लेकर रजत, स्वर्ण जैसी बहुमूल्य धातुओं से निर्मित आकार में छोटी से छोटी एवं बड़ी से बड़ी जैन धर्म की इन प्रतिमाओं में कितनी ही तो चतुर्मुख एवं कितनी ही सर्वतोभद्र हैं। जैन पुरातत्व की प्रमुख वस्तु प्रतिमा है। भारत के विभिन्न भूभागों में जैन मूर्तियों की उपलब्धि होती रहती है, जिनकी मौलिक मुद्रा एक होते हुए भी परिकर में प्रांतीय प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। मुखाकृति पर भी असर होता है।

जैन मत में मूर्तिपूजा की प्राचीनता एवं विकास का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है।¹ जैन मत दो प्रमुख पंथों श्वेतांबर एवं दिगम्बर में विभाजित है। श्वेतांबर सदेव ही अपनी प्रतिमाओं को बस्त्राभूषण आदि से सुसज्जित रखते थे। ये पुष्पादि द्रव्यों का प्रयोग करते हैं तथा अपने देवालयों में दीपक भी नहीं जलाते। दिगम्बर मूर्तियाँ नग्न रहती थीं।

1. जैन मत में मूर्ति पूजा की प्राचीनता एवं विकास—शिवकुमार नामदेव, अनेकांत, मई 1974।

भारत की प्राचीनतम मूर्तियाँ सिन्धु घाटी में मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा आदि स्थलों के उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। इस सभ्यता में प्राप्त मोहन जोदड़ो के पशुपति को यदि शैव धर्म को देव मानें तो हड़प्पा से प्राप्त नग्न षड को दिगम्बर की खंडित मूर्ति मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।²

सिन्धु सभ्यता के पशुओं में एक विशाल स्कंध-युक्त वृषभ तथा एक जटाजूटधारी का अंकन है। वृषभ तथा एक जटाजूट के कारण इसे प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ का अनुमान कर सकते हैं।³ हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा क्रमांक 300, 317 एवं 318 में अंकित प्रतिमा अज्ञानुलंबित, बाहुद्वय सहित कायोत्सर्ग मुद्रा में है।⁴ हड़प्पा के अतिरिक्त उपरोक्त साक्ष्य हमें मोहन-जोदड़ो में भी उपलब्ध होता है।⁵

मथुरा एवं उदयगिरि-खण्डगिरि का पुरातत्व भी जिन मूर्तियों के प्राचीन आस्तित्व को सिद्ध करते हैं। जैन स्तूप पर मूर्तियाँ अंकित रहती थीं। ईसा की पहली शताब्दी में मथुरा में वह प्राचीन स्तूप विद्यमान था जो इस काल में देव-निमित्त समझा जाता था और जिसे बुलहर तथा स्मिथ ने भगवान पार्श्वनाथ के काल का बताया था।

भारतीय कला का क्रमबद्ध इतिहास मौर्यकाल से प्राप्त होता है। मौर्यकाल में मगध जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। इस काल की तीर्थंकर की एक प्रतिमा लोहानीपुर से प्राप्त हुई है।⁶ मूर्ति के हाथ एवं मस्तक टूट गये हैं। पैर भी जंघा के पास से नहीं हैं। प्रतिमा पर मौर्यकालीन उत्तम पालिश है। तंग वक्षस्थल तथा क्षीण शरीर जैनों के तपस्यारत शरीर का उत्तम नमूना है। पीठ प्रायः चौरस है, पीछे से काठ से प्रतीत होती है। यह प्रतिमा किसी ताख में रखकर पूजार्थ प्रयुक्त की जाती रही होगी। पार्श्वनाथ की एक कांस्य मूर्ति जो मौर्यकाल की मानी जाती है, कायोत्सर्गसिन में है। यह प्रतिमा बम्बई के संग्रहालय में संरक्षित है।

शुंगकाल (185 ई.पू. से 72 ई.पू.) में जैन धर्म के अस्तित्व की द्योतक कतिपय प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। लखनऊ संग्रहालय⁷ में संरक्षित शुंगयुगीन मथुरा से प्राप्त एक कपाट पर ऋषभदेव के सम्मुख अप्सरा नीलांजना का नृत्य चित्रित है। कपाट में अनेक नरेशों सहित ऋषभदेव को बैठे हुए दिखाया गया है, नर्तकी का दक्षिण पैर नृत्य मुद्रा में उठा हुआ है तथा दक्षिण हाथ भी नृत्य की भंगिमया को प्रस्तुत कर रहा है। संगत-राश निकट ही बैठे हुए हैं।

2. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, चित्र फलक क्रमांक 1
3. संरवाइवल ऑफ दि हड़प्पा कल्चर—टी. जी. अमूर्धन, पृष्ठ 55।
4. हड़प्पा ग्रंथ 1, वॉल एम. एस., पृष्ठ 129-130, फलक 93।
5. वही, पृष्ठ 28, मार्गेल—मोहन जोदड़ो एन्ड इन्डस वैली सिविलाइजेशन, ग्रंथ 1, फलक 12, आकृति 13, 14, 18, 19, 22।
6. निहाररजन रे—मौर्य एन्ड शुंग आर्ट, चित्र फलक 28, काम्प्रिहेनसिव हिस्ट्री ऑफ इन्डिया—संपादक के. ए. नीलकंठशास्त्री, चित्र फलक 38, स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, चित्र फलक 1 क्रमांक 2, मौर्य साम्राज्य का इतिहास—सत्यकेतु विद्यालंकार, चित्र फलक 10, भारतीय कला को बिहार की देन—विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह, चित्र संख्या 30।
7. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, चित्र फलक 2, आकृति 5।

प्रिस ऑफ वेल्सम्यूजियम बम्बई में जैन तीर्थंकर पाशवंताथ⁸ की प्राचीन कांस्य प्रतिमा संग्रहीत है। यह कायोत्सर्गसन में है, उनका सर्पेफणों का वितान एवं वक्षिण कर खंडित है। ओष्ठ लंबे एवं हृदय पर श्रीवत्स चिन्हंकित नहीं है, जो परवर्तीकाल में प्राप्त होता है। श्री यू. पी. शाह ने प्रतिमा का काल 100 ई. पू. के लगभग सिद्ध किया है।

शुंगकालीन कंकाली टीला (मथुरा) से जैन स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं इसके साथ ही उसी काल के पूजा पट्ट भी उपलब्ध हुए हैं जिन्हें आयाग पट्ट भी कहा जाता था। यह प्रस्तर अलंकृत है तथा आठ मांगलिक चिन्हों से युक्त है। पूजा निमित्त अमोहिनी ने इसे प्रदान किया था। इस युग का एक प्रधान केन्द्र उड़ीसा में था। यहाँ की उदयगिरि पहाड़ियों पर जैन धर्म से सम्बन्धित गुहायें उत्कीर्ण हैं।

शुंग एवं कुषाण युग में मथुरा जैन धर्म का प्राचीन केन्द्र था। यहाँ के कंकाली टीले के उत्खनन से बहुसंख्यक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ किसी समय मथुरा के दो स्तूपों में लगी हुई थीं। अर्हत नंदावर्त की एक प्रतिमा जिसका काल 89 ई. है, इस स्तूप के उत्खनन से प्राप्त हुई है।

यहाँ से उपलब्ध जैन मूर्तियाँ, बौद्ध मूर्तियों से इतना सदृश्य रखती हैं कि दोनों का विभेद करना कठिन हो जाता है। यदि श्रीवत्स पर ध्यान न दिया जाय तो ऊपरी अंगों की समानता के कारण जैन को बौद्ध एवं बौद्ध को जैन मूर्ति कहने में कोई आपत्ति नहीं होगी। कारण यह था कि कुषाण युग के प्रारम्भ में कला में धार्मिक कट्टरता नहीं थी।

कुषाण युग के अनेक कलात्मक उदाहरण मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से उपलब्ध हुए हैं। यहाँ से प्राप्त एक आयागपट्ट⁹ जिस पर महास्वस्तिक का चिन्ह बना है, के मध्य में छत्र के तीचेपद्मासन में तीर्थंकर मूर्ति है, उनके चारों ओर स्वस्तिक की चार भुजाएँ हैं। तीर्थंकर के मण्डल की चार दिशाओं में चार त्रिरत्न दिखाये गये हैं। कलात्मक दृष्टि से लखनऊ संग्रहालय में संरक्षित आयागपट्ट¹⁰ (क्रमांक जे. 249) महत्वपूर्ण है। इसकी स्थापना सिंहादिक ने अर्हत पूजा के लिए की थी। मध्य में पद्मासन पर बैठी हुई तीर्थंकर मूर्ति है। पट्ट की बाह्य चौखट पर आठ मांगलिक चिन्ह हैं।

आयागपट्ट पर जो मांगलिक चिन्ह हैं उनकी स्थिति से मूर्ति को जैन प्रतिमा मानने में संदेह नहीं रह जाता ये चिन्ह हैं—स्वास्तिक, दर्पण, भस्मपात्र, बेंत की तिपाई (मद्रासन), दो मच्छलियाँ, पुष्पमाला एवं पुस्तक। कुषाण युग के अन्य आयागपट्ट पर जो मांगलिक खुदे हैं उनमें दर्पण तथा नंदावर्त का अभाव है। संभवतः कनिष्क के काल (प्रथम सदी ई.) तक अष्टमांगलिक चिन्हों की अंतिम सूची निश्चित न हो सकी थी।

विवेच्य युग में प्रधानतः तीर्थंकर की प्रतिमाएँ तैयार की गईं जो कायोत्सर्ग एवं आसन अवस्था में हैं। मथुरा के शिल्पियों के सम्मुख यक्ष की प्रतिमाएँ ही आदर्श थीं, अतः कायोत्सर्ग स्थिति में तीर्थंकर की विशालकाय नग्न मूर्तियाँ बनने लगीं। कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त बहुसंख्यक नग्न तीर्थंकर की प्रतिमाएँ लखनऊ के संग्रहालय में हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं में

8. वही, आकृति 3।

9. भारतीय कला—वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ 281-282, चित्र फलक 316।

10. वही, पृष्ठ 282-283, चित्र संख्या 318।

अधोवस्त्र का समावेश कुषाणयुग के पश्चात् किया गया। इस युग में तीर्थंकरों के विभिन्न प्रतीकों का परिज्ञान न हो सका था। विभिन्न तीर्थंकरों को पहचानने के लिए तीर्थंकरों की चौकियों पर अंकित लेखों में नाम का उल्लेख ही पर्याप्त था।

कुषाण युग में मथुरा कला में तीर्थंकरों के लांछन नहीं पाये जाते हैं, जिनसे कालांतर में उनकी पहचान की जाती थी। केवल आदिनाथ के कंधों पर छुले हुए केशों की लटें दिखाई गई हैं और सुपार्ष्वनाथ के मस्तक पर सर्पफणों का आटोप है। तीर्थंकर मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स एवं मस्तक के पीछे तेजचक्र या प्रभामण्डल पाया जाता है। फणाटोप वाली मूर्तियों में प्रभामण्डल नहीं रहता। चौकी पर केवल चक्र ध्वज या जितमूर्ति या सिंह का अंकन पाया जाता है।

भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से विख्यात गुप्तकाल में यद्यपि जैनधर्म अधिक लोकप्रिय नहीं था, परन्तु अनेक साक्ष्यों से इस काल में जैन धर्म पर प्रकाश पड़ता है। इस युग में कला प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुकी थी। जैन प्रतिमायें सुन्दरता एवं कलात्मक दृष्टि से उत्तम हैं। अधोवस्त्र तथा श्रीवत्स ये विशेषतायें गुप्तकाल में परिलक्षित होती हैं। जैन मूर्तियाँ बनावट की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। प्रतिमाओं में चक्र, चौकी के मध्य तैयार किए गये, जिसके दोनों पार्श्व में दो हिरण या वृषभ खोदे गए हैं। सिरे पर तीन (चक्र) रेखाओं का छत्र दिखलाया गया है जिसके दोनों ओर हरित स्थित हैं। गुप्तयुगीन जैन प्रतिमाओं में यक्ष-यक्षिणी, मालावाही गंधर्व आदि देवतुल्य मूर्तियों को भी स्थान दिया गया था। उत्तर गुप्तकाल में जैन कला सम्बन्धी अनेक केन्द्र काम करने लगे। अतः स्थानीय

प्रतिमाओं की संख्या पर्याप्त रूप से मिलती है। तांत्रिक भावना ने कला को प्रभावित किया। कलाकारों का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया, परन्तु शास्त्रीय नियमों से बद्ध होने के कारण जैन कलाकारों को स्वतंत्रता न रही। इस युग में 24 तीर्थंकरों से सम्बन्धित चौबीस यक्ष-यक्षिणी को भी कला में स्थान दिया गया।

प्राचीन भारत के महत्वपूर्ण नगर विदिशा के निकट दुर्जनपुर ग्राम से कुछ वर्ष पूर्व रामगुप्तकालीन तीन अभिलेख युक्त जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई थी। इन प्रतिमाओं की प्राप्ति से भारतीय इतिहास में अर्द्धशती से चले आ रहे इस विवाद का निराकरण संभव हो सका कि रामगुप्त गुप्त शासक था या नहीं।¹¹

उपर्युक्त तीनों प्रतिमाओं में से दो प्रतिमायें चन्द्र-प्रभ एवं एक अर्हत पुष्पदंत की हैं। यद्यपि मूर्तियाँ कुछ नग्न हैं तथापि कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। चन्द्रप्रभ की प्रथम मूर्ति के दक्षिण कर्ण में एक कड़ा एवं वक्ष पर श्रीवत्स चिह्नंकित हैं। पद्मासनस्थ इस प्रतिमा के पाठपीठ पर मध्य में चक्र एवं दोनों पार्श्व में सिंह उत्कीर्ण हैं। मूर्ति का शरीर गठीला है। मस्तक के पीछे आभामण्डल था जो नष्ट हो गया है। चन्द्र-प्रभ की द्वितीय प्रतिमा का मुख माग पूर्णरूपेण खंडित है। पीछे तेजोमण्डल जिसका अर्धभाग ही शेष है। वक्ष पर श्रीवत्स अंकित यह प्रतिमा भी पद्मासनस्थ है। पादपीठ के मध्य चक्र उत्कीर्ण हैं। दोनों पार्श्व पर चामरधारी हैं। तृतीय प्रतिमा अर्हत पुष्पदंत की है जो उपरिवर्णित प्रतिमा के ही सदृश है।

बक्सर के निकट चौसा (बिहार) से उपलब्ध कुछ कांस्य प्रतिमायें पटना के संग्रहालय में हैं। इन

11. विदिशा से प्राप्त जैन प्रतिमायें एवं रामगुप्त—शिवकुमार नामदेव, अनेकांत मई 1974। विदिशा से प्राप्त प्रतिमायें एवं रामगुप्त—शिवकुमार नामदेव, मध्यप्रदेश संदेश, 28 अक्टूबर 1972। विदिशा से प्राप्त जैन प्रतिमायें एवं रामगुप्त की ऐतिहासिकता—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अप्रैल 1974।

प्रतिमाओं में से कुछ पर गंधार कला का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहां से उपलब्ध ऋषभनाथ की एक स्थानक प्रतिमा महत्वपूर्ण है। प्रतिमा का प्रभाव मण्डल एवं शरीर गठन कला की दृष्टि से सुन्दर नहीं है। ओष्ठ मोटे प्रतीत होते हैं।¹²

राजगिरि की वैभार पहाड़ी पर एक खंडित देवालय के आले में एक प्रतिमा¹³ पद्मासनस्थ ध्यानावस्थित है, प्रतिमा के मूर्तित्व पर मध्य में एक युवा राजकुमार अंकित है जिनके दोनों पार्श्व में पैरों के निकट शंख हैं। प्रभामण्डल से युक्त इस प्रतिमा को कुछ विद्वानों ने नेमिनाथ को माना था, परन्तु वास्तव में यह प्रतिमा चक्र-पुरुष की है जो गुप्तयुगीन विचार धारा है। इस प्रतिमा के दोनों ओर दो जिन पद्मासन में बैठे हैं। मस्तक प्रभामण्डल से सुशोभित हैं। अन्य आलों में भी तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं। शैली की दृष्टि से ये ई. चौथी सदी की ज्ञात होती है।

गुप्तयुगीन बेसनगर¹⁴ (ग्वालियर संग्रहालय) से प्राप्त एक प्रतिमा के प्रभामण्डल के दोनों ओर उड़ते हुए मालाधारी अंकित हैं। प्रभामण्डल कुषाण शैली का है। विवेच्य युगीन मथुरा संग्रहालय की दो प्रतिमाएँ¹⁵ शैली की दृष्टि से बनारस स्कूल के शिल्प की तरह हैं। सारनाथ से प्राप्त अजित नाथ की प्रतिमा का डॉ. साहनी ने गुप्त संवत् 61 माना है, यह काशी संग्रहालय में है। गुप्त नरेश कुमारगुप्त प्रथम के काल

में निर्मित महावीर की एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में है। यह उत्थित पद्मासन में है।¹⁶

सीरा पहाड़ की जैन गुफाएँ तथा उनमें उत्कीर्ण मनोहर तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण इसी काल में हुआ। यहां से प्राप्त पार्श्वनाथ की मूर्ति सप्तफणों से युक्त पद्मासनरुद्ध है। भारत कला भवन काशी में संरक्षित राजघाट से प्राप्त धरणेन्द्र एवं पद्मावती सहित पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से सुन्दर है।

वर्षमान महावीर को दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व जीवन्त स्वामी के नाम से जाना जाता था। जीवन्त स्वामी की गुप्तयुगीन दो प्रतिमाएँ बड़ौदा संग्रहालय¹⁷ में सुरक्षित हैं। राजकीय परिधान में होने से उनकी पहचान सरलता से हो जाती है। अकोठा¹⁸ से प्राप्त प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की एक कांस्य प्रतिमा कला की दृष्टि से सुन्दर है। प्रतिमा नग्न है एवं उसके मुर्तित्व का पता नहीं है। प्रतिमा के अर्ध निमीलित नेत्र योग की ध्यानमुद्रा की ओर संकेत करते हैं। प्रतिमा का काल 450 ई. ज्ञात होता है।

छठवीं सदी के तृतीय चरण में पाण्डुवंशियों ने सरमपुरीय राजवंस को समाप्त कर दक्षिण कोशल को अपने अधिकार में कर श्रीपुर (सिरपुर, रायपुर जिला) को अपनी राजधानी बनाया। इस काल की पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा¹⁹ सिरपुर से उपलब्ध हुई। ध्यानावस्था में

12. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, चित्र फलक 6, क्रमांक 17।
13. वही, आकृति 18।
14. वही, चित्र फलक 10, आकृति क्रमांक 24।
15. वही, चित्र फलक 11, आकृति क्रमांक 25-26।
16. इम्पीरियल गुप्त, आर. डी. बनर्जी, फलक 28।
17. अकोठा क्रोन्ज—यू. पी. शाह, पृ. 26-28।
18. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, फलक 8, आकृति 19।
19. महत घासीराम स्मारक संग्रहालय रायपुर का सूची पत्र भाग 2, चित्र फलक 3 क।

पद्मासनरुद्ध इस प्रतिमा के केश धुँधराले एवं उष्णीष-बद्ध हैं, कर्ण की लौड़ी लम्बी एवं हृदय पर शीवस्त चिन्ह अंकित है। उनका लांछन नाग तक्रिया के रूप कुण्डली मारे बैठा है जिसके सातों फण उनके ऊपर छत्र की भांति तने हुए हैं।

उत्तरगुप्तकाल में कला के अनेक केन्द्र थे। कला तार्किक भावना से ओत-प्रोत थी। यद्यपि इस काल में कलाकारों का क्षेत्र विस्तृत हो गया था परन्तु वे प्रतिमा निर्माण में स्वतंत्र नहीं थे अपितु अपनी रचनाओं को शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही रूप प्रदत्त करते थे। बंधन के फलस्वरूप मध्ययुगीन जैन कला निष्प्राण सी हो गई थी। इस काल की एक प्रमुख विशेषता जो हमें परिलक्षित होती है, वह है—कला में चौबीस तीर्थंकरों की यक्ष-यक्षिणी को स्थान प्रदान किया जाना। मध्य कालीन जैन प्रतिमाओं में चौकी पर आठ ग्रहों की आकृति का अंकन है जो हिन्दुओं के नव-ग्रहों का ही अनुकरण है।

मध्यकाल में मध्यप्रदेश में जैन धर्म की प्रतिमायें बहुलता से उपलब्ध होती हैं। मध्यप्रदेश के यशस्वी राज-वंश, कलचुरि, परमारों एवं चंदेल नरेशों के काल में उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप जैन धर्म भी इस भू-भाग में पुष्पित एवं फलवित हुआ। भारतीय जैन कला में मध्यप्रदेश का योगदान महत्वपूर्ण है। अखिल भारतीय परम्पराओं के साथ-साथ मध्यप्रदेश की अपनी विशेषताओं को भी यहाँ की कला ने उचित स्थान दिया।

कलचुरि कालीन तीर्थंकर प्रतिमायें आसन एवं स्थानक मुद्रा में प्राप्त हुई हैं। कुछ संयुक्त प्रतिमायें भी उपलब्ध हुई हैं। तीर्थंकरों में सर्वाधिक प्रतिमायें तीर्थंकर ऋषभदेव की हैं।

कलचुरि युगीन भगवान् ऋषभनाथ की सर्वाधिक प्रतिमायें कारीतलाई²⁰ से उपलब्ध हुई हैं। ये श्वेत बलुआ पाषाण से निर्मित हैं। सम्प्रति ये सभी प्रतिमायें रायपुर संग्रहालय में संरक्षित हैं। कारीतलाई के अतिरिक्त तेवर (जबलपुर), मल्लार एवं रतनपुर (बिलासपुर) आदि से भी आदिनाथ की प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। तेवर से उपलब्ध, सम्प्रति जबलपुर के हनुमानताल जैन मंदिर में संरक्षित 7 फुट 4 इंच ऊँची ऋषभनाथ की प्रतिमा अतिकलापूर्ण एवं प्रभावोत्पादक हैं। प्रतिमा के अंग प्रत्यंग सुन्दर एवं सुडौल है मस्तक पर धुँधराले केश आकर्षक हैं। उभय स्कंध पर केश गुच्छ लटक रहे हैं।

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की आसन मुद्रा में दो एवं चन्द्रप्रभ, शांतिनाथ, नेमिनाथ की एक-एक मूर्ति प्राप्त हुई है। तीर्थंकर शांतिनाथ की एक आसन एवं दो स्थानक मुद्रा में प्राप्त प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय हैं।²¹ बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा धुबेला के संग्रहालय²² में संरक्षित हैं। विवेच्य युगीन पार्श्वनाथ की प्रतिमायें सिंहपुर (सहडौल), पेन्ड्रा (बिलासपुर) कारीतलाई (जबलपुर) आदि से उपलब्ध हुई हैं। महावीर की आसन प्रतिमाओं में कारीतलाई से उपलब्ध प्रतिमा महत्वपूर्ण है। महावीर की श्याम

20. कारीतलाई की अद्वितीय भगवान् ऋषभनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, अनेकांत, अक्टूबर-दिसम्बर 1973।

21. कलचुरी कालीन भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अगस्त 1972।

22. धुबेला संग्रहालय की जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण—जून 1974।

बलुआ पाषाण निमित्त कायोत्सर्गमन की एक प्रतिमा जबलपुर से उपलब्ध हुई थी जो सम्प्रति फिल्डेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट में संग्रहीत है।²³ मूर्ति में अंकित सिंह के कारण यह महावीर की ज्ञात होती है।

विवेच्य आसन एवं स्थानक प्रतिमाओं के अतिरिक्त तीर्थंकरों की द्विमूर्तिकायें भी प्राप्त हुई हैं। ये भी स्थानक एवं आसन मुद्रा में हैं। कारीतलाई से प्राप्त द्विमूर्तिका प्रतिमायें रायपुर संग्रहालय में संरक्षित हैं।²⁴

कलचुरियुगीन पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ की एक मूर्तिका सम्प्रति फिल्डेलफिया²⁵ म्यूजियम ऑफ आर्ट में संरक्षित है। कृष्ण बादामी प्रस्तर से निर्मित दसवीं सदी की इस द्विमूर्तिका में तीर्थंकर एक वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्गमन में है।

विवेच्ययुगीन जैन शासन²⁶ देवियों की मूर्तियाँ बहुतायत में प्राप्त हुई हैं। ये स्थानक एवं आसन दोनों तरह की हैं। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कलचुरि नरेशों²⁷ के काल में निर्मित अधिकांश प्रतिमायें दसवीं एवं बारहवीं सदी के मध्य निर्मित हुई थीं। मूर्तियाँ शास्त्रीय नियमों पर आधारित हैं। उस मूर्ति कला पर गुप्तकालीन मूर्तिकला का प्रभाव अवश्य पड़ा है फिर भी कलचुरि कालीन जैन प्रतिमाओं में कुछ रुढ़ियों का दृढ़ता पूर्वक पालन किया गया है।²⁸

मध्यप्रदेश के विश्व प्रसिद्ध कला तीर्थ खजुराहो²⁹ में चन्देल नरेशों के काल में निर्मित नागर शैली के देवालय वास्तु वैशिष्ट्य एवं मूर्ति संपदा के कारण गौरवशाली है। यहाँ के जैन मंदिरों में जिन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं और प्रवेश द्वार तथा रथिकाओं में विविध जैन देवियाँ। देवालियों के ललाट विंब में चक्रेश्वरी यक्षी प्रदर्शित है एवं द्वार शाखाओं तथा रथिकाओं में अधिकांशतः अन्य जैन देवी देवता जैसे जिनों, विद्याधरों शासन देवताओं आदि की मूर्तियाँ हैं। वर्तमान की भाँने जो सोलह स्वप्न देखे थे वे सब जैन देवालियों (पार्श्वनाथ को छोड़कर) के प्रवेश द्वार पर प्रदर्शित हैं। जैन मूर्तियाँ प्रायः तीर्थंकरों की हैं, जिनमें से वृषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, पद्मप्रभु, शांतिनाथ एवं महावीर की मूर्तियाँ अधिक हैं।³⁰

बुन्देलखण्ड के जैन तीर्थ अहार (टीकमगढ़ से 12 मील के प्राचीन देवालय में बाईस फुट के आकार की एक विशाल शिला है, इसी शिला पर अठारह फुट ऊँची भगवान शांतिनाथ की एक कलापूर्ण मूर्ति सुशोभित है। इसे परमादिदेव चन्देल के काल में संवत् 1237 वि. में स्थापित किया गया था। बायीं ओर की बारह फुट की कुन्धुनाथ की मूर्ति भी सुन्दर है।

प्रयाग नगरसभा के संग्रहालय में खजुराहो³¹ से उपलब्ध 10 वीं सदी की निर्मित पार्श्वनाथ की एक

23. स्टैला केमरिच—इन्डियन स्कल्पचर इन द फिल्डेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट, पृष्ठ 82।
24. कारीतलाई की द्विमूर्तिका जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, सितम्बर 1975।
25. स्टैला केमरिच—इन्डियन स्कल्पचर इन द फिल्डेलफिया म्यूजियम ऑफ आर्ट, पृ. 83।
26. कलचुरी कला में जैन शासन देवियों की मूर्तियाँ—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अगस्त 1974।
27. भारतीय जैन शिल्प कला को कलचुरि नरेशों की देन, शिवकुमार नामदेव, जैन प्रचारक, सितम्बर-अक्टूबर 1974।
28. भारतीय जैन कला को कलचुरि नरेशों का योगदान—शिवकुमार नामदेव, अनेकांत—अगस्त 1974।
29. जैन कला तीर्थ-खजुराहो—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अक्टूबर 1974।
30. खजुराहो की अद्वितीय जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, अनेकांत, फरवरी 1974।
31. खण्डहरों का वैभव—मुनि कांतिसागर पृ. 246-47।

विलक्षण प्रतिमा संग्रहीत है। जिनके समीकरण के विषय में विद्वानों में भिन्नता है।

प्रतिहारों के पतन के पश्चात् मालवा में परमारों का राज्य स्थापित हुआ। इनके समय में जैन धर्म मालवा में अपने स्वर्णिम काल में था। भोजपुर से तीन मील आशापुरी नामक गाँव में शांतिनाथ की परमार-कालीन प्रतिमा है। निमाड़ के मैदान में ऊन नामक के अवशेषों में लगभग एक दर्जन मन्दिर परमार राजाओं की स्थापत्य कला के उत्तम नमूने हैं। केन्द्रीय संग्रहालय इंदौर में परमार युगीन तीर्थंकरों की लेखयुक्त प्रतिमाएँ हैं।

पूर्व मध्य एवं मध्यकाल में जैन कलाकृतियाँ मध्यप्रदेश³² के विभिन्न भूभागों से उपलब्ध होती हैं। मुरैना के सिहोनिया, पढ़ावली, गुना के तिराही एवं इन्दौर, पन्ना के दूँडा ग्राम, सिवनी में घंसीर एवं बरहटा, ग्वालियर के निकट मुरार, नागोद एवं जसो के अतिरिक्त दक्षिण कौशल के अनेकों स्थल जैन शिल्प कला से भरे पड़े हैं। मालव भूमि के साँची, धार, दशपुर, बदनावर, कामवन, बड़नगर, उज्जैन,³³ जावरा, बड़वानी आदि ऐसे कला केन्द्र हैं, यहाँ ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाओं के साथ-साथ जैन मूर्तियाँ संरक्षित हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राच्यकाल से ही मध्यप्रदेश के विभिन्न भूभागों में

जैन धर्म का आस्तित्व पूर्व मौर्यकाल से लेकर आद्यावधि निरंतर दृष्टिगोचर होता है।³⁴

उत्तरप्रदेश में मध्यकालीन जैन प्रतिमाएँ बहुलता से प्राप्त हुई हैं जो इस प्रदेश के विभिन्न संग्रहालयों में देवालियों एवं यत्र-तत्र अवस्थित हैं। उत्तर प्रदेश के अधिकांश स्थलों से उपलब्ध जैन प्रतिमाएँ प्रयाग संग्रहालय में हैं,³⁵ यहाँ संग्रहीत ऋषभनाथ की चतुर्मुख पाषाण से निर्मित प्रतिमा उल्लेखनीय है। संग्रहालय में स्थित हल्के हरे रंग के आकर्षक प्रस्तर पर चतुर्विंशति-पट्ट उत्कीर्ण है। प्रतिमाओं का अंग विन्यास स्वामाविक है, यह 13वीं सदी की कृति है।

नगर सभा संग्रहालय के उद्यान कूप के निकट एक छोटे से छप्पर में अम्बिका देवी उत्कीर्ण हैं। इसका परिकर न केवल जैन शिल्प स्थापत्य कला का समुज्ज्वल प्रतीक है, अपितु भारतीय शिल्प स्थापत्य कला में जैनों की मौलिक देन है। प्रतिमा का काल 12-13वीं सदी के मध्य का ज्ञात होता है।³⁶ उत्तरप्रदेश के विभिन्न स्थलों से जैन यक्षी पदमावती की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं।³⁷

उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के खुरवन्दोग्राम में भगवान महावीर की प्राचीन मूर्ति स्थापित है। झाँसी जिले के चँदेरी में भगवान महावीर की लावण्य-मयी प्रतिमा आभा से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त

32. मध्यप्रदेश में जैन धर्म एवं कला—शिवकुमार नामदेव, सन्मति संदेश, अप्रैल-मई 1975।

33. जैन धर्म एवं उज्जयिनी—शिवकुमार नामदेव, सन्मति वाणी, जुलाई 1975।

34. भारतीय जैन कला को मध्यप्रदेश की देन—शिवकुमार नामदेव, सन्मति वाणी, मई-जून 1975।

35. खण्डहरों का वैभव—मुनि कांति सागर, पृ. 232 एवं आगे।

36. खण्डहरों का वैभव—मुनि कांतिसागर पृष्ठ 250-253।

37. उत्तर भारत में जैन यक्षी पदमावती का प्रतिमा निरूपण—मारुतिनंदन प्रसाद तिवारी, अनेकांत अगस्त 1974।

महावीर की प्रतिमायें इलाहाबाद में स्थित पफोसा, देवगढ़ के मन्दिर क्रमांक 21 आदि में सुरक्षित हैं।³⁸

श्रावस्ती के पश्चिमी भाग में जैन अवशेष प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यहीं पर भगवान संभवनाथ का जीर्ण-शीर्ण मन्दिर है। यहाँ पर अनेकों प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं।³⁹ जिला गोंडा के महंत से आदिनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा उपलब्ध हुई है। पदमासन के नीचे दो सिंह और वृषभ हैं। आसन के नीचे कमल है जिस पर आदिनाथ पदमासन पर बैठे हैं। हृदय पर धर्म चक्र बना है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल एवं तीन छत्रों वाला छत्र है। सभी ओर अनेक तीर्थंकर ध्यान मग्न हैं।⁴⁰ बरेली जिले के अहिच्छत्र से अनेकों जैन प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। यहां से उपलब्ध पार्श्वनाथ की एक सात्विशय प्रतिमा हरित पद्मा की पदमासन मुद्रा में विराजमान है। प्रतिमा अत्यन्त सौम्य एवं प्रभावक है। मूर्ति के नीचे सिंहासन के पीठ के सामने वाले भाग में 24 तीर्थंकर प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं।⁴¹

कर्नाटक में जैन धर्म का अस्तित्व प्रथम सदी ई. पू. से 11वीं सदी ई. तक ज्ञात होता है। होयशल वंशी नरेश इस मत के प्रबल समर्थक थे। पूर्वकालीन जैन देवालय एवं गुफायें ऐहोल, बादामी एवं पट्टकल

आदि में हैं। इनके अतिरिक्त जैन देवालय लकुण्डी (लोकगुण्डी), बंकपुर, बेलगाम, हल्सी, बल्लिगवे, जलगुण्ड आदि में हैं। ये देवालय विभिन्न देव प्रतिमाओं से विभूषित हैं। इस काल की वृत्ताकार प्रतिमायें श्रावणबेलगोल, कार्कल एवं वेनूर में स्थापित हैं।

कर्नाटक में पद्मावती सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षी रही हैं।⁴² यद्यपि पद्मावती का संप्रदाय काफी प्राचीन रहा है: परन्तु 10वीं शती के बाद के अभिलेखीय साक्ष्यों में निरंतर पद्मावती का उल्लेख प्राप्त होता है। कन्नड क्षेत्र में प्राप्त पार्श्वनाथ मूर्ति (10वीं-11वीं सदी) में एक सर्पफण से युक्त पद्मावती की दो भुजाओं में पद्म एवं अभय प्रदर्शित है।⁴³ कन्नड शोध संस्थान संग्रहालय की पार्श्व मूर्ति में चतुर्भुज पद्मावती, पद्म, पाश, गदा या अंकुश एवं फल धारण करती हैं।⁴⁴ इसी संग्रहालय में चतुर्भुजी पद्मावती की ललितासन मुद्रा में दो स्वतन्त्र मूर्तियाँ हैं। बादामी की गुफा पाँच, के समक्ष की दीवार पर ललित मुद्रा में आसीन चतुर्भुजी यक्षी आमूर्तित है। आसन के नीचे वाहन सम्भवतः हंस है। सर्पफणों से विहीन यक्षी के करों में अभय, अंकुश पाश एवं फल प्रदर्शित हैं।⁴⁵ पद्मावती की तीन चतुर्भुजी कर्नाटक से प्राप्त प्रतिमायें प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में संरक्षित हैं।⁴⁶

38. भारतीय पुरातत्व एवं कला में भगवान महावीर—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, नवम्बर-दिसम्बर 1974।
39. जैन तीर्थ श्रावस्ती—पं. बलभद्र जैन—अनेकांत, जुलाई-अगस्त 1973।
40. भारतीय प्रतीक विद्या—जनार्दन मिश्र, चित्र संख्या 79।
41. अहिच्छत्र—श्री बलिभद्र, जैन, अनेकांत, अक्टूबर-दिसम्बर 1973।
42. जैनिज्म इन साउथ इन्डिया—देसाई, पी. वी. पृष्ठ 163।
43. नोट्स ऑन दू जैन मेण्टल इमेजेज—हाडवे, डब्ल्यू एस, रूपम, अंक 17, जनवरी 1924, पृ. 48।
44. गाड्ड दू द कन्नड रिसर्च इन्स्टीट्यूट म्युजियम धारवाड़—1958 पृ. 19।
45. जैन यक्षाज ऐण्ड यक्षिणीज—सांकलिया, क्लेटिन डेक्कन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, खण्ड 9, 1940 पृष्ठ 169।
46. वही पृष्ठ 158-159।

कर्नाटक में गोम्मट की अनेक मूर्तियाँ हैं। चालुक्यों के काल में निर्मित ई. सन् 650 की गोम्मट की एक प्रतिमा बीजापुर जिले के बादामी में है। तलकाडु के गंग राजाओं के शासन काल में गंग राजा रायमल्ल सत्य-वाक्य के सेनापति व मन्त्री चामुण्डराज द्वारा बेलगोल में ई. सन् 982 में स्थापित विश्व प्रसिद्ध गोम्मट मूर्ति है। गोम्मट गिरी में भी 14 फुट ऊँची एक गोम्मट मूर्ति है। इसके अतिरिक्त होसकोटे हल्ली, कार्कल एवं वेणूर में पैंतीस फुट ऊँची प्रतिमा है।⁴⁷

बंगाल⁴⁸ में जैन धर्म का आस्तित्व प्राचीन काल से ही रहा है। यहाँ के धरापात के एक प्रतिमा बिहीन देवालय के तीनों ओर के ताकों में विशाल प्रतिमायें विराजित थीं जिनमें पृष्ठ भाग वाली में ऋषभदेव, वामपक्ष से प्रदक्षिणा करते प्रथम शातिनाथ और अन्त में तीसरे आले में जनेतर मूर्तियाँ हैं। ये सम्भवतः 8वीं सदी की हैं। बहुलारा नामक स्थल के एक मन्दिर के सामने वेदी पर तीन प्रतिमायें हैं। मध्यवर्ती प्रतिमा भगवान् पार्श्वनाथ की हैं जो अष्ट प्रतिहार्य और धरणेन्द्र-पद्मावती से युक्त है। भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा के निम्न भाग में धरणेन्द्र-पद्मावती है और मूर्ति निर्माणक दम्पति भी है। बाँकुडा जिले के ही हाडमासरा ग्राम के जंगल में एक पार्श्वनाथ प्रतिमा है। अंबिकानगर में स्थित अंबिका देवी के मंदिर के पृष्ठ भाग में अवस्थित एक जैन मंदिर में सपरिकर ऋषभनाथ की प्रतिमा है। पाकवेडरा में अनेकों प्रतिमायें संरक्षित हैं। इनमें 7 फुट ऊँची खड्गासन स्थित

श्री पद्मप्रभु स्वामी की प्रतिमा है। इसी स्थल के एक मंदिर में ऋषभनाथ की पाँच प्रतिमायें हैं। जिनमें दो चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा परिसर युक्त हैं।

उड़ीसा की खण्डगिरि की नवमुनि एवं बारभुजी गुफाओं (8वीं-9वीं सदी) के सामूहिक अंकनों में भी पार्श्वनाथ के साथ पद्मावती आमूर्तित है। नवमुनि गुफाओं में पार्श्व के साथ उत्कीर्णित द्विभुजी यक्षी ललितमुद्रा में पद्मासन पर विराजमान है।⁴⁹ बारभुजी गुफा में पार्श्व के साथ पाँच सर्पफणों से मंडित अष्टभुजी पद्मावती है। पुरी जिले से उपलब्ध आदिनाथ की एक स्थानक प्रतिमा इंडियन म्यूजियम कलकत्ता की निधि है।⁵⁰

तामिलनाडु से भी जैन धर्म से सम्बंधित अनेकों प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। कलगुमलाई से चतुर्भुजी पद्मावती को ललित मुद्रा में (10 वीं-11 वीं सदी) मूर्ति प्राप्त हुई है। शीर्ष भाग में सर्पफण से मंडित यक्षी, फल, सर्प, अंकुश एवं पाश धारण करती हैं।⁵¹ मदुरा तामिलनाडु का महत्वपूर्ण नगर है। यहाँ पर जैन संस्कृति की गौरव गरिमा में अभिवृद्धि करने वाली कलात्मक सामग्री का प्रचुर परिमाण विद्यमान हैं।

बिहार प्रदेश से उपलब्ध अनेकों प्रतिमायें पटना संग्रहालय में संरक्षित हैं। संग्रहालय में चौसा के शाहाबाद से प्राप्त जैन धातु मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। ऋषभनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग स्थिति में कंधे पर बिखरे बाल तथा लंबी भुजाओं के साथ बनाई गई थी।

47. कर्नाटक की गोम्मट मूर्तियाँ—आचार्य पं. के. भुजबल शास्त्री, अनेकांत, अगस्त 1972।

48. बंगाल के जैन पुरातत्व की शोध में पाँच दिन—भंवरलाल नाहटा, अनेकांत, जुलाई-अगस्त 1973।

49. शासन देवीज इन द खण्डगिरि केह्लस—मित्रा देवल, जर्नल एशियाटिक सोसायटी (बंगाल), खण्ड 1, अंक 2, 1959, पृ. 139।

50. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, आकृति 36।

51. जैनज्म इन साउथ इंडिया—पी. बी. देसाई, पृ. 65।

पार्श्वनाथ की धातु प्रतिमा कायोत्सर्ग तथा पीछे सर्प-फण के साथ है। यहां से उपलब्ध धातु प्रतिमायें कमलासन पर खड़ी हैं। राजग्रह निवासी कन्हैयालालजी श्रीमाल के संग्रह में एक प्रस्तर पट्टिका है। इसके निम्न भाग में महावीर की प्रतिमा है। ऊपर के एक भाग में भाव शिल्प है जिसका सम्बन्ध महावीर से ज्ञात होता है।⁵²

नालंदा से उपलब्ध एवं नालंदा संग्रहालय में संरक्षित ललित मुद्रा में पद्म पर विराजमान चतुर्भुजी देवी के मस्तक पर पांच सर्पफण प्रदर्शित हैं। देवी की भुजाओं में फल, खड्ग, परशु एवं चिनमुद्रा में पद्मासन का स्पर्श करती देवी की भुजा में पद्म नालिका भी स्थित है।⁵³ केवल सर्पफण से ही इसका समीकरण पद्मावती से करना उचित नहीं है।

राजस्थान के ओसिया⁵⁴ नामक स्थल में महावीर का एक प्राचीन मंदिर है। यह 9 वीं सदी की रचना है। मंदिर में विराजमान महावीर की एक विशालकाय मूर्ति है। इसी स्थल से पार्श्वनाथ की एक धातु प्रतिमा उपलब्ध हुई थी जो सम्प्रति कलकत्ता के एक मंदिर में है। इस देवालय के मुखमण्डल के ऊपरी छज्जे पर पद्मावती की प्रतिमा उत्कीर्ण है। कुक्कुट-सर्प पर विराजमान द्विभुज यक्षी की दाहिनी भुजा में सर्प और बायीं में फल स्थित है। स्पष्ट है कि पद्मावती के साथ 8वीं सदी में ही बाहन कुक्कुट-सर्प एवं भुजा में सर्प को सम्बद्ध किया जा चुका था।

ग्यारवीं सदी की एक अष्टभुज पद्मावती की प्रतिमा राजस्थान के अलवर जिले में स्थित झालरपाट्टन

के जैन मंदिर की दक्षिणी वेदिका बंध पर उत्कीर्ण है। ललित मुद्रा में मट्टासन पर विराजमान यक्षी की भुजाओं में वरद, वज्र, पद्मकुलिका, कृपाण, खेटक, घण्ट एवं फल प्रदर्शित है।

विमलशाह गुजरात के प्रतापी नरेश भीमदेव के मंत्री थे। इन्होंने ग्यारहवीं सदी में विमलवसही का निर्माण कराया था। इसके गूढमण्डप के दक्षिणी द्वार पर चतुर्भुजी पद्मावती की आकृति उत्कीर्ण है। विमलवसही की देवकुलिका 49 के मण्डप वितान पर उत्कीर्ण षोडशभुजी देवी की सम्भावित पहचान महाविद्या वैरोद्या एवं यक्षी पद्मावती दोनों ही से की जा सकती है। सर्प के सप्तफणों का मण्डन जहां देवी पद्मावती की पहचान का समीकरण करता है, वहीं कुक्कुट सर्प के स्थान पर बाहन के रूप में नाग का चित्रण एवं भुजाओं में सर्प का प्रदर्शन महाविद्या वैरोद्या से पहचान का आधार प्रस्तुत करता है।

जयपुर के निकट चांदनगांव एक अतिशय क्षेत्र है। “यहां महावीर जी के विशाल मंदिर में महावीर की भव्य सुन्दर मूर्ति है। जोधपुर के निकट गोंधाणी तीर्थ⁵⁵ में भगवान ऋषभदेव की धातु मूर्ति 937 ई. की है। वृंदा⁵⁶ से 20 वर्ष पहले कुछ प्रतिमायें प्राप्त हुई थीं। उनमें से तीन अहिच्छत्र ले जाकर स्थापित की गई हैं। तीनों का रंग हल्का कथई है, एवं तीनों शिलापट्ट पर उत्कीर्ण हैं। एक पर पार्श्वनाथ उत्कीर्ण है।

चौहान जाति की एक उप-शाखा देवडा के शासकों की भूतपूर्व राजधानी सिरौही की भौगोलिक सीमाओं में स्थित देलवाडा के हिन्दू एवं जैन मंदिर प्रसिद्ध हैं।

52. खण्डहरो का वैभव—मुनि कांतिसागर, पृ. 126।

53. आकियालाजीकल सर्वे आफ इन्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट 1930-34, भाग 2, फलक 68, चित्र बी।

54. ओसिया का प्राचीन महावीर मन्दिर—अगरचन्द जैन नाहटा, अनेकांत, मई 1974।

55. खण्डहरो का वैभव—मुनि कांतिसागर—पृ. 71।

56. अहिच्छत्र—श्री बलिभद्र जैन, अनेकांत, अक्टूबर-दिसम्बर 1973।

दिलवाड़ा के पांच जैन मन्दिर श्वेत संगमरमर से निर्मित हैं। विमलशाह का मन्दिर जिसका निर्माण 1030 ई. में तथा वस्तुपाल एवं तेजपाल के मन्दिर 1231 ई. में बनवाये गये थे। विमलशाह के मन्दिर में जैन तीर्थंकर आदिनाथ और अन्य दो मंदिरों में नेमिनाथ जी की मूर्तियाँ हैं। सादड़ी से 14 मील दूर अरावली की पहाड़ी टेकड़ी में राणापुर (राणापुर) के मंदिरों में नेमीनाथ, आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ के मन्दिर प्रमुख हैं। यहां के आदिनाथ मन्दिर में ऋषभदेव की विशाल पद्मासन मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ एवं आकर्षक है कुल मिलाकर वेदियों में 425 मूर्तियाँ हैं। इसी प्रकार नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ मन्दिर में अनेकों जैन प्रतिमाएँ हैं।

महाराष्ट्र प्रदेश में भी जैन प्रतिमाएँ बहुसंख्या में उपलब्ध होती हैं। दिगंबर केन्द्र एलोरा (9वीं सदी) की गुफायें तीर्थंकर प्रतिमाओं से भरी पड़ी हैं। छोटा कैलास (गुहा संख्या 30) में ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर की बैठी पाषाण मूर्तियाँ पद्मासन एवं ध्यान मुद्रा में हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के पार्श्व में चाँवर धारण किये यक्ष तथा गंधर्व हैं। ऋषभनाथ के कंधे पर केश विखरे हैं। पार्श्वनाथ के सिर पर सात सर्पफण हैं। सिंहासन पर बैठे महावीर की प्रतिमा के ऊपरी भाग में छत्र दीख पड़ता है। एलोरा की 30 से 34 क्रमांक तक की गुफायें जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। इन्द्रसभा गुफा (संख्या 33) की उत्तरीय दीवार पर पार्श्वनाथ, दक्षिण पार्श्व में योगमहेश्वर-बाहुवलि के अतिरिक्त महावीर एवं अन्य तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं। जगन्नाथ गुफा के बराण्डा में पार्श्वनाथ तथा महावीर के अतिरिक्त एक पुस्तर पर चौबीस तीर्थंकरों की छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं। एलोरा की एक गुफा में अंबिका की मानव कद प्रतिमा है।

अंकाई-तंकाई में जैनों की सात गुफायें हैं। ये छोटी होते हुए भी शिल्प कलापेक्षया अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। तीसरी गुफा के छोर पर इन्द्र और इन्द्राणी हैं। इसके अतिरिक्त शांतिनाथ, पार्श्वनाथ एवं गवाक्ष में जिन

प्रतिमाएँ हैं। रचना शैली की दृष्टि से ये 13वीं सदी की ज्ञात होती हैं।

गुजरात जैन शिल्पकला की दृष्टि से समृद्ध राज्य है। गुजरात के चालुक्य राजाओं के काल में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। गुजरात के बनावसाकांठा जिले में स्थित कुमारिया⁵⁷ एक प्राचीन जैन तीर्थ है। यहां पांच श्वेताम्बरीय, श्वेत संगमरमर से निर्मित जैन मंदिर हैं। इनमें महावीर का मंदिर सबसे प्राचीन एवं भव्य है। मूलनायक के अतिरिक्त गूटमंडप में परिकर युक्त दो अन्य कायोत्सर्गसिन की प्रतिमाएँ हैं। कलापूर्ण कोरणीयुक्त रंग मंडप के दूसरे भागों की छत में आबू के विमलवराही जैसे जैन चरित्रों के विभिन्न द्रश्य हैं। गढ़ मण्डप में दो विशाल कायोत्सर्ग मूर्तियाँ-शांतिनाथ एवं अजितनाथ की हैं। श्वेताम्बर परंपरा का निर्वाह करने वाली बारहवीं सदी की दो चतुर्भुज पद्मावती की प्रतिमाएँ कुमारिया के नेमिनाथ मन्दिर की ध्वजमी देवकुलिका की बाह्य भित्ति पर उत्कीर्ण हैं।⁵⁸ गुजरात के अन्य मन्दिरों में शांतिनाथ, कुभेश्वर, संभवनाथ आदि मुख्य हैं। गुजरात के वडनगर में चालुक्य नरेश मूलराज (642-997 ई.) के काल का आदिनाथ मन्दिर है। मन्दिर के देवकुलिकाओं में आदिनाथ की यक्षयक्षिणी अंकित हैं। यहीं पर चक्रेश्वरी की भी प्रतिमा है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय शिल्पकला के विकास में जैन शिल्पकला का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भारत की प्राचीन संस्कृति को जानने के लिये जैन शिल्पकला का अध्ययन आवश्यक है। भिन्न-भिन्न कालों और ढंगों पर बनी मूर्तियों से मूर्तिकला के विकास पर गहरा प्रकाश पड़ता है। ये इसके अतिरिक्त विभिन्न कालीन योगियों के आसन मुद्रा, केश और प्रतिहार्यों पर भी काफी प्रकाश डालती हैं। इन मूर्तियों के अध्ययन से भारतीय लोगों की वेशभूषा आदि का ज्ञान होता है।

□ □

57. कुमारिया का महावीर मन्दिर—श्री हरीहरसिंह, भ्रमण, नवम्बर-दिसम्बर 1974, कुमारिया का कला-पूर्ण महावीर मन्दिर—श्री अगरचन्द नाहटा, भ्रमण अप्रैल 1974।
58. ऐ ब्रीफ सर्वे आफ द आइकनोग्राफिक डेटा एट कुमारिया—नाथ गुजरात, सम्बोधि, खण्ड 2, अंक 1, अप्रैल 1973, पृ. 13।

जैन चित्रकला

श्रीमती उषा किरण जैन

कला आत्माभिव्यक्ति का सुन्दरतम स्वरूप है। इस धरा पर मानव जाति के विकास का इतिहास कला के सुन्दरतम हाथों ही लिखा गया है। भारतीय संस्कृति इस दृष्टि से बड़ी सम्पन्न है, भारतीय सभ्यता के उदय के साथ ही भारतीय कला का इतिहास भी प्रारम्भ होता है। यों तो सिन्धु कालीन सभ्यता के काल में भी भारतीय चित्रकला के प्रमाण उपलब्ध होते हैं, परन्तु चित्रकला के आधार सामान्यतः प्राचीन मकान और वस्त्र आदि अधिक सुरक्षित न रहने के कारण, अधिक प्राचीन काल के प्रमाण कम ही प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर के बाद के काल से जन-सामान्य की रचि चित्रकला में निरन्तर बढ़ने सम्बन्धी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। इस काल से भारतीय चित्रकला का पर्याप्त विकास और हुआ, समयानुकूल परिस्थितियों के अनुरूप उसमें विभिन्न परम्पराओं का भी विकास हुआ इनमें जैन चित्रकला की भी अपनी विशिष्ट परम्परा रही। परम्परा के प्रारम्भिक काल में यदा-कदा भित्ति चित्रों के रूप में तथा तदुपरान्त व्यापक रूप से ताड़-पत्रों, काष्ठ पट्टिकाओं के अनेक नमूने आज भी जैन मण्डारों में प्राप्य हैं। इनमें अधिकतर अपभ्रंश कालीन युग के हैं। ताड़-पत्रों, वस्त्रों और कागजों पर बने ये

चित्र अत्यन्त सजीव, रोचक और कलात्मक होते थे। इनके पश्चात् कागजों पर भी चित्रांकन का कार्य प्रारम्भ हुआ।

जैन चित्रकला की प्राचीनता और उसके उदय के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। इस दिशा में अभी काफी शोध कार्य अपेक्षित है। अभी तक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय चित्रकला के अभिन्न अंग के रूप में यह परम्परा उसके उदय के समय से ही विद्यमान थी। वाचस्पति गैरोला के अनुसार "जैन कला के प्राचीन अस्तित्व की खोज निकालने के लिए हमारा ध्यान इस ऐतिहासिक दिशा की ओर उन्मुख होता है तो हमें लगता है कि उसकी दयनीयता न केवल उसके वेष विन्यास एवं भावविचारों के कारण विश्रुत है, अपितु भारतीय चित्रकला के इतिहास में कामद पर की गई चित्रकारी की दिशा में उसका पहला स्थान है। राजपूत परम्परा की भाँति जैन कला ऐसी प्राचीन परम्परा पर आधारित है, जो राजपूत कलम से प्राप्त सबसे प्राचीन चित्रों से भी एक शताब्दी पहले की सिद्ध होती है।"¹

समग्र भारतीय चित्र शैलियों में जितने भी प्राचीन चित्र प्राप्त हैं उनमें मुख्यता और प्राचीनता जैन चित्रों की है। ये चित्र दिगम्बर जैनियों से सम्बन्धित हैं जिन्हें अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को चित्रित करने व कराने का बड़ा शौक था। प्राकृत भाषा में रचित जैन ग्रन्थों का अध्ययन करने से तत्कालीन समाज में विद्वानों साहित्यकारों एवं जन-सामान्य में चित्रकला के प्रति अनुराग तथा निष्ठा का बोध होता है। दसवीं शती से पन्द्रहवीं शती के मध्यकाल में भारतीय चित्रकला की परम्परा में जैन व बौद्ध कला का बाहुल्य है। इससे पूर्व के काल में जैन कला का समृद्ध रूप भूतियों तथा मन्दिरों के शिल्प में परिलक्षित होता है। इस काल में इसका स्वरूप निखर आया था। चित्रकला के जो नमूने आज उपलब्ध हैं उनमें अधिकतर जैन साहित्य की विभिन्न कृतियों के मध्य विभिन्न सन्दर्भों में चित्रांकित हैं।

जैन कला में जहाँ मूलिकला और शिल्प एवम् स्थापत्य के क्षेत्र में दिगम्बर परम्परा का बाहुल्य है, वहाँ चित्रकला के क्षेत्र में श्वेताम्बरीय जैनों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। जैन का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। जैन चित्रकला गुजरात की श्वेताम्बर कलम से पूर्ण विकास की ओर अग्रसर होकर वर्षों तक राजपूताने में अपना विकास कराती रही और बाद में ईरानी प्रभावों से मुक्त होकर “राजपूत कलम” में ही विलयित हो गई। 12वीं सदी के पूर्व जहाँ मुगल शैली की विकास-सावस्था में जैन चित्रकला की प्रगति शिथिल पड़ गई वहाँ 12 वीं सदी के बाद महमूद गजनवी के विध्वंसों के बावजूद भी जैन चित्रकला आबू और गिरनार के केन्द्रों में अपने परिवेश में नव निर्माण की ओर अग्रसर हुई। बाद में जैन चित्रकारों ने राजपूत और मुगल शैलियों से प्रेरणा ग्रहण कर अपने क्षेत्र को और भी व्यापक बनाया।

विभिन्न प्राचीन जैन ग्रन्थों में जैन चित्रकला के विविध पक्षों का वर्णन प्राप्त होता है। कल्पसूत्र आदि में भगवान महावीर का चित्रमय वर्णन मिलता है। “प्रश्न व्याकरण सूत्र” (2/5/16) में चित्रों की अनेक श्रेणियों का उल्लेख है। इस व्याकरण ग्रन्थ में चित्रों की तीन प्रमुख श्रेणियों सचित्त (मानव, पशु, पक्षी), अचित्त (नदी, नद, पहाड़, आकाश) और मिश्र (संयुक्त) में वर्गीकृत किया गया है। लकड़ी, कपड़े और पत्थर पर अनेक रंगों के योग से उरेहे गए चित्रों को “लेपकम्प” कहा है। लोककला के उन्नत स्वरूप के रूप में इस काल में अल्पना चित्रों का भी अंकन किया जाता था। साथ ही मिट्टी-पत्थर व हाथीदांत पर भी चित्र उरेहे जाते थे। एक कथाकृति “नाया-धम्म कहाओ” (1/16/77-80) से विदित होता है कि चम्वा नामक नगरी में ललित गोष्ठी (ललियाण्णाम गोष्ठी) नाम की एक प्रमोद समा विद्यमान थी। इस ग्रन्थ में लिखा है (1/1/17) कि महाराज श्रेणिक के सहल में दीवारों पर बड़े अच्छे चित्र उरेहे हुए थे। इसी ग्रन्थ में इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरणों का भी उल्लेख है।

इस कला की अनेक जैन साहित्यिक रचनाओं में भी चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख हैं। श्री गैरोला के अनुसार “11वीं-12वीं शताब्दी में रचित जैन साहित्य की कथा कृतियों में चित्रकला के सम्बन्ध में बड़ी ही उपयोगी चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। मागधी प्राकृत की कथा कृति “सूर सुन्दरी कहा” (रचनाकाल 1338 ई.) में श्लेषोक्ति के द्वारा किसी नायक की एकान्त प्रेमासक्ति को भ्रमर और कुमुदनी का चित्र बनाकर व्यक्त किया गया है। प्राकृत भाषा की दूसरी कथाकृति “तरंगवती” (सम्भवतः आंध्रभृत्य राजाओं के आश्रय में निर्मित) में नायिका तरंगवती द्वारा एक चित्र प्रदर्शनी का आयोजन इस उद्देश्य से किये जाने का उल्लेख है कि कदाचित्त इस लोभ से उसका रुठा हुआ प्रेमी वहाँ आ जाय।²

2. भारतीय चित्रकला—वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 93।

“आचारांग सूत्र” (2/2/3/13) में जैन साधुओं और ब्रह्मचारियों को चित्र शालाओं में जाने और ठहरने से वर्जित किया गया है। जैनाचार्य हेमचन्द्र (1082-1172 ई.) के महाकाव्य “त्रिषष्टि शालाका पुरुषचरित” में तत्कालीन राज दरबारों में अनेक चित्रकारों की सभा होने का वर्णन है, जो भित्तिचित्रों से सुसज्जित हुआ करती थी।

प्रभावक चरित्र के “वप्पभट्ट सूरि चरित्र” (सम्बत 1334) में नवीं शताब्दी में भगवान महावीर के चित्रपटों के बनाने का उल्लेख है। “वप्पभट्टि सूरि जी को चित्रकार ने महावीर की मूर्ति वाले चारचित्रपट तैयार करके दिये। सूर जी ने उनकी प्रतिष्ठा करके एक कन्नौज के जैन मन्दिर में, एक मथुरा में, एक अण-हिल्ल पाटण में, एक सत्तारकपुर में भेज दिये मये जिनमें से पाटणवाला पट्ट मुसलमानों ने पाटण को नष्ट किया तब तक वहाँ के मोढ़गच्छ के जैन चैत्य में विद्यमान था। नवीं शताब्दी में महावीर के चार चित्रपट बनाये जाने का उल्लेख बहुत ही महत्वपूर्ण है। परन्तु खेद है कि आज उनमें से एक भी प्राप्त नहीं है। हरिभद्र सूरि ने आवश्यक वृत्ति में समवशरण चित्रपट्ट का उल्लेख किया है।”³

बारहवीं से सोलहवीं शती के मध्य श्वेताम्बरी जैनो द्वारा अपभ्रंश शैली के अनेक साङ्गतीय ग्रन्थ चित्रों की रचना की गई। इनमें से कुछ, यदा—“निशीय चूर्णी”, “अंग सूत्र”, “दशवैकालिक लघुवृत्ति”, “ओध नियुक्ति”, “त्रिषष्टि शालाका पुरुष चरित”, “नेमिनाथ चरित”, “कथा सरित्सागर” “संग्रहणीय सूत्र”, “उत्तराध्ययन सूत्र”, “कल्प सूत्र” और “आवक प्रतिक्रमण चूर्णी” आज भी पोथियाँ, पाटन, खंभात, बड़ौदा और जैसलमेर आदि के ग्रन्थकारों तथा अमरीका के बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

इस काल के चित्रों की शैली के सम्बन्ध में कला मर्मज्ञों के विभिन्न मत हैं। प्रारम्भ में तो इसे “जैन शैली के नाम से ही सम्बोधित किया जाता था परन्तु बाद में इस आधार पर कि इस शैली के चित्र जैनो और वैष्णव ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं, रायकृष्णदास ने इसे अपभ्रंश शैली के नाम से सम्बोधित किया है। जौनपुर इस शैली का प्रमुख केन्द्र माना जाता है। अहमदाबाद के श्री साराभाई माणिक लाल ने अपभ्रंश शैली से सैकड़ों सादे और रंगीन चित्रों से युक्त एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ “चित्र कल्पद्रुम” (कल्पसूत्र) प्रकाशित किया है जिसका लिपि काल 1465 ई. (1522 वि.) है; इस शैली के कागद पर निर्मित ग्रन्थ चित्र और स्फुट चित्र बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई में और दूसरी लीभणी के सेठ आनंद जी कल्याण जी के पास बसाई जाती है। इनका लिपिकाल 1415 ई. है। जौनपुर की “कल्पसूत्र” इसकी तीसरी प्रति है जो स्वर्णाक्षरों में अंकित है और संप्रति बड़ौदा के नरसिंह जी पोल के ज्ञान मन्दिर में सुरक्षित है। यह प्रति 1477 ई. में जौनपुर के बादशाह हुसैन शाह शर्की के समय चित्रित की गई थी। कल्पसूत्र की एक चौथी प्रति अहमदाबाद निवासी मुनि दया विजय जी के संग्रह में है, जिसको 15 वीं शती के उत्तरार्द्ध का माना जाता है। यह भी स्वर्णाक्षरों में अंकित है, इसमें अंकित चित्र अपभ्रंश शैली के सर्वश्रेष्ठ चित्र माने जाते हैं।

किसी भी कला या उसकी किसी शैली की रूप-रेखा का परिचय प्राप्त करने के लिये उसके प्रमुख प्रतीकों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से जैन कला में जो प्रमुख प्रतीक हमें प्राप्त होते हैं उनमें तीर्थंकर महावीर की माता त्रिशला को हुए स्वप्नों के चित्र बहुतायत में प्राप्त होते हैं। उनमें एरावत हाथी,

3. भगवान महावीर चित्रावली—अगरवन्द नाहटा, वीर परिनिर्वाण सितम्बर 1974, पृष्ठ 11।

केशरी सिंह, वृष (बैल), पद्मावती (कमल के सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी), पुष्प मालाएँ, सूर्य, चन्द्र, स्वर्ण कलश, सरोवर, समुद्र, विमान (पालकी), रत्न स्रण्डार, अग्नि मीन युगल व विशाल गगनचुम्बीमवन आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त स्वास्तिक, श्रीवत्स, नदियावत, वद्ध-मानवय, भद्रासन, दर्पण आदि प्रतीकों को आयागपटों पर बहुत ही कुशलतापूर्वक चित्रित किया गया है। इसके साथ ही चौबीस तीर्थंकरों और उनके प्रतीकों व चिन्हों को भी चित्रित किया गया। इनमें भी चार तीर्थंकरों महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और ऋषभनाथ के चित्र अधिकांश मात्रा में प्राप्त होते हैं। इनका वर्ण क्रमशः पीत (पीला), नीला, काला तथा स्वर्णिम, प्रतीक चिन्ह क्रमशः केशरी सिंह, सर्प, शंख व वृष तथा दीक्षातरु क्रमशः अशोक, घातकी, वेधस्, कदली अंकित किये गए हैं।

तीर्थंकरों के आसन के रूप में 'ईषत्प्रभभार' या 'सिद्ध शिला' अंकित की गई है जो तिर्यक् अर्द्ध चन्द्राकार के स्वरूप की हैं। इसके अतिरिक्त समवशरण की भी रचना की गई है। यह वह स्थान है जहाँ बैठकर तीर्थंकर उपदेश देते थे। इस स्थान का स्वरूप सामान्यतः वृत्ताकार और यदाकदा वर्गाकार भी प्राप्त होता है। इसे मणि-माणिक्य एवं सुवर्ण से सजाया जाता था। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन के अनुसार भैलोक्य रचना, ब्रह्माण्ड सृष्टि और पौराणिक चित्र भी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

जैन कला के प्रतीक के रूप में नारी-रूपों का चित्रण बहुत ही कम हुआ है। नारी चित्रों के न्यूनतम उपयोग के बावजूद भी जैन कला की समृद्धि उसका ऐसा महत्वपूर्व गुण है जो विश्व में प्राप्त चित्रकला की विभिन्न विधाओं में उसे मौलिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है। जैन कला में यदाकदा ही नारी चित्र प्राप्त होते हैं। नारी चित्रण के क्षेत्र में कुछ चित्रों में तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों में यक्ष-यक्षणियों के चित्र तथा तीर्थंकरों की अधिष्ठात्री देवियाँ अम्बिका, पद्मावती, सरस्वती, शासन, चक्र-

श्वरी तथा सोलह विद्या देवियों के चित्र अंकित किये गए हैं।

रंग योजना की दृष्टि से जैन कलाकृतियों का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल में इनमें हल्दिया रंगों का प्रयोग अधिक मात्रा में होता था। बाद में लाल रंग का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में होने लगा। इसके अतिरिक्त आसमानी, पीले, नीले तथा श्वेत रंगों का भी समावेश किया गया है। बाद में इनमें सुनहरी स्याही का भी अधिकाधिक प्रयोग होने लग गया।

वस्त्राभूषणों की दृष्टि से जैन कला में मुकुटों और मालाओं की सज्जा पर अधिक ध्यान दिया गया है। स्त्रियों की शृंगार सज्जा के रूप में माथे पर बिन्दी, कानों में कुण्डल और बाहों में बाजूबन्द अंकित किये गए हैं। गले में रत्नमालाओं की प्रधानता दी गई है जो लगभग सभी चित्रों में प्राप्त होती हैं तथा गले से लेकर पैरों तक सारी आकृति को घेरनेवाली मालाओं तक, अनेकों प्रकार से अंकित हैं। वस्त्रों में धोतियों की सज्जा मोहक है। प्रारम्भिक चित्रों में वस्त्रों में मोती जैसे श्वेत तथा स्वर्णिम रंग की प्रधानता है, जिसका स्थान बाद में ईरानी प्रभाव के कारण हल्की छाप, बेज-बूटों की जगह पच्चीकारी तथा खवर्णीय रंगों के काम ले ले लिया। पश्चातवर्ती चित्रों में मुकुटों के स्थान पर पाग (पगडियों) का भी अंकन किया गया। जहाँ पुरुषों के वस्त्रों में धोती व दुपट्टे प्रमुख हैं वहाँ नारी चित्रों में कंचुकी, रंगीन धोती, चूनरी और कटिपट का प्रयोग किया गया है।

चित्रों में आकार एवं अनुपात का भी पूरा ध्यान रखा गया है। प्रख्यात कला समीक्षक श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार "चित्रों का आकार एकचक्षु, डेढ़ चक्षु और दोचक्षु है। एक चक्षु या डेढ़ चक्षु वाले चित्रों में ठोड़ी सेव की तरह बाहर की ओर उभर आयी है और उसके नीचे की रेखा में गौरव, गर्व तथा

अभिमान को प्रकट करने के उद्देश्य से झोल दे दिया गया है। दो चरम आकार के खड़े हुए जैन मुनियों की छोड़ी में त्रिशूल की भाँति तीन रेखाएँ और नासिका, माल की नोक की तरह अंकित है। भवें और नयनों का फैलाव समरूप है। एक चरम तथा डेढ़ चरम चेहरों में नासिका शुकचंचु की भाँति नुकीली और अनुपात से अधिक लम्बी हो गयी है। नेत्र उठे हुए तथा बाहर की ओर उमरे हुए हैं। उनकी लम्बाई कर्णभाग को छूती है, वस्तुतः नेत्रों और नासिका के चित्रण में जैन कलाकारों की निपुणता की तुलना नहीं है।”⁴

इस प्रकार जैन चित्रकला की परम्परा के अन्तर्गत जो कार्य हुआ उसने भारतीय चित्रकला के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। चित्रकला के क्षेत्र में राजपूत और मुगल शैलियों के पूर्व भी महत्वपूर्ण कार्य इस देश में जैन चित्रकला के माध्यम से हुआ। भारतीय चित्रकला को जैन चित्रकला ने ऐसी अनुपम सचित्र कृतियाँ दी हैं जो भावाभिव्यक्ति, सौन्दर्य बोध, रंग योजना, वर्ण-आकार-सज्जा के अद्भुत सामंजस्य के कारण सजीव बन पड़ी हैं। इसने चित्रकला की अगली परम्पराओं राजपूत और मुगल शैलियों को नवीन प्रवृत्तियाँ तथा प्रगतिशील तत्व दिये हैं।

जैन चित्रकला ने अपने से उत्तरकालीन सभी शैलियों पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। हिन्दू राजपूत कला जैन चित्रशैली से अत्यधिक प्रभावित हुई। भारतीय चित्र शैलियों में बेलबूटों की बनावट की जन्मदात्री सर्वप्रथम जैन कला ही रही। जैन चित्रकला हिन्दू चित्रकला शैलियों के अति निकट रही है। विषय वस्तु के रूप में भी जैन कला में स्वयंभू राम और नेमिनाथ हिन्दू कला के राम और कृष्ण के समान एवं समकालीन हैं। हिन्दू शैलियों की सरस्वती,

इन्द्र वरुण, काली आदि यक्ष-यक्षिणी तथा अन्य रूपान्तरों में जैन कला में भी प्राप्त होते हैं। पश्चात्-वर्ती काल में जैन कला हिन्दू कला के साथ एकाकार करती प्रतीत होती है। एक मुख्य असमानता जो जैन और हिन्दू कला के मध्य सदैव विद्यमान रही वह थी हिन्दू कला में नारी चित्रों तथा अति शृंगारिक चित्रों के अंकन के सम्बन्ध में। हिन्दू कला स्थूल मांसलता की ओर अग्रसर हो, राग-रागिनी, नख-शिल तथा बारहमासा आदि विषयों में संलग्न होती गयी तब भी जैन कला में अपनी परम्परागत धार्मिक निष्ठा स्थिर रही। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों हिन्दू कला राज-प्रसादों में सिमटती गई और विलासितामयी जीवन के चित्रण में लगती गई, त्यों-त्यों जैन चित्रकला की प्रगति शिथिल होती गई।

बौद्ध कला भी जैन कला से कई स्थानों पर सामंजस्य करती प्रतीत होती है। जैन कला में जिस प्रकार कथाओं को कई स्थानों पर आधार बनाया गया है, उसी प्रकार बुद्धकला का भी मुख्य आधार जातक कथाएँ हैं। पन्द्रहवीं शती के पूर्व जैन एवं बौद्ध कलाओं की ही कृतियाँ उपलब्ध हैं। जैन कला ने बौद्ध कला की अलंकरण प्रवृत्ति से सामंजस्य स्थापित किया है। एक मुख्य अन्तर जो इन दोनों में पाया जाता है वह यह कि बौद्ध कला भित्ति चित्रों पर अधिक केन्द्रित रही जबकि जैन कला में भित्ति चित्रों के पश्चात् ताड़पत्रों तथा कागज पर चित्रांकन को प्रमुखता दी गई और वह ग्रन्थ चित्रों की ओर अधिक आकर्षित हुई। बौद्ध कला ने राज्य संरक्षण प्राप्त कर तथा विलासिता पूर्ण, शृंगारिक चित्रों तथा नारी चित्रों का अंकन अपने क्षेत्र को ओर व्यापक बनाते हुए जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना विकास किया वहाँ जैन कला ने सिद्धांतों के मूल्य पर कभी परिस्थिति से

समझौता नहीं किया और सदैव धार्मिक आधारों का कठोरतापूर्वक पालन किया।

भारतीय चित्रकला के विकास में जैन कलाकारों ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण किया है। दसवीं से पन्द्रहवीं शती के बीच का काल तो शुद्ध रूप से मुख्यतः जैन कला का ही काल रहा है। इस युग में पूर्व परम्परा को जीवित रखकर जिस निष्ठा और लगन के साथ जैन कलाकारों ने जैन शैली को विकसित किया और भविष्य में राजपूत एवं मुगल शैली को जो नये प्रयोग एवं भाव विधान दिये, उनके लिए भारतीय चित्रकला जैन चित्रकला की परम्परा की ऋणी है। तिब्बत, नेपाल और गढ़वाल में कपड़े पर चित्रांकन की प्राचीन परम्परा के अनुरूप भारतीय कला में वस्त्रों पर अंकन व लेखन की सामग्री जैन कला में ही उपलब्ध होती है। श्रद्धेय मुनि कान्ति सागर ने अपने एक गवेषणात्मक लेख⁵ में ताड़पत्रों, वस्त्रों तथा कागजों आदि पर निर्मित जैन चित्रों, उनके चित्रकारों एवं ग्रन्थकारों का वृहद वर्णन किया है। उनके संग्रह के अतिरिक्त लखनऊ, इलाहाबाद, कलकत्ता आदि के संग्रहालयों तथा अनेक व्यक्तिगत संग्रहों में वस्त्रचित्रों के मूल्यवान एवं दुर्लभ नमूने प्राप्त होते हैं। वाशिंगटन की फेयर आर्ट गैलरी में सुरक्षित “वसंत विलास” नामक कृति (1508 वि. में लिखित) वस्त्र पर चित्रित विज्ञप्ति पत्रों की अपने ढंग की विश्व भर में चित्रकला में अद्वितीय कृति मानी जाती है। ब्रिटिश म्यूजियम में भी जिनभद्रसूरि के समय का जैन शास्त्रों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला एक बहुमूल्य एवं वृहत् पट्ट चित्र आज भी सुरक्षित है जिसे मुगल-राजपूत शैलियों से पूर्व का

सर्वश्रेष्ठ पट्ट चित्र माना जाता है। नाहुटा कला भवन बीकानेर में भी इस प्रकार के सुन्दर वस्त्रचित्र सुरक्षित हैं।

भारतीय चित्रकला जैन कलाप्रेमियों के कलात्मक वस्तुओं की सुरक्षा के विशिष्ट गुण की भी विशेष ऋणी है जिसके कारण चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती के क्रांतिमय समय में भी, जबकि अलाउद्दीन खिलजी जैसे सरदारों ने जहाँ भी हिन्दू कलाकृति देखी नष्ट करदी, जैन विद्वानों ने जी जान से अपनी कला परम्परा या यों कहें कि तत्कालीन भारतीय कला परम्परा की रक्षा की। इन दिनों कागज के स्थान पर काश्मीरी कागज स्वर्णमयी एवं रजतमयी स्याही से मूल्यवान चित्रों एवं पोथियों का निर्माण किया गया। मुनि कान्तिसागर के अनुसार “कल्पसूत्र” की एक प्रति, जो अहमदाबाद में सुरक्षित है, इतने महत्व की प्रमाणित हो चुकी है कि उसका मूल्य सवा लक्ष रुपये तक आँका जा चुका है। भारतीय नाट्य, संगीत और चित्रकला तीनों दृष्टियों में उसका स्थान अपूर्व है। इन चित्रों में राग-रागिनी, मूर्छना, तान आदि की योजना संगीत शास्त्र के अनुसार है, और आकाशचारी, पादचारी, मोमचारी, वगैरह भरतमुनि के “नाट्य-शास्त्र” में वर्णित नाट्य के विभिन्न रूप बड़े ही भाव पूर्ण हैं। प्रत्येक के मुखमुद्रा उनके हृदयगत भावों का स्पष्टीकरण करते हुए विविध रूप उत्पन्न कर साधारण मानव को भी अपनी ओर आकृष्ट करती है यही उक्त प्रति की कुछ विशेषताएँ हैं।⁶

जैन चित्रकारों द्वारा रंगों और रेखाओं के प्रति पूर्ण सजगता बरती गई है। इनका सबसे सुन्दर स्वरूप

5. “जैनो द्वारा पल्लवित चित्रकला”—लेखक—मुनि कान्तिसागर, “विशाल भारत” दिसम्बर 1947; भाग 40, अंक 6, पृष्ठ 341-348।
6. तदेव।

ताडपत्रों पर निर्मित चित्रों में देखने को मिलता है जहाँ बारीक रेखाओं द्वारा अल्प स्थान में ही निर्मित चित्रों में कलाकारों ने अपनी प्रतिभा एवं कौशल का पूर्ण प्रदर्शन किया है। जैन शैली के चित्रों में नेत्रों की वनावट पर विशेष ध्यान दिया गया है। ताडपत्रों पर अंकित सूक्ष्म रेखाएँ इतनी सार्थक हैं कि उनके कारण चित्र में पूर्ण सजीवता प्रतीत होती है जिन्हें देखकर कोई भी कलाकार इनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। जैन पोथियों के बाहर सुरक्षा के लिए बँधी लकड़ियों की तख्तियों पर भी सुन्दर चित्रकारी देखने को मिलती है। जैसलमेर के जैन मन्दिरों में ऐसी जितनी भी लकड़ी की सचित्र तख्तियाँ थीं उनके चित्र लेकर उन्हें सुरक्षित रखा गया है, अन्य जैन शास्त्र भण्डारों में भी ऐसा किए जाने की आवश्यकता है।

इस प्रकार जहाँ जैन धर्मानुयायियों ने करोड़ों रुपया व्यय कर कला का पोषण किया है वहाँ जैन मुनियों ने भी एकाग्रभाव से तन्मयतापूर्वक हजारों ग्रन्थों की प्रतिलिपि एवं स्वतन्त्र रचना कर कला की समृद्धि में महान योग दिया है। जैन ग्रन्थकारों की कृतियों में एक और विशिष्ट विशेषता देखने को मिलती है, कि अनेक कृतियों में लिखने के बीच-बीच इस ढंग से खाली स्थान छोड़ा गया है कि अपने आप छत्र, कमल, स्वस्तिक आदि उभर आते हैं। जैन चित्रकारों में जहाँ जैन परम्परा के विकास का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है वहाँ अन्य परम्पराओं के विकास में भी कई

जैन कलाकारों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में जैन कलाकारों द्वारा जहाँ “मार्कण्डेय पुराण” तथा “दुर्गा सप्तमी” जैसे जैसे वैष्णव ग्रन्थों के चित्र निर्मित किए गये हैं, वहाँ सोलहवीं-सत्रहवीं शती में जहाँगीर के दरबारी चित्रकारों में सालिवाहन नामक जैन चित्रकार द्वारा “आगरा का विजयपति पत्र” (1667 वि.) तथा मतिसार चित्र “धन्नाशालिभद्र-चौपई, का भी चित्रांकन किया गया। इसी प्रकार अकबर के काल में समय सुन्दर नामक जैन मुनि द्वारा “अर्थ रत्नावली” नामक एक ग्रन्थ की रचना कर बादशाह को भेंट किया गया।

इस प्रकार जैन धर्म के प्रति अपनी अटूट निष्ठा को स्थिर रख जैन कलाकारों ने जैन कला का जिस धैर्य, निष्ठा व विश्वास के साथ चित्रांकन किया वह विश्व में अपनी सानी नहीं रखता। राज्याश्रयों के विलासितापूर्ण वातावरण से विलग तथा धार्मिक सीमाओं से बँधे रहने के कारण जैन चित्रकला में लोक जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति हुई है। उसकी आकृतियों, रेखाओं और साज-सज्जा आदि सभी में लोककला का समर्थ रूप विद्यमान है उसमें वैसे ही लोक सौन्दर्य एवं लोक संस्कृति के तत्व छिपे हैं जैसे सांची और भरहुत की कृतियों में है। इसलिए लोक-कला का जो वास्तविक प्रतिनिधित्व जैन कला में समाहित है, वैसे न तो बौद्ध कला में दिखाई देता है और न राजपूत कला में है।⁷

7. भारतीय चित्रकला — वाचस्पति मेरोला, पृष्ठ 143।

CONTRIBUTION OF MAHAVIRA TO INDIAN CULTURE

KAILASH CHAND JAIN

Mahavira, who lived in the sixth century B. C., made distinct and special contributions, to Indian culture. He is described as a supreme personality, and acknowledged as a great Brahmana, a great guardian, a great guide, a great preacher, a great pilot and a great recluse. There were several religious thinkers and sects contemporary to Mahavira, but their philosophical dogmas had a merely temporary vogue, and gradually faded away. In spite of the opposition from time to time, Mahavira's religion came to stay, and influenced the Indian culture in different ways.

For the true understanding of Mahavira's contributions to Indian culture, his contemporary literature, which remained in the form of oral traditions for a consi-

derable time, is very helpful. As it was codified much afterwards with certain interpolations and changes, it should be used with caution. This literary evidence is twofold: direct and collateral. The direct evidence is that which is furnished by the Jaina literary works specially the *Purvas* and the *Avigas*, and the collateral one is gathered from the Buddhist literary works known as *Nikayas*.

The most important contribution of Mahavira to Indian Culture is the doctrine of *ahimsa* or non-violence. Previously there was too much slaughter of animals and injury to creatures, and this practice of violence polluted the whole atmosphere of the society. Animals were killed even in the religious sacrifices which were performed to please the gods. For the

blissfulness of the entire being, Mahavira inculcated the doctrine of *ahimsa* or non-violence in thought, word and action. ¹ The visible effect of this doctrine was sought to be proved by practical demonstration. Already in Mahavira's time and even afterwards, the righteous kings of India made it a point of duty to vouchsafe lawful protection to all forms of life within the sacred precincts of a religious establishment. ² They even prohibited the slaughter of animals on certain sacred days of the year. This principle of causing no harm to any being had a salutary effect on man's habitual diet. Those, who came under the influence of Mahavira's personality and teaching, gave up the eating of meat and fish, and adhered to a strictly vegetarian diet.

After Mahavira's death, this vegetarian habit seems to have influenced the entire population. The Brahmanas, Vaisyas and even Rajaputs became vegetarians because of the influence of Jainism. The principle was at the back of many philanthropic and humanitarian deeds performed, and institutions established from time to time. The practice of feeding and sustaining the insects, birds and animals followed in ancient times was the result of the doctrine of *ahimsa*. It is perhaps due to this principle that Jainism appealed to the

masses who formed the different castes such as the Osavalas, the Khandelavalas and the Poravalas etc.

The next contribution of Mahavira is that he observed no distinction of caste and creed. According to him, salvation is the birthright of everyone, and it is assured if one follows the prescribed rules of conduct. His doctrine of *Karma* (action) made the individual conscious of his responsibility for all actions. One becomes a Brahmana or a Kshatriya or a Vaisya or Sudra by one's actions. Though he was Kshatriya, he himself was styled '*Mahana*' or *Mahamahana* (Great Brahmana).³ His religion was accepted by a large number of men and women belonging to different castes and classes. The contemporary kings, queens, princes and ministers became his followers. Among the kings, Srenika, Kunika and Chetaka are the prominent. His chief eleven disciples known as Ganadhara were also Brahmanas who helped the master to spread his faith. Besides, he attracted a large number of rich bankers and merchants. Mahavira also tried his best to improve the general condition of these down-trodden people. Harikeshabala, born in the family of Chandalas, became a monk possessing some of the highest virtues.⁴ Several contemporary clans such as the Lichchhavi-

-
1. Uttaradhyayana Sutra. VIII, 10
 2. Majjhimanikaya, II, p. 101.
 3. Uvasagada-sao, 7.
 4. Uttaradhyayana Sutra, XII

is, the Vajjis, the Jnatrikas, the Mallas, the Ugras and the Bhogas came under the influence of Mahavira. ⁵

Another notable contribution of Mahavira is that he made no distinction of sex by admitting women into his Order. Some of them distinguished themselves as teachers and preachers. They used to lead a life of celibacy, with the aim of understanding and following the eternal truths of religion and philosophy. Ajita Chaudana became the first disciple of Mahavira under whom a large number of nuns practised the rules of right conduct and attained salvation. Another famous lady Jayanti, the sister of king Sayaniya of Kosambi, abandoned her royal robe and became a devout nun.

As Mahavira was born and brought up in republican atmosphere he organized the monastic order efficiently on democratic principles. He possessed a unique power of organization. There were four orders of his community: monks, nuns, laymen and laywomen. He made laity the participants of the monastic order. These laymen were householders who could not actually renounce the world but they at least could observe the five small vows called *anuvrata*. The similarity of their religious duties, differing not in kind but in degree, brought about the close union of laymen and monks. Most of these regulations meant to govern the conduct of laymen were intended apparently to make them participate in a measure and for

some time, in the merits and benefits of monastic life without obliging them to renounce the world altogether. The type of organization gave the Jaina a root in India, and that root firmly planted amongst the laity enabled Jainism to withstand the storm that drove Buddhism out of India.

The next remarkable contribution of Mahavira is that he established strict discipline in the Jaina monastic order by laying down certain rules of conduct for ascetics. These rules are classified under such general heads as begging, walking, modes of speech, entry into others possessions, postures; place of study and attending to the calls of nature. Here begging included begging food and drink, begging a bowl, begging clothes, and begging a residence of a couch under these subheads are to be found the rules governing the modes of eating, drinking and lying down. Walking includes travelling, crossing, swimming and other forms of movement. The postures are those that are involved in religious exercises. These rules have been prescribed so that a monk may not prey to the worldly disputes. The noble conduct of the monk is essential, for he is regarded as an ideal example to be followed by the people. He is actually the guide, the guardian, and the leader of the society.

The ultimate object taught by Mahavira is the conception of *Nirvana* which consists in the attainment of peace and infinite bliss.⁶ This highest goal is to

5. Sacred Books of the east XLV (Sutrakritanga) pp. 71, 321, 339.

6. Sutrakritanga, I, 11, 11.

be attained though annihilating the old *Karmans* by the practice of austerities, and to step the influx of new *Karmans* by the practice of self-restraint, called *Samvara* with regard to the body, speech and mind. Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct are the three essential points which lead to perfection by the destruction of *Karmans*. Without Right Faith, there is no Right Knowledge; without Right Knowledge, there is no Virtuous Conduct, without virtues, there is no deliverance and without deliverance, there is no perfection.

The next great contribution of Mahavira is the theory of *Karma*. According to him, birth is nothing, caste is nothing, *Karma* is everything, and that on the destruction of *Karma*, all future happiness depends. This theory of *Karma* is known as the notion of the freedom of the will. According to it, pleasure and pain, and happiness and misery of the individual depend upon his free will, exertion and manly strength. *Karma* is the deed of the soul. It is a material forming a subtle bond of extremely refined karmic matter which keeps the soul confined to its place of origin or the natural abode of full knowledge and everlasting peace. According to this theory there are as many souls as living individuals, and *Karma* consists of acts, intentional and unintentional, that produce effects on nature of

the soul. Thus, the soul is not passive in the sense that it remains untouched or unaffected by what a person does, but is susceptible to the influence of *Karma*.⁷

The doctrine of *Naya* as propounded by Mahavira in opposition to the agnosticism of Sanjaya⁸ is no less contribution to Indian Culture. The early canonical texts just mention *Nayas* without fixing up their number four or seven.⁹ In course of time, this doctrine of *Nayas* was called *Syadvada* (*Saptabhanginyaya*), according to which there can be seven alternatives to a decisive conclusion. *Nayas* were actually the ways of expressing the nature of things from different points of view; they were the ways of escaping from the tendencies of insensivity and dogmatism which Mahavira disliked. It is a midway between scepticism and dogmatism. There were many religious sects and philosophical views prevalent in his time. Mahavira was tolerant in religious matters and this theory of *Naya* laid stress on the fact that there should be room for the consideration of teachings and views of all religious sects which avoided squabbles and quarrels among religious exponents. This attitude in religious matters produced an atmosphere of mutual harmony among the followers of different sects who began to appreciate the views of their opponents as well. Jainism has survived the ravages

7. Sutrakritanga I. II. II.

8. Sacred books of the East X IV, p. XXVII.

9. Sutrakritanga II 5. 3, Acharanga I. 7. 3.

of time because of this tolerant attitude imbibed in the doctrine of *Naya*.

Another great message of Mahavira to mankind is the doctrine of *aparigraha* or freedom from possession. By becoming a monk, he renounced everything by breaking all worldly ties. This doctrine enables a person to cut off the ties of attachment and desire, making him indifferent to all agreeable and disagreeable sensations of sound, touch, colour and smell.¹⁰ It leads to the feeling of contentment; which cannot be bought by wealth, pomp and power of the world. Had it been possible, the kings and wealthy persons would certainly have attained it. It can certainly be realized through patience, forbearance, self-denial, forgiveness, humanity, compassion, suffering and sacrifice. This doctrine created healthy atmosphere in the society. Several kings, ministers and wealthy merchants led simple lives thinking wealth and power not for their own but for the welfare of all living beings.

While Parsva taught only four vows for the realization of absolute happiness, Mahavira taught five in all making chastity a separate vow altogether.¹¹ He was compelled to do this because there

was a decay of morals of the monastic order. He considered it to be the highest austerity. This vow of chastity requires the avoidance of sexual pleasure. For its attainment, a person should desist from continually discussing topics relating to women. He should not regard and contemplate the lovely forms of women. He should not recall to his mind the pleasures and amusements he formerly had with women. He should not eat and drink too much. He should not drink liquor or eat highly seasoned food. He should not occupy a bed or a couch belonging to women.¹²

One special contribution of Mahavira is that he preached his doctrines in the language of the masses known as the old *Ardha Magadhi* dialect which soon grew as literary language. Traditionally the eleven *Angas* based on the teaching of Mahavira were originally in *Ardha-Magadhi*. This literature seems to have been handed down orally in the form of traditions, and it took literary form after much considerable time. It underwent many changes in language and subject-matter. The present canon does not belong to one period, but the language of the available canon, however, shows a great influence of Maharashtrian Prakrit.

* * *

10. Acharanga 15-i-v.

11. Uttaradhyayanasutra, XXIII, 26-27

11. Uttaradhyayanasytry, XVI.

JAINA IMAGES AND THEIR PREDOMINANT STYLES : DAHALA AND SOUTH KOSALA REGION

Dr. R. N. MISRA

The paper attempts to make a brief study of Jaina sculptures in Central India and their stylistic evolution within an over-all pattern of sculptural style that shaped the images of the region under the Kalachuris of Dahala and South Kosala. ¹

It is of interest to note that although the Kalachuris were devout Saivas, their faith did not come in way of development of Jainism in the region under their control. Some official records of the Kalachuris testify to the construction of temples

dedicated to Jinas, while prolific remains of sculptures of Jinas, the seated couples (variously identified as Dharanendra-Padmavati, Ambika-Sarvanha or the parents of Jina), the Jaina *sasana devatas* and *Upasakas* indicate the patronage—both royal and individual—that Jainism seems to have enjoyed during the Kalachuri rule. That some of these images are related to a distinct iconic tradition which is *sui generis* has also been sometimes stressed. ²

-
1. Many of the sites in these regions were explored by Cunningham and his assistants Baglar and Garrick in the last century. Among others who worked on this region mention may be made of Bhandarkar and Cousens, Only R. D. Banerji made a study of some consequence in which he attempted to present a systematic survey of the monuments of Haihayas (also known as Chedis or Kalchuris) of Tripuri. Despite these studies no serious attempt was made till recently to systematise the vast amount of Archaeological evidence in terms of sculptures and monuments in the region. These monuments are however are now receiving some attention.
 2. The authors' 'Yakshini images and the Matrika Tradition in Central India', *Prachya Pratibha*, III, (i), pp. 29-34.

Quantitatively the epigraphic evidence with regard to Jain monuments in the region under the survey is scanty. We have an inscription of K. E. 900/ 1149 A. D. referring to the setting up of a Tirthankara image (at Tripuri) by Jasadeva and Jasadhaval of Mathura. This short dedicatory inscription is engraved on the pedestal of this image which is now in the collection of Sir Hari Singh Gour Archaeological Museum of University of Sagar. ³

In the Bahoribandha Jain image inscription of the time of Gayakarna (1123-1153) we find a reference to the construction of a temple of Tirthankara Santinath by Mhabhoja, son of Sarvadhara. ⁴ This inscription affords information regarding the construction of a *mandira*, 'temple', along with a very white *vitana*, 'canopy', in front of it. During its heyday, as the inscription testifies, the shrine was a *ramya*, 'beautiful', construction. Similarly the *vitana* was 'very white' and 'extremely beautiful'. The name of the *sutradhana*, 'architect', who made it was

Sreshthin and the *acharya* who consecrated the image was Subhadra. This *acharya* belongs to the *anvaya*, 'line', of the Desigana in the Amnaya of holy Chandrakara. ⁵

The Alhaghat inscription of V. S. 1216/1159 A. D. refers to the construction of a *shatishadika ghat* and a temple dedicated to Ambika on the road leading to the *ghat*. ⁶ This deed was performed by *Ranaka* Chihula who belongs to the line of the Rautiyas of Kausambi. The *Ranaka* himself was a feudatory of the Kalachuri Narsimhadeva (1153-1163). It is difficult to say whether this temple was dedicated to Ambika, the *sasanadevi* of Neminath or to the Brahmanical deity of the same name. But the coincidence of the existence of a Jain temple at Patyan Dae (Satna district) is interesting in this connection. That this temple is a Jain monument is beyond doubt. It may be dated to about 12th century. Stylistically, the figures of Jinas on the lintel of the doorway and the other decorative figures on the doorframe

3. Cf. Dikshit, M. G., *Madhya Pradesh ke puratatva ki ruprekha* (in Hindi; Sagar 1954), p. 70; *Tripuri—1952* (Sagar, 1955); p. 12, pl. VII, B.
4. Cf., Mirashi, V. V., *Inscription of the Chedi Kalachuri Era*, *Corpus Inscriptionum Indicarum*, vol. IV (i) (Ootacamound, 1955, inscription no. 59, p. 310-311; Cunningham, A., *Archaeological Survey of India Reports*, Vol. IX, p. 40; Bhandarkar, P. R. *A. S. W. I.* for 1903-04, pp. 54-55.
5. According to Mirashi this may be identical with the Chandrakapat *Gaccha* of Digambar sect, Cf., *C. I. I.*, IV (i), p. 310, note 3; *Indian Antiquary*, XXI, p. 73. It is also of interest to note that Sarvabhadra the father of donor belong to a line namely Golla parva *anvaya* which still has several adherents in M. P.
6. Mirashi, V. V., *opcit.* p. 323-24.

appear to belong to a period of the art of Dahala when decadence had already set in. But it is curious to note that housed in this temple was an image of Ambika of about 10th century. ⁷ The image now fills the collection of the Allahabad Municipal Museum.

Incidentally, it may be noted here that the Alhaghat inscription refers to several craftsmen also who might have been associated with the construction of the ghat and the Ambika temple. No less than five craftsmen are mentioned in it, namely the *Sutradhara* Kamlasinha and his team consisting of Some, Kokasa, Palhana, and Dalhana. The inscription seems to indicate that the number of craftsmen and artisans was growing while the patronage and style was fast dwindling by now.

This is all that the Kalchuri epigraphs tell about art activity related to Jainism. The Jain remains in the region however are prolific though scattered. Although most of the remains are in nature of loose sculptures, it may be surmised on their basis that Jaina temples must have existed at Bilhari and Karitalai besides the Patyan

Dae temple of the Satna district and the Bahoridhandha shrine of Santinatha in the Jabalpur district. The speculation regarding the former two places is based on the doorframes which still exist at Karitalai and Bilhari. The connected monuments have disappeared now and their ruins shifted to the Rani Durgavati Museum (Jabalpur) and Mahant Ghasidas Memorial Museum (Raipur). ⁸ Among these places Bilhari came into prominence architecturally when Nohala, the queen of Yuvarajadeva I (915-945) built the reputed Nohalesvara *matha* and Somanath temple there. The remains of these constructions can still be seen in the reconstructed Vishnu-Varaha temple of Bilhari. Karitalai became famous for its temples one of which was built in 840-41 A. D. ⁹ and the other some time during the reign of Lakshmanaraja II (945-70). These constructions define the background of building activity which eventually seems to have influenced the content of Jaina art also, for it was a significant part of a whole in which sharp lines of division in respect of stylistic details get blurred. These circumstances also explain as to why in

7. For the details of this image of Ambika, cf., Saraswati, S. K., *Jisoa*, VIII. 148; Shah, U. P., *Studies in Jain Art*, Banaras, 1955), p. 18; *Journal of University of Bombay*, Sept. 1941.
8. Cf. Jain, B. C., 'Sculptures from Karitalai in Raipur Museum' *Journal of Indian Museums*, Vol. XIV-XVI (1958-60), pp. 19-20. cf. also *Prachya Pratibha*, vol. III (i), 1975, p. 89 During the course of my field work which covered the areas of Vindhya Pradesh and Chattisgarh most of the sites covered contain Jaina Sculptures.
9. This Temple at Karitalai was dedicated probably to the Trinity of Hindu Pantheon. The opening verses of the Karitlai inscription of K. E. 593/840-41 A. D. have : *om namostu Druhinopendrarudrebhyayah*. cf. Mirashi, V. V., *opcit.*, p. 181.

the otherwise wholly Jainistic images there is often a distinctive iconographic touch which does not conform to the conventional Jaina iconography. Any number of examples may be cited to indicate this phenomenon of mutual adjustment in the details of images and iconography. A major example of this is to be seen in the Jain temple of Arang which is an architectural marvel interpreting the *bhumija* style of architecture usually reserved for Saiva temples.¹⁰ Another typical example of iconographic adjustments in Jaina sculpture is afforded by the Hanumantal (Jabalpur) Jina image. A Jaina image from Karitalai (now displayed in the Raipur Museum) similarly interprets a variation of the same idiom which is predominant in the Hanumantal image. Stylistically these images conform to the idiom of sculptures of Karitalai and Tripuri-Jabalpur region as a whole, as obtaining in the 10th and 11th century.

natha, Sambhavanatha, Santinatha, etc. and Ambika. Some of these images have now been spoiled due to liberal dabs of oil applied on them. Iconographically however a pillar now standing in the compound of the Town Council office at Narsinghpur is interesting. This pillar originally was decorated with the surmounting *sarvatobhadrika* images whose pedestals with their empanelled *sasanadevi* figures have fortunately escaped damage. Thus on them we have the figures of Padmavati, Ambika and Chakreshwari (the fourth figure is damaged).¹¹ A Jina image in the Subhash Park of Narsinghpur is also of interest and seems to articulate the same breadth of style which interprets the Jina images of Sohagpur (the Thakur's collection) and Jabalpur (Cursetjee's collection) published by Banerji.¹² Images of Jinas *sasandevīs* and *upasakas* having their bearing on the Jaina art and iconography are¹³ fairly abundant in the region of Shadol, (Antara, Singhpur), Jabalpur (Tewar, Karitalai, Bilhari, Darshani Gurji, Bahoribaodha), Sagar (Bina-Barha, Deori, Ranital), Satna (Ramvan Museum collection, Patyan Dae), all of which once formed the part of an

-
10. For a detailed study of Bhumija mode in temple architecture, see Krishna Deva, 'Bhumija Temples', in *Studies in Temple Indian Architecture*, Ed. Pramod Chandra (1975) pp. 90-113.
 11. Cf. Munikanta Sagar, *khandaharon ka baibhava* in (Hindi), pp. 199-200.
 12. Banerji, R. D., *The Haihayas of Tripuri and their Monuments* (M. A. S. I. No. XXIII), p. 100, pl. XLI, B; p. 102, pl. XLVIII, B.
 13. Bajpai, K. D., in the *Bulletin of Ancient Indian History and Archaeology*, (Sagar 1967), p. 74.

extensive Dhala Mandala. In the South Kosala region similarly images are known from Bilaspur and Raipur districts at such places as Sirpur, Malhar, Dhanpur, Ratanpur, Padampur, etc.¹⁴ Among these notable examples are from Arang and Malhar. All in all, the content of Jaina art in the regions under observation here is fairly rich in types, iconography and style. It is the last aspect which has been discussed in the following pages.

II

In the period following the Guptas, Central Indian region indicates a very definite idiom of style in sculptures which seems to have derived itself from the classical mannerisms of art that came up mainly of the Gupta-Vakataka tradition of the north and the Deccan. Although securely dated images of the post-Gupta phase in Central India are mostly absent, the stylistic features of evolving images are to some extent traceable in stages from certain dated examples known from Eran, Mandoor and certain other regions in Rajasthan. In the Dahala however the images from Nandchand (Panna district)

and Sagar (Ardhanarisvara image in the Sir H.S. Gouar Museum), provide stylistic indices to the evolution of modes and mannerism in sculptural art and help in establishing its forms that obtained during the transitional phase. A study of transformation of 'classical idiom into 'Medieval' has reference here geographically to two different regions of Central India namely the Dahala and the South Kosala.¹⁵ In terms of patronage, it appears that the Panduvamsis in the South Kosala and the Kalachuris in Dahala were mainly responsible for developing different styles. Of these to the South Kosala idiom has a greater sophistication artistry and a concerted historikal tradition. The inscriptions of the Sarabhapuriyas,¹⁶ Pandus¹⁷ and Nalas¹⁸ in the South Kosala indicate that this region had come to assume an important position in the wake of political conflicts and change of power following the dissolution of the Guptas and the Vakatakas. Even as the different dynasties of the South Kosala succeeded the Guptas and the Vakatakas, the prevalent art idiom of the region underwent a change.¹⁹ Although the majority of

-
14. *Raipur District Gazetteer*, pp. 65-66; *Bilaspur District Gazetteer*, p. 61.
 15. Cf. Pramod Chandra, *Sculptures in the Allahabad Museum*, (1970), pp. 33 ff.
 16. Cf. Dikshit, M. G. opcit, (1954), pp. 58-61).
 17. Cf. Mirashi, V. V., "The Pandva Dynasty of Mekala", *Indica* (Silver Jubilee Volume of Indian Historical Institute, St. Xavier College, Bombay), pp. 268-73.
 18. Dikshit, M. G., opcit (1954), pp. 60-61; Mirashi, V. V., *E. I.*, XXVI. 54.
 19. The brick-temples of South Kosala have been assigned to the period of 6th and 7th century A. D. A transformation from the Gupta-Vakataka to the Traditional phase in the monuments of the area may be traced through the recently discovered temple at Tala near Sirpur. The credit for this discovery goes to Sri Vishnu Singh Thakur of Raipur and Mr. Don Stadner of California University, U. S. A.

monuments existing in this region belonged to the Buddhist and Brahmanical sects. Some Jaina images coeval in time and mannerism to these are known from Malhar (Bilaspur district). These images are housed in a dilapidated enclosure known as Parghanian Deva temple. Some other Jaina images of a later date are studded in the walls near the house of Sri Amarnath Sao of Malhar. Important among these and belonging to late 7th (or probably to 8th) century are the images of Adinatha inside the Parghanian Deo temple and of another Jina, buried outside the said temple. This latter seated image is of massive proportions; both the images however, reflect a sophistication and purity, distinguished by a balanced conglomeration of converging surfaces bounded with a rhythmic movement. In the mellowed and sensitive form of the torso, the sophistry is accentuated by a balanced dispersal of solidity and mass. The modelling of these images is superb to the extent that even the somewhat stiff thrust of limbs seems subdued. These features represent a re-statement of classical' idiom and in articulating it,

the images seem to follow distinctly the breadth of a style which flourished in such areas as *Ratanpur* (Kalyansundera panel in the Raipur Museum), *Dhamtari* (same collection), *Kharod* (doorframe of the Sondaridevi temple), *Rajim* (Rajibalochan and Ramachandra temple sculptures and *Mukhlingham* in the Parlakimedi Taluk of Ganjam district in Orissa. Although the form of sculptures evident in these reliefs seems to have declined in course of time in the South Kosala, it did not completely disappear. On the other hand, the Orissan monuments of early phase (e. g. Mukteshvara), particularly seem to have imbibed in them the features of this artistic tradition.²⁰ It has been suggested that the art and architecture of the upper Mahanadi valley made a deep impact when it travelled Utkal. In that region it helped in initiating a 'revival of artistic conception with certain modifications'.²¹

Not much is known regarding the sculptural tradition of South Kosala next to the Pandus and Nalas till the advent of

20 The Harbingers of this South Kosala tradition in the Orissan region were primarily the Somavamsis. The Brahmeshwar inscription indicates that Janmejaya, the Somavansi conquered Odra and during the reigns of his successors, the regions of Kosala, Utkala, Kongoda and the parts of what then was known as Kalinga assumed a unity distinguished by cultural and linguistic bonds. Panigrahi, K. C. *Archaeological Remains of Bhuvaneshwar* (Orient Longmen, 1961) p. 251.

21. Ibid, p. 251. For special characteristics of Orissan sculptures of the period under the Somavamsis, cf. Panigrahi, K. C., pp. 251 ff. He (pp. 158 ff. says that three temples of the former Baudha State in the upper Mahanadi valley also indicate a similar sophistication.

the Kalchuris, except for a short interlude of the kings of the Bana dynasty.²² During the Kalchuris who first started as a branch of the main line of Tripuri and sometime during the reign of Jajjildeva I (1090-1120) became independent, Jina images seem to have come up at various places specified above. These images cut in black stone (Ratanpur, Bilaspur) or in greyish sandstones (Malhar), reflect the same modes of style which inform the other sculptures of the region. In their lengthening limbs tending towards extreme lateralism, swollen faces, broad plump chest suddenly constructing to an almost triangular waist with a central lump near the navel, below which are attached feet which look more like unhappy appendages, the sculptures of the South Kosala during this phase interpret an idiom which is emphatically provincial.

The exuberant or languorous variations of this idiom are fairly recurrent in the art of South Kosala from about 10th cent. to 14th cent. The images of Chadraprabh, Rishabhadeva and others in black stone from Ratanpur (C. 12th cent.) have such features. The seated Jina type of images seem to have helped in evolving the devotee images of black stone found at several places such as Ratanpur, Kharod, Chhapari, Amarkantak and Malhar. On the whole the Kalachuri phase of South

Kosala is peculiar for its artistic idiom which was sufficiently wide-spread. Geographically, it covered almost the whole of the present Chhattisgarh and Baster regions besides such other places as Amarkantak and Marakanda (Maharashtra). The origins of this idiom may have their moorings in the Mahanadi valley. While in the Orissan region it assumed a greater sophistication in various stages at Jajapur, Ranipur Jharial, Bhuvaneshwar and Puri, its form in Chhattisgarh remained almost changeless, certain inspired phases here notwithstanding.

Exceptional in this regard are the images on the Bhand-Dewala at Arang (Raipur district). This Jaina temple, stellate in plan stands on a *lofty pitha* decorated with seven mouldings in which the major ones consist of *Gajapitha*, *aswapitha* and *narapitha*. The *jangha* of the temple has six verticle butteresses decorated with two bands of sculptures. The sculptured bands are demarcated from each other by a moulding called *vidyadhara pattika*. The images on the *jangha* represent Jaina *sasanadevis* on the Bhadra niches and minor deities, *dikpalas* and *Apsaras* on the other projections. The recesses alternating with buttresses have the usual motifs of erotic couples which became an essential feature of the Kalachuri temples from 11th century onwards in the Dahala

22. Mirashi, (C. I. I., vol. IV), intro. p. CXV; CXVII.) Ascribes the construction the Pali temple to the Bana king Vikramaditya in C. 9th century. Stylistically however the temple in its reconstructed form, door-way excluded, is ascribable to 12th century. cf. Krishna Deva, *Temples of North India*, p. 53.

as well as South Kosala region. Certain mouldings on *jangha* have figures of Yakshas and Jinas. No less than twenty-one figures of Yakshas appear here. However it is difficult to relate them to any definite iconographic tradition in absence of their clear cognizances. The recesses and projections on the *jangha* follow a definite scheme of decoration regarding placement of motifs such as Apsaras, erotic figures, *sansanadevis*, *upasakas*, *dikpalas*, etc. But the *vyala* figures so commonly used in the other Kalachuri temples everywhere are conspicuous by their absence here. The only notable exception in this is a loan *vyala* figure occupying a recess by the side of the Central Bhadra projection on the south face of the temple. The figures of non-Jaina deities e. g. Bhairawa (South face), Natesa (in a recess on south face) and *Krishna Lila* scene (in a recess of north face) also occur on the *jangha* of the temple. But the most spirited decorative figures belong to the miscellaneous group thrown around the various places on the walls of the temple representing dance groups, Warriors, wrestlers, etc. One such figure on the south face, upper band represents a flute player having two torsos aligned to a single head. Below him we have a drummer. The *sikhara* of the temple, a *bhumija* type, has the usual *latas* rising from bhadra; the *latas* have on them a series of panels containing Jina figures in a group of two or more.

The temple on the whole is a unique monuments coming from this region and

its importance has recently been proven beyond doubt by Krishna Deva.²³ Stylistically, the decorative images on this temple do not show the contortion of limbs, a feature which otherwise is predominant in this region. So the inspiration as well as the execution of the temple should be traced to some other locality preferably the Dahala region. That the Virateshwara temple of Sohagpur might have influenced the Bhandadeval is a probability accepted by Krishna Deva.

As regards the Dahala region, it is possible to determine the predominant idiom of sculptural style, their epicentres and their spread. Roughly stated, the early images following the Ardhanarishwara of Sagar University, tend to indicate simple decoration unencumbered with profuse ornamental features of the *parikara*. In the anthropomorphic form the distinctive features in images reflect an ovaloid face, a simple hair style or crown wherever found, and a short almost squatting proportions devoid of any exaggerated lateralism. The images of Jinas at Bina-Barha and those of Natesa from Marh-Piparias and Bina Barha indicate these feature rather emphatically. These forms may be related to the 9th century. The 10th century however was a turning point in the artistic tradition of Dahala when the Kalachuri rulers invited the saints of Mattamayura sect into their territory and established several *mathas* for them. This seems to have brought out an upsurge both in quality as well as artistry of sculp-

23. Krishna Deva, *Bhumija Temples* (1975), pp. 110 ff.

ture. The Jina images from Bilhari and Kalitalai mentioned above seem to belong to this tradition. Stylistically, the doorways and other art remains at Baijnath, Marai, Gurgi, Mehson, Bilhri and Arjula in that order seem to mark the various stages of development of sculpture during the period extending from 10th through 11th century. They indicate a style in which figures are elongated, torso triangular instead of squarish, resting on thin waist, and feet sometimes columnar. The whole standing posture has an elegance attenuated by the *bhanga* on the main axis of body. The close parallel to this idiom is found in the images of the Lakhamaneshwar temple of Khajuraho.²⁴ The images of Karitalai (Raipur Museum) and Bilhari (Dharmasala Compound) have these features adjusted to the canonical requirements from Jina images. Among these, of particular significance are the images of Parshvanatha and of Chandraprabha, Padmaprabha and Parshwanatha at Bilhari. However in the comparatively remote regions of Sagar, Damoh and Narsinghpur a variation of the same idiom is reflected in the Jina images which have otherwise the features similar to the Bilhari-Karitalai idiom with the exception that the face is more squarish than oval.

The idiom has an anterior history in the region, but in the notable examples of 10th century, reference may be made to the images of Jinas and their Yakshis from Narsinghpur. Close to Narsinghpur at Barahata and Naunia there are figures of Adinatha, Parshwanatha and Mahavira which also seem to belong to this period.

The 11th century, particularly the second and third quarter of it, witnessed the efflorescence of sculptures in the Dahala region. The decorative details increased in the parikara of the sculptures. A very delicate scroll work elegantly covering the portions of halo and the whole background of relief heightens the aesthetic quality of sculptures of this period. The tracerred scroll work, beaded festoons regularly looped through the span of pedestals or seats, the filigried crowns of the attendant deities and minutely fretted and carved *chhatras* on the head of the Jinas leave the viewer spell bound at the wealth of carving displayed on the individual images. Although the Jina images are monotonously similar in their seated or standing postures, the wealth of decorative details on the parikara is what makes the images of this period very distinctive. As regards the images them-

-
24. Krishna Deva, *Temples of North India*, p. 62. He assigns the Lakhamaneshwar temple to 950 A. D.
 25. Prof. K. D. Bajpai deals with these images while describing the Jaina art of the Central India during A. D. 1300-1800. He however has indicated that the Jaina art flourished here from about 11th to 13th century A. D. For his comments c. f. *Jain Art and Architecture*, vol. II. Ed. A. Ghosh (Bhartiya Jnanpitha, New Delhi, 1975), p. 353.

selves, although their stiffness is mitigated by the profuse ornamentation, none the less, angularities lateralism and idealisation seems to have started showing up in them now. Some typical examples of this sort are known from Jabalpur (the Aranatha image in the Jaina temple), Sohagpur (the Thakur's collection), Lakhanadaun, Narsingpur and Bilhari. In these we have variations of the same style but the angularities are always present in them.

We may conclude by some remarks on the *parikaras* of the Jaina images from Dahala region. The early images of 9th century lack in details except for the garland bearers at the top of stele and an attendant or attendants on the either side of the Jinas. In the 10th century images, the details of *parikara* tend to

proliferate and have such motifs as elephants, attendants, Jinagroups standing or seated and fly-whisk bearers. Below the Jina images we usually have a couch from which in the middle, hangs an *astaraka* which is sometimes decorated with festoons and carries the cognizance of Jinas. Pedastals indicate balusters with the inset figures of devotees or the lions or such symbols. The garland bearing *vidyadharas* and the attendants flanking Jina figures are sometimes striking similar in almost all the details to those found on the images of other deities including the Brahmanical ones. This similarity seems to suggest that same artists or their guilds brought out images as required and where iconographic considerations could be relaxed, they took liberty in experimenting with details irrespective of the sectarian plurality.

* * *

जैन साहित्य

४६८५ २००९

जैन साहित्य



अगरचन्द्र नाहटा

जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है। उसके प्रवर्तक और प्रचारक 24 तीर्थंकर सभी इस भारत-भूमि में ही जन्मे, साधना करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया और जनता को धर्मोपदेश देकर भारत में ही निर्वाण को प्राप्त हुए। जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। उन्होंने युगलिक धर्म का निवारण करके असी शास्त्र की मसी लिख कृषि, तथा विद्याओं और कलाओं की शिक्षा देकर भारतीय संस्कृति को एक नया रूप दिया।

वे महान् अविष्कर्ता थे। उन्होंने अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को जो लिपि सिखाई वह भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी के नाम से प्रसिद्ध हुई और छोटी पुत्री सुन्दरी को अंक आदि सिखाये, जिससे गणित का विकास हुआ। पुरुषों की 72 तथा स्त्रियों की 64 कलाएँ या विद्याएँ भगवान् ऋषभदेव की ही विशिष्ट देन हैं। भगवान् ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत 6 खण्डों को विजय कर चक्रवर्ती सम्राट बने, और उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारत प्रसिद्ध हुआ। व्यावहारिक शिक्षा देने के बाद भगवान् ऋषभदेव ने पिछली आयु में सन्यास ग्रहण किया और तपस्या तथा ध्यान आदि।

साधना से आत्मिक ज्ञान प्राप्त किया। उस परिपूर्ण और विशिष्ट ज्ञान का नाम केवल 'ज्ञान' जैन धर्म में प्रसिद्ध है। इसके बाद उन्होंने आध्यात्मिक-साधना का मार्ग प्रवर्तित किया, आत्मिक उन्नति और मोक्ष का मार्ग सबको बतलाया इसीलिए भगवान् ऋषभदेव का जैन साहित्य में सर्वाधिक महत्व है यद्यपि उनको हुए असंख्यात वर्ष हो गये, इसलिए उनकी वाणी या उपदेश तो हमें प्राप्त नहीं हैं, पर उनकी परम्परा में 23 तीर्थंकर और हुए। उन्होंने भी साधना द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त किया और सभी केवलियों का ज्ञान एक जैसा ही होता है। इसलिये ऋषभदेव की ज्ञान की परम्परा अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की वाणी और उपदेश के रूप में आज भी हमें प्राप्त है। समस्त जैन साहित्य का मूल आधार वही केवल ज्ञानी-तीर्थंकरों की वाणी ही है।

प्राचीनतम जैन साहित्य—

भगवान महावीर के पहले के तीर्थंकरों के मुनियों का जो विवरण आगमों में प्राप्त है, उससे मालूम होता है कि 'पूर्वों' का ज्ञान उस परम्परा में चालू था। आगे चलकर उनको 14 पूर्वों में विभाजित कर दिया मालूम देता है। अतः भगवान महावीर में समय और उसके कई शताब्दियों तक 14 पूर्वों का ज्ञान प्रचलित रहा। 'क्रमशः' उसमें क्षीणता होती गई और करीब 2 हजार वर्षों से 14 पूर्वों के ज्ञान की वह विशिष्ट परम्परा लुप्त सी-ही गयी।

भगवान महावीर ने जो 30 वर्ष तक अनेक स्थानों में विचरते हुए धर्मोपदेश दिया, उसे अनेक प्रधान गौतम आदि गणधरों ने सूत्र रूप में निबद्ध कर दिया। वह उपदेश 12 अंग सूत्रों में विभक्त कर दिया गया जिसे 'द्वादशांग गणि-पिटृक' कहा जाता है। इनमें से 12वां दृष्टिवाद अंग सूत्र जो बहुत बड़ा और विशिष्ट ज्ञान का स्तोत्र था। पर वह तो लुप्त हो चुका है। बाकी "अंग सूत्र करीब हजार वर्ष तक मौखिक रूप से प्रचलित रहे, इसलिए उनका भी बहुत-सा अंश विस्मृत हो गया। वीर निर्वाण संवत् 980 में देववि गणि-क्षमाश्रमण ने सौराष्ट्र की बलभी नगरी में उस समय तक जो अंग मौखिक रूप से प्राप्त थे उनको लिपिबद्ध कर दिया। अतः प्राचीनतम और जैन साहित्य में रूप के वे 11 अंग और उनके उपांग तथा उनके आधार पर बने हुए जो भी आगम आज प्राप्त हैं उन्हें प्राचीनतम जैन साहित्य माना जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो ये अंग सूत्रादि लुप्त हो गये माना जाता है, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वे ही आगम ग्रंथ प्राप्त और मान्य हैं।

प्राचीनतम जैन साहित्य—

भगवान महावीर के बाद कई जैनचार्यों ने बहुत-से सूत्र ग्रंथ बनाये, पर उन सूत्रों में से 2-4 को छोड़-

कर बाकी में रचियता का नाम नहीं मिलता उनमें से रचियता के नामवाले ग्रन्थों में सबसे पहला सूत्र है दशवैकालिक, जिनमें जैन मुनियों का आधार संक्षेप में वर्णित है। इस सूत्र के रचियता राज्यभक्त सूरि महावीर निर्वाण के 98 वर्ष में स्वर्गस्थ 5 वें पक्षधर हुए हैं। इसके बाद आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली ने बृहद-कल्प, व्यवहार और दशाश्रुत स्कन्ध नामक उल्लेख सूत्रों की रचना की। 10 आगमों की नियुक्तियाँ रूप प्राचीन आत विटर टीकाएँ भी भद्रबाहु रचित हैं। पर आधुनिक विद्वानों की राय में उनके कर्ता द्वितीय भद्रबाहु पीछे हुए हैं। इसके बाद स्यामाचार्य ने पत्रवणा सूत्र बनाया। इस तरह समय-समय पर अन्य कई आचार्यों और विद्वानों ने ग्रंथ बनाकर जैन साहित्य की अभिवृद्धि की।

संस्कृत में जैन साहित्य—

भगवान महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा अर्द्ध-मागधी में उपदेश दिया था और उसी परम्परा की जैनचार्यों ने भी 500 वर्षों तक तो बराबर निभाया। अतः उस समय तक का समस्त जैन साहित्य प्राकृत भाषा में ही रचित है। इसके बाद संस्कृत के बढ़ते हुए प्रचार से जैन विद्वान भी प्रभावित हुए और उन्होंने प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत में भी रचना करना प्रारम्भ कर दिया। उपलब्ध जैन साहित्य में सबसे पहला संस्कृत ग्रंथ आचार्य उमास्वाति रचित 'त्वार्थ' सूत्र माना जाता है, जो विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी की रचना है। इसमें छोटे-छोटे सूत्रों के रूप में जैन सिद्धान्तों का बहुत खूबी से संकलन कर दिया गया है। यह 10 अध्यायों में विभक्त है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय इसे समान रूप से मान्य करते हैं, और दोनों सम्प्रदायवालों की इस पर सही टीकाएँ प्राप्त हैं। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार तो तत्त्वार्थका सूत्र की भाष्य तो स्वयं उमास्वाति ने ही रची है। सूत्र ग्रन्थों की परम्परा का यह महत्वपूर्ण संस्कृत जैन ग्रन्थ है।

इसके बाद तो समंतभद्र' सिद्धसेन, पूज्यमाद, अकलंक हरिभद्र आदि श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों द्वारा दार्शनिक, न्याय ग्रंथ और टीकाएँ आदि संस्कृत में बराबर रची जाती रही। और आगे चलकर तो संस्कृत में काव्य, चरित्र और सभी विषयों के जैन ग्रन्थ संस्कृत में खूब लिखे गये।

अपभ्रंश एवं लोकभाषाओं में जैन साहित्य—

जैन भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता ही रहा है अतः प्राकृत भाषा अपभ्रंश के रूप में परिवर्तित हो गयी। अपभ्रंश में भी जैनों ने ही सर्वाधिक साहित्य का निर्माण किया है। वैसे तो प्राचीन नाटकों में भिन्न जाति एवं साधारण पुरुषों और स्त्रियों की भाषा की 'रचनाएँ' 8 वीं 9वीं शताब्दी से मिलने लगती हैं, और 17 वीं शताब्दी तक छोटी-बड़ी सैकड़ों रचनाएँ जैन कवियों की रचित आज भी प्राप्त हैं। कवि स्वयंभू पुष्पदंत, धनपाल आदि अपभ्रंश के जैन महाकवि हैं। जैनैतर रक्षितग्रंथ अपभ्रंश में नहीं मिलता क्योंकि उन्होंने प्रारम्भ से ही संस्कृत की प्रधानता दी थी; अतः उनका सर्वाधिक साहित्य संस्कृत में है।

अपभ्रंश से उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ। 13वीं शताब्दी से राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी में साहित्य मिलने लगता है। यद्यपि 15वीं शताब्दी तक अपभ्रंश का प्रभाव उन रचनाओं में पाया जाता है। उस समय तक राजस्थान और गुजरात में तो एक ही भाषा बोली जाती थी, जिसे राजस्थान वाले पुरानी राजस्थानी एवं गुजरातवाले जूनी-गुजराती कहते हैं अतः कई विद्वानों ने उसे 'मरु-गुर्जर' भाषा कहना उचित अधिक माना है। आगे चलकर राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी में प्रान्तीय भेद अधिक स्पष्ट होता गया। और इन तीनों भाषाओं में जैन विद्वानों ने प्रचुर रचनाएँ बनायी हैं। वैसे कुछ रचनाएँ सिन्धी, मराठी

की बँगला आदि अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी जैनों की रचित प्राप्त हैं। हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती में तो लाखों श्लोक परिमित गद्य और पद्य की जैन रचनाएँ प्राप्त हैं एवं प्राचीनतम रचनाएँ जैनों की ही प्राप्त हैं।

कथाओं का भंडार जैन-साहित्य—

लोकभाषा की तरह लोककथाओं और देशी संगीत की भी जैनों ने विशेष रूप से अपनाया। इसी-लिए लोककथाओं का भी बहुत बड़ा भंडार जैन साहित्य में पाया जाता है। और लोकगीतों की चाल था 'तर्ज' पर हजारों स्तवन, सझाय, ढाल आदि छोटे-बड़े काव्य रचे गये हैं। उन ढाल आदि के प्रारम्भ में किस लोकगीत की तर्ज पर इस 'गीत' रचना को गाना चाहिए, इसका कुछ उल्लेख करते हुए उस लोकगीत की प्रारम्भिक कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत कर दी गई हैं जिससे हजारों विस्मृत और लुप्त लोकगीतों की जानकारी मिलने के साथ-साथ कौनसा गीत कितना पुराना है, इसके निर्णय करने में भी सुविधा हो गई है। इस सम्बन्ध में मेरे कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

एक-एक लोककथा को लेकर अनेकों जैन रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत, राजस्थानी आदि भाषाओं में जैन विद्वानों ने लिखी हैं। इससे वे लोककथाएँ कौनसी कितनी पुरानी हैं, उनका मूल रूप क्या था और कब-कब कैसा और कितना परिवर्तन उनमें होता रहा, इन सब बातों की जानकारी जैन कथा साहित्य से ही अधिक मिल सकती है। उन लोककथाओं को धर्म प्रचार का माध्यम बनाने के लिए उनमें जैन सिद्धांतों और आचार विचार का पुट दे दिया गया है जिससे जनता उन कथाओं को सुनकर पापों से बचे और अच्छे कार्यों की प्रेरणा प्राप्त करे। क्योंकि कथाएँ, बालक, युवा-वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी को समान रूप से प्रभावित करती हैं इसलिए जैन लेखकों ने

कथाओं सम्बन्धी साहित्य बहुत बड़े परिमाण में रचा है और इससे जन-साधारण के जीवन में सदाचार और नैतिकता का खूब प्रचार हुआ। जैन साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें विकार वर्द्धक और वासनाओं को उभारनेवाले साहित्य को स्थान नहीं मिला। इससे लोकजीवन का नैतिक-पद ऊँचा उठा, उससे भारत का गौरव बढ़ा।

साहित्य संरक्षण में जैनों का विशिष्ट योगदान—

जैन साहित्य की एक दूसरी विशेषता यह है कि वह बराबर लिखा जाता रहा और उसकी सुरक्षा का भी बहुत अच्छा प्रयत्न किया जाता रहा। इसलिए हस्तलिखित प्रतियों के ज्ञान-भण्डार जैनों के पास बहुत बड़ी व अच्छी संस्था में सुरक्षित हैं। प्राचीन और शुद्ध प्रतियों की उपलब्धि स्वरूप ज्ञान भण्डार में एक ताड़-पत्रीय प्रति, 10वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक की ताड़पत्रीय प्रतियाँ जैसलमेर, पाटण, खंभात, बड़ौदा आदि में करीब एक हजार सुरक्षित हैं। 13वीं शताब्दी से कागज पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। तब से अब तक की लाखों प्रतियाँ कागज की प्राप्त हैं। इनमें केवल जैन साहित्य ही नहीं है। ऐसा बहुतसा जैनतर साहित्य भी है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। और यदि मिलता है तो भी उन जैनतर ग्रन्थों की प्राचीन व शुद्ध प्रतियाँ जैन भण्डारों में जितनी व जैसी मिलती हैं उतनी और वैसी जैनतर संग्रहालयों में नहीं मिलतीं। अर्थात् साहित्य के निर्माण में ही नहीं, संरक्षण में भी जैनों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। सचित्र, स्वर्णाक्षरी, गंध्याक्षरी, पंचपाठ, त्रिपाठ आदि अनेक शैलियों की विशिष्ट प्रतियाँ बहुत ही उल्लेखनीय हैं। लेखनकला और चित्रकला का जैनों ने खूब विकास किया। इस सम्बन्ध में सौजन्य मूर्ति, महान साहित्य सेवी स्वर्गीय पूज्य विजयजी लिखित 'भारतीय श्रवण संस्कृति अने लेखनकला' नामक गुजराती ग्रन्थ बहुत ही पठनीय हैं जो सारामाई नवाव, अहमदाबाद

से प्रकाशित है। भाषा विज्ञान के अध्यापन में जैन साहित्य की उपयोगिता—भाषा विज्ञान की दृष्टि से जैन साहित्य का महत्व सबसे अधिक है क्योंकि जैन मुनि निरन्तर घूमते रहते हैं और सब प्रान्तों में धर्म प्रचारार्थ और तीर्थ यात्रा आदि के लिए उनका यातायात होता रहा है। उनका जीवन बहुत संयमित होने से उन्होंने साहित्य निर्माण और लेखन में बहुत समय लगाया, इसी का परिणाम है कि अलग-अलग प्रान्तों की भाषाओं में जैन विद्वान बराबर लिखते रहे। इससे उन भाषाओं का विकास किस तरह होता गया, शब्दों के रूपों में किस तरह का परिवर्तन हुआ, इसकी जानकारी जैन रचनाओं से जितनी अधिक मिलती है जैन-तर रचनाओं से नहीं मिलती। क्योंकि एक तो वे इतनी सुरक्षित नहीं रही और प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की जैन रचनाएँ जिस तरह की मिलती हैं वैसी जैनतरों की नहीं मिलतीं।

प्राकृत भाषा के दो प्रधान भेद हैं—खेरे सेनी और महाराष्ट्री। खेरे सेनी में दिगम्बर और महाराष्ट्री में श्वेताम्बर साहित्य रचा गया। इनसे अपभ्रंश और अपभ्रंश से उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं की श्रुति जुड़ती है।

उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं की तरह दक्षिणी भारत की प्रमुख भाषा 'कन्नड' और 'तमिल', इन दोनों में भी जैन साहित्य बहुत अधिक मिलता है। आचार्य भद्रबाहु, दक्षिणी भारत में अपने संघ को लेकर पधारें क्योंकि उत्तर भारत में उन दिनों बहुत बड़ा दुष्काल पड़ा था। उनके दक्षिण भारत में पधारने से उनके ज्ञान और त्याग तप से प्रभावित होकर दक्षिण भारत के अनेक लोगों ने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती ही गई। आसपास के क्षेत्रों में जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ। जैन मुनि चातुर्मास के सिवाय एक जगह रहते नहीं हैं, इसलिए उन्होंने घूम-फिरकर जैन धर्म का सन्देश

जन-जन में फैलाया । लोक सम्पर्क के लिए वहाँ जो कन्नड और तमिल भाषाएँ अलग-अलग प्रदेशों में बोली जाती थीं, उनमें खूब साहित्य निर्माण किया । अतः इन दोनों भाषाओं का प्राचीन और महत्वपूर्ण साहित्य जैनों का ही प्राप्त है । इस तरह उत्तर और दक्षिण भारत की प्रधान भाषाओं में जैन साहित्य का प्रचुर परिमाण में पाया जाना बहुत ही उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है । भारतीय साहित्य को जैनों की यह विशिष्ट देन ही समझी जानी चाहिए ।

विषय वैविध्य—

विषय वैविध्य की दृष्टि से भी जैन साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि जीवनोपयोगी प्रायः प्रत्येक विषय के जैन ग्रन्थ रचे गये हैं । इसलिए जैन साहित्य केवल जैनों के लिए ही उपयोगी नहीं, उसकी सार्वजनिक उपयोगिता है । व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, काव्य-शास्त्र, वैद्यक, ज्योतिषि मंत्र-तंत्र, गणित, रत्न परीक्षा आदि अनेक विषयों के जैन ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, कन्नड, तमिल, और राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती में प्राप्त हैं । इनमें से कोई ग्रन्थ तो इतने महत्वपूर्ण है कि जैनेतरों ने भी उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और उन्हें अपनाया है । जैन विद्वानों ने साहित्यिक क्षेत्र में बहुत उदारता रखी । किसी भी विषय का अच्छा ग्रन्थ कहीं भी उन्हें प्राप्त हो गया तो जैन विद्वानों ने उसकी प्रति यदि मिल सकी तो ले ली या खरीद करवाली, नहीं तो नकल करवा के भण्डार में रख ली । जैनेतर ग्रन्थों का पठन-पाठन भी वे बराबर करते ही थे । अतः आवश्यकता अनुभव करके उन्होंने बहुत से जैनेतर ग्रन्थों पर महत्वपूर्ण टीकाएँ लिखी हैं । इससे उन ग्रन्थों का अर्थ या भाव को समझना सबके लिए सुलभ हो गया और उन ग्रन्थों के प्रचार में अभिवृद्धि हुई । जैनेतर ग्रन्थों पर जैन टीकाओं सम्बन्धी मेरा खोजपूर्ण लेख 'भारतीय विद्या' के 2 अंकों में प्रकाशित हो चुका है । जैन ग्रन्थों में अनेक बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों के उदाहरण पाये जाते हैं । उनमें से कई जैनेतर ग्रन्थ तो

अब उपलब्ध भी नहीं होते । बहुत से जैनेतर ग्रन्थों को अन्तर बनाये रखने का श्रेय जैनों को प्राप्त है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है । भारतीय इतिहास, संस्कृति और लोकजीवन सम्बन्धी बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री जैन ग्रन्थों व प्रशस्तियों एवं लेखों आदि में पायी जाती है । जैन आगम साहित्य में दो-अढ़ाई हजार वर्ष पहले का जो सांस्कृतिक विवरण मिलता है, उसके सम्बन्ध में जगदीश चन्द्र जैन लिखित "जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज", नामक शोध प्रबन्ध चौखम्बा विद्या भवन-वाराणसी से प्रकाशित हुआ है, उससे बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है । जैन प्रबन्ध संग्रह पट्टावलियाँ, तीर्थ मात्वाएँ और ऐतिहासिक गीत, काव्य आदि में अनेक छोटे-बड़े ग्रामनगरों वहाँ के शासकों, प्रधान व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है । जिनसे छोटे-छोटे गाँवों की प्राचीनता, उनके पुराने नाम और वहाँ की स्थिति का परिचय मिलता है । बहुत से ऐसे शासकों के नाम जो इतिहास में कहीं नहीं मिलते, उनका जैन ग्रन्थों में उल्लेख मिल जाता है । बहुत से राजाओं आदि के काव्य निर्णय में भी जैन सामग्री काफी सूचनाएँ देती है, व सहायक होती है । गुर्दावली तो बहुत महत्वपूर्ण है ।

जैन साहित्य की गुणवत्ता —

अब यहाँ कुछ ऐसे जैन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय कराया जायगा जो अपने ढंग के एक ही हैं । इनमें कई ग्रन्थ तो ऐसे-ऐसे भी हैं जो भारतीय साहित्य ही में नहीं विश्व साहित्य में भी अजोड़ हैं । प्राचीन भारत में ज्ञान-विज्ञान का कितना अधिक विकास हुआ था और आगे चलकर उसमें कितना ह्रास हो गया, इसकी कुछ झाँकी आगे दिये जानेवाले विवरणों से पाठकों को मिल जायगी । ऐसे कई ग्रन्थों का तो प्रकाशन भी हो चुका है पर उनकी जानकारी विरले ही व्यक्तियों को होगी । वास्तव में जैन साहित्य अब तक

बहुत ही उपेक्षित रहा है और बहुत से विद्वानों ने तो यह गलत धारणा बना ली है कि जैन साहित्य, जैन-धर्म आदि के सम्बन्ध में हो होगा। सर्वजनोपयोगी साहित्य उसमें नहीं है। पर वास्तव में सर्वजनोपयोगी जैन साहित्य बहुत बड़े परिमाण में प्राप्त है जिससे लाभ उठाने पर भारतीय समाज का बहुत बड़ा उपकार होगा। बहुत-सी नई और महत्वपूर्ण जानकारी जैन साहित्य के अध्ययन से प्रकाश में आ सकेगी।

प्राकृत भाषा का एक प्राचीन ग्रन्थ 'अंगविज्जा' मुनि पुण्य विजय जी संपादित प्राकृत ग्रन्थ परिषद से प्रथम ग्रन्थाङ्क के रूप में सन् 1947 में प्रकाशित हुआ है। हजार श्लोक परिमित यह ग्रन्थ अपने विषय का सारे भारतीय साहित्य में एक ही ग्रन्थ है। इसमें इतनी विपुल और विविध सांस्कृतिक सामग्री सुरक्षित है कि उस समय के जैन-आचार्यों का किन-किन विषयों का कैसा विशद ज्ञान था यह जानकर आश्चर्य होता है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने हिन्दी में और डा. मोतीचन्द्र ने अंग्रेजी में इस ग्रन्थ का जो विवरण दिया है, उससे इसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। निम्नलिखित शास्त्र के 8 प्रकारों में पहली 'अंग विद्या' है। अग्रवालजी ने लिखा है कि अंग विद्या क्या थी? इसको बतानेवाला एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ यही जैन साहित्य में अंग विज्जा के नाम से बच गया है।

यह अंग विज्जा नामक प्राचीन शास्त्र सांस्कृतिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है। अंग विज्जा के आधार पर वर्तमान प्राकृत कोषों में अनेक नये शब्दों को जोड़ने की आवश्यकता है। मुनि पुण्य विजयजी ने जो ग्रंथ के अन्त में शब्दकोश दिया है, उसमें हजारों न.म. व शब्द आये हैं जिनमें से बहुत सों का मही अर्थ बतलाना भी आज कठिन हो गया है। मुनि-श्री ने लिखा है कि सामान्यतया प्राकृत वाक्या में जिन क्रियापदों का उल्लेख नग्न नहीं हुआ है, उनका संग्रह इस ग्रन्थ में विपुलता से हुआ है जो प्राकृत समृद्धि की

दृष्टि से बड़े महत्व का है। फलादेश विषयक यह ग्रन्थ एक पारिभाषिक ग्रन्थ है। डॉ. अग्रवालजी ने इसे कुषाण गुप्त युग की सन्धि काल का बतलाया है अर्थात् यह ग्रन्थ बहुत पुराना है इस तरह के न मालूम कितने महत्वपूर्ण ग्रन्थ काल में समा गये हैं।

प्राकृत भाषा का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है संध दास गणि रचित 'वसुदेव हिन्दी' यह भी तीसरी और पाँचवीं शताब्दी के बीच की रचना है। इसमें मुख्यतः तो श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण और कई विवाहों का वर्णन है, पर इसमें प्रासंगिक रूप में अनेक पौराणिक और लौकिक कथाओं का समावेश भी पाया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों और डॉ. जगदीश चन्द्र जैन तथा डॉ. सांडेसरा आदि के अनुसार यह दृहद कथा नामक लुप्त ग्रंथ की बहुत अंशों में पूर्ति करता है। सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से इसका बहुत ही महत्व है। इस सम्बन्ध में 2 बड़े-बड़े शोध प्रबंध ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं— वसुदेव हिन्दी व मध्यम खण्ड भी असंख्य मिले हैं— प्राकृत भाषा का तीसरा उल्लेखनीय ग्रंथ है—ऋषि जैन बौद्ध और वैदिक तीनों धर्मों के हैं। अपने ढग का यह एक ही ग्रंथ है। इसी तरह हरिमद्र सूरि का धूर्तरूपान भी प्राकृत भाषा का अनूठा ग्रंथ है। ये दोनों ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

भारतीय मुद्रा शास्त्र सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है 'द्रव्य परीक्षा' जिसकी रचना अलाउद्दीन खिलजी के कोषाध्यक्ष या भण्डारी खरतर गच्छीय जैन श्रावक 'ठक्कुर फेरु' ने की है। उस समय की प्रचलित सभी मुद्राओं के तौल, माप मूल्य आदि की जो जानकारी इस ग्रंथ में दी गई है, वैसी और किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलती। ठक्कुर फेरु ने इसी तरह धातु-पत्ति वास्तुनुसार गणितसार, ज्योतिषसार रत्न परीक्षा आदि महत्वपूर्ण ग्रंथ बनाये हैं। इन सबकी प्राचीन हस्त-लिखित प्रति की खोज मैंने ही की, और मुनि विजयजी द्वारा सभी ग्रंथों को एक संग्रह ग्रंथ में

प्रकाशित करवा दिया है । राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से यह प्रकाशित है ।

संस्कृत भाषा में एक विलक्षण ग्रंथ है 'पाश्वभ्युदय काव्य जिसकी रचना आ. जिनसेन ने की है । इसमें मेघदूत के समग्रचरणों की पादपूर्ति रूप में भगवान् पार्श्वनाथ का चरित्र दिया है । कालिदास के पद्यों के भावों को आत्मसात करके ऐसा काव्य यह सबसे पहले समग्र पादपूर्ति के रूप में बनाकर ग्रंथकार ने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है ।

विश्व साहित्य में अजोड़ अन्य जैन संस्कृत ग्रंथ है 'अष्ट लक्ष्मी' । इसे सम्राट अकबर के समय में महोपाध्याय समय सुन्दर ने संवत् 1649 में प्रस्तुत किया था । इस आश्चर्यकारी प्रयत्न से सम्राट बहुत ही प्रसन्न हुआ । इस ग्रंथ में 'राजा नोद दत्ते सोख्यम्' इत आठ अक्षरोंवाले वाक्य के 10 लाख से भी अधिक अर्थ किये हैं । रचयिता ने लिखा है कि कई अर्थ संगति में ठीक नहीं बैठे तो भी 2 लाख शब्दों को बाद देकर आठ लाख अर्थ तो इसमें व्याकरण सिद्ध हैं ही इसीलिए इसका नाम 'अष्ट लक्ष्मी' रखा है । यह ग्रंथ देवचन्द लाल भाई पुस्तकालय फण्ड सूरत से प्रकाशित 'अनेकार्थ रत्न मंजूषा' में प्रकाशित हो चुका है ।

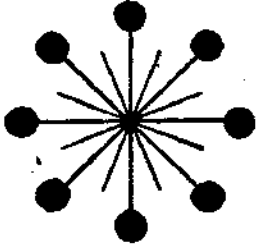
संस्कृत का तीसरा अपूर्व ग्रंथ है—सप्त संधान महाकाव्य, यह 18वीं शताब्दी के महान् विद्वान् उपाध्याय मेघविजय रचित है । इसमें भी ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाँच तीर्थंकरों और श्लोक प्रसिद्ध महापुरुष राम और कृष्ण, इन संतों-महापुरुषों की जीवनी एक साथ चलती है । यह रचना विलक्षण तो है ही । कठिन भी इतनी है कि बिना टीका के सातों महापुरुषों में सजीवन प्रत्येक श्लोक की संगति बैठाना विद्वानों के लिए भी संभव नहीं होता । यह महाकाव्य टीका के साथ पत्राकार

रूप में प्रकाशित हो चुका है । वैसे द्विसंधान, पचसंधान आदि तो कई काव्य मिलते हैं पर सप्तसंधान काव्य विश्वभर में यह एक ही है । ग्रंथकार ने ऐसा काव्य पहले आचार्य हेमचन्द ने बनाया था, उल्लेख किया है, पर वह प्राप्त नहीं है ।

दक्षिण के दिगम्बर जैन विद्वान् हसदेव रचित, मृग पक्षी शास्त्र, भी अपने ढंग का एक ही ग्रंथ है । इसमें पशु-पक्षियों की जाति एवं स्वरूप का निरूपण है । इस ग्रंथ का विशेष विवरण मेरी प्रेरणा से श्री जयंत ठाकुर ने गुजराती में लिखकर 'स्वाध्याय पत्रिका' में प्रकाशित कर दिया है । इस ग्रंथ की प्रतिनिधि बड़ौदा के प्राच्यविद्या मन्दिर में है । पशु-पक्षियों सम्बन्धी ऐसी जानकारी अभी किसी भी प्राचीन ग्रंथ में नहीं मिलती ।

कन्नड साहित्य का एक विलक्षण ग्रंथ है 'भूवल्लय' । यह अंकों में लिखा गया है । कहा जाता है कि इसमें अनेकों ग्रंथ संकलित हैं एवं अनेकों भाषाएं प्रयुक्त हैं । इसका एक भाग जैन मित्र मंडल दिल्ली से प्रकाशित हुआ है । राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी के समय तो इस ग्रंथ के सम्बन्ध में काफी चर्चा हुई थी । पर उसके बाद उसका पूरा रहस्य सामने नहीं आ सका ।

हिन्दी भाषा में एक बहुत ही उल्लेखनीय रचना है 'अर्द्ध कथानक' । 17वीं शताब्दी के जैनमुकवि बनारसी दासजी ने अपने जीवन की आत्मकथा बहुत ही रोचक रूप में इस ग्रंथ में दी है इस आत्मकथा की प्रशंसा श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने मुक्त कंठ से की है । इस तरह के और भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ जैन साहित्य-सागर में प्राप्त हैं, जिससे भारतीय साहित्य अवश्य ही गौरवान्वित हुआ है । वास्तव में इस विषय पर तो एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा जाना अपेक्षित है । यहाँ तो केवल संक्षिप्त झंकी ही दी है



मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में वर्णित

सद्गुरु-सत्संग की महत्ता

डा० श्रीमती पुष्पलता जैन

साधना की सफलता और साध्य की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का सत्संग प्रेरणा का स्रोत रहता है। गुरु का उपदेश पापनाशक, कल्याणकारक, शान्ति और आत्मशुक्ति करने वाला होता है।¹ उसके लिए श्रमण और वैदिक साहित्य में आचार्य, बुद्ध, पूज्य, धर्माचार्य, उपाध्याय, भन्ते, भदन्त, सद्गुरु, गुरु आदि शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैनाचार्यों ने अहंन्त और सिद्ध को भी गुरु माना है और विविध प्रकार से गुरुभक्ति प्रदर्शित की है। इहलोक और परलोक में जीवों की

जो कोई भी कल्याणकारी उपदेश प्राप्त होते हैं वे सब गुरुजनों की विनय से ही होते हैं।² इसलिये उत्तराध्ययन में गुरु और शिष्यों के पारम्परिक कर्त्तव्यों का विवेचन किया गया है।³ इसी सन्दर्भ में गुपात्र और कुपात्र के बीच भेदक रेखा भी खींची गई है।⁴

जैन साधक मुनिरामसिंह⁵ और आनन्दतिलक⁶ ने गुरु की महत्ता स्वीकार की है और कहा है कि गुरु की कृपा से ही व्यक्ति मिथ्यात्व रामादि के बन्धन से

1. उत्तराध्ययन, 1.27.

2. जे केइ वि उवएसा, इह पर लोर सुहावहा सति ।

विणएण गुरुजणणं सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ॥ वसुनन्दि-थावकाचार, 339; तुलनाथं देखिये-धेरंड संहिता, 3, 12-14.

3. उत्तराध्ययन, प्रथम स्कन्ध ।

4. श्वेताश्वेतरूपनिषद् 3-6, 22; आदि पर्व, महाभारत, 131.34-58.

5. ताम कुत्तिथइं परिभमईं धुत्तिम ताम करेइ ।

गुरुहु पमाणे जाम णवि अप्पा देउ मुणेइ ॥ योगसार, 41, पृ. 380.

गुरु द्विणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ ।

अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥ दोहापाहुड, 1.

6. गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणतय सार ।

सो दरिसावइ अप्प परु आणंदा ! भव जल पावइ पारु ॥ आणंदा, 36.

मुक्त होकर भेद विज्ञान कर अपनी आत्मा के विशुद्ध रूप को जान पाता है। इसलिए उन्होंने गुरु की वन्दना की है। आनन्दतिलक भी गुरु को जिनवर सिद्ध, शिव और स्व-पर का भेद दर्शानेवाला मानते हैं। जैन साधकों के ही समान कबीर ने भी गुरु को ब्रह्म (गोविन्द) से भी श्रेष्ठ माना है। उसी की कृपा से गोविन्द के दर्शन सम्भव हैं।⁷ रागादिक विकारों को दूर कर आत्मा ज्ञान से तभी प्रकाशित होती है जब गुरु की प्राप्ति हो जाती है।⁸ उनका उपदेश सशयहारक और पथ प्रदर्शक रहता है।⁹ गुरु के अनुग्रह एवं कृपा दृष्टि से शिष्य का जीवन सफल हो जाता है। सदगुरु स्वर्णकार की भाँति शिष्य के मन से दोष और दुर्गुणों को दूर कर उसे तप्त स्वर्ण की भाँति खरा और निर्मल बना देता है।¹⁰ सूफी कवि जायसी के मन में पीर (गुरु) के प्रति श्रद्धा दृष्टि होती है। वह उनका प्रेम का दीपक है।¹¹ हीरामन तोता स्वयं गुरु का रूप है।¹² और संसार को उसने शिष्य बना लिया है।¹³ उनका विश्वास है कि गुरु साधक के हृदय में विरह की चिंगारी प्रक्षिप्त कर देता है और सच्चा साधक शिष्य

गुरु की दी हुई उस वस्तु को सुलगा देता है।¹⁴ जायसी के भावमूलक रहस्यवाद का प्राणभूत तत्त्व प्रेम है और यह प्रेम पीर की महान् देन है। पद्मावत के स्तुतिखण्ड में उन्होंने लिखा है—

सैयद असरफ पीर पियारा,
जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा।
लेसा हिए प्रेम कर दिया,
उठी जोति भा निरमल हीया।¹⁵

सूर की गोपियाँ तो बिना गुरु के योग सीख ही नहीं सकीं। वे उद्धव से मथुरा ले जाने के लिए कहती हैं जहाँ जाकर वे गुरु श्याम से योग का पाठ ग्रहण कर सकें।¹⁶ भक्ति-धर्म में सूर ने गुरु की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है और उसका उच्च स्थान माना है। सदगुरु का उपदेश ही हृदय में धारण करना चाहिए क्योंकि वह सकलभ्रम का नाशक होता है—

सदगुरु को उपदेश हृदयचरि,
जिन भ्रम सकल निबरायो ॥¹⁷

7. गुरु गोविन्द दोऊ ऋडे काके लागूँ पायें।
बलिहारी गुरु आपकी जिन्ह गोविन्द दियो दिखाय ॥ संत वाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 2.
8. बलिहारी गुरु आपणें द्यौँ हाड़ो कै बार।
जिनि मानिष तें देवता करत न लागी बार ॥ कबीर ग्रंथावली, पृ. 1.
9. संसै खाया सकल जग, संसा किनहूँ न खड्ड, वही, पृ. 2-3.
10. वही, पृ. 4।
11. जायसी ग्रन्थमाला पृ. 7।
12. गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥ पद्मावत.
13. गुरु होइ आय, कीन्ह उचेल। जायसी ग्रन्थावली, पृ. 33.
14. गुरु विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला ॥ वही, पृ. 51.
15. जायसी ग्रन्थावली, स्तुतिखण्ड, पृ. 7.
16. जोगविधि मधुवन सिखिहैं जाइ।
बिनु गुरु निकट संदेसनि कैसे, अवगाह्यो जाइ। सूरसागर (समा) पद 4328.
17. वही, पद 336।

सूर गुरु महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि हरि और गुरु एक ही स्वरूप हैं और गुरु के प्रसन्न होने से हरि प्रसन्न होते हैं। गुरु के बिना सच्ची कृपा करनेवाला कौन है ? गुरु भवसागर में डूबते हुए को बचानेवाला ओर सत्पथ का दीपक है।¹⁸ सहजोबाई भी कबीर के समान गुरु को भगवान से भी बड़ा मानती हैं।¹⁹ दादू लौकिक गुरु को उपलक्ष्य मात्र मानकर असली गुरु भगवान को मानते हैं।²⁰ नानक भी कबीर के समान गुरु की ही बलिहारी मानते हैं जिसने ईश्वर को दिखा दिया अन्यथा गीविन्द का मिलना कठिन था।²¹ सुन्दरदास भी “गुरुदेव बिना नहीं मारग सूझय” कहकर इसी तथ्य को प्रकट करते हैं।²² तुलसी ने भी मोह भ्रम दूर होने और राम के रहस्य को प्राप्त करने में गुरु को ही कारण माना है। रामचरित मानस के प्रारम्भ में ही गुरु वन्दना करके उसे मनुष्य के रूप में कर्णासिन्धु भगवान माना है। गुरु का उपदेश अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए अनेक सूर्यों के समान है—

बंदऊँ गुरुपद कंज कृपासिन्धु नररूप हरि ।
महामोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर ॥²³

कबीर के समान ही तुलसी ने भी संसार-सागर को पार करने के लिए गुरु की स्थिति अनिवार्य मानी है। साक्षात् ब्रह्मा और विष्णु के समान भी, बिना गुरु के संसार से मुक्त नहीं हो सकता।²⁴ सद्गुरु ही एक ऐसा कर्णधार है जो जीव के दुर्लभ कामों को भी सुलभ कर देता है—

करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा,
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने भी गुरु को इससे कम महत्व नहीं दिया। उन्होंने तो गुरु को वही स्थान दिया है जो अर्हन्त को दिया है। पंच परमेष्ठियों में सिद्ध को देव माना और शेष चारों को गुरु रूप स्वीकारा है। ये सभी ‘दुरित हरन दुखदारिद्र्य दौन’ के कारण हैं।²⁵ कबीरादि के समान कुशललाम ने शाश्वत सुख की उपलब्धि को गुरु का प्रसाद कहा है—“श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संप्रजइ रे”²⁶ रूपचन्द ने भी यही माना।²⁷ बनारसी दास ने सद्गुरु के उपदेश को मेघ की उपमा दी है जो सब जीवों

18. सूरसागर, पद 416-417; सूर और उनका साहित्य,
19. परमेश्वर से गुरु बड़े गावत वेद पुरान—संतसुधासार, पृ. 182.
20. आचार्य क्षितिमोहन सेन दादू और उनकी धर्म साधना, पाटल सन्त विशेषांक भाग 1, पृ. 112.
21. बलिहारी गुरु आपण्यें छी हाड़ी के बार ।
जिन मानिषतें देवता, करत न लागी बार ॥ गुरु ग्रंथ साहिब, म 1, आसादीवार, पृ-1
22. सुन्दरदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ. 8
23. रामचरितमानस, बालकाण्ड 1-5
24. गुरु विनु भवनिधि तरइ न कोई औ विरंचि संकर सम होई ।
बिन गुरु होहि कि ज्ञान-ज्ञान कि होई विराग विनु । रामचरितमानस उत्तरकाण्ड, 93.
25. वही, उत्तरकाण्ड, 43/4.
26. बनारसी बिलास, पंचपद विधान, 1-10. पृ. 162-163.
27. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117.

का हितकारी है।²⁸ मिथ्यात्वी और अज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करते पर सम्यग्दृष्टि जीव उसका आश्रय लेकर भव से पार हो जाते हैं।²⁹ एक अन्यत्र स्थल पर बनारसी दास ने उसे “संसार सागर तरन तारन गुरु जहाज विशेखिये” कहा है।³⁰

मीरा ने “सगुरा” और “निगुरा” के महत्व को दृष्टि में रखते हुए कहा कि सगुरा को अमृत की प्राप्ति होती है और निगुरा को सहज जन भी पिपासा की तृप्ति के लिए उपलब्ध नहीं होता। सदगुरु के मिलन से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।³¹ रूपचन्द का कहना कि सदगुरु की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है। इसलिए वे उसकी प्राप्ति के लिए अपने इष्ट से अभ्यर्थना करते हैं।³² धानतराय को

“जो तजं विषे की आसा, दानत पावे सिबबासा ।
यह सदगुरु सीख बताई, काहूँ बिरल के जिय जाई”

के रूप में अपने सदगुरु से पथप्रदर्शन मिला।³³

सन्तों ने गुरु की महिमा को दो प्रकार से व्यक्त किया है—सामान्य गुरु का महत्व और किसी विशिष्ट व्यक्ति का महत्व। कबीर और ज्ञानक ने प्रथम प्रकार को अपनाया तथा सहजोबाई आदि अन्य सन्तों ने प्रथम प्रकार के साथ ही द्वितीय प्रकार को स्वीकार किया है। जैन सन्तों ने भी इन दोनों प्रकारों को अपनाया है। अर्हन्त आदि सदगुरुओं का तो महत्वगान प्रायः सभी जनाचार्यों ने किया है पर कुशलाभ जैसे कुछ भक्तों ने अपने लौकिक गुरुओं की भी आराधना की है।³⁴

28. ज्यों बरषा बरषे समे मेघ अखंडित धार ।

त्यौं सदगुरु वानी खिर, जगत जीव हितकार ॥ नाटक समयसार, 6, पृ. 338.

29. वही, साध्यसाधक द्वार, 15-16, पृ. 342-3.

30. बनारसीविलास, भाषासूक्त मुक्तावली, 14, पृ. 24.

31. सतगुरु मिलिया सुज पिछानी ऐसा ब्रह्म में पाती ।

सगुरा सूरु अमृत पीवे निगुरा प्यासा जाती ।

मगन भया मेरा मन सुख में गोविन्द का गुणगती ।

मीरा कहे इक आस आपकी औरों सूं सकुचाती ॥ संतवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 69.

32. अब मोहि सदगुरु कहि समसायी,

तो सो प्रभु बड़े भागनि पायौ ।

रूपचन्द नदु विनव तोही,

अब दयाल पूरी दे मोही ॥ हिन्दी पद संग्रह, पृ. 49.

33. वही, पृ. 127; तुलनार्थ देखिये—

मन वचकाय जोग थिर करके त्यागो विषय कषाई ।

धानत स्वर्ग मोक्ष सुखदाई सतगुरु सीख बताई ॥ वही, पृ. 133.

34. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117.

गुरु के इस महत्व को समझकर ही साधक कवियों ने गुरु के सत्संग को प्राप्त करने की भावना व्यक्त की है। परमात्मा से साक्षात्कार करानेवाला ही सद्गुरु है।³⁵ सत्संग का प्रभाव ऐसा होता है कि वह मजीठ के समान दूसरों को अपने रंग में रंग लेता है।³⁶ काग भी हंस बन जाता है।³⁷ रंदास के जन्म-जन्म के पाश कट जाते हैं।³⁸ भीरा सत्संग पाकर ही हरि चर्चा करना चाहती है।³⁹ सत्संग से दुष्ट भी वैसे ही सुधर जाते हैं जैसे पारस के स्पर्श से कुधातु लोहा भी सुवर्ण बन जाता है।⁴⁰ इसलिए सूर दुष्ट जनों की संगति से दूर रहने के लिए प्रेरित करते हैं।⁴¹

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने भी सत्संग का ऐसा ही महत्व दिखाया है। बनारसीदास ने तुलसी के समान सत्संगति के लाभ गिनाये हैं—

कुमति निकंद होय महा मोह मंद होय;
जगमग सुयश विवेक जग हियसों ।
नीति को दिठाव होय जिनको बढ़ाव होय;
उपजे उछाह ज्यों प्रधान पद लिये सों ॥
धर्म को प्रकाश होय दुर्गति को नाश होय;
बरतै समाधि ज्यों पित्रूष रस पियेसों ।
तोष परि पूर होय, दोष हृष्टि दूर होय,
एते गुन होहि सत्-संगति के कियेसों ॥⁴²

35. भाई कोई सतगुरु संत कहावै, नैनन अलख लखावै—कबीर, भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. 146.
36. दरिया संगत साधु की, सहजै पलटै अंग ।
जैसे संग मजीठ के कपड़ा होय सुरंग ॥ दरिया 8, संत-वाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 129.
37. सहजो संगत साध की काग हंस हो जाय । सहजोबाई, वही पृ. 158.
38. कह रंदास मिलै निजदास, जनम-जनम के काटे पास—रंदास वानी, पृ. 32.
39. तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चर्चा सुण लीजो—संतवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 77.
40. जलचर थलचर नमचर नाना, जे जड़ चेतन जीव जहाना ।
मीत कीरति गति भूमि मिलाई, जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ।
जो जानव सतसंग प्रभाऊ, लोकहुँ वेद न आन उपाऊ ।
बिनु सतसंग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ।
सतसंगति मुद मंगल मूला, सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहि सतसंगति पाई, पारस परस कुधातु सुहाई । तुलसीदास-रामचरितमानस, बालकाण्ड 2-5.
41. तजो मन हरि विमुखन को संग ।
जिनके संग कुमति उपजत है परत भजन में भंग ।
कहा होत पय पान कराये विष नहि तजत भुजंग ।
कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान न्हाए गंग ।
सूरदास खल कारी कामरि, चढ़ै न दूजो रंग ॥ सूरसागर, पृ. 176.
42. बनारसी विलास, भाषासूक्त मुक्तावली, पृ. 50.

द्यानवराय कबीर के समान उन्हें कृतकृत्य मानते हैं जिन्हें सत्संगति प्राप्त हो गयी है।⁴³ भूधरदास सत्संगति को दुर्लभ मानकर नरभब को सफल बनाना चाहते हैं—

प्रभु गुन गाय रे, यह औसर फेर न पाय रे ॥
मानुष भब जोग दुहेला, दुर्लभ सतसंगति मेला ।
सब बात मली बन आई, अर्हन्त मजी रे माई ॥१॥⁴⁴

दरिया ने सत्संगति मजीठ के समान बताया और नवलराम ने उसे चन्द्रकान्तमणि जैसा बताया है। कवि ने और भी दृष्टान्त देकर सत्संगति को सुखदायी कहा है—

सतसंगति जग में सुखदायी ॥
देव रहित दूषण गुरू साँचो,
धर्म दया निश्च चितलाई ॥

सुक मैना संगति नर की करि,
अति परवीन बचनता पाई ।

चन्द्र क्रांति मनि प्रगट उपल सो,
जल सति देख झरत सरसाई ॥
लट घट पलटि होत षटपद सो,
जिन को साथ भ्रमर को थाई ।
विकसत कमल निरखि दिनकर को,
लोह कनक होय पारस छाई ॥

बोज तिरै संजोग नाव कै,
नाग दमनि लखि नाग न खाई ।
पावक तेज प्रचड महाबल,
जल परता सीतल हो जाई ॥

संग प्रताप भुयंगम जं है,
चंदन शीतल तरल पटाई ।
इत्यादिक ये बात घणैरी,
कीलों ताहि कहीं जु बढाई ॥⁴⁵

इसी प्रकार कविवर छत्रपति ने भी संगति का महात्म्य दिखाते हुए उसके तीन भेद किये हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।⁴⁶

43. कर-कर सपत संगत रे माई ॥

पान परत नर नरपत कर सो तौ पांननि सो कर असनाई ॥

चन्दन पास नीव चन्दन ह्वै काठ चढ्यो लोह तरजाई ।

पारस परस कुधात कनक ह्वै बूँद उर्द्ध पदवी पाई ॥

करई तौवर संगति के फल मधुर मधुर सुर कर माई ।

विष गुन करत संग औषध के ज्यों बच खात मिटें वाई ॥

दोष घटे प्रगटै गुन मनसा निरमल ह्वै तज चपलाई ।

द्यानत धन धन जिनके घट सत संगति सरधाई ॥ हिन्दी पद संग्रह, पृ. 137.

44. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 155.

45. वही, पृष्ठ 185-86.

46. देखो स्वांति बूँद सीप मुख परी मोती होय :

केलि में कपूर बांस माहि बंसलोचना ।

ईख में मधुर पुनि नीम में कटुक रस;

पन्नग के मुख परी होय प्रान मोचना ॥

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन साधकों ने विभिन्न उपमेयों के आधार पर सद्गुरु और उनकी सत्संगति का सुन्दर चित्रण किया है। ये उपमेय एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए दिखाई देते हैं जो निः-

सन्देह सत्संगति का प्रभाव है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि जैनेतर कवियों ने सत्संगति के माध्यम से दर्शन की बात अधिक नहीं कि जबकि जैन कवियों ने उसे दर्शन मिश्रित रूप में अभिव्यक्त किया है।



अंबुज दलमिपरि परी मोती सम दिपै,
तपन तवेपी परी नसै कछु सोचना ।
उतकिस्ट मध्यम जघन्य जैसी संग मिलै,
तैसो फल लहै मति पोच मति पोचना ॥147॥
मलय सुवास देखी निजादि सुगंध करै, पारस पखान लोह कंचन करत है ।
रजक प्रसंग पट समलतै इवेत करै, भेषज प्रसंग विष रोगन हरत है ॥
पंडित प्रसंग जन मूरखतैं बुध करै, काष्ठ के प्रसंग लोह पानी में तरत है ।
जैसो जाकौ संग ताकौ तैसो फल प्रापति है, सज्जन प्रसंग सब दुख निरवत है ॥148॥
मम मोदन पंचशती, पृ. 70-71.

जैन साहित्य एवं संस्कृति के विकास में भट्टारकों का योगदान

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

भगवान महावीर के पश्चात् होनेवाले अधिकांश आचार्यों ने साहित्य निर्माण में विशेष रुचि ली और उसके प्रचार-प्रसार के लिए अथक् परिश्रम किया। प्राकृत भाषा के साथ-साथ उन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश एवं प्रादेशिक भाषाओं को भी प्रश्रय दिया और जन-साधारण की रुचि के अनुसार विविध विषयों में विशाल साहित्य का सृजन किया। ऐसे आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शताब्दी), उमा स्वामी (तृतीय शताब्दी) समन्तभद्र (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी), सिद्धसेन (पंचम शताब्दी), देवनन्दि, पात्रकेसरी, अकलंक (सातवीं शताब्दी), वीर सेन (आठवीं शताब्दी) विद्यानन्दि माणिक्य नन्दि, जिनसेन, गुणभद्र, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अमृत चन्द्र, देवसेन, पद्मनन्दि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी आचार्य अपने-अपने समय के अत्यधिक ओजस्वी एवं सशक्त विद्वान् थे।

लेकिन जब देश की राजनैतिक एकता समाप्त होने लगी और सम्राट हर्षवर्धन के बाद जब कोई भी शासक देश को एकता के सूत्र में बाँधने में असमर्थ

रहा तब देश में एकता के स्थान पर अनेकता ने सिर उठाया। चारों ओर अशान्ति का वातावरण छाने लगा। 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे और 13वीं शताब्दी के आते-आते वहाँ मुसलमानों का हमेशा के लिये शासन स्थापित हो गया। देश में आतंक का साम्राज्य छा गया। मुसलमानों के भयपूर्ण शासन में अहिंसकों का जीना दुभर हो गया। नग्न साधुओं का बिहार और भी कठिन हो गया। मन्दिरों की लूटना, मूर्तियों को तोड़ना एवं स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों की मौत के घाट उतारना साधारण-सी बात हो गयी। ऐसे समय में बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में नन्दि संघ के भट्टारक प्रभाचन्द्र ने दिल्ली में अपना केन्द्र स्थापित किया और इस प्रकार सारे उत्तर भारत में भट्टारक परम्परा को नव स्वरूप प्रदान किया।

भट्टारक प्रभा चन्द्र (संवत् 1314 से 1408) के पश्चात् सारे देश में भट्टारकों ने शनैःशनैः लोक-प्रियता प्राप्त की और एक-के-पश्चात् एक दूसरे प्रान्तों

में भट्टारक गादियाँ स्थापित होने लगीं । राजस्थान में चित्तौड़, चम्पावती, तक्षकगढ़, आमेर, सांगानेर, जयपुर, श्री महावीर जी, अजमेर, नागौर, जीवनेर, मध्यप्रदेश में ग्वालियर एवं सोनागिरि जी, बागड़प्रदेश में डूंगरपुर, सागवाड़ा, बासवाड़ा एवं रिषभदेव, गुजरात में नवसारी, सूरत, खम्भात, घोघा, गिरनगर, महाराष्ट्र में कारंजा एवं नागपुर, दक्षिण में मूडविट्री, हुम्मच एवं श्रवण बेलगोला आदि स्थानों में भट्टारकों की गादियाँ स्थापित हो गयीं । इन भट्टारकों ने अपने-अपने गण संघ व गच्छ स्थापित कर लिए । अपने प्रभाव से क्षेत्र बाँट लिए और अपनी-अपनी सीमाओं में धर्म के एक-मात्र स्तम्भ बन गये । 16वीं शताब्दी में देहली गादी के भट्टारकों ने अपने ही अधीन मंडलाचार्य पद बनाये जो भट्टारकों की ओर से प्रतिष्ठा, पूजा एवं समारोह आदि का नेतृत्व करने लगे ।

इन भट्टारकों ने जैन साहित्य और संस्कृति के विकास में अपना महत्वपूर्ण योग दिया । 1350 से 1850 तक भट्टारक ही आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि रूप में जनता द्वारा पूजे जाते रहे तथा जैन संस्कृति के प्रधान स्तम्भ रहे । इन 500 वर्षों में जितने भी प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित हुए उनमें इनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद ने जबरदस्त कार्य किया । संवत् 1548, 1664, 1783, एवं 1826 में देश में विशाल प्रतिष्ठा समारोह आयोजित हुए, इन सब में भट्टारकों का बोल बाला रहा । हजारों मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित होकर देश के विभिन्न मन्दिरों में विराजमान की गईं । उत्तर भारत के अधिकांश जैन मन्दिरों में आज इन संवत्तों में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं । आज सारा बागड़प्रदेश 'मालवा' कोटाबूँदी एवं झालावाड़ का प्रदेश, चम्पावती, टोड़ाराम सिंह एवं रणथम्भौर का क्षेत्र जितना जैन पुरातत्व से समृद्ध है उतना देश का अन्य क्षेत्र नहीं । संवत् 1548 में भट्टारक जिनचन्द्र ने मुंडासा नगर में हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवा कर सारे देश में जैन संस्कृति के प्रचार-प्रसार में विशेष योग दिया । देश के

गाँव-गाँव में मन्दिरों का निर्माण हुआ जिसमें संस्कृति ही पुनर्जीवित नहीं हुई अपितु मूर्तिकला, स्थापत्यकला आदि कलाओं को भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ । 1664 में मोजमाबाद (राजस्थान) में तीन शिखरोंवाले मन्दिर के जीर्णोद्धार के पश्चात् जो विशाल प्रतिष्ठा हुई थी उसे तो बादशाह अकबर एवं आमेर के महाराज मानसिंह का भी आशीर्वाद प्राप्त था । करोड़ों रुपया पानी की तरह बहाया गया : इसी तरह 1826 में सवाई माधोपुर के भट्टारक सुरेन्द्र कीर्ति के तत्वाधान व प्रेरणा से जो अभूतपूर्व प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित हुआ संभवतः वह अपने ढंग का पहला महोत्सव था । राजस्थान में आज कोई ऐसा मन्दिर नहीं है जिसमें 1826 में प्रतिष्ठापित मूर्ति न हो । जयपुर, सागवाड़ा, चौदखेड़ी, झालरापाटन में जो विशाल एवं कलापूर्ण मूर्तियाँ हैं उन सबकी प्रतिष्ठा में इन भट्टारकों का प्रमुख हाथ था ।

जब इन भट्टारकों की कीर्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँचने लगी तो इनकी निषेधिकाएँ व कीर्तिस्तम्भ बनने लगे । आवाँ (राजस्थान) में पहाड़ पर भट्टारक प्रभाचन्द्र, जिनचन्द्र और शुभचन्द्र की इसी तरह की तीन निषेधिकाएँ हैं जो भट्टारकों में तत्कालीन जनता की श्रद्धा एवं भावना को व्यक्त करनेवाली हैं । इसी तरह चित्तौड़ किले में प्रतिष्ठापित कीर्तिस्तम्भ चाकसू में बनवाया गया जिसमें भट्टारकों की मूर्तियों के अतिरिक्त उनके होने का भी समय दिया हुआ है । इसी तरह का कीर्तिस्तम्भ आमेर के बाहर की बस्ती में स्थापित किया हुआ है । ये सब कीर्तिस्तम्भ भट्टारकों के उत्कर्ष के तो प्रमाण हैं ही किन्तु उनके द्वारा सम्पादित सांस्कृतिक सेवाओं को भी घोषित करनेवाले हैं ।

जयपुर के काला छावड़ा के मन्दिर में पार्श्वनाथ की एक धातु की मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा संवत् 1413 में वैशाख सुदी 6 के दिन हुई थी । इसमें भट्टारक प्रभाचन्द्र का उल्लेख हुआ है । इसी तरह आवाँ तथा

बयाना में संवत् 1400 तथा 1404 की मूर्तियाँ हैं जिसमें भट्टारक प्रभाचन्द्र एवं उनके शिष्य पद्मनन्दि दोनों का उल्लेख किया गया है। भट्टारक पद्मनन्दि (संवत् 1385 से 1450) को गुजरात में प्रतिष्ठा महोत्सव के संचालन के लिए ही भट्टारक पद पर स्थापित किया गया। कविवर वल्लभराय शाह ने अपने बुद्धि विलास में निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

संवत् तेरह सौ पिचिहतस्यौ जगनि वै
मये भट्टारक प्रभाचन्द्र मुनखानि वै ।
तिनको आचारिज इक हो गुजरात में,
तहाँ सब पंचनि मिलि ठानी बात में ॥
कीजँ इक प्रतिष्ठा तो सुभ काज हवै
करन लगे विधिवत सब ताकी साज वै
भट्टारक बुलवाये तो पहुँचे नहीं,
तब सब पंचनि मिलि यह ठानी सही ।
सूरि मंच बाहि आचारिज को दियो ।
पद्मनन्दि भट्टारक नाम सु यह कियो ॥

भट्टारक पद्मनन्दि द्वारा प्रतिष्ठित सैंकड़ों मूर्तियाँ राजस्थान में मिलती हैं।¹ सांगानेर के संघोजी के मन्दिर में इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठापित शान्तिनाथ स्वामी की मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा संवत् 1464 में हुई थी। इसी संवत् की प्रतिष्ठित मूर्ति पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर में टोंक में विराजमान है। भट्टारक सकल कीर्ति ने अपने जीवन में 14 बिम्ब प्रतिष्ठाओं का संचालन किया था। इनके द्वारा संवत् 1490, 1492 एवं 1497 में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ उदयपुर, डूंगरपुर एवं सागवाड़ा के जैन मन्दिरों में मिलती हैं। संवत् 1548 में जीवराज पापड़ीवाल ने जो विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न कराया था उस महोत्सव के प्रधान थे भट्टारक जिनचन्द्र। सर्वप्रथम

इन्होंने संवत् 1502 में बैशाख सुदी 3 के दिन पार्श्वनाथ प्रतिमा की स्थापना करवायी थी। इसके अगले वर्ष संवत् 1503 में प्रतिष्ठापित चौबीसी की एक प्रतिमा जयपुर के एक मन्दिर में विराजमान की। संवत् 1504 में नगर (राजस्थान) में आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव में भाग लिया था। इन्हीं भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक प्रभाचन्द्र द्वितीय ने कितने ही मन्दिरों के निर्माण एवं प्रतिष्ठा महोत्सवों को अपना आशीर्वाद दिया था। मंडलाचार्य धर्मचन्द्र जो भट्टारक प्रभाचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे, ने, आवां (राजस्थान) में संवत् 1583 में जिस विशाल प्रतिष्ठा समारोह का नेतृत्व किया था वह इतिहास में अपना विशेष स्थान रखती है। धर्मचन्द्र ने भट्टारक जिनचन्द्र का निम्न शब्दों में स्मरण किया है—

तत्पहस्थ-श्रुताधारी प्रभाचन्द्र त्रिधा निर्धिः ।
दीक्षितो पो लसत्कीर्तिः प्रचण्ड पण्डिता गुणी ॥

सोमकीर्ति अपने समय के लोकप्रिय भट्टारक थे। संवत् 1527, 1532, 1536, एवं 1540 में इनके द्वारा प्रतिष्ठित कितनी ही मूर्तियाँ राजस्थान के विभिन्न मन्दिरों में उपलब्ध होती हैं। अपने समय के मुसलमान शासकों से इनका अच्छा सम्बन्ध था। 16वीं शताब्दी में भट्टारक ज्ञानभूषण भट्टारक सकलकीर्ति परम्परा में अत्याधिक प्रभावशाली भट्टारक हुए जिन्होंने प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार, नवीन मन्दिर निर्माण, पंच कल्याणक प्रतिष्ठाएँ सांस्कृतिक समारोह, उत्सव एवं मेलों आदि के आयोजनों को प्रोत्साहित किया। इनके द्वारा संवत् 1531, 1534, 1535, 1540, 1543, 1544, 1545, 1552, 1557 व 1560 तथा 1561, में प्रतिष्ठापित सैंकड़ों मूर्तियाँ बागड़ प्रदेश के नगरों में उपलब्ध होती हैं।²

1. मूर्ति लेख संग्रह भाग 1 पृष्ठ 68 एवं भाग 2 पृष्ठ सं. 305 (महावीर भवन जयपुर द्वारा संग्रहित)।
2. बीर शासन के प्रभावक आचार्य—पृष्ठ सं. 135

भट्टारक ज्ञानभूषण के समान भ. विजयकीर्ति का भी अपने समय में बहुत ही प्रभाव था । इनके काल में कितने ही मन्दिरों का निर्माण हुआ तथा संवत् 1557, 60, 61, 64, 68, 70 में जो प्रतिष्ठा महोत्सव हुए, उनके सम्पादन में इनका विशेष योग रहा । भट्टारक विजयकीर्ति राजस्थान एवं गुजरात के कितने ही शासकों द्वारा सम्मानित थे । एक गीत में भ. विजय कीर्ति की निम्न प्रकार प्रशंसा की गई :—

अनेक राजा चरण सेखि मालवी मेवाड़
शूत्र सोरठ सिन्धु सहिजी अनेक भड भूपाल ।
दक्ष मरहठ चीण कुं कण पूरवि नाम प्रसिद्ध ।
छत्रीस लक्षण कला बहुतरि अनेक विद्यावारिधि ।

भ. विजयकीर्ति के पश्चात् और भी अनेक भट्टारक हुए जिनमें भ. शुभ चन्द्र, भ. रत्नकीर्ति, भ. कुमुदचन्द्र, भ. चन्द्रकीर्ति, भ. देवेन्द्रकीर्ति (प्रथम) भ. देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) आदि कितने ही भट्टारक हुए जिन्होंने देश व समाज के सांस्कृतिक विकास में जबरदस्त योग दिया । संवत् 1664 में तीन विशाल शिखरों से युक्त आदिनाथ के मन्दिर के निर्माण और उसकी भव्य प्रतिष्ठा समारोह में भ. देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) का प्रमुख योगदान था । इस समारोह में भव्य और विशाल आकार की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गयीं जो आज भी देश के विभिन्न मन्दिरों में विराजमान हैं ।³ वास्तव में इन 500 वर्षों में (संवत् 1350 से 1850 तक) इन भट्टारकों का जैन संस्कृति के विकास में योगदान रहा ।

साहित्यिक क्षेत्र के विकास में भट्टारकों का योगदान सर्वाधिक उल्लेखनीय है । भट्टारक सकल कीर्ति एवं उनकी परम्परा के अधिकांश विद्वान्, साहित्य सेवी

थे । भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, सोमकीर्ति, जय सागर, भट्टारक महीचन्द्र आदि पचासों भट्टारकों ने साहित्य निर्माण में अत्यधिक रुचि ली थी । जब साहित्य का निर्माण, शास्त्र भण्डारों की स्थापना, नवीन पाण्डुलिपियों का लेखन एवं उनका संग्रह आदि सभी इनके द्वितीय कार्य थे । आज भी जितना अधिक संग्रह भट्टारकों के केन्द्रों पर मिलता है उतना अन्यत्र नहीं । अजमेर, नागौर एवं आमेर जैसे नगरों में स्थित शास्त्र भण्डार इस तथ्य के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । वे भट्टारक ज्ञान की ज्वलंत मूर्ति थे । प्राकृत एवं अपभ्रंश के स्थान पर इन्होंने संस्कृत और हिन्दी में ग्रन्थ रचना को अधिक प्रोत्साहन दिया और स्वयं भी इन्हीं भाषाओं में साहित्य निर्माण करते रहे । वे साहित्य की किसी एक विधा से भी नहीं चिपके रहे किन्तु साहित्य के सभी अंगों को पल्लवित किया । उन्होंने चरित काव्यों के साथ साथ पुराण, काव्य, वेलि, रास, पंचासिका, शतक, पच्चीसी वादनी, विवाह ली, आख्यान, पद व गीतों की रचना में गहरी रुचि ली और संस्कृत व हिन्दी में सैकड़ों रचनाओं का निर्माण करके एक नया कीर्तिमान स्थापित किया ।

भट्टारक सकल कीर्ति (15वीं शताब्दी) ने अपने जीवन के अन्तिम 22 वर्षों में 26 से भी अधिक संस्कृत एवं 8 राजस्थानी रचनाएँ लिखीं । वे मंगीत, तथा छन्द शास्त्र में निपुण थे तथा अपनी कृतियों को जन-जन में प्रचार की दृष्टि से सरल एवं आकर्षक शैली में लिखते थे । सकल कीर्ति की प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

संस्कृत कृतियाँ :

आदि पुराण, उत्तर पुराण, नेमिजिन चरित्र, शान्ति नाथ चरित्र, पार्श्वनाथ चरित्र, वर्द्धमान चरित्र,

मल्लिनाथ चरित्र, सद्भाषितावलि, जम्बू स्वामी चरित्र, श्रीपाल चरित्र, तत्त्वार्थसार दीपक सुकुमाल चरित्र ।

राजस्थानी कृतियाँ :

आराधना प्रतिबोधसार, नेमिस्वर गीत, मुक्तावलि गीत, णमोकारक गीत, सोलहकारण रास, सारसीखा मणिरास तथा शान्तिनाथ फागु ।⁴

आचार्य सोमकीर्ति (संवत् 1516-40) ने भी संस्कृत व हिन्दी को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया । इनकी सप्तव्यसन कथा, प्रद्युम्न चरित्र एवं यशोधर चरित्र संस्कृत में निबद्ध रचनाएँ हैं तथा गुर्वावलि, यशोधर रास, ऋषभनाथ की धूलि, त्रेपनक्रिया-गीत, आदिनाथ एवं मल्लगीत इनकी राजस्थानी कृतियाँ हैं । सभी कृतियाँ भाषा एवं शैली की दृष्टि से उत्तम रचनाएँ हैं । कवि ने इन रचनाओं में जन-साधारण की भावनाओं को अच्छी तरह प्रदर्शित किया है तथा उसकी दृष्टि में वही नगर एवं ग्राम श्रेष्ठ माने जाने चाहिए जिनमें जीववध नहीं होता । सत्याचरण किया जाता हो तथा नारी समाज का जहाँ अत्याधिक सम्मान हो । यही नहीं यहाँ के लोग अपने परिग्रह संचय की प्रतिदिन सीमा भी निर्धारित करते हैं तथा जहाँ रात्रि को भोजन करना भी वर्जित हो ।

भ. सकल कीर्ति के शिष्य एवं लघु भ्राता बहन जिनदास संस्कृत एवं हिन्दी के प्रकाशमान तक्षक हैं । उन्होंने हिन्दी की सबसे अधिक सेवा की और उसमें 60 से भी अधिक कृतियाँ निबद्ध करके इस दिशा में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया । उनकी रामसीतारास (संवत् 1520) राजस्थानी की प्रथम रामायण है

जो छन्द संस्था की दृष्टि से रामायण से भी बड़ी है । बहन जिनदास 15वीं शताब्दी के विद्वान् थे तथा मीरा व सूरदास के पूर्व ही उन्होंने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया तथा जन-साधारण की भाषा में सबसे अधिक रचनाएँ लिखीं । बहन जिनदास की हिन्दी की प्रमुख रचनाएँ निम्न प्रकार हैं—

राम सीतारास, यशोधररास, नागकुमाररास, परमहंसरास, आदि पुराणरास, हरिवंश पुराण, श्रविक रास, जम्बू स्वामीरास, भद्रबाहु, चाकदन्त सबन्धरास, धन्य कुमाररास, भविष्य दन्तरास, जीवन्धर रास, करकण्डुरास, पुष्पांजलिरास, सुभीम चक्रवर्तीरास, धनपालरास, सुदर्शनरास ।

ज्ञानभूषण भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे । भट्टारक बमने से पूर्व ही वे साहित्य निर्माण में लग गये थे और भट्टारक पद छोड़ने के पश्चात् भी वे इसी दिशा में लगे रहे । आदीश्वर फाग उनकी सर्वश्रेष्ठ व परिष्कृत रचना है । इसमें 501 फाग हैं जिनमें 262 हिन्दी के तथा शेष 239 पद्य संस्कृत में निबद्ध हैं । आदीश्वर फाग के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाओं में पोषह रास, जलगालन रास तथा षट्कर्म रास के नाम उल्लेखनीय हैं ।

17वीं शताब्दी में होनेवाले भट्टारकों में भट्टारक रत्नकीर्ति एवं भट्टारक कुमुदचन्द्र का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है । ये गुरु व शिष्य दोनों ही बड़े लोक-प्रिय सन्त थे तथा जन-जन में भगवद् भक्ति को उभारने के लिये छोटे-छोटे भक्तिपरक पदों की रचना किया करते थे । नेमि राजुल को लेकर भी दोनों ही

4. मो पूज्यो नृप मल्लि भैरव महादेवेन्द्र मुख्यै नृपं ।
षट्सकीगम शास्त्र कोविद मति जाग्रत मशकचन्द्रमा ॥
भव्याम्भोसह भास्करः शुभ करः संसार विच्छेदकः ।
सोऽव्याद्धी विजयादि कीर्ति मुनियो भदारकाधीश्वरः ।

कवियों ने अनेक पदों की रचना की । रत्नकीर्ति के पदों की संख्या 38 है तथा कुमुदचन्द्र के भी इतने ही पद होंगे । रत्नकीर्ति का एक पद देखिये—

सखी री नेमि न जानी पीर ।

बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, संग लेई हलधर वीर ।
नेमि सुख निरखि हरषी मनसूँ, अब तो होई मन धीर ।
तामे पसूय पुकार सुनी करि, गयो गिरिवर के तीर ।
चन्दवदनी पोकारती डारती, मण्डन हार उर चीर ।
रत्नकीरती प्रभु भये वैरागी, राजुल चित्त कियो धीर ।

कुमुदचन्द्र के पदों में अध्यात्म, विरह और भक्ति तीनों का सामंजस्य है । 'मैं तो नर भव बारि गया यों' पद यदि अध्यात्मपरक है तो 'सखी री अब तो रहयो नहि जात, विरहपरक पद है । इन दोनों सन्तों ने हिन्दी साहित्य में जो पद साहित्य लिखने की परम्परा डाली वह भविष्य में होनेवाले कवियों के लिये वरदान सिद्ध हुई ।

16वीं 17वीं शताब्दी में एक और प्रभावशाली भट्टारक हुए जिनका नाम भ. शुभचन्द्र है । भ. शुभचन्द्र शास्त्रों के पूर्ण मर्मज्ञ थे । उन्हें षट्भाषा कवि चक्रवर्ती कहा जाता था । इन्होंने जो साहित्य सेवा अपने जीवन में की वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है । इन्होंने संस्कृत में 40 रचनाएँ तथा हिन्दी में 7 रचनाओं को निबद्ध करके भारतीय साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की । इनकी सभी हिन्दी कृतियाँ लघु हैं किन्तु भाव व शैली की दृष्टि से उत्तम हैं 'तत्व सार दूहा, इनकी सुन्दर कृति है । इसमें दोहे व चौपाई हैं । रचना छोटी होने पर भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है । एक स्थान पर आत्मा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा कि किसी की भी आत्मा उच्च अथवा

नीच नहीं है । कर्मों के कारण ही उसे ऊँच व नीच की संज्ञा दी जाती है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है । आत्मा तो राजा है वह शूद्र कैसे हो सकती है ।

ऊँच नीच नवि अध हुयि, कर्म कलंक तणो कीतु सोई ।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य न शूद्र, अधा राजा नवि होय शूद्र ।

इनके पश्चात् एक के बाद एक भट्टारक होते गये । अजमेर, नागौर, आमेर, जयपुर, झुंजरपुर, मालिया कोट, कांरजा, उदयपुर आदि स्थानों में उनकी मादियाँ स्थापित हुईं तथा वहीं से वे बिहार करके जन-जन में साहित्य के प्रति रुचि पैदा किया करते, अपने शिष्यों को साहित्य निर्माण की ओर प्रोत्साहित किया करते रहते । ब्र. जिनदास, ब्रह्मराय मल्ल, बख्तराम शाह, लक्ष्मीराम चांदवाड़ा जैसे विद्वान् इन्हीं भट्टारकों के शिष्य थे जिन्होंने साहित्यिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया और देश के साहित्यिक पक्ष को मजबूत किया । इन भट्टारकों ने संस्कृत भाषा को अपना कर देश में उसे उच्च स्थान दिया तथा अपने काव्यों के माध्यम से उसे जन-सामान्य में लोक-प्रिय बनाया गया । एक ओर संस्कृत तथा दूसरी ओर हिन्दी राजस्थानी दोनों ही भाषाओं को अपनाकर इन्होंने साहित्य क्षेत्र में उदार वातावरण को स्थान दिया । वास्तव में 500 वर्षों तक इन भट्टारकों ने देश का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जो विकास किया वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है । लेकिन अभी तक इनकी सेवाओं का जितना मूल्यांकन होना चाहिए था उतना नहीं हो सका है और उसकी महती आवश्यकता है ।

**

जैन साहित्य के आद्य पुरस्कर्ता

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

जैन अनुश्रुति के अनुसार लेखन कला का आविष्कार कर्मभूमि, या सभ्य युग, के उदयकाल में आदि पुरुष भगवान् ऋषभदेव ने किया था। उनकी प्रथम शिष्या, जिसके निमित्त से उन्होंने इस क्रान्तिकारी कला का आविष्कार किया था, स्वयं उनकी सुपुत्री ब्राह्मी थी। यही कारण है कि भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई। सिन्धु घाटी की प्रागैतिहासिक सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त लेखांकित मुद्राएँ इस बात का असंदिग्ध प्रमाण हैं कि अब से छः-सात सहस्र वर्ष पूर्व भी भारतवासी लेखनकला से भलीभाँति परिचित थे और लोक व्यवहार में उसका पर्याप्त उपयोग करते थे। इसके पश्चात् एक ऐसा दीर्घकालीन अन्तराल पड़ा प्रतीत होता है जिसमें लेखनकला बहुत कुछ उपेक्षित रही—तथाकथित वैदिक युग में लेखन का प्रचार बहुत विरल रहा प्रतीत होता है। तथापि ऋग्वेद विश्व पुस्तकालय का अधुनाज्ञात सर्वप्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, और इसका रचनाकाल दो सहस्र वर्ष से लेकर एक सहस्र ईस्वी पूर्व के मध्य अनुमान किया जाता है। वेदों की 'ब्राह्मण' और 'आरण्यक' नामक प्रारम्भिक व्याख्याओं में से कुछ एक, कई एक उपनिषद् मूल धर्मशास्त्र और संभवतया कुछ एक दार्शनिक सूत्र भी, 6ठी-5वीं शती ईस्वी पूर्व तक

रचे और लिखे जा चुके विश्वास किये जाते हैं। इन्द्र और पाणिनि के व्याकरण, सुश्रुत की संहिता (वैद्यक शास्त्र), और कौटिल्य का मूल अर्थशास्त्र भी 5वीं और 3री शती ईस्वी पूर्व के मध्य लिखे जा चुके थे, ऐसा कहा जाता है।

किन्तु, सिन्धुघाटी की उक्त मुद्राओं के अतिरिक्त प्रायः और कोई भारतीय शिलालेख या अभिलेख ऐसा अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है जिसका समय निश्चित रूप से छठी शती ई. पूर्व से पहिले का स्थिर किया जा सके। ब्राम्हणों, बौद्धों या जैनो के किसी भी ग्रन्थ की प्रायः एक भी ऐसी प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है जिसे असंदिग्ध रूप से दो हजार वर्ष पुराना भी कहा जा सके। ऊपर जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है वे अवश्य ही मौर्य युग के अन्त (लगभग 200 ई. पू.) के पूर्व की सहस्राब्दि में रचे जा चुके थे। किन्तु रचे जाने के साथ-ही-साथ वे लिपिबद्ध भी किये जा चुके थे, यह केवल अनुमान ही है, निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

अस्तु, यद्यपि इस बात में प्रायः सन्देह नहीं है कि संसार की प्राचीन सभ्य जातियों में भारतीय जाति ही लेखन कला का आविष्कार एवं प्रयोग करनेवाली

कदाचित् सर्वप्रथम जाति थी, तथापि यह भी स्पष्ट है कि महावीर और बुद्ध के समय तक लिखने का प्रचलन अत्यन्त विरल रहा था। कम-से-कम, जहाँ तक धर्म-शास्त्रों या धार्मिक साहित्य का सम्बन्ध है, भारत के प्राचीन ऋषि मुनि और आचार्य अपनी स्मृति पर ही अधिक निर्भर रहते थे और लिखने के झंझट में पड़ना पसन्द नहीं करते थे। श्रुति, स्मृति, आगम आदि शब्द बहुत पीछे आकर धार्मिक साहित्य के अङ्गक विशेषों के लिये रूढ़ हुए, प्रारम्भ में यह सब प्रायः पर्यायवाची थे—जो परम्परा से स्मृति में सुरक्षित रहता आया है, मौखिक द्वार से उपदेशा जाता रहा है और कानों से जिसे सुनते चले आये हैं वही स्मृति, आगम या श्रुति रूप धर्मशास्त्र था। महावीर और बुद्ध के पश्चात् भी शताब्दियों पर्यन्त भारतवर्ष में धर्मोपदेश, मौखिक शिक्षण-प्रशिक्षण, तथा व्यक्तिगत एवं राजनैतिक लोक-व्यवहार भी मौखिक-शाब्दिक ही रहता रहा। लिखने या लिखित वस्तुओं का सहारा बहुत कम लिया जाता था। यदि ऐसा न होता तो पार्श्व, महावीर, बुद्ध आदि के उपदेश तुरन्त ही अथवा थोड़े समय उपरान्त ही लिपिबद्ध कर लिये जाते। यह कार्य उक्त धर्मोपदेशों के चार-पाँच सौ वर्ष पश्चात् ही आरम्भ हुआ। तीसरी-दूसरी शती ई. पूर्व से भारतवर्ष में लिखने का प्रचार, अनेक कारणों से, पर्याप्त द्रुत वेग से बढ़ा। उसी के फलस्वरूप भारत के पुस्तक साहित्य का वास्तविक प्रणयन प्रारम्भ हुआ। जैनो और बौद्धों के पुस्तक साहित्य निर्माण का इतिहास दूसरी पहली शती ईस्वी पूर्व से आगे नहीं जाता, और ब्राम्हण परम्परा के विषय में भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे इस सम्बन्ध में जैनो और बौद्धों से कुछ बहुत आगे रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि जैनी लोग अपने साहित्यिक इतिहास के विषय में बहुत सावधान, ईमानदार और यथार्थवक्ता रहे हैं, बौद्धों का साहित्यिक इतिहास भी सिंहली, चीनी, तिब्बती, बर्मी आदि भारतेतर साधनों के आधार पर बहुत कुछ ठीक ठीक निर्माण हो चुका है। किन्तु वैदिक परम्परा के अनु-

यायियों का साहित्यिक इतिहास अभी तक पर्याप्त अस्पष्ट एवं विवादग्रस्त बना हुआ है। वह अधिकांशतः अनुमानों, कल्पनावर्तों, धारणाओं और मनमानी मान्यताओं पर आधारित है। आचार्य शंकर और महाकवि कालिदास जैसे पर्याप्त परवर्ती व्यक्तियों की तिथियों के सम्बन्ध में भी अभी तक एकमत नहीं हो पाया है। विभिन्न विद्वानों के बीच इन विषयों में दो-चार वर्षों या दो-चार दशकों के नहीं, बरन् शताब्दियों का, और कभी-कभी सहस्राब्दियों का मतभेद पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, उत्तरोत्तर सम्मिलित किये जाते रहे श्लोकों, संवर्धनों, परिवर्धनों आदि के कारण ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दि में रचे गये ग्रन्थों के भी वर्तमान में उपलब्ध संस्करण बहुत ही कम ऐसे हैं जो निश्चयपूर्वक मूल रचनाओं की यथावत् प्रतिलिपि कहे जा सकें।

अतएव, जहाँ हम तीर्थंकर पार्श्व और महावीर के सम्बन्ध में, महावीर की शिष्य परम्परा में होने-वाले गुणों के सम्बन्ध में जैन साहित्य प्रणयन के प्रारम्भिक इतिहास के सम्बन्ध में प्राचीन जैन-आचार्यों एवं ग्रन्थकारों और उनका कृतियों के सम्बन्ध में प्रायः निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं, कि अमुक व्यक्ति, रचना या घटना की तिथि यह है उसका पूर्वापर यह है, इत्यादि, और इसी प्रकार जहाँ हम यह भी प्रायः निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि पालि त्रिपिटक सर्वप्रथम ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य के लगभग सिंहल देश में संकलित एवं लिपिबद्ध हुए और भारत बौद्धों के पुस्तक साहित्य का इतिहास कुषाण काल (2री शती ई.) में महाकवि अश्वघोष और दार्शनिक नागार्जुन के साथ प्रारम्भ हुआ, ब्राम्हण परम्परा के ग्रन्थकारों और धार्मिक अथवा लौकिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में बड़ी कोई बात निश्चयपूर्वक कहना नितान्त कठिन है। तथापि, जिन विशेषज्ञ विद्वानों ने इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति से विविध अनुसंधान किया है, उनका यह प्रायः निश्चित मत है कि वर्तमान हिन्दू परम्परा के

पुस्तक साहित्य के इतिहास का वास्तविक प्रारम्भ शुंग काल में ब्राह्मण पुनरुत्थान से ही किया जाना चाहिये। वास्तव में इस परम्परा के वर्तमान में उपलब्ध पुस्तक साहित्य का अधिकांश, जिसमें वैदिक संहिताएँ (अपने अन्तिम रूप में), निरुक्त, अधिकांश उपनिषदें, श्रुतियाँ, स्मृति या धर्मशास्त्र, दार्शनिक सूत्र, वाल्मीकि की रामायण, सौति का महाभारत (जो मूलतः दश-सहस्री थी, अब जैसी शत-सहस्री नहीं), तथा विष्णु पुराण आदि प्राचीनतम पुराणग्रन्थ, शुंग काल और गुप्त काल के मध्य, अर्थात् 3-2री शती ई. पू. से लेकर 4-5वीं शती ईस्वी के बीच ही रचे गये हैं। लौकिक काव्य नाटकानि, क्लेसिकल संस्कृत साहित्य तथा ज्योतिष, गणित, वैद्यक आदि वैज्ञानिक साहित्य अधिकतर गुप्त काल एवं गुप्तोत्तर काल की देन हैं। इस ब्राह्मण पुनरुत्थान एवं पुस्तक साहित्य प्रवर्तन के प्रमुख आद्य पुरस्कर्ता महर्षि पतञ्जलि, कामन्दक, वाल्मीकि, सौति, यास्क, वात्स्यायन, कात्यायन, ईश्वर कृष्ण, आदि विद्वान् थे।

अस्तु, क्या आश्चर्य है कि उस समय के पूर्व जैनो का भी प्रायः कोई उल्लेखनीय पुस्तक साहित्य विद्यमान नहीं था। उनका धर्मशास्त्र या आगम जो द्वादशाङ्ग श्रुत कहलाता है, सर्वप्रथम अत्यन्त प्राचीन समय में — सम्भ्य युग के उदय काल में ही — प्रथम तीर्थंकर ऋषभ-देव द्वारा प्रतिपादित किया गया था। उनके पश्चात् एक के बाद एक अठारह तीर्थंकरों ने उसी मूल का प्रतिपादन किया। तदनन्तर, रामायण में वर्णित घटनाओं और राघव-रावणादि के समय में 20वें तीर्थंकर मुनि सुवृत्तनाथ ने उसी उपदेश की प्रायः पुनरावृत्ति की। इतिहासकार इन घटनाओं का समय लगभग 2000 ई. पू. अनुमान करते हैं। 21वें तीर्थंकर नमिनाथ थे और 22वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे जो नारायण कृष्ण के ताउजात भाई थे और महाभारत काल (अनुमानतः 15वीं शती ई. पूर्व) में विद्यमान थे। 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ वाराणसी के उरगवंशी राजकुमार

थे। इनका सुनिश्चित समय 877-777 ई. पूर्व है। इनके द्वारा उपदेशित द्वादशाङ्ग श्रुत का प्रचार महावीर और बुद्ध के समय तक बराबर बना हुआ था। अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' (599-527) ब्राह्म्य क्षत्रियों की वज्जि जाति के वंशाली गणतन्त्र (गणराज्य संघ) के अन्त्यत कुण्डग्राम के लिच्छवियों के ज्ञातृक वंशी राजपुत्र थे। तीस वर्ष की अवस्था में इस बालब्रम्हचारी ने गृह का परित्याग करके बारह वर्ष पर्यन्त कठिन आत्मसाधना की। फल-स्वरूप कैवल्य की प्राप्ति करके अर्हंत तीर्थंकर के रूप में तीस वर्ष (557-527 ई. पू.) पर्यन्त देश-विदेश में विहार करते हुए 'सर्व सत्त्वान् हित सुखाय' तीर्थंकरों के द्वादश शांग में निहित सिद्धान्तों का निरन्तर प्रचार किया। उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम ने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के गणधरों की भाँति ही, अपने गुरु तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का सार द्वादशाङ्ग श्रुत के रूप में संकलित किया अर्थात् उसे बारह अङ्गों और चौदह प्रकीर्णकों में विभाजित किया। प्रत्येक अंग में भी कई उपविभाग हैं, विशेषकर बारहवें दृष्टिप्रवाह अंग के पाँच विभाग हैं:—जिनमें एक का नाम 'पूर्व' है। पूर्वों की संख्या 14 है। इस प्रकार द्वादशाङ्ग श्रुत को बहुधा 'ग्यारह अङ्क-चौदह पूर्व' भी कहते हैं। बारहवें अंग का ही एक अन्य भेद 'प्रथमानुयोग' है जिस पर समस्त जैन पुराण साहित्य आधारित है। ये अङ्ग पूर्व विधिवत् 'वस्तुओं', 'अधिकारों' और 'प्राप्तियों' में विभाजित हैं। यही भाषाबद्ध मूल जिनागम या जैन धार्मिक साहित्य है। सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी गुणों से विशिष्ट तीर्थंकरों द्वारा उपदेशित और परम जानी-ध्यानी तपस्वी गणधरों द्वारा गुंथित एवं संकलित जिनागम या द्वादशाङ्ग श्रुत में सम्पूर्ण मानवी आध्यात्मिक ज्ञान का सार समन्वित है। गौतमादि गणधरों के पश्चात् वह आगम ज्ञान या जैन श्रुत साहित्य गुरु-शिष्य परम्परा में मौखिक द्वार से प्रवाहित हुआ और लगभग सात शताब्दियों तक मौखिक प्रवाह की इस

परम्परा को पूर्ण सभ्रम ज्ञानी-ध्यानी तपस्वी विघ्नान्याचार्यों ने सुरक्षित बनाये रखा।

मौखिक द्वार से गुरु-शिष्य परम्परा में श्रुतज्ञान का प्रवाह तो चलता रहा, किन्तु अनेक कारणों से, चौथी शती ईसा पूर्व के मध्य के उपरान्त उसके विस्तार में द्रुतवेग से ह्रास होने लगा, मतभेद और पाठभेद भी उत्पन्न होने लगे। अतएव दूसरी शती ईसापूर्व के मध्य के लगभग कलिंग चक्रवर्ती महाभेदवाहन खारवेल की प्रेरणा से मथुरा के जैन संघ के आचार्यों ने श्रुत संरक्षण की भावना से सरस्वती अन्दोलन चलाया, जिसका प्रधान उद्देश्य आगम साहित्य को पुस्तकारूढ़ करना तथा धार्मिक पुस्तक प्रणयन था। ज्ञान की अधिष्ठात्री पुस्तकधारिणी सरस्वती देवी को उक्त आन्दोलन का प्रतीक बनाया गया। फलस्वरूप ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आसपास दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द, लोहार्य, शिवार्य आदि ने परम्परागत श्रुत के आधार से पाहुड़ आदि ग्रन्थ रचे, और गुणधराचार्य एवं धरसेनाचार्य ने तथा उनके सुयोग्य शिष्यों आचार्य आर्यमंक्षु, नागहस्ति, पुष्पदन्त, भूतबलि आदि ने अवशिष्ट आगमों के महत्वपूर्ण अंशों का उपसंहार करके उन्हें पुस्तकारूढ़ किया। उमास्वाति, विमलसूरि, समन्तभद्र, यतिवृषभ आदि अन्य कई आचार्यपुंगवों ने भी धार्मिक साहित्य के त्रिविध अंगों का आगमाधार से प्रणयन किया।

इस काल में जैन संघ दो भागों में विभक्त हो चुका था। दिगम्बर आम्भना के मुनि स्वयं को मूलसंधी कहते

थे। दूसरी शाखा जो कालान्तर में श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध हुई वह अपनी परम्परा में सुरक्षित अवशिष्ट श्रुतागम को ही मान्य करती थी। उसने भी उसकी वाँचना एवं संकलन करने का प्रयास किया। अतएव उसमें एक-एक करके आगमों की तीन वाँचनाएँ हुई—दो मथुरा में और एक वल्लभी में। सौराष्ट्र के वल्लभी नगर में आचार्य देवद्विगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में, पाँचवी शती ईस्वी के मध्य के लगभग सम्पन्न तीसरी वाँचना में ही इस परम्परा में सुरक्षित आगमों का संकलन एवं लिपिबद्धीकरण हुआ। यह भी मूल द्वादशांग श्रुत का अत्यन्त अल्पांश ही था। तथापि, आगमों के इस प्रकार पुस्तकारूढ़ होने से उन पर रचे जानेवाले नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका आदि अत्यन्त विपुल व्याख्या साहित्य के लिए द्वार उन्मुक्त हो गया। त्रिविध विषयक, विभिन्न भाषाओं और शैलियों में अनगिनत स्वतन्त्र रचनाएँ भी रची जाने लगीं, और उभय सम्प्रदाय के मनीषी आचार्य जैन भारती के भंडार को उत्तरोत्तर समृद्ध से समृद्धतर करते गये।

अस्तु, जैन धार्मिक साहित्य के आद्य प्रस्तोता तो ऋषभादि-महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर भगवान हैं, उनके बाद गीतमादि गणधर भगवान और भद्रबाहु प्रभृति श्रुतकेवलि हैं, और अन्त में कुन्दकुन्दादि-देवद्वि पर्यन्त श्रुतधर आचार्य पुंगव हैं।

प्राचीन जैन राम-साहित्य में सीता

डा० लक्ष्मणरायण दुबे

जैन राम-साहित्य :

जैन वाङ्मय में विपुल रामकथा तथा राम काव्य मिलता है । जैन रामकथा सामान्यतया आदिकवि वाल्मीकि से प्रभावित है । जैन राम-साहित्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा कन्नड़ में मिलता है यह इसका पुरातन रूप है ।

विमल सूरि की परम्परा में निम्नलिखित साहित्य मिलता है :—

प्राकृत में चार ग्रन्थ लिखे गये जिनमें सीता का चरित्र-चित्रण सम्यकरूपेण मिलता है—विमल सूरि का पद्मचरियं, श्रीलाचार्य की रामलक्षणचरियम् भद्रेश्वर की कहावती में रामायणम् और भुवनतुंग सूरि का रामलक्षणचरिय । संस्कृत में रवि-लेख के पद्मचरित आचार्य हेमचन्द्र के जैन रामायण, जिनदास के रामदेव पुराण, पद्मदेव विजयगणि के रामचरित, सोमसेन के रामचरित, आचार्य सोमप्रभकृत लघुत्रियशलाकापुरुष चरित, मेघविजय गणिवर के लघुत्रियष्टिशलाकापुरुष चरित्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । अपभ्रंश में स्वयंभू का पद्मचरित, रङ्गू का पद्मपुराण आदि प्रसिद्ध हैं । कन्नड़ में नागचन्द्र के रामचन्द्र चरित पुराण, कुमुन्देन्दु के रामायण, देवध के रामविजयचरित, देवचन्द्र के रामकथावतार और चन्द्रसागर के जिन रामायण को विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

जैन सीता-साहित्य :

इसी परम्परा में सीता को लेकर भी कतिपय काव्य लिखे गये थे जो कि विशेष उल्लेखनीय हैं—भुवनतुंग सूरि का सीताचरिय (प्राकृत), आचार्य हेमचन्द्र का सीता रावण कथानकम् (संस्कृत), ब्रह्म-नेमिदत्त, शांत सूरि और अमरदासकृत सीताचरित्र (संस्कृत); हरिषेण का सीताकथानम् । हरितमल्ल ने 'मैथिली-कल्याण' नामक नाटक संस्कृत में लिखा था ।

जैन-रामकथा की द्वितीय परम्परा के जनक गुण-मद्र थे जिनका 'उत्तर पुराण' और कृष्णदास कवि कृत 'पुण्य चन्द्रोदय पुराण' संस्कृत में लिखा गया । प्राकृत में पुष्पदन्त का तिसट्ठी-महापुरिस गुणालंकार और कन्नड़ में चामुण्डराय का त्रिषष्टि शलाकापुरुष पुराण लिखा गया ।

जैन-रामकथा में विमल सूरि की परम्परा को अधिक प्रश्रय मिला है। यह श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रचलित है, परन्तु गुणभद्र की परिपाटी सिर्फ दिगम्बर सम्प्रदाय में ही मिलती है।

काव्य के अतिरिक्त सीता को लेकर नाटक-साहित्य तथा कथा-साहित्य में भी लिखा गया।

जैन कवि हस्तिमल्ल ने सन् 1290 के आसपास संस्कृत में 'मैथिली कल्याण' लिखा जिसका विवेच्य विषय शृंगार है। इसके प्रथम चार अंकों में राम और सीता के पूर्वानुराग का चित्रण मिलता है। वे मिलन के पूर्व कामदेव मंदिर तथा माधवी वन में मिलते हैं। तृतीय तथा चतुर्थ अंक में अभिसारिका सीता का वर्णन मिलता है। पंचम तथा अंतिम अंक में राम-सीता के विवाह का वर्णन है।

संघदास के 'वसुदेवहिण्डि' में जैन महाराष्ट्रीय गद्य जो रामकथा मिलती है उसमें सर्वप्रथम सीता का जन्मस्थल लंका माना गया है। वह मंदोदरी तथा रावण की पुत्री है परन्तु परित्यक्त होकर राजर्षि जनक की दत्तक पुत्री बन जाती है। सीता स्वयंवर में सीता अनेक राजाओं में से राम का चयन एवं वरण करती है। संघदास ने गुणभद्र को भी प्रभावित किया था क्योंकि 'उत्तर पुराण' में रावण की वंशावली एवं सीता की जन्म-गाथा पर्याप्त रूप में 'वसुदेवहिण्डि' से सादृश्य रखती है।

कालक्रमानुसार प्राचीन जैन-राम-साहित्य के प्रमुख स्तम्भ निम्नलिखित महाकवि थे :—

(क) विमल सूरि—'पउमचरिय' (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई.) (प्राकृत)

(ख) रविषेण—'पद्मचरित' (660 ई.) प्राचीनतम जैन संस्कृत ग्रन्थ (संस्कृत)

(ग) स्वयंभू—'पउमचरिउ' या 'रामायण पुराण' (अष्टम शताब्दी ई.) (अपभ्रंश)

(घ) गुणभद्र—'उत्तर पुराण' (नवम शताब्दी ई.) (संस्कृत)

उपरिलिखित ग्रन्थों में सीता के चरित्र के विविध पक्षों का सम्यक उद्घाटन मिलता है।

विमल सूरि और गुणभद्र की सीता :

विमल सूरि ने सीताहरण का कारण इस प्रकार विवेचित किया है—शम्बूक ने सूर्यहास खंग की प्राप्ति के हेतु द्वादश वर्ष की साधना की थी। खंग के प्रकट होने पर लक्ष्मण उसे उठाकर शम्बूक का मस्तकोच्छेदन कर देते हैं। चन्द्रनखा पुत्र वियोग में विलाप करती है। वह राम-लक्ष्मण की पत्नी बनना प्रस्तावित करती है। लक्ष्मण खरदूषण की सेना को रोक देते हैं। रावण सीता पर मुग्ध हो जाता है। वह अवलोकनी विद्या से जान लेता है कि लक्ष्मण ने राम को बुलाने हेतु मिहनाद का संकेत निश्चित किया है। इसलिए वह युक्ति पूर्वक मिहनाद करके सीता से लक्ष्मण को पृथक् कर सीताहरण करने में सफल हो जाता है।

'पउम चरिय' के छियत्तरवें पर्व में लंका में श्री राम प्रविष्ट होकर सबसे पहले सीता के पास जाते हैं। दोनों का मिलन देखकर देवगण फूल बरसाते हैं और सीता में निष्कलंक तथा पुनीत सात्विक चरित्र का साक्ष्य देते हैं। इस ग्रन्थ में श्रीराम की किसी शंका या सीता की अग्नि परीक्षा का कोई उल्लेख नहीं है।

'उत्तर पुराण' में भी राम परीक्षा के बिना सीता को स्वीकार करते हैं। सीता अनेक रानियों के साथ दीक्षा लेती है। अंत में सीता को स्वर्ग मिलता है।

स्वयंभू की सीता :

स्वयंभू के 'पउमचरिउ' में प्रारम्भ में सूक्त सीता के दर्शन होते हैं। सागरवृद्धि भट्टारक तथा ज्योतिषी

सीता के कारण रावण एवं राक्षसों के विनाश की भविष्यवाणी कर देते हैं—

तेहि हणेवउ रबखु महारणे ।
जगय-णराहिव-तणयहें कारणे ।
और
आयहे कणहें कारणेण होइस ।
विणासु बहु-रक्तसहुं ॥

वन में सीता के चरित्र का विकास मौन रूप में होता है। सीता युद्धों के विपरीत है—

कर चलण-देह-सिर-खण्डणहुं ।
णिविण माए हउं भण्डणहुं ॥
हउं ताएँ दिण्णी केहाहुं ।
कलि-काल-कियन्तहुं जेहाहुं ॥

सीता-हरण के समय वह अपने को बड़ी अभागिनी मानती है—

को संथवई मई को सुहि कहीं दुखहु महन्तउ ।
जहि जहि नामि हउं तं तं जि पएसु पलित्तउ ॥

रावण के प्रलोभनों तथा उपसर्गों से सीता का हिमालय जैसा अचल और गंगा जल जैसा पवित्र चरित्र रंचमात्र भी विचलित नहीं हो पाया। सीता अग्नि परीक्षा में सफल होती है—

कि किजइ अण्णइं दिव्वे,
जेण विसुज्झहो महु मणहो ।
जिह कणय-लालि डाहुत्तर,
अच्छणि मज्जे हुआरहण हो ॥

अंत में सीता का विरागी मन स्त्री न बनने की घोषणा कर देता है—

एवाहि तिह करेमि पुणु रहुवइ ।
जिह ण हीमि पडिवारी तियमइ ॥

स्वयं भू ने सीता के चरित्र को अनुपम तथा दिव्य स्वरूप प्रदान किया है।

जैन-राम-साहित्य में सीता-निर्वासन प्रसंग :

राम-कथा के समान सीता-निर्वासन के आख्यान को भी प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय महर्षि वाल्मीकि को है।

गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' में सीता-त्याग की कोई चर्चा नहीं मिलती। इसकी शृंखला में महाभारत, हरिवंश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण, नृसंह पुराण और अनायक जातक भी आते हैं जिनमें सीता-निर्वासन-आख्यान का अभाव है। परन्तु सीता-त्याग को अधिकांश जैन-राम-साहित्य स्वीकार करता है।

सीता-निर्वासन के मुख्य चार कारण थे—

(क) लोकात्पवाद—जैन-राम-साहित्य में इसका प्रतिपादन विमल सूरि के 'पउम चरियं' तथा रविवेण के 'पद्म चरित' में मिलता है। स्वयंभू ने अपने महाकाव्य 'पउम चरित' में इसकी पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए लिखा है : अयोध्या की कतिपय पुद्गली नारियों ने अपने पतियों के समक्ष यह तर्क किया कि यदि इतने दिनों तक रावण के यहाँ रहकर आनेवाली सीता राम को ग्राह्य हो सकती है तो एक-दो रात अन्यत्र वित्त-कर उनके घर लौटने में पतियों को आपत्ति क्यों हो ?—इस चर्चा को लेकर नगर में सीता-विषयक प्रवाद फैलता है—

पर-पुरिसु रमेवि दुम्भहिलउ,
देति पडुत्तर पह-यणहो ।
कि रामण भुजइ जणय-सुय,
वरिसु वसेवि धरे रामण हो ॥

राम कुल की मर्यादा के कारण सीता को निष्कासित कर देते हैं। 'पउम चरित' अनेक मार्मिक तथा भाव-प्रवण प्रसंगों से परिपूर्ण है परन्तु सीता-त्याग का

प्रसंग सर्वाधिक कारुणिक और विदग्ध है। विभीषण सीता के पवित्र चरित्र की निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। लंका से त्रिजटा आकर गवाही देती है। अंत में सीता की अग्नि परीक्षा होती है। दूसरे दिन जब सीता को सबेरे सभा में लाकर आसन पर बिठाया जाता है, तब सीता वर आसन पर संस्थित ऐसी शोभायमान होती है जैसे जिन आसन पर शासन-देवता—

सीय पद्म णिवट्ठ वरासणे ।
सासण देवए जं जिण-सासणे ॥

प्रखर तथा स्पष्टवादिनी सीता का, शंकालु तथा नारी-चरित्र की भर्त्सना करनेवाले श्री राम को कितना आत्माभिमानपूर्ण एवं सतेज उत्तर है कि गंगा जल शेंदला होता है, फिर भी सब उसमें स्नान करते हैं। चन्द्रमा सकलंक है, लेकिन उसकी प्रभा निर्मल, मेघ काला होता है परन्तु उसमें निवास करनेवाली विद्युत्छटा उज्ज्वल। पाषाण अपूज्य होता है, यह सर्व-विदित है परन्तु उससे निर्मित प्रतिमा में चन्दन का लेप लगाते हैं। कमल पंकु से उत्पन्न होता है लेकिन उसकी माला जिनवर पर चढ़ती है, दीपक स्वभाव से काला होता है लेकिन उसकी शिखा भवन को आलोकित करती है। नर तथा नारी में यही अन्तर है जो वृक्ष और बेल में। बेल सूख जाने पर भी वृक्ष को नहीं छोड़ती—

साणुण केण वि जणेण गणिज्जइ ।
गंगा णइहि तं जि ण हाइज्जइ ॥
ससि बलंक तहि जि प्ह णिम्मल ।
कालउ मेहु तहि जे तणि उज्जल ॥
उवलु अपुइजु ण केण वि छिप्पइ ।
तहि जि पडिप चन्दणेण विलिप्पइ ॥
धुज्जइ पाउ पंकु जइ लग्गइ ।
कमल-भाल पुणु जिणही बलग्गइ ॥

दीवउ होइ सहावें कालउ ।
वट्टि-सिहए मण्डिज्जइ आलउ ॥
णर णारिहि एवड्डउ अन्नउ ।
मरणे विवेल्लिण मेल्लिय तरुवर ॥

अंत में सीता तपश्चारण के लिए प्रस्थित हो जाती है। स्वयंभू ने सीता के चरित्र को सम्बेदनशीलता से आपूर्ण कर दिया है। वह पाठकों की दया, सम्बेदना तथा सहानुभूति की अधिकारिणी बन जाती है।

स्वयंभू के पूर्व विमल सूरि, रविषेण तथा आचार्य हेमचन्द्र ने सीता-त्याग के प्रसंग का सम्यक प्रतिपादन किया है।

'पउम चरिय' के पूर्व 92 94 में सीता-त्याग का विस्तृत वर्णन मिलता है। लंका से लौट आने के समय भी जनता के अपवाद की चर्चा मिलती है। श्री राम स्वतः गर्भवती सीता को वन में विभिन्न जैन चैत्यालय दिखला रहे थे कि अयोध्या के अनेक नागरिक उनके पास आए और अभयदान पाकर उन्होंने अपने आगमन का निमित्त निरूपित किया। उनसे श्री राम को सीता का अपवाद विदित होता है और वे अपने सेनापति कृतांतवदन को जिन-मंदिर दिखलाने के बहाने सीता को गंगा पार के वन में छोड़ आने का आदेश देते हैं। संयोग से वन में पुण्डरीकपुर के नरेश वज्रजंघ ने सीता का करुण क्रन्दन सुन लिया जिस पर वह उन्हें अपने भवन में ले आया और उसके यहाँ सीता के दो पुत्र हुए।

'पद्मचरित' के छिथान्नवे पर्व में सीता के ग्रहण स्वरूप दुष्परिणामों में प्रजा का मर्यादाविहीन स्वरूप और नारियों का हरण, प्रत्यावर्तन तथा उनकी स्वी-कृति बतलाई गयी है।

'योगशास्त्र' (द्वादश शताब्दी) में सीता निर्वाहन के तदन्तर एक घटना का वृत्तांत मिलता है। तदनुसार श्री राम अपनी भार्या के अन्वेषण में वन गये हुए थे

किन्तु सीता कहीं नहीं मिल पायी। राम ने यह विचार करके कि सीता किसी हिंसक पशु द्वारा समाप्त हो चुकी है, अतएव, उन्होंने परावर्तित होकर सीता का श्राद्ध किया।

(ख) धोबी का आख्यान :

जैन-राम-साहित्य में इसकी चर्चा नहीं मिलती।

(ग) रावण का चित्र :

इस वृत्तांत को प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम एवं प्राचीनतम श्रेय जैन-राम-साहित्य को है।

हरिभद्र सूरि के (अष्टम शताब्दी) उपदेश पद में सीता द्वारा रावण के चरणों के चित्र निमित्त करने का सूत्र मिलता है। टीकाकार मुनिचन्द्र सूरि (द्वादश शताब्दी) के कथानानुसार सीता ने अपनी ईर्ष्यालु सपत्नी के प्रोत्साहन से रावण के पैरों का चित्र बनाया था। इस पर सपत्नी ने राम को यह चित्र दिखला दिया दिया और उन्होंने सीता का त्याग कर दिया।

भद्रेश्वर की 'कहावली' (एकादश शताब्दी) में यह आख्यान आया है कि सीता के गर्भवती हो जाने पर ईर्ष्यालु तथा द्वेषमयी सपत्नियों के आग्रह पर सीता ने रावण के पैरों का चित्र निमित्त किया जिसे उन्होंने सीता द्वारा रावण के स्मरण के प्रमाण स्वरूप राम के समक्ष उपस्थित कर दिया। राम ने इसकी उपेक्षा करदी। सीता ने रावण चित्र का किस्सा दासियों के द्वारा जनता में फैला दिया। तत्पश्चात् राम गुप्त वेष धारण कर नगरोद्यान में गये जहाँ उन्होंने अपनी इस हेतु निंदा सुनी। गुप्तचरों ने भी लोकापवाद की चर्चा की। राम का निर्देश पाकर कृतांतवदन तीर्थयात्रा के बहाने सीता को वन में छोड़ आया। उसके बाद राम ने लक्ष्मण एवं अन्य विद्याधरों के साथ विमान में चढ़कर सीताम्बेक्षण किया

परन्तु उन्हें न पाकर यह समझ लिया कि वे किसी हिंसक जानवर का ग्रास बन गई हैं।

हेमचन्द्र के 'जैन रामायण' (द्वादश शताब्दी) में भी यही गाथा है। नागरिकों ने भी सीता के लोकापवाद की चर्चा की जिसे राम ने ठीक पाया।

देवविजयगणि के 'जैन रामायण' (सन् 1594) में नारियाँ राम से शिकायत करती हैं कि सीता रावण के चरणों की पूजा-अर्चना करती है—

स्वामिन् एषा सीता रावण मोहिता रावणांही
भूमौ लिखित्वा पुष्पादिभिः पूजयति ॥

जैन रावण-चित्र-कथा का भारतीय रामायणों पर प्रभाव :

जैन राम-साहित्य में आयी, सीता द्वारा रावण के चित्र के निर्माण की घटना का भारतीय रामायणों पर व्यापक प्रभाव पड़ता दिखलायी देता है।

बंगाल में कृतिवास ओझा द्वारा लिखित रामकथा 'कृतिवास रामायण' या 'श्रीराम पांचाली' (पन्द्रहवीं शताब्दी का अंत) में सखियों से प्रेरित होकर सीता रावण का चित्र खींचती है।

सिक्खों के दशमेश गुरु गोविन्दसिंह ने 'रामावतार कथा' या गोविन्द 'रामायण' (सन् 1668) में रावण-चित्र के कारण राम के सीता पर सदेह होने का वृत्तांत मिलता है।

संस्कृत की 'आनन्द रामायण' (पन्द्रहवीं शताब्दी) के तृतीय सर्ग में कंकयी के आग्रह पर सीता रावण के सिर्फ अँगूठे का चित्र बनाती है जिसे कंकयी पूरा करती है, और राम को बुलाकर नारी-चरित्र की आलोचना करती है—

यत्र-यत्र मनोलम्भं स्मर्यते हृदि तत्सदा ।
स्त्रियाश्च चरित्रं को वेत्ति शिवाद्या मोहिताः
स्त्रिया ॥

‘काश्मीरी रामायण’ अथवा ‘रामावतार चरित’ (अष्टादशवीं शताब्दी) में दिवाकर भट्ट ने रावण के चित्र के ही कारण सीता-त्याग को चरितार्थ होते निरूपित किया है। राम की सगी बहिन सीता से चित्र बनवाती है।

नर्मदा द्वारा रचित गुजराती रामायण ‘रामायण-नोसार’ (उन्नीसवीं शताब्दी) के अनुसार राम सीता को रावण का चित्र खींचते हुए और अपनी दासी से रावण का वृत्तांत कहते हुए सुनते हैं।

जैन हिन्दी रामकथा ‘पद्म पुराण’ (सन् 1661) में दौलत राम ने भी रावण के चित्र का उल्लेख किया है।

सम्राट जहाँगीर के समय में मुल्ला मगीह या सादुल्लाह कौरानवी तख्तलुस मसीह ने फारसी में लिखित ‘रामायण मसीही’ अथवा ‘हदीस-इ-राम-उ-सीता’ के अनुसार राम की बहिन ने सीता से रावण का चित्र खिचवाकर कहा कि सीता रात-दिन इस चित्र की पूजा करती है।

जैन रावण चित्र-कथा का लोकगीतों पर प्रभाव :

इस मूलस्रोत को हमारे लोकगीतों ने भी स्वीकार किया है। लोकगीतों में सीता-परित्याग की घटना का अत्यन्त भासिक वर्णन तथा सीता का चरित्र-चित्रण मिलता है। एक अवधी सोहर लोकगीत में नन्द के कहने से सीता ने रावण का चित्र बनाया था—

नन्द भोजाई दुइनों पानी गयीं अरे पानी गयीं ॥
भोजी जौन खन लुम्हें हरि लेइ ग उरेहि देखावहु हो ॥
जोमें खना उरेहों उरेहि देखावउं, उरेहि देखावउना ॥
ननरी सुनि पढ़ै बिरना तोहार तौ देसवा निकरि हैं हो ॥
लाख दोहइया राजा दशरथ राम मथवा छुवौ,
राम मथवा छुवौना ॥
भोजी लाख दोहइया लछिमन भइया जौ भइया बतावउं हो

मार्गों न गांम गंगुलिया गंगाजल पानी, गंगाजल पानी हो
ननवी समुहे कै ओबरी लियावउ तौ खना उरेहों हो ॥
मागिन गांग गंगुलिया गंगाजल पानी, गंगाजल पानी हो
हेइ हो, समुहें कै ओबरी लिपाइन तौ खना उरेहें हो ॥
हथवा उरेहों सीता भोजवा उरेहों अवर उरेहों दुइनों
आखि ॥
हेइ हो, आइ गये मिरराम आंचर छोरि मूँदिनि हो ॥

लोकगीतों में सर्वत्र सीता-परित्याग का कारण रावण के चित्र का निर्माण ही बताया गया है। सीता पहले से ही चित्रकला विभारदा थी और लोकगीतों में विवाह के पूर्व भी कई स्थलों पर सीता के चित्रकला प्रावीण्य का वृत्तांत मिलता है। अतएव, लंका से लौटने के बाद सीता के द्वारा रावण के चित्र के निर्माण में कोई अस्वाभाविकता आती प्रतीत नहीं होती। एक भोजपुरी लोकगीत सोहर में भी इसी भावना की परम पुष्टि मिलती है—

राम अवर लछुमन भइया,
आरे एकली बहिनियाँ हइहों की।
ए जीवा रामजी बइठेले जेवनखा,
बहिन लइया लखे रे की ॥
ए भइया भोजी के दना बनवसवा,
जिनि खना उरेहे ले की।
जिनि सीता भूखा के भोजन देली,
और लागा कै बहतरवा ॥
होनी से हो सीता गहुवाइ रे आसापति,
कइसे वनवासिन हो कि ॥

इसी प्रकार एक बुन्देली लोकगीत में भी सीता-निर्वासन का कारण रावण के चित्र का निर्माण है—

चौक चंदन बिन आंगन सूनी कोयल बिन अमराई।
रामा बिना मोरी सूनी अजोध्या लछुमन बिन ठकुराई ॥
सीता बिना मोरी सूनी रसोइया कौन करे चतुराई।
आम इमलिया की तन्हीं नन्हीं पतियाँ, नीम की शीतल छाई ॥

ओई तरें बैठी ननद भोजाई कर रही रावन की बात ।
 जौन खना भोजी तुमें हर लेगव हमें उरेइ बताव ।
 रावन उरे हों जबई बारी ननदी घर में खवर न होय ।
 जो सुन पाहें बीरन तुम्हारे घर में दैय निकाव ।
 राम की सौगंध लखन की सौगंध दसरथ लाख दुहाई ।
 हमारी सौगंध खाओ बारी ननदी तुमको कहा घट जाई ।
 अपनी सौगंध खात हों भोजी, सिजिया पावन देऊ ।
 सुरहन गऊ के गोवर मगाओं बैया मिटिया देव लिपाई ।
 हाथ बनाये, पांव बनाये और बत्तीसई दांत ।
 ऊपर को मस्तक लिखन नहिं पाओ, आ गए राजाराम ।
 ल्याव ने बैया पिछीरिया लिखना देव लुकाय ॥

जैन रावण चित्र-कथा का विदेशी रामकाव्य पर प्रभाव :

जावा के 'सूरत काण्ड' में कैंकयी स्वतः सीता के पंखे पर रावण का चित्र अंकित करती है और सुषुप्ता-वस्था में सोन सीता के पर्यंक पर रख देती है । 'हिकायत सेरी राम' में कीकवी देवी भरत-शत्रुघ्न की सहोदरी है । सीता ने कीकवी देवी के आग्रह के कारण पंखे पर रावण का चित्र खींच दिया । कीकवी ने उसे सीता के वक्षस्थल पर रख दिया और यह आक्षेप किया कि सोने के पूर्व सीता ने उस चित्र का चुम्बन किया था । राम ने कीकवी पर विश्वास कर लिया ।

हिन्देमिया के 'हिकायत महाराज रावण' में यह वृत्तांत आया है कि रावण वध के उपरान्त राम को लंका में रहते सात माह हो गये । रावण की पुत्री अपने पिता का चित्र सीता की छाती पर रख देती है । सीता निद्रावस्था में उस चित्र का चुम्बन करती है, उसी क्षण राम उनके पास आते हैं और उस दृश्य को देखकर राम आग बबूला हो जाते हैं ।

हिन्दचीन अर्थात् हमेर-वाङ्मय की सर्वाधिक सशक्त कृति 'रामकैति' (सत्रहवीं शताब्दी) है । इसके पंचहत्तरवें सर्ग में अतुल्य राक्षसी सीता की सखी बन-

कर उससे रावण का चित्र अंकित कराती है और इस चित्र में प्रविष्ट हो जाती है । इसके परिणामस्वरूप सीता प्रयास करने के बाद भी उस चित्र को मिटा नहीं पाती है, और अंततः हताश होकर पलंग के नीचे उसे छिपा देती है । तदुपरांत राम के इस पलंग पर लेट जाने पर उनको तेज बुखार हो आता है । जब उन्हें उस चित्र का पता चलता है तो वे लक्ष्मण को सीता को वन में ले जाकर मार डालने का आदेश देते हैं ।

श्यामदेश की रचना 'राम कियेन' में अबुल नामक शूर्पणखा की पुत्री सीता से रावण का चित्र अंकित करवाती है और तत्पश्चात् इसी चित्र में प्रवेश कर जाती है जिससे सीता उसे मिटा नहीं पाती है ।

श्याम के उत्तर पूर्वीय प्रांतों के लाखो भाषा में सोलहवीं शताब्दी में 'राम जातक' की रचना हुई थी जिसमें भी रावणचित्र के कारण सीता-त्याग होता है ।

लाओस के 'ब्रह्मचक्र' या 'पोम्पनका' में शूर्पणखा स्वतः छद्मवेश में सीता के पास आकर उनसे चित्र बनवा लेती है ।

थाईलैण्ड की 'थाई रामायण' में भी इसी चित्र की पर्याप्त चर्चा है ।

सिंहली रामकथा में उमा सीता के पास आकर उनसे केले के पत्ते पर रावण का चित्र अंकित करवाती है । अकस्मात् राम के आगमन पर सीता इस चित्र को पलंग के नीचे फेंक देती है । राम उस पलंग पर बैठ जाते हैं और पलंग कांपने लगता है । कारण विदित होने पर राम अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं ।

रावण के चित्र का मूल उत्स जैन-साहित्य है जिसने विदेशों में जाकर बड़ा उग्र तथा विशिष्ट रूप धारण कर लिया है ।

(घ) परोक्ष कारण—

‘पउम चरियं’ के पूर्व 103 में यह कथा आयी है कि सीता ने अपने पूर्व जन्म में मुनि सुदर्शन की बुराई की थी और इसके परिणामस्वरूप वह स्वयं लोकापवाद की पात्र बन गयीं।

समाकलन :

सम्पूर्ण जैन राम-साहित्य सीता की विभिन्न छबियों तथा बिम्बों से परिपूर्ण है। उनको जैन कवियों ने अपने धर्म-सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त के अनुसार गढ़ने का सफल प्रयास किया है। भारतीय वाङ्मय को जैन राम-साहित्य का यह अप्रतिम प्रदेय है कि उसने सीता को धरती-पुत्री के समान ही आकलित किया।

हिन्दी की जैन-राम-कथा की मध्यकालीन परम्परा में मुख्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं:—

- (क) मुनिलावण्य की ‘रावण मन्दोदरी सम्वाद’।
- (ख) जिनराजसूरी की ‘रावण मन्दोदरी सम्वाद’ और
- (ग) ब्रह्मजिनदास का ‘रामचरित’ या ‘रामरस’ और ‘हनुमंत रस’।

इनमें सीता के चरित्र के अनेक उज्ज्वल तथा सरस पार्श्वों को सफलतापूर्वक उद्घाटित किया गया है।

जैन-आचार्यों का

संस्कृत काव्यशास्त्र

में योगदान

डा० अमरनाथ पाण्डेय

संस्कृत-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में जैनों का योगदान रहा है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी उनकी सेवा महनीय है। ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की सूक्ष्म परीक्षा की है और

अनेक उद्भावनायें प्रस्तुत की हैं। यहाँ संक्षेप में इन आचार्यों के योगदान की चर्चा की जा रही है।

हेमचन्द्र¹ ऐसे जैन-आचार्य हैं, जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इन्होंने अपनी सेवा और साधना से विद्वत्परम्परा की सर्जना की। इनका जन्म 1090 ई. में गुजरात प्रान्त के धुन्धुका ग्राम में वैश्य वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम चर्चिभ और माता का नाम चाहिणी या पाहिणी था। दीक्षित होने के पहले इनका नाम चङ्गदेव था। इन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में देवचन्द्रसूरि से जैन-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इक्कीस वर्ष की अवस्था में 'सूरि' पद प्राप्त होने पर ये 'हेमचन्द्र' नाम से प्रसिद्ध हुए।

जयसिंह सिद्धराज (1093-1143 ई.) और कुमारपाल (1143-1173 ई.) से आचार्य हेमचन्द्र को अत्यधिक सम्मान मिला था। हेमचन्द्र के अनेक योग्य शिष्य थे, जिनमें रामचन्द्र, गुणचन्द्र, वर्धमानगणि, महेन्द्रसूरि, देवचन्द्रमुनि, यशश्चन्द्रगणि आदि थे। हेमचन्द्र ने व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनका काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इस पर लेखक की अपनी टीका है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र (गद्य), वृत्ति और उदाहरण। सूत्रभाग का नाम काव्यानुशासन, वृत्तिभाग का नाम अलङ्कारचूडामणि

-
1. हेमचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान के लिए द्रष्टव्य—प्रभाचन्द्र विरचित प्रभावकचरित, मेस्तुङ्गसूरि विरचित प्रबन्धचिन्तामणि, राजशेखरसूरि विरचित प्रबन्धकोष, सोमप्रभसूरि विरचित कुमारपालप्रतिबोध, बूलर—कृत 'लाइफ ऑफ हेमचन्द्र' आदि।

तथा उदाहरणभाग का नाम विवेक है। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रथम में काव्य के उद्देश्य, हेतु आदि, द्वितीय में रस, तृतीय में दोष, चतुर्थ में गुण, पञ्चम में शब्दा-लङ्कार, षष्ठ में अर्थालङ्कार, सप्तम में नायक-नायिका के गुण और प्रकार तथा अष्टम में दृश्य और श्रव्य काव्य के भेदोपभेदों तथा लक्षणों का निरूपण हुआ है।

काव्यानुशासन के अतिरिक्त इनके ग्रन्थ सिद्धहेम-शब्दानुशासन, वादानुशासन, धातुपारायण, छन्दोऽनुशासन, द्रव्याश्रय महाकाव्य, सप्तसन्धान महाकाव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रमाणमीमांसा आदि हैं।

हेमचन्द्र के शिष्यों में रामचन्द्र और गुणचन्द्र प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। रामचन्द्र के जीवन का अन्त दुःखमय था, क्योंकि ये अन्धे हो गये थे। जयसिंह सिद्धराज ने रामचन्द्र को 'कविकटारमल्ल' उपाधि से अलङ्कृत किया था। रामचन्द्र-न्याय, व्याकरण और नाट्य में निष्णात थे। उन्होंने रघुविलास की प्रस्तावना में अपने को 'विद्यात्रयीचण' कहा है—

'पञ्चप्रबन्धमिषपञ्चमुखानकेन
विद्वन्मनःसदसि नृत्यति यस्य कीर्तिः।'

विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्यतन्त्रं
कस्तं न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम् ॥

रामचन्द्र 'प्रबन्धशतकर्त्ता' के रूप में प्रसिद्ध है। इनकी 39 कृतियों का पता चलता है, जिनमें नाट्यदर्पण, नलविलासनाटक, निर्भयभीमव्यायोग, सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, कुमारविहारशतक, कौमुदीमित्राणन्द आदि प्रमुख हैं।²

रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण की रचना की है। नाट्यदर्पण चार विवेकों में विभक्त है। इसमें कारिकाएँ हैं और उन पर ग्रन्थकारों की विवृति है। इसमें दशरूपकों के अतिरिक्त दो संक्षीर्ण भेदों-नाटिका और प्रकरणी-का भी निरूपण हुआ है।

ग्रन्थकारों ने अनेक स्थलों पर दशरूपककार के मत का खण्डन किया है।

दशरूपककार के अनुसार नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए,³ किन्तु नाट्यदर्पण के आचार्यों के अनुसार धीरललित भी नाटक का नायक हो सकता है।⁴

दशरूपककार अमात्य को धीरप्रशान्त नायक मानते हैं।⁵ रामचन्द्र और गुणचन्द्र अमात्य को धीरोदात्त

2. नाट्यदर्पण (दिल्ली विश्वविद्यालय का संस्करण) की प्रस्तावना, पृ. 16

3. 'अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान्।
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ॥'

दशरूपक (चौ. सं.) 3/22-23

4. 'ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते, न ते मुनिनयाध्यवगाहिनः। नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकानां दर्शनात् कविसमयबाह्याश्च। नाट्यदर्पण 1/7 की विवृति।

5. अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसंश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।

दशरूपक 3/39-40

मानते हैं।⁶ वे दशरूपककार द्वारा दिये गये अमात्य के 'धीरप्रशान्त' विशेषण को ठीक नहीं मानते।

ग्रन्थकारों ने अनेक स्थलों पर धनञ्जय के मत का उल्लेख अन्ये, केचित् आदि के द्वारा किया है।

नाट्यदर्पणकारों ने मम्मट के भी मत का खण्डन किया है मम्मट ने अङ्ग-रस के अतिविस्तार को रस-दोष माना है और हयग्रीववध के हयग्रीव-वर्णन को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।⁷ नाट्यदर्पण के आचार्यों की मान्यता है कि यह वृत्त (कथा) का दोष है, रस का दोष नहीं।⁸

रामचन्द्र और गुणचन्द्र के मौलिक विचार अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। उनका परीक्षण और मूल्याङ्कन स्वतन्त्र निबन्ध का विषय हैं।

जैन-आचार्य वाग्भट (प्रथम) जयसिंह सिद्धराज के मन्त्री थे। इनका प्राकृत-नाम बाहूड था और इनके पिता का नाम सोम था—

वम्मण्डसुत्तिसम्पुडमुत्तिअमणिणो पहासमूह्व ।
सिरि बाहूड त्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ॥⁹

प्रभाचन्द्राचार्य के प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि वाग्भट ने अपने धन से जैन-मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसमें श्रीमहावीर की प्रतिष्ठा संवत् 1179 में की गयी थी—

अथास्ति बाहूडो नाम धनवान् धार्मिकाग्रणीः ।
गुरुपादान् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसी ॥
आदिश्यतामतिश्लाघ्यं कृत्यं यत्र धनं व्यये ।
प्रभुराहालये जैनं द्रव्यस्य सफलो व्ययः ॥
शतकादशके साष्टसप्तती विक्रमार्कतः ।
वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः ॥
आराधनाविधिश्चेष्टं कृत्वा प्रायोपवेशनम् ।
शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः ।
वत्सरे तत्र चंकेन पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः ।
श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स बाहूडोऽकारयन्मुदा ॥

वाग्भट का निवासस्थान अणहिल्लपट्टन बतलाया जाता है। वाग्भटालङ्कार के अधोलिखित श्लोक से वाग्भट की जैन-धर्म के प्रति श्रद्धा और आस्था प्रकट होती है—

श्रियं दिशतु वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा ।
मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली ॥¹⁰

6. 'सचिवो राज्यविस्तकः । अयं वणिग्विप्रयोर्मध्यपात्यपि धीरोदात्तः—धीरप्रशान्तौ प्रकरणे नेतारी भवत इति प्रतिपादनार्थं पृथगुपात्तः । यस्त्वमात्य नेतारम्युपगम्य धीरप्रशान्तनायकमिति 'प्रतरणं' विशेषयति, स वृद्धसम्प्रदायबन्धुः ।' नाट्यदर्पण 2।1 की विवृति ।

7. काव्यप्रकाश (अलङ्कार की टीका से समन्वित, 1950 ई.), पृ. 441 ।

8. 'केचिदत्र हयग्रीववधे हयग्रीववर्णनमुदाहरन्ति । स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायकस्याल्पवर्णनात् । तत्र हि वीरो रसः । स विशेषतो बध्यस्य गौर्यविभूत्यतिशयवर्णनेन भूष्यत इति । नाट्यदर्पण 3।23 की विवृति ।

9. वाग्भटालङ्कार (चौ. सं.), 4।147

10. वही 1।1 । इस पर देखिए—सिंहदेवगण की टीका, जिसमें उन्होंने अतिशयचतुष्टय तथा रत्नत्रय का निर्देश किया है ।

वाग्भट ने वाग्भटालङ्कार की रचना की है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं। इसमें काव्यफल, काव्योत्पत्ति, काव्यशरीर, दोष, गुण, अलङ्कार और रस के विषय में संक्षेप में विचार किया गया है। प्रथम परिच्छेद में 26 श्लोक, द्वितीय में 29 श्लोक, तृतीय में 181 श्लोक, चतुर्थ में 152 श्लोक, और पञ्चम में 33 श्लोक हैं।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने मन्वीश्वर वस्तुपाल की प्रेरणा से अलङ्कारमहोदधि की रचना 1225-26 ई. में की।¹¹ राजशेखरसूरि ने न्यायकन्दलीपञ्जिकाप्रशस्ति में नरेन्द्र-प्रभसूरि को अलङ्कारमहोदधि का कर्त्ता बतलाया है—

तस्य गुरोः प्रियशिष्यः प्रभुर्नरेन्द्रप्रभः प्रभाताद्यः ।
योऽलङ्कारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलि च ॥¹²

नरचन्द्रसूरि नरेन्द्रप्रभसूरि के गुरु थे। नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुरु की आज्ञा पर श्रीवस्तुपाल की प्रसन्नता के लिए अलङ्कारमहोदधि का निर्माण किया—

तन्मे मातिसविस्तरं कविकलासर्वस्वगर्बोद्भुरं ।
शास्त्रं ब्रूत किमप्यनन्यसदृशं बोधाय दुर्मेधसाम् ।
इत्यभ्यर्थयन्त्या प्रतीतभनसः श्रीवस्तुपालस्य ते ।
श्रीमन्तो नरचन्द्रसूरिगुरवः साहित्यतत्त्वं जगुः ॥
तेषां निदेशादथ सद्गुरुणां श्रीवस्तुपालस्य मुदे तदेतत् ।
चकार लिप्यक्षरसन्निविष्टं सूरिनरेन्द्रप्रभनामधेयः ॥

काव्यालङ्कारसूत्राणि स्वानि किञ्चिद् विवृण्महे ।
तन्मनस्तन्मर्याकृत्य विभाव्यं कोविदोत्तमः ॥¹³

अलङ्कारमहोदधि आठ तरङ्गों में विभक्त है। प्रथम में काव्यप्रयोजन आदि, द्वितीय में शब्द-वैचित्र्य, तृतीय में ध्वनिनिर्णय, चतुर्थ में गुणीभूतव्यङ्ग्य, पञ्चम में दोष, षष्ठ में गुण, सप्तम में शब्दालङ्कार और अष्टम में अर्थालङ्कार का निरूपण हुआ है।

अजितसेन ने अलङ्कारचिन्तामणि और शृङ्गार-मञ्जरी की रचना की शृङ्गारमञ्जरी छोटी रचना है। अजितसेन ने शृङ्गारमञ्जरी की रचना 1245 ई. के लगभग और अलङ्कारचिन्तामणि की रचना 1250-1260 ई. में की।¹⁴ अलङ्कारचिन्तामणि का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से 1973 ई. में हुआ है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने विस्तृत भूमिका और अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम (106 श्लोक) का नाम कविशिक्षाप्ररूपण, द्वितीय (189½ श्लोक) का नाम चित्रालङ्कारप्ररूपण, तृतीय (41 श्लोक) का नाम यमकादिवचन, चतुर्थ (345 श्लोक) का नाम अर्थालङ्कारविवरण तथा पञ्चम (406 श्लोक) का नाम रसादिनिरूपण है।

अरिसिंह तथा अमरचन्द्र की कृति काव्यकल्पलता के नाम से प्रसिद्ध है। अरिसिंह ने इसके सूत्रों की रचना

11. अलङ्कारमहोदधि (ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा सं. 1942 ई.) के अन्तिम श्लोक में ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् 1282 दिया गया है—

‘नयनवसुसूरि (1282) वर्षे निष्पन्नायाः प्रमाणमेतस्याः ।

अजनि समस्तचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पञ्चशती ॥’

इस श्लोक से ग्रन्थ का प्रमाण 4500 श्लोक ज्ञात होता है।

12. वही, प्रस्तावना, पृ. 16 ।

13. वही, 1।18.20

14. अलङ्कारचिन्तामणि की प्रस्तावना, पृ. 33-34 ।

की है और अमरचन्द्र ने वृत्ति । अमरचन्द्र ने अलङ्कारप्रबोध की भी रचना की।¹⁵ अरिसिंह और अमरचन्द्र का समय त्रयोदश शताब्दी है ।

वाग्भट (द्वितीय) नामक एक अन्य जैन-आचार्य हुए हैं । ये वाग्भटालङ्कार के कर्ता वाग्भट से भिन्न हैं । इनका समय सम्भवतः चतुर्दश शताब्दी है । इनके पिता का नाम नेमिकुमार था¹⁶ और का माता नाम वसुन्धरा । ये राधापुर में रहते थे । इन्होंने काव्यानुशासन की रचना की ।¹⁷ काव्यानुशासन वाग्भट की अलङ्कारतिलक टीका के साथ निर्णयसागर से प्रकाशित हो चुका है ।

इसके सूत्र गद्य में हैं । यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है । प्रथम में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, द्वितीय में दोष-गुण, तृतीय में अर्थालङ्कार, चतुर्थ में शब्दालङ्कार तथा पञ्चम में रस, नायक-नायिकाओं के प्रकार और रस-दोषों का विवेचन हुआ है । वाग्भट ने अपनी टीका में विभिन्न प्रदेशों, नदियों, वृक्षों और अनेक विशिष्ट वस्तुओं का स्थल-स्थल पर उल्लेख किया है । इन्होंने छन्दोऽनुशासन तथा ऋषभदेवचरित की भी रचना की थी ।¹⁸

भाबदेवसूरि ने काव्यालङ्कारसार नामक लघुकाय ग्रन्थ की रचना की । यह नरेन्द्रप्रभसूरि-विरचित अल-

ङ्कारमहोदधि के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुआ है । इसमें आठ अध्याय हैं । प्रथम में काव्यफलहेतु, द्वितीय में शब्दार्थ, तृतीय में शब्दार्थदोष, चतुर्थ में गुण, पञ्चम में शब्दालङ्कार, षष्ठ में अर्थालङ्कार, सप्तम में रीति और अष्टम में रस का निरूपण हुआ है । इसकी श्लोक-संख्या 132 है । आठ अध्यायों में क्रमशः 5, 15, 24, 13, 13, 49, 5 और 8 श्लोक हैं ।

मन्त्रिमण्डन श्रीमाल वंश में उत्पन्न हुए थे । इनका समय विक्रमीय पन्द्रहवीं शताब्दी है । इन्होंने अलङ्कारमण्डन नामक ग्रन्थ की रचना की । इसमें पाँच परिच्छेद हैं । काव्यमण्डन-चम्पूमण्डन-शृङ्गारमण्डन-सङ्गीतमण्डन-सारस्वतमण्डन-कादम्बरीमण्डन-चन्द्रविजय आदि भी इनकी रचनाएँ बतलायी जाती हैं ।¹⁹

अणुरत्नमण्डन या रत्नमण्डनमणि (15 वीं शताब्दी) ने कविशिक्षाविषयक ग्रन्थ 'जल्पकल्पलता' की रचना की । इनकी अन्य कृति मुग्धमेघाकर है, जिसमें मुख्य रूप से अलङ्कारों का विवेचन किया गया है ।²⁰

जयमङ्गलाचार्य-कृत कविशिक्षा और आचार्य विनयचन्द्र-कृत कविशिक्षा में कवियों के लिए आवश्यक निर्देशों का प्रतिपादन हुआ है ।²¹

15. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना; पृ. 20 ।

16, 17. 'नव्यानेकमहाप्रबन्धरचनाचातुर्यविस्फूर्जित—

स्फारोदारयशः प्रचारसततव्याकीर्णविश्वत्रयः ।

श्रीमन्नेमिकुमारसूनुरखिलप्रजालुचूडामणिः

काव्यानामनुशासनं वरमिदं चक्रे कविर्वाग्भटः ॥

काव्यानुशासन (निर्णयसागर सं., 1915 ई०) का अन्तिम श्लोक ।

18. कृष्णमाचार्य, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. 764 ।

19. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना ।

20. कृष्णमाचार्य, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. 780 ।

जैन-टीकाकार

अनेक जैन-आचार्यों ने काव्यशास्त्र के उत्कृष्ट ग्रन्थों पर टीकाओं की रचना की है।

वादिसिंह ने दण्डी के काव्यादर्श की टीका की।²²

रुद्रट के काव्यालङ्कार के कई जैन-टीकाकार हुए हैं। नमिसाधु काव्यालङ्कार के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनके गुरु शीलभद्र थे। इन्होंने अपनी टीका की रचना 1069 ई. में की—

एवं रुद्रटकाव्यालङ्कृतितटिप्पणकविरचनात् पुण्यम् ।
यदवापि मया तस्मान्मनः परोपकृतिरति भूयात् ॥
थारापद्रपुरीयगच्छतिलकः पाण्डित्यसीमाभवत् —
सूरिभूरिगुणकमन्दिरमिह श्रीशालिभद्रामिवः ।
तत्पादाम्बुजषट्पदेन नमिना सङ्क्षेपसम्प्रेक्षिणः
पुंसो मुग्धधियोऽधिकृत्य रचितं सट्टिप्पणं लह्वदः ॥
पञ्चविंशतिसंयुक्तैरेकादशसमाश्रितैः ।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥²³

काव्यालङ्कार के अन्य जैन-टीकाकार आशाधर हैं। इन्होंने अपने पिता का नाम सत्लक्षण और पुत्र का नाम छाहड बतलाया है। इन्होंने टीका की रचना 1239-43 ई. में की। इनकी अन्य रचनाएँ हैं—अमर-कोश की टीका, वाग्मट-कृत अष्टाङ्गहृदय की टीका, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, रत्नत्रयविधानशास्त्र आदि।²⁴

काव्यप्रकाश की सबसे प्राचीन टीका माणिक्यचन्द्र-कृत सङ्केत है। माणिक्यचन्द्र सागरेन्दु के शिष्य थे। इन्होंने टीका की रचना 1159 ई. में की।²⁵ माणिक्यचन्द्र गुर्जरदेश के निवासी थे। इनकी टीका में किसी टीका या टीकाकार के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। अभिधावृत्तिमातृकाकार मुकुल और सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज का उल्लेख मिलता है।²⁶

गुणरत्नगणि ने काव्यप्रकाश की सारदीपिका नामक टीका की रचना की तथा भानुचन्द्र-सिद्धचन्द्र ने काव्य-प्रकाशविवृति का प्रणयन किया।²⁷

21., 22. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना।

23. काव्यालङ्कार की नमिसाधु-कृत टीका के अन्तिम श्लोक।

24. काशे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (मोतीलाल सं., 1966 ई.), पृ. 197-98 और अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना।

25. गुणानेक्षिणी यस्मिन्नर्थालङ्कारतत्परा।

प्रौढापि जायते बुद्धिः सङ्केतः सोऽयमद्भुतः ॥1॥
मदमदनतुषारक्षेपपूषाबिभूषा जिनवदनसरोजावासिवासीश्वरीया ।
द्युमुखमखिलतर्कग्रन्थपङ्के रूपाणां तदनु समजनि श्रीसागरेन्दुर्मुनीन्द्रः ॥10॥
माणिक्यचन्द्राचार्येण तदङ्घ्रिकमलालिना ।
काव्यप्रकाशसङ्केतः स्वान्योपकृतये कृतः ॥11॥
रसवक्त्रग्रहप्रीतिशतसरे (संवत् 1216) मासि माघवे ।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य सङ्केतोऽयं समर्थितः ॥12॥
काव्यप्रकाश (अलङ्कारमहोदधि की टीका) की प्रस्तावना के पृ. 21-22 पर सङ्केत के श्लोक उद्धृत।

26. वही, पृ. 21।

27. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना।

अनेक जैनो ने बाग्भटालङ्कार की टीका की ।
सिंहदेवगणि की टीका चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित
(1957 ई.) हुई है । इन्होंने मुग्धजनों के प्रबोध और
अपनी स्मृति की वृद्धि के लिए टीका की रचना की—

बाग्भटकवीन्द्ररचितालङ्काराणि किमपि विवृणोमि ।
मुग्धजनबोधहेतोः स्वस्य स्मृतिजननवृद्ध्यै च ॥²⁸

बाग्भटालङ्कार के अन्य जैन-टीकाकार हैं—जिन-
वर्धनसूरि, क्षेमहंसगणि, ज्ञानप्रमोदगणि, वादिराज,
राजहंसोपाध्याय, समयसुन्दर आदि ।²⁹

आजुड ने सरस्वतीकण्ठाभरण तथा जिनप्रभ, शिव-
चन्द्र, त्रिनयारत्न, विद्यासागर आदि ने धर्मदास-कृत
विदाग्धमुखमण्डन की टीका की ।



28. काव्यालङ्कार की टीका के प्रारम्भ में द्वितीय श्लोक ।

29. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना, पृ. 19 तथा कृष्णमाचार्य-कृत हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर,
पृ. 762-63 ।

30. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना ।

राजस्थान के कवि

ठकुरसी

परमानन्द जैन शास्त्री

राजस्थान भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण अंग है। यहाँ की भूमि वीर प्रसव रही है। यहाँ के वीरों की वीरता, साहस, शौर्य की गरिमा से राजस्थान गौरवान्वित है। उसी तरह वह साहित्य और संस्कृति के लिए भी गौरव का स्थान रहा है। यहाँ के साहित्य मनीषियों ने वीर योद्धाओं की तरह संस्कृति के संरक्षण और साहित्य निर्माण द्वारा देशभक्ति, नैसिकता और सांस्कृतिक जागरूकता का परिचय दिया है। इस दृष्टि से राजस्थान की महत्ता लोक गौरव का प्रतीक है। राजस्थान के विपुल शास्त्र भंडारों में विविध भाषाओं में कवियों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। वहाँ अनेक जेनाचार्यों, विद्वानों, भट्टारकों और कवियों का यश-तन्त्र विहार रहा है, जिससे देश में जागृति और धार्मिक मर्यादाओं का संरक्षण हुआ है। उन्होंने अनेक

संकटों और भयावह समयों के झंझावातों से भारतीय साहित्य को संरक्षण प्रदान किया है। इस कारण वे अभिन्नदनीय हैं। कवि ठकुरसी राजस्थान की इस महान परम्परा के एक प्रमुख कवि थे, भारतीय साहित्य की उनकी देन अविस्मरणीय है।

कवि ठकुरसी कविवर घेल्हा के पुत्र थे। इनकी माता बड़ी धर्मिष्ठा थी। गोत्र पहाड़्या, जाति खंडेल-वाल और धर्म दिगम्बर जैन था।¹ यह सोलहवीं शताब्दी के अच्छे कवि कहे जाते थे। कविता करना एक प्रकार से आप की पैतृक सम्पत्ति थी; क्योंकि आपके पिता भी अच्छी कविता करते थे। परन्तु अद्यावधि उनकी कोई रचना अवलोकन में नहीं आई। संभव है अन्वेषण करने पर प्राप्त हो जाय।

1. पपड पहाडिह वंस शिरोमणि, घेल्हा गरू तसु तियवर घरमिणी ।
ताह तणइ कवि ठाकुरि सुन्दरि, यह कहि किय संभव जिणमंदिरि ॥
मेधमालावय प्रशस्ति

कवि की इस समय सात कृतियाँ उपलब्ध हैं। वे सभी कृतियाँ अभी तक अप्रकाशित हैं। उनका अव-
लोकन करने से जहाँ कवि की काव्य-शक्ति का परिचय मिलता है वहाँ उनकी प्रतिभा का दर्शन हुए बिना नहीं रहता। रचनाओं में स्वामयतः माधुर्य और प्रासाद है, और गति में प्रवाह है, उन्हें पढ़ते हुए जी अरुचि नहीं होती, किन्तु गुरू करने पर उसे पूरी किये बिना छोड़ने को जी नहीं चाहता। आपकी सातों रचनाओं के नाम निम्न प्रकार हैं—

कृपण चरित्र, पारसनाथ श्रवण सत्ताइसी, जिन-
चउबीनी, मेघमाला व्रतकथा, पंचेन्द्रिय वेलि, नेमिसुर की वेलि, और चिन्तामणि जयमाल। इनमें से प्रथम रचना का परिचय पं. नाथूरामजी प्रेमी बम्बई ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में कराया था। कृपण चरित्र की एक प्रतिलिपि मेरे पास है, जिसे मैंने सन् 1945 में जयपुर के किसी गुच्छक पर से नोट की थी। कवि ने इसमें अपनी आँखों देखी एक घटना का चित्रण किया है, घटना सजीव है, और कवि ने उसे 35 पद्याँ में अंकित करने का प्रयत्न किया है। रचना सरस और प्रसाद गुण से भरपूर है। और कवि ने उसे वि. सं. 1580 के पौष महीने की पंचमी के दिन पूर्ण किया है, घटना का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

एक प्रसिद्ध कृपण व्यक्ति उसी नगर में रहता था, जहाँ कविवर निवास करते थे। वह जितना अधिक कृपण था उसकी धर्मपत्नी उतनी ही अधिक उदार और विदुषी थी। वह दान-पूजा-शील आदि का पालन करती थी। कृपण ने सम्पदा को बड़े मारी यत्न और अनेक कौशलों से प्राप्त किया था। धन संचय की उस की लालसा इतनी अधिक बढ़ी हुई थी, वह उसका जोड़ना जानता था, किन्तु खर्च करने का उसे मारी मय लगा रहता था। वह रात दिन इसी चिन्ता में

संलग्न रहता था, कि किसी तरह से सम्पत्ति संचित होती रहे परन्तु उसे खर्च न करना पड़े। उसने कभी दान, पूजा, माला, उत्सव आदि धार्मिक कार्यों में धन खर्च न किया था। माँगनेवालों को कभी भूल-कर भी नहीं देता था, और न किसी देव मन्दिर, गौठ या सहभोज में ही धन को व्यय करता था। भाई, बहिन, बुआ, भतीजी और भाणिजी आदि के न्योता आने पर कभी नहीं जाता था, किन्तु सदा रूखा-सा बना रहता था। उसने कभी सिर में तेल डालकर स्नान नहीं किया था। धन के लिए झूठ बोलता था, झूठा लेख लिखाता था, कभी पान नहीं खाता था और न किसी को खिलाता था। न कभी सरस भोजन ही करता था, और न कभी चन्दनादि द्रव्य का लेप ही करता था। न कभी नया कपड़ा पहिनता था, कभी खेल-तमाशे देखने भी नहीं जाता था, और न गीत रस ही सुहाता था, कपड़ा फट जाने के भय से उन्हें कभी नहीं धोता था। कभी-कभी अभ्यागत या पाहुना आ जाने पर भी उसे नहीं खिलाता था—मुँह छिपाकर हर जाता था इसी से पत्नी से रोजाना कलह होती थी, जैसा कि कवि की निम्न पंक्तियों से प्रकट है :—

“झूठ कथन नित खाइ लेख लेखी नित झूठी,
झूठ सदा सह करे, झूठ, नहु होइ अपूठी।
झूठी बोलै साखि, झूठे झगड़े नित्य उपावै,
जहि तहि बात विसासि घृति धनु घर महि त्यावै
लोभ कौल यों चेत न चिति जो कहिजै सोइ खवै,
धन काज झूठ बोलै कृपणु मनुखजनम लाधो आवै ॥5॥

कदेन खाइ तंबोलु सरसु भोजन नहीं भक्वै,
कदे न कापड़ नवा पहिरि काया सुख रक्वै।
कदे न सिर में तेल घालि मल मूरख न्हावै,
कदे न चन्दन चरचै अंग अबीर लगावै।
पेषणो कदे देखै नहीं श्रवणु न सुहाई गीत-रसु।
घर घरिणी कहै इम कंत स्यों दई काइ दीन्हों न यसु ॥6॥

वह दे न खाण खरचे न किवें दुवै करहि दिन कलह अति
संगी भतीजी भुवा वहिणि भाणिजी न ज्यावै ।
रहे रूसडो मोडि आपु न्योतो जव आवै ।
पाहुणो संगो आयो सुणै रहै छिपौ मुख रखिकर
जिव जाय तिवहि नोसरै यों धनु संच्यो कृपण नर ॥”

कृपण की पत्नी, जब नगर की दूसरी स्त्रियों को अच्छा खाते-पीते और अच्छे वस्त्र पहिनते तथा धर्म-कर्म का साधन करते देखती तो अपने पति से भी वैसा ही करने को कहती । इस पर दोनों में कलह हो जाती थी । तब वह सोचती है कि मैंने पूर्व में ऐसा क्या पाप किया है जिससे मुझे ऐसे अत्यन्त कृपण पति का समागम मिला । क्या मैंने कभी कुदेव की पूजा की, सुगुरु साधुओं की निन्दा की, कभी झूठ बोला, दया न पाली, रात्रि में भोजन किया, या अंतों की संख्या का अपलाप किया । मालूम नहीं मेरे किस पाप का उदय हुआ जिससे मुझे ऐसे कृपण पति के पाले पड़ना पड़ा, जो न खरचे, न खरचने दे, निरन्तर लड़ता ही रहता है ।

एक दिन पत्नी ने सुना कि गिरनार की यात्रा करने संघ जा रहा है । तब उसने रात्रि में हाथ जोड़ कर हँसते हुए पति से संघ यात्रा का उल्लेख किया और कहा कि सब लोग संघ के साथ गिरनार और शत्रुंजय की यात्रा के लिए जा रहे हैं । वहाँ नेमि-जिनेन्द्र की वन्दना करेंगे, जिन्होंने राजमति को छोड़ दिया था । वे वन्दना-पूजाकर अपना जन्म सफल करेंगे, जिससे वे पशु और नरक गति में न जायेंगे, किन्तु अमर पद प्राप्त करेंगे । अतः आप भी चलिए । इस बात को सुनकर कृपण के मस्तक में सिलवट पड़ गई, वह बोला कि क्या तू बावली हुई है, जो धन खरचने की तेरी बुद्धि हुई । मैंने धन चोरी से नहीं लिया और न पड़ा हुआ पाया, दिन रात नींद, भूख, प्यास की वेदना सही, बड़े दुःख से उसे प्राप्त किया है । अतः खरचने की बात अब मुँह से न निकालना ।

तब पत्नी बोली हे नाथ ! लक्ष्मी तो बिजली के समान चंचला है । जिनके पास अटूट धन और नवनिधि थी, उनके साथ भी धन नहीं गया । जिन्होंने केवल संचय किया, उन्होंने उसे पाषाण बनाया, जिन्होंने धर्म कार्य में खर्च किया, उनका जीवन सफल हुआ । इसलिए अवसर नहीं चूकना चाहिए, नहीं मालूम किन पुण्य परिणामों से अनन्त धन मिल जाय । तब कृपण कहता है कि तू इसका भेद नहीं जानती । पैसे बिना आज कोई अपना नहीं है । धन के बिना राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी को बेचा था । तब पत्नी कहती है कि तुमने दाता और दान की महत्ता नहीं समझी । देखो, संसार में राजा कर्ण और विक्रमादित्य से दानी राजा हो गये हैं, सूम का कोई नाम नहीं लेता, जो निस्पृह और सन्तोषी हैं वह निर्धन होकर भी सुखी हैं किन्तु जो धनवान होकर भी चाह-दाह में जलता रहता है वह महादुखी है । मैं किसी की होड़ नहीं करती, पर पुण्य कार्य में धन का लगाना अच्छा ही है । जिसने केवल धन संचय किया, किन्तु स्व-पर के उपकार में नहीं लगाया वह चेतन होकर भी अचेतन जैसा है, जैसे उसे सर्प ने डस लिया हो ।

इतना सुनकर कृपण गुस्से से भर गया और उठकर बाहर चला गया । तब रास्ते में उसे एक पुराना मित्र मिला । उसने कृपण से पूछा, मित्र ! आज तेरा मन म्लान क्यों है ? क्या तुम्हारा धन राजा ने छीन लिया, या घर में चोर आ गए, या घर में कोई पाहुना आ गया है, या पत्नी ने सरस भोजन बनाया है । किस कारण से तेरा मुख आज म्लान दीख रहा है । कृपण ने कहा—मित्र ! मुझे घर में पत्नी सताती है, यात्रा में जाने के लिए धन खरचने के लिए कहती है, जो मुझे नहीं भाता, इसी कारण मैं दुर्बल हो रहा हूँ । रात-दिन भूख नहीं लगती । मित्र मेरा तो मरण आ गया है । तब मित्र ने कहा, हे कृपण ! सुन, तू मन में दुःख न कर । पापिनी को पीहर पठाय दे, जिससे तुझे कुछ सुख मिले । यह सुनकर कृपण को अति हर्ष हुआ ।

एक आदमी को बुलाकर एक झूठा लेख लिख दिया कि तेरे जेठे भाई के घर पुत्र हुआ है, अतः तुझे बुलाया है। यद्यपि पत्नी पति के इस प्रपञ्च को जानती थी, किन्तु फिर भी वह उस पुरुष के साथ पीहर चली गई।

जब संघ यात्रा से लौट कर आया, तब ठौर-ठौर ज्योंतारों की गई, महोत्सव किए गये और मांगनेवालों को दान दिया गया, अनेक बाजे बजे, और लोगों ने असंख्य धन कमया। जब इस बात को कृपण ने सुना तो अपने मन में बहुत पछताया। यदि मैं भी गया होता तो दूब ज्योंतार खाता, व्यापार करता, और धन कमाकर लाता। पर हाय मैं कुछ भी नहीं कर सका। दैव योग से कृपण बीमार हो गया। उसका अन्त समय समझकर कुटुम्बियों ने उसे समझाया और दान-पुण्य करने की प्रेरणा की। तब कृपण ने गुस्से से भरकर कहा कि मेरे जीने या मरने पर कौन मेरा धन ले सकता है। मैंने धन को बड़े यत्न से रखा है। राजा, चोर, और आग से उसकी रक्षा की है। अब मैं मृत्यु के सम्मुख हूँ, अतः हे लक्ष्मी तू मेरे साथ चल, मैंने तेरे कारण अनेक दुःख सहे हैं। तब लक्ष्मी कृपण से कहती है कि—

“लच्छि कहै रे कृपण झूठ हों कदे न बोलों,
जु को चलण दुइ देइ गैलत्मागी तसु चालों।
प्रथम चलण मुझ एहु देव-देहुरे ठविज्जे,
दूजे जात-पतिहु दागू चउ संधहि दिज्जे।
ये चलण दुवै तैं भंजिया ताहि विहूणी क्यों चलौ,
झखमारि जाय तू हौं रही बहूडि न समि थारे चलौ॥”

मेरी दो बातें हैं, उनमें से प्रथम तो मैं देव मन्दिरों में रहती हूँ। दूसरे यात्रा, प्रतिष्ठा, दान और चतुर्विध संघ के पोषणादि कार्य हैं। उनमें से तूने एक भी नहीं किया। अतः मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकती।

इस तरह कृपण विचार कर ही रहा था कि जीभ थक गई, वह बोलने में असमर्थ हो गया, और वह इस संसार से विदा हो गया और कुगति में गया। पश्चात् पत्नि आदि ने उस संचित द्रव्य को दान धर्मादि कार्यों में लगाया।

कवि की दूसरी कृति 'पारमनाथ श्रवण सत्ताइसी' है, जिसमें जैनियों के तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन-परिचय और स्तवन दिया हुआ है। रचना में 27 पद्य अंकित हैं। रचना साधारण होते हुए भी सुन्दर और प्रवाहयुक्त है, और सोलहवीं शताब्दी के हिन्दी भाषा के विकास क्रम को प्रस्तुत करती है। इस कृति में कवि के निवास स्थान चम्पावती (चाकसू) में संवत् 1578 के लगभग घटित एक ऐतिहासिक घटना के आँखों देखे दृश्य का चित्रण किया गया है जिससे उसका ऐतिहासिक महत्व हो गया है। कवि ने इस कृति की रचना संवत् 1578 के माघ महीने शुक्ल पक्ष की दोइज के दिन पूरा किया था जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

श्रेष्ठ णंदण ठकुरसी नामु, जिण पाय पंकय मसलु।
तेण पास शुभ कियउ सचो जवि।
पंदरासय अठहत्तर माह मास सिय पख दुय जवि।
पढ़हि गुणहि जे णारि-णर तह पूरिय मन आस।
इउं जाणे पिणु नित्त तुहु पढ़ि पंडित मल्लिदास॥27

शाह इब्राहीम ने जब रणथम्भौर पर आक्रमण किया, और उसका प्रबल सैन्यदल नगर में और उसके आसपास के स्थानों में लूट-खसोट और मार-काट करने लगा, तब चम्पावती को छोड़कर अन्य नगरों के जन संत्रस्त होकर इधर-उधर भागने लगे उन्हें देखकर चम्पावती के निवासी जन भी घबड़ाने लगे, और उनमें से कितने ही जन भागने को उद्यत हुए। तब नगर के प्रमुख पंडित मल्लिदास आदि सज्जनों ने पार्श्व भवन में जाकर भगवान पार्श्वनाथ की मिलकर

स्तुति की, और यह प्रार्थना की, कि भगवन् ! हमें आपका ही सहारा है, हम सब लोगों की, इस विपत्ति से रक्षा हो। ऐसा कहने के पश्चात् भी लोगों को यह विश्वास न था कि इस विपत्ति से हमारा संरक्षण हो जावेगा। किन्तु उसी समय जनता को यह स्वयं आभास होने लगा, कि घबड़ाओ नहीं, शान्त चित्त से रहो, सब शान्ति हो जायेगी। और लोगों के देखते-देखते ही वह भयंकर विपदा सहसा ढल गई। लोगों को अमय मिला, प्रजा में शान्ति होगई, चित्त में निर्भयता आई। यह दृश्य देख जनता पार्श्वनाथ की जय बोलने लगी। जो लोग भय से भाग गये थे, वे अधिक दुःखी हुये, किन्तु नगर में रहनेवाले जन सुखी रहे। यह कवि का आँखों देखा घटना वर्णन कवि के शब्दों में इस प्रकार है :—

जब सुलीय उ राणि संग्राम, रणथंभुवि दुग गहु।
जब इब्राहिम साहि कोपिउ, बलु बोली मोकलिउ।
बोलु कबलु सबु तेण लोपिउ, जिव लग उग्सलि हाय सउं
मेच्छ मूढ मय वज्जि, चंपावति विणु देस सब, गणदहद
दिसभंजि ॥21॥

तबहि कंपिउ सथल पुरलोउ, कोइन कसु वर जिउ रहइ
भाजि दहै दिसि जाण लगै, मिलिविकरी तब बीनती।
पारसणाह स्वामी सु अगै, सबणा जोतिक केवलि।
चितु न करै विसासु, कालि पंचमइ पास पहु, जुग
लगउ तु आस ॥22॥

एभ जं पि विकरि विथुई पुज्ज, मल्लिदास पंडित पमुह।
स इह था समीपु चायउ, उच्चावंत न उच्चयउ।
हुवो जाणि सुरगिरि सबीयउ, इणविधि परतिउवारतिहु।
पूरि वि हरी भणति, जयवंतहु हो पास पहु, जेण करी
सुख सांति ॥24॥

कवि की तीसरी कृति 'जन चउबीसी' है, जिसमें जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। स्तवन सुन्दर है।

चौथी कृति 'मेघमाला व्रतकथा' है। इस कथा की उपलब्धि भट्टारक हर्षकीर्ति अजमेर के शास्त्र भंडार के एक गुटके पर से हुई है। यह कथा 115 कठवक और 211 श्लोकों के प्रमाण को लिए हुए है। इस ग्रन्थ की आदि अन्त प्रशस्ति में इस कथा के रचने में प्रेरक, तथा कथा कहाँ बनाई गई, वहाँ के राजा और कथा का रचना काल दिया हुआ है।

मेघमाला व्रत भाद्रपद मास की प्रथम प्रतिपदा से शुरू करे, उस दिन उपवास करे, और जिन पूजा विधान तथा अभिषेक करे, सारा दिन धर्म ध्यान में व्यतीत करे। और पाँच वर्ष पर्यन्त इस व्रत का अनुष्ठान करे। पश्चात् उसका उद्यापन करे, उद्यापन की शक्ति न हो तो दूने दिनों तक व्रत पाले। जिन लोगों ने उस समय इस व्रत का पालन किया था, कवि ने उनका नाम भी प्रशस्ति में अंकित किया है। उससे ज्ञात होता है कि उस समय चम्पावती में इस व्रत के अनेक अनुष्ठाता थे, जिन्होंने निष्ठा से व्रत का पालन किया था। उस समय वहाँ राजा रामचन्द्र का राज्य था, और भट्टारक प्रभावन्द वहाँ मौजूद थे।

इस ग्रन्थ की आदि प्रशस्ति में बतलाया है कि कि दुर्गाहड देश के मध्य में चम्पावती (जयपुर राज्य वर्तमान चारसू) नाम की एक नगरी है, जो उस समय घन-धान्यादि से विभूषित थी और जिसके शासक राजा रामचन्द्र थे। वहाँ भगवान पार्श्वनाथ का मन्दिर भी बना हुआ था जिसमें तात्कालिक भट्टारक प्रभावन्द गीतस गणधर के समान बैठे थे और जो नगर निवासी भव्यजनों को धर्माभूत का पान करा रहे थे। उनमें मल्लिदास नामक वणिक पुत्र ने कवि ठकुरसी से मेघमाला व्रत कथा कहने की प्रेरणा की। उस समय चम्पावती नगरी में अन्य समाजों के साथ हांडेलवाल जाति के अनेक घर थे जिनमें अजमेरा और पहाडया गौत्रादि के सज्जनों का निवास था, जो श्रावकोचित

क्रियाओं का सदा अनुष्ठान करते रहते थे। वहाँ तोषक नाम के एक विद्वान भी रहते थे। श्रावकजनों में उस समय जीणा, तालहु, पारस, बाकुलीवाल, नेमिदास, नाथूसि और भुल्लण आदि श्रावकों ने मेघमाला व्रत का पालन किया था। यहाँ हाथुव साह नाम के एक महाजन भी रहते थे, उनके और भट्टारक प्रभाचन्द्र के उपदेश से कवि ने मेघमाला व्रत की विधि-विधान का उल्लेख करते हुए संवत् 1580 में प्रथम श्रावण सुदी छठवीं के दिन उक्त कथा को पूर्ण किया था जैसा कि उनके निम्न पद्य से प्रकट है :—

हाथुव साह महत्ति महते, पहाचंद गुहउवए संते ।
पणदह सइ जि असीते, आगल सावण मासि छट्टिय
मंगल ॥

कवि की पाँचवी कृति 'पंचेन्द्रिय की वेलि, है। कवि ने स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण) इन पाँचों इन्द्रियों के रूपक द्वारा जो शिक्षा या अनुभूति प्रदान की है। वह केवल सुन्दर ही नहीं है, किन्तु मानव जीवन को आदर्श बनाने के लिये पीयूषधारा है। कवि ने एक-एक इन्द्रिय के विषय में अच्छा विचार किया है और दृष्टान्तों द्वारा उसे पुष्ट किया है। उस पर दृष्टि डालने से मानव उन इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होकर आत्मसाधना की ओर अग्रसर हो सकता है। कवि को अपनी इस कृति पर स्वामिमान है। उसकी मान्यता है कि— 'करि वेलि सरस गुण गाया जित चतुर मनुष समझाया'। कवि को अपनी सफलता पर दृढ़ विश्वास है। उसने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है—'जिह्म मनु इन्द्रिय वसि कीया, तिह हरस परत जग जीया'। जिस मानव ने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, उसने अमृत को जीत लिया है।

कवि ने प्रस्तुत वेलि में इन्द्रियों का विवेचन जातियों के क्रम से किया है। प्रारम्भ में एक दोहे में स्पर्शन इन्द्रिय का स्वरूप हाथी का उदाहरण देकर

समझाया है। कवि ने लिखा है कि स्पर्शन इन्द्रिय प्रबल है, उसे वश में करना दुष्कर कार्य है किन्तु जिन्होंने उसे वश में किया वे संसार में सुखी हुए—

वन तहवर फल खातु फिर, पय पीवतौ सुछंद ।
परसण इन्द्रिय प्रेरियो, बहु दुख सहई गयंद ॥

कवि ने आगे पद्य में स्पर्शन इन्द्रिय की आसक्ति से होनेवाले दुःखों का वर्णन करते हुए लिखा है कि कामातुर हाथी कामज की हथिनी के कारण गड्ढे में पड़कर छुथा-तृषादि के घने दुःख सहता है, वह वहाँ से भाग भी नहीं सकता। उसके दुःख का कौन कवि वर्णन कर सकता है। कहीं तो उसका सुछन्द वनभ्रमण, वृक्षों के उत्तम फल, और नदियों का निर्मल नीर, और कहीं पराधीन हुए हाथी की प्राण घातक अंकुश की चोटें ?

'बहु दुख सहै गयंदो, तुम होय गई मति मंदो ।
कामज के कुंजर काजै, पडि खाडै स क्यों न भाजै ॥
तिहि सहीय घणी तिथि भूखो, कवि कौन कहै तिस दूखो ।

इस तरह स्पर्शन इन्द्रिय के कारण अनेक मानवों ने भी दुख भोगे हैं। रावण भी इसी कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ, उसकी कथा प्रसिद्ध है। इसके वेग के कारण मानव अन्धा हो जाता है; उसे हित-अहित का विवेक नहीं रहता। इसको वश में करने से लोक में यश और सुख मिलता है।

रसना इन्द्रिय के वश हुआ मानव भी अपना संतुलन खो बैठता है, वह विवेक को ताक में रख देता है। रस के स्वाद में अनुरक्त हुआ अपने को भूलकर स्वादु बन जाता है, जो अन्त में उसके मरण का कारण होता है। कवि ने मानव रूपी मछली के रूपक द्वारा इस सत्य की विशद व्यंजना की है। दोहे में रूपक की छटा देखते ही बनती है—

‘केलि करंता जनम जल, गाल्यो लोभ दिखालि ।
मीन मुनिख संसार सरि, काढयो धीवर कालि ॥

इस दोहे में जन्म को जल, मनुष्य को मछली, संसार को सरिता और काल को धीवर के रूप में देखना कितना सार्थक है। कवि ने आगे लिखा है—

‘सो काढ्यो धीवर कालै, तिण गाल्यो लोभ दिखाले ।
मथ नीर गहीर पईठौ, दिठि जाय नहीं जहां दीठौ ॥
इह रसना रसकौ गाल्यौ, घलि आइ सबइ दुख साल्यौ ।
इह रसना रस के नाई, नर मुसँ बाप गुरु भाई ॥
घर फेडइ वा पांडै चांटा, नित करइ कपट घण घाटा ।
मुख झूठ सांच नहि बोलै, घर छाँडि दिसावर डोलै ॥
कुल ऊँच नीच नहि लेखइ, मूरख माहि भलि लेखइ ।
यह रस के लीये नर, कुण-कुण करम न कीये ॥
रसना रस विषय विकारी, वसि होय न औगुण वागारी ।
जिह इहु विषय वसि कीयो, तिहि मुनिख जनम फल लीयो ॥”

इस पद्य में कवि ने रसना की आसक्ति से होने-वाले परिणाम का दिग्दर्शन कराया है। रसना के जाल में पड़कर लोग घर की पूँजी और प्रतिष्ठा को धूलि में मिला देते हैं और छल-कपट का सहारा लिये भले मानुष इधर-उधर भटकते फिरते हैं। स्वाद के साम्राज्य में कुल परम्परा और सत्य को ताक में रखकर दिसावरों में डोलते फिरते हैं। यह कितना चुभता हुआ व्यंग्य है, जिसमें कोई कांटा और चुभन नहीं है परन्तु वह हृदय को उद्‌वेलित कर देता है। अन्त में कवि ने वह भावना व्यक्त की है कि जिसने रस विषय पर विजय प्राप्त करली, उसी का जीवन सफल है—

“भ्रमर पडट्टो कमल दिनि, घ्राण गन्धि रस रुढ ।

रेण पडया सो संकुच्च्यौ, नीसर सबयो न मूढ ॥
सों नीसर सबयो न मूढौ, अति घ्राण गन्धि रस गूढौ ।
मनचिते रयणि सवायौ, रस लेख्यौ आज अचायौ ।

जब ऊँग लो रवि विमलो, सरवर विकसइ लो कमलो ।
नीसर स्यों तब यह छोडै, रस लेख्यौ आइ बहोडै ॥
चितवतै ही गज आयो, दिनकर उगवा न पायो ।
जल पेठो सखर पीयो, नीसरत कमल खड़ लीयो ॥
गहि सूँडि पावतल चंघ्यौ, अलिमाखो घर हरि कंघ्यौ ।
इहु गंध विषम छँ भारी, मन देख हुव्यौ न विचारी ॥

घ्राण इन्द्रिय की शक्ति बड़ी प्रबल है। वह दूर से ही छिपी हुई वस्तु का पता लगा लेती है। बिल्ली को दूध का पता जल्दी लग जाता है और भोरे को कमल का, चींटी को मिठाई का। सुरभित सुवास मिलने पर हम प्रमुदित होते हैं और बीमत्स गंध मिलने पर ताक-मुँह सिकोड़ लेते हैं और उससे दूर भागने का यत्न करते हैं। जिस तरह गंध लोलुपी भ्रमर कमल की पराग का रस लेता हुआ, उसमें इतना आसक्त हो जाता है कि कमल की कली से निकलना भूल जाता है। दिनास्त में कमल कली सम्पुट हो गई। और रस की खुमारी में बेसुध हुआ भ्रमर अनेक रंगीन कल्पना करता है—रातभर खूब रस पिऊँगा, जब प्रातःकाल सूर्योदय होगा, कमल कलियाँ विकसित होंगी, मैं उससे निकल जाऊँगा। इसी विचार मुद्रा में एक हाथी सरो-वर में जल पीने आया, और जल पीकर कमल को उखाड़ लिया, और पग तले दाबकर उसे खा गया। बेचारा भौंरा अपने प्राणों से हाथ धो बैठा। अस्तु भोरे के मरण को दृष्टि में रखते हुए गंध का लोभ और आसक्ति का परित्याग करना चाहिये।

आँखों का काम देखना है। यह जीव नेत्रों द्वारा रूप देखने का आदी है। जब यह रूप-सौन्दर्य के अवलोकन में आसक्त हो जाता है, तब अपना आपा खो बैठता है। आज संसार में रूपासक्ति के कारण कितना व्यभिचार हो रहा है। पतंग ज्योति रूप को देखकर अपने प्राण निछावर कर देता है, उसके अंग-प्रत्यंग विदग्ध हो उठते हैं। उसी तरह पुरुष भी नारी के अप्रतिम सौन्दर्य को निरखकर रूपासक्त हो अपना सर्वस्व खोकर प्राणों से

भी हाथ धोने बैठता है। कवि ठकुरसी ने रूपक के सहारे इस तथ्य को प्राणवान बना दिया है—‘दिठि देख तके पर गोरी’ वाक्य में कितनी सरल व्यंजना की है। इतना ही नहीं किन्तु कवि ने अहिल्या और तिलोत्तमा का उदाहरण देकर अपने कथन को पुष्ट किया है। इन पाँचों ही इन्द्रियों का स्वामी मन है, वह इन्द्रियों का सबल है, वही इनका प्रेरक है। यदि उसे वश में कर लिया जाय तो इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति ही न हो और वे निर्दोष बनीं रहें; क्योंकि मन ही उन्हें कामासक्त बनाता है। अतएव कवि ने ठीक ही कहा है—‘लोयणे दोस को नाही, मन प्रेरे देखन जांही।’ अतः विवेकी मनीषियों का कर्तव्य है कि वे मन को वश में करने का प्रयत्न करें। उससे सुख मिलता है—

नेह अचागल तेजतसु, वानी वचन सुरंग ।
रूप ज्योति पर तिय दिखै, पडइति पुरुष पतंग ॥
पडइति पुरुष पतंगो, दुख दीबै दहै ति अंगो ।
पडि होइ तहां जीवि पाखै, दिठि खंचि न मूरख राखै ॥
दिठि देख करै नर चोरी, दिठि देख तके पर गोरी ।
दिठि देख करै नर पायो, दिठि दीढा बधइ सतायो ॥
दिठि देखि अहिल्या इंदो, तनु विकल गई मति मंदो ।
दिठि देखि तिलोत्तम भूल्यो, तप तपो विधाता डूल्यो ॥
ए लोयण लंपट कूठा, वरज्या नहि होय अपूठा ।
ज्यों वरजै त्यों रस बाया, रंग देखे आपण भाया ॥
लोयणे दोस को नाही, मन प्रेरे देखन जांही ।
जो नयण हु ते वसि राखै, सो हरत परत सुख चाखै ॥

श्रोत्र इन्द्रिय का विषय शब्द की मधुरता, कोमलता, और प्रियता पर प्राण निछावर करना जीव का स्वभाव है। संगीत की स्वर्णिम लहरी मानव को अपनी ओर आकृष्ट करती है। के की का रव बादलों की घटा फोड़कर सागर लहरा देता है। कुरंग वधिक का गीत सुनकर प्राण घातक तीर से व्यथित हो प्राणों को छोड़ देता है। सर्प भी नाद से मंत्रमुग्ध हो बिल से निकलकर मनुष्य के आधीन हो जाता है, इसलिये कवि ने

ठीक ही कहा है—यह नाद सुणतो सांपो, बिल छोड़ नीसरची आपो—उसी तरह यह मानव भी हिरण की तरह मधुर नाद के वशवर्ती होकर अपने प्राणों का परित्याग कर देता है।

वेग पवन मन सारिसौ, वनवासै लय भीतु ।
वधिक बाण मार्यो हिरण, कानि सुणतो गीतु ॥
धनुखेचि वधिक सर हणियो, रस बीधो बाण न गणियो ।
इह नाद सुणतो सांपो, बिल छोड़ि नीसर्यो आपो ॥”

इस तरह कवि ने इस रचना में पाँचों इन्द्रियों के विषयासक्त पाँच प्रतीकों द्वारा मानव को उद्बोधित करते हुए पाँचों इन्द्रियों को बस में करने का निर्देश किया है। जो मानव इन पाँचों इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वह उभयलोक में सुख पाता है किन्तु जो इनके वशवर्ती होकर इन्द्रियों में विषयासक्त रहता है, वह जल्दी अपनी जीवन लीला से हाथ धो बैठता है—

अलि, गज, मीन, पतंग, मृग, एके के दुख दीढ ।
जायत भौ-भौ दुख सहै, जिहि वसि पंच न कीढ ॥

कवि की इस कृति का रचना काल संवत् 1585, कार्तिक सुदी त्रयोदशी है।

संवत् पंदरे से पंचासे तेरिस सुद कार्तिक मासे ।
जिहिमनु इन्द्रिय वसि कीया, तिह हरत परत जग जीया ॥

कवि की छठवीं कृति नेमीसुर की वेलि है जिसमें जैनियों के 22वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ और राजुल का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। रचना शिक्षाप्रद है। कवि ने इसमें रचना काल नहीं दिया।

कवि की सातवीं कृति ‘चिन्तामणि जयमाल’ है। यह 11 पद्यों की जयमाल है जिसमें पार्श्वनाथ के स्तवन रूप में मानव को संयमित जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित किया गया है, क्योंकि असंयम दुर्गुणों की खान है। संयम के प्रभाव से ही शूली से

सिंहासन और सप से फूलों की माला बन गई थी ।
इससे संयम की महत्ता स्पष्ट है । रचना संक्षिप्त होते
हुए भी रोचक है । अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

धत्ता—इय वर जयमाला गुणहँ विसाला,
धेल्ह सुतन ठाकुर कहए ।
जो णरु सुणि सिक्खवइ, दिण-दिण अंक्खइ,
सो सुद्धमण वंछि जलहए ॥

कवि की प्रायः सभी रचनाएँ पुरानी हिन्दी की हैं,
उनमें अपभ्रंश भाषा के पुट के अतिरिक्त देशी भाषा के
शब्दों की बहुलता है । इनका प्रकाशन व इन पर शोध
कार्य होना चाहिये ।

□ □



अगाध विद्वता और प्रतिभा से प्रभावित होकर संपूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में संचालित तत्वगोष्ठियों और आध्यात्मिक मण्डलियों में चर्चित गूढ़तम शंकायें समाधानार्थ जयपुर भेजी जाती थीं और जयपुर से पंडितजी द्वारा समाधान पाकर तत्व-ज्ञानसु समाज अपने को कृतार्थ मानता था। साधर्मी भाई ब्र. रायमल ने अपनी "जीवन-पत्रिका" में तत्कालीन जयपुर की धार्मिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

महापंडित टोडरमल ० डा० हुकमचन्द भारिल्ल

डा. गौतम के शब्दों में "जैन हिन्दी गद्यकारों में टोडरमलजी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने टीकाओं और स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में दोनों प्रकार से गद्य-निर्माण का विराट उद्योग किया है। टोडरमलजी की रचनाओं के सूक्ष्मानुशीलन से पता चलता है कि वे आध्यात्म और जैन धर्म के ही वेत्ता न थे, अपितु व्याकरण, दर्शन, साहित्य और सिद्धान्त के ज्ञाता थे। भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था।"

ईसवी की अठारहवीं शती के अन्तिम दिनों में राजस्थान का गुलाबी नगर जयपुर जैनियों की काशी बन रहा था। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी की

'तहाँ निरन्तर हजारों पुरुष स्त्री देवलोक की सी नाई चैत्याले आय महापुण्य उपारज, दीर्घकाल का संख्या पाप ताका क्षय करै। सो पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सो पचास भाषा शास्त्र बांचने वारे पाईए, दस बीस संस्कृत बांचने वारे पाईए, सो पचास जने चरचा करने वारे पाईए और निरयान का सभा के शास्त्र बांचने का व्याख्यान विषे पांच सै सात सै पुरुष तीन सै चारि सै स्त्रीजन, सब मिली हजार बारा सै पुरुष स्त्री शास्त्र का श्रवण करै बीस तीस बायां शास्त्राभ्यास करै, देश देव का प्रश्न इहाँ आवै तिनका समाधान होय जहाँ पहुँचे, इत्यादि अद्भुत महिमा चतुर्थ-कालवत या नग्न विषे जिनधर्म की प्रवृत्ति पाईए है।'"²

- 1 हिन्दी गद्य का विकास : डा० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर कामपुर, पृ० 188।
- 2 पंडित टोडरमल, व्यक्तित्व और कृतृत्व, परिशिष्ट 1, प्रकाशक : पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4 बापूनगर, जयपुर।

यद्यपि सरस्वती माँ के वरद पुत्र का जीवन आध्यात्मिक साधनाओं से ओतप्रोत है, तथापि साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र में भी उनका प्रदेय कम नहीं है। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी उन दार्शनिक साहित्यकारों एवं क्रान्तिकारियों में से हैं जिन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में आई हुई विकृतियों का सार्थक व समर्थ खण्डन ही नहीं किया, बरन् उन्हें जड़ से उखाड़ फेंका। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित साहित्य भाषा ब्रज में दार्शनिक विषयों का विवेचक ऐसा गद्य प्रस्तुत किया जो उनके पूर्व विरल है।

पंडितजी का समय ईस्वी का अठारहवीं सदी का मध्यकाल है। वह संक्रान्तिकालीन युग था। उस समय राजनीति में अस्थिरता सम्प्रदायों में तनाव, साहित्य में शृंगार, धर्म के क्षेत्र में रुढ़िवाद, आर्थिक जीवन में विषमता एवं सामाजिक जीवन में आडंबर, ये सब अपनी चरम सीमा पर थे। उन सब से पंडितजी को संघर्ष करना था जो उन्होंने डटकर किया और प्रणों की बाजी लगाकर किया।

पंडित टोडरमलजी गम्भीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के बनी, निराभिमानी, विवेकी अध्ययनशील, प्रतिभावान्, बाह्याडंबर विरोधी, हठ श्रद्धावी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकनेवाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रबचनकार, सिद्धान्त ग्रन्थों के सफल टीकाकार एवं परोपकारी महामानव थे।

वे विनम्र हठश्रद्धाली विद्वान् एवं सरल स्वभावी थे। वे प्रामाणिक महापुरुष थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज में तत्त्वज्ञान संबंधी प्रकरणों में उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किए जाते थे। वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। वार्षिक उत्सवों में जनता की अधिक

से-अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का प्रयोग आकर्षण के रूप में किया जाता था। गृहस्थ होने पर भी उनकी वृत्ति साधुता की प्रतीक थी।

पंडितजी के पिता का नाम जोगीदासजी एवं माता का नाम रम्मादेवी था। वे जाति से खण्डेलवाल थे और गोत्र था गोदीका, जिसे भौसा व बड़जात्या भी कहते हैं। उनके वंशज ढोलाका भी कहलाते थे। वे विवाहित थे पर उनकी इति व समुराल पक्षवालों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनके दो पुत्र थे—हरीचन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम भी उनके समान उच्च कोटि के विद्वान् और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। उनके पास बड़े-बड़े विद्वान् भी तत्व का रहस्य समझने आते थे। पंडित देवीदास गोधा ने “सिद्धान्तसार संग्रह टीका प्रशस्ति” में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पंडित टोडरमलजी की मृत्यु के उपरान्त वे पंडितजी द्वारा संचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे। उनके नाम से एक पंथ भी चला जो ‘गुमान पंथ’ के नाम से जाना जाता है।

पंडित टोडरमलजी की सामान्य शिक्षा जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापंथ) शैली में हुई, जिसका बाद में उन्होंने सफल संचालन भी किया। उनके पूर्व वादा वंशीधर जी उक्त शैली के संवाक्य थे। पंडित टोडरमलजी गूढ़तत्वों के तो स्वयंकुद ज्ञाता थे। ‘लब्धिसार’ व ‘क्षपणासार’ की संहितियाँ आरम्भ करते हुए वे लिखते हैं “शास्त्रावपेलिख्या नाही और बताने वाला मित्या नाही”।

संस्कृत, प्राकृत, और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। मूल ग्रंथों को वे कन्नड़ लिपि में पढ़-लिख सकते थे। कन्नड़ भाषा और लिपि का ज्ञान एवं अभ्यास भी उन्होंने स्वयं किया। वे कन्नड़

3. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका।

भाषा के ग्रंथों पर व्याख्यान करते थे एवं उन्हें कन्नड़ लिपि में लिख भी लेते थे। ब्र. रायमल ने लिखा है—

“दक्षिण देश सून पांच सात और ग्रन्थ ताड़पत्राविदे कर्णाटी लिपि में लिख्या इहाँ पधारे है, ताकू टोडरमलजी बाँचे है। बाका यथार्थ व्याख्यान करै है, बा कर्णाटी लिपि में लिखते हैं।

परम्परामत मान्यतानुसार उनकी आयु कुल 27 वर्ष कही जाती रही, परन्तु उनकी साहित्यिक साधना, ज्ञान व प्राप्त उल्लेखों को देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि वे 47 वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। इस सम्बन्ध में साधर्मि भाई ब्र. रायमल द्वारा लिखित चार्च संग्रह ग्रन्थ की अलीगंज (एटा उ. प्र.) में प्राप्त हस्त-लिखित प्रति के पृष्ठ 173 का निम्नलिखित उल्लेख विशेष दृष्टव्य है :-

“बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका का बारा हजार भोक्तामार्ग प्रकाशक ग्रन्थ उनके शास्त्रों के अनुस्वरि और आत्मानुशासनजी की टीका हजार तीन या तीनां ग्रन्थां की टीका भी टोडरमलजी सैंतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषं गमन की।”

उनकी मृत्यु तिथि विक्रम संवत् 1823-24 के लगभग निश्चित है, अतः उनका जन्म विक्रम संवत् 1776-77 में होना चाहिए।

पंडित बखतराम शाह के अनुसार कुछ मतोंध लोगों द्वारा लगाये गए शिवपिण्डी के उखाड़ने के आरोप के सदर्थ में राजा द्वारा सभी श्रावकों को कैद कर लिया गया था और तेरापयियों के गुरु महान धर्मिमा, महापुरुष पंडित टोडरमलजी को मृत्यु दण्ड दिया गया था। दुष्टों के मड़काने में आकर राजा ने उन्हें मात्र

प्राणदण्ड ही नहीं दिया बल्कि मंदगी में गड़वा दिया था। यह भी कहा जाता है कि उन्हें हाथी के पैर के नीचे कुचलवा कर मारा गया था।⁴

पंडित टोडरमलजी आध्यात्मिक साधक थे। उन्होंने जैन दर्शन और सिद्धान्तों का गहन अध्ययन ही नहीं किया अपितु उसे तत्कालीन जनभाषा में लिखा भी है। उसमें उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जन-साधारण तक पहुँचाना था। पंडितजी ने प्राचीन जैन ग्रंथों की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा-टीकाएँ लिखीं। इन भाषा-टीकाओं में कई विषयों पर बहुत ही मौलिक विचार मिलते जो उनके स्वतंत्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद में इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होंने कतिपय मौलिक ग्रन्थों की रचना भी की। उनमें से सात तो टीकाग्रन्थ हैं और पाँच मौलिक रचनाएँ। उनकी रचनाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है :-

(1) मौलिक रचनाएँ (2) व्याख्यात्मक रचनाएँ।
मौलिक रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों रूपों में हैं। गद्य रचनाएँ चार शैलियों में मिलती हैं :-

(क) वर्णनात्मक शैली, (ख) पत्रात्मक शैली;
(ग) यन्त्र रचनात्मक (चाट) शैली, (घ) विवेचनात्मक शैली।

वर्णनात्मक शैली में समीकरण आदि का सरल भाषा में सीधा वर्णन है। पंडितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शंकाएँ भेजते थे, उसके समाधान में वह जो कुछ लिखते थे, वह लेखन पत्रात्मक शैली के अन्तर्गत आता है। इसमें तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। इन पत्रों में एक पत्र बहुत महत्वपूर्ण है। सोलह पृष्ठीय यह पत्र ‘रहस्यपूर्ण चिट्ठी’ के नाम से

4. बुद्धि विलास : बखतराम साह, छन्द 1303, 1304।

5. (क) वीरबाणी : टोडरमल अंक पृ० 285, 286। (ख) हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० 500।

प्रसिद्ध है। यंत्र रचनात्मक शैली में चार्टों द्वारा विषय को स्पष्ट किया है। अर्थ संदृष्टि अधिकार इसी प्रकार की रचना है। विवेचनात्मक शैली में सैद्धान्तिक विषयों को प्रश्नोत्तर पद्धति में विस्तृत विवेचन कर के युक्ति व उदाहरणों से स्पष्ट किया है। मोक्षमार्ग प्रकाशक इसी श्रेणी में आता है।

पद्यात्मक रचनाएँ दो रूपों में उपलब्ध हैं :

- (1) भक्ति परक, (2) प्रशस्ति परक।

भक्तिपरक रचनाओं में गोमटसार पूजा एवं ग्रन्थों के आदि, मध्य और अन्त में मंगलाचरण के रूप में प्राप्त फुटकर पद्यात्मक रचनाएँ हैं। ग्रन्थों के अन्त में लिखी गई परिचयात्मक प्रशस्तियाँ प्रशस्तिपरक श्रेणी में आती हैं।

पंडित टोडरमलजी की व्याख्यात्मक टीकाएँ दो रूपों में पाई जाती हैं :—

1. संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ।
2. प्राकृत ग्रन्थों की टीकाएँ।

संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ आत्मानुशासन भाषा टीका और पुरुषार्थ सिद्धयुपाय भाषा टीका है। प्राकृत ग्रन्थों में गोमटसार जीवकाण्ड, गोमटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार हैं, जिनकी भाषा-टीकाएँ उन्होंने लिखी हैं।

गोमटसार जीवकाण्ड, गोमटसार कर्मकाण्ड लब्धिसार और क्षपणासार की भाषा-टीकाएँ पंडित टोडरमलजी ने अलग-अलग बनाई थीं, परन्तु उन चारों टीकाओं को परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित एवं परस्पर

एक का अध्ययन दूसरे के अध्ययन में सहायक जानकर उन्होंने उक्त चारों टीकाओं को मिलाकर एक कर दिया तथा उसका नाम “सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका” रख दिया।

‘सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका’ विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है। प्रारम्भ में इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका है। आज नवीन शैली में सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका का बड़ा महत्व माना जाता है। शैली के क्षेत्र में दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखी गई सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका आधुनिक भूमिका का आरंभिक रूप है, उसमें हलका-पन कहीं भी देखने को नहीं मिलता है। इसके पढ़ने से ग्रंथ का पूरा हार्द खुल जाता है एवं इस ग्रन्थ के पढ़ने में आनेवाली पाठक की समस्त कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। हिन्दी आत्मकथा साहित्य में जो महत्व महाकवि बनारसीदास के अर्द्ध कथानक को प्राप्त है, वही महत्व हिन्दी भूमिका साहित्य में ‘सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका’ की पीठिका का है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पंडित टोडरमलजी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैन साहित्य को अपने में समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न था, पर खेद है कि यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका, अन्यथा यह कहने में संकोच न होता कि यदि सम्पूर्ण जैन बाङ्गमय कहीं एक जगह सरल, सुबोध और जन-भाषा में देखना हो तो मोक्षमार्ग प्रकाशक को देख लीजिए। अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिए प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं⁶ एवं खड़ी बोली में

6. (क) बाबू ज्ञानचन्दजी जैन लाहौर, (वि० सं० 1954)।	(ड) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली
(ख) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई (सन् 1911)।	(च) वही।
(ग) बाबू पन्नालालजी चौधरी, वाराणसी (बी० नि० सं० 2451)।	(छ) वही।
(घ) अमन्त कीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई (बी० नि० सं० 2463)।	(ज) वही।

इसके अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हो चुके हैं। यह उर्दू में भी छप चुका है।⁸ मराठी और गुजराती में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।⁹ अभी तक सब कुल मिलाकर इसकी 51200 प्रतियाँ छप चुकी हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के दिगम्बर जैन मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों में इस ग्रन्थराज की हजारों हस्तलिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं। समूचे समाज में यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी पंडित टोडरमलजी दिगम्बर जैन समाज में सर्वाधिक पढ़े जाने-वाले विद्वान हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक की मूल प्रति भी उपलब्ध है।¹⁰ एवं उसके फोटोप्रिंट करा लिए गए हैं, जो जयपुर¹¹, बम्बई¹², दिल्ली¹³ और सोनगढ़¹⁴ में सुरक्षित हैं। इस पर स्वतंत्र प्रवचनात्मक व्याख्याएँ भी मिलती हैं।¹⁵

यह ग्रन्थ विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखा गया है। प्रयोक्तारों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। इसका प्रतिपाद्य एक गम्भीर विषय है,

पर जिस विषय को उठाया गया है उसके सम्बन्ध में उठनेवाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली में मनो-वैज्ञानिकता एवं मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शंका के समाधान में द्वितीय शंका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रन्थ को पढ़ते समय पाठक के हृदय में जो प्रश्न उपस्थित होता है उसे हम अगली पंक्ति में लिखा पाते हैं। ग्रन्थ पढ़ते समय पाठक को आगे पढ़ने की उत्सुकता बराबर बनी रहती है।

वाक्य रचना संक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एवं गम्भीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नहीं है पर विस्तार के संकोच में कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ कहीं भी विषय का विस्तार हुआ है वहाँ उत्तरोत्तर नवीनता आती गई है। वह विषय विस्तार सांगोपांग विषय विवेचना की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय

7. (क) अ० भा० दिगम्बर जैन संघ, मथुरा (वी० नि० सं० 2005)।
(ख) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (वी० नि० सं० 2023)।
(ग) " " " (वि० सं० 2026)।
(घ) " " " (वि० सं० 2030)।
8. दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, दरीबाकला, दिल्ली (वि० सं० 2027)।
9. (क) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़
(ख) महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा।
10. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, दीवान मदीचन्दजी, घीवालों का रास्ता, जयपुर।
11. वही, जयपुर।
12. श्री दिगम्बर जैन सीमंथर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई।
13. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, धर्मपुरा, देहली।
14. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़
15. आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा किए गये प्रवचन, मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण नाम से दो भागों में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से हिन्दी व गुजराती भाषा में कई बार प्रकाशित हो चुके हैं।

को उन्होंने छुआ उसमें “क्यों” का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

पंडितजी का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने संस्कृत, प्राकृत में निबन्ध आध्यात्मिक तत्वज्ञान को भाषा-गद्य के माध्यम से व्यक्त किया और तत्व विवेचन में एक नई दृष्टि दी। यह नवीनता उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि में है।

टीकाकार होते हुए भी पंडितजी ने गद्यशैली का निर्माण किया है। डॉ. शीतल ने उन्हें गद्य निर्माता स्वीकार किया है।¹⁶ उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल। उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह मोक्षमार्ग प्रकाशक में है। तत्कालीन स्थिति में गद्य को आध्यात्मिक चिन्तन का माध्यम बनाना बहुत सूझबूझ और श्रम का कार्य था। उनकी शैली में उनके चिंतक का चरित्र और तर्क का स्वभाव स्पष्ट झलकता है। एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्यशैली में व्यक्तित्व का प्रक्षेप उनकी मौलिक विशेषता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पंडित टोडरमल केवल न टीकाकार थे बल्कि आध्यात्म के मौलिक विचारक

भी थे। उनका यह चिन्तन समाज की तत्कालीन परिस्थितियों और बढ़ते हुए आध्यात्मिक शिथिलाचार के सन्दर्भ में एकदम सटीक है।

लोकभाषा काव्यशैली में ‘रामचरित मानस’ लिखकर महाकवि तुलसीदास ने जो काम किया, वही काम उनके दो सौ वर्ष बाद गद्य में जिन आध्यात्म को लेकर पंडित टोडरमलजी ने किया।

जगत के सभी मौलिक द्रव्यों से दूर रहनेवाले निरन्तर आत्मसाधना व साहित्य-साधनारत इस महा-मानव को जीवन की मध्यवय में ही साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होकर जीवन से हाथ धोना पड़ा।

इनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए लेखक के शोध प्रबन्ध “पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व”¹⁷ का अध्ययन करना चाहिये। इनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है :—

“तातें बहुर कहा कहिए” जैसे रागादि मिटवाने का श्रद्धान होय सो ही सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसे रागादि मिटवाने का जानना होय सोही सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसे रागादि मिटे सो ही सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।¹⁸

□ □

16. प्रकाशक : पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापुनगर, जयपुर-4।

17. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-313।

वैज्ञानिक सन्दर्भों में जैन धर्म

सप्तम खण्ड

“अणुरणोयान महतोमहीयान्”

(इस घरा पर जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु हमें दृष्टि-गोचर होती है उससे भी और अधिक सूक्ष्म वस्तुओं का अस्तित्व है और जो बड़े-से-बड़ा भूखण्ड दृष्टिगोचर होता है उससे भी और अधिक बड़े भूखण्ड मौजूद हैं।)

तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र के अध्याय 5 का 11वां सूत्र है “नाणोः” जिसका अर्थ है कि अणु से छोटी और कोई वस्तु नहीं है और आगे चलकर सूत्र 27 में कहा गया है “भेदादणुः” जिसका अर्थ है कि जड़ वस्तुओं के अनन्तवें भाग को अणु कहते हैं। उसका और विखण्डन नहीं हो सकता। जिसे हम साइन्स की भाषा में एटम कहते हैं वह जैन दर्शन का अणु नहीं है, परन्तु हम आपको पहले आधुनिक एटम का ही वृत्तान्त सुनाते हैं—

यदि आप जल-स्कंध को तोड़ने का प्रयत्न करेंगे तो जल, जल नहीं रहेगा। जल-स्कंध हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणुओं से मिलकर बना है, यह परमाणु पृथक् हो जावेंगे।

प्रो० जी० आर० जैन

अब हम हाइड्रोजन के परमाणु का विशेष वर्णन करते हैं। परमाणु, चाहे वह किसी भी पदार्थ का हो, पत्थर की गेंद की तरह ठोस नहीं है, वह अन्दर से खोखला है। परमाणु के केन्द्र में एक बीज है जिसे नाभि (न्युक्लीयस) कहते हैं और उसके चारों ओर पर्याप्त दूरी पर ऋण-विद्युत (इलेक्ट्रॉन) के कण ठीक

परमाणु और लोक

(ATOM AND THE UNIVERCE)

यदि हम जल की एक बूंद लें और उसके खण्ड करते चले जायें तो सबसे अन्तिम छोटे से छोटा खण्ड जिसमें जल के सभी गुण विद्यमान हों उस छोटे जल-कण को जल स्कंध कहते हैं। तीस ग्राम जल में इन स्कंधों की संख्या इतनी अधिक है कि यदि संसार के समस्त प्राणी-स्त्री पुरुष, बाल और वृद्ध-उन स्कंधों को गिनना प्रारम्भ कर दें और रात-दिन गिनते ही रहें और बहुत जल्दी-जल्दी 1 सेकंड में 5 की गति से गिनते रहें तो स्कंधों की पूरी संख्या को गिनने में 40 लाख वर्ष लगेंगे। इससे स्कंधों की सूक्ष्मता का भी आभास मिलता है।

उसी प्रकार चक्कर काटते रहते हैं जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर नियत परिधियों में ग्रह चक्कर लगाते हैं अथवा जिस प्रकार भगवान कृष्ण की रासलीला में गोपियाँ कृष्ण के चारों ओर चक्कर लगाया करती थीं। यह परमाणु संसार के प्रत्येक पदार्थ में असीम संख्या में व्याप्त हैं; उदाहरणस्वरूप समुद्र के जल की एक बूंद में स्वर्ण के 50 अरब परमाणु पाये जाते हैं। यह बात सुनकर तुम तुरन्त बाट्टी लेकर बम्बई की ओर न दौड़ पड़ना, क्योंकि परमाणु बहुत ही सूक्ष्म वस्तु है। समुद्र के 60 टन जल में से यदि सोने के सभी परमाणु एकत्रित करने में आप सफल भी हो गये तो, तब भी

उन परमाणुओं का तौल चौथाई रस्ती भी न बँटेगा। परमाणु की सूक्ष्मता का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि हाइड्रोजन के 20 करोड़ परमाणु यदि एक पंक्ति में रख दिये जायें तो पंक्ति की लम्बाई केवल 1 इंच होगी और 40 हजार शंख परमाणुओं का तौल केवल 1 खसखस के दाने के बराबर होगा। इतना छोटा होने पर भी यह अन्दर से पोला है। जितने स्थान में परमाणु की नाभि स्थित है उससे 1 लाख गुना दूरी पर इलेक्ट्रॉन चक्कर लगा रहे हैं। यूँ समझिये कि जैसे एक 30 फीट व्यास के मोले के केन्द्र में एक आलपिन की नोक रखी हो। ठीक उसी प्रकार परमाणु के मध्य में उसकी नाभि स्थित है। नाभि ऐसे पदार्थ से बनी है जिसके 1 घन सेंटीमीटर की तौल 24 करोड़ टन है जबकि 1 घन सेंटीमीटर सोने की तौल केवल डेढ़ तोला ही होती है। परमाणुओं के अन्दर की पोल को देखकर ही एक वैज्ञानिक ने कहा था कि “मनुष्य का शरीर जिन परमाणुओं से बना है उन परमाणुओं की अन्दर की पोल को यदि समाप्त कर दिया जाय और सब इलेक्ट्रॉन-प्रोटोन एक स्थान पर एकत्रित कर लिये जायें तो मनुष्य का शरीर केवल इतना-सा रह जायेगा कि नंगी आँख से तो नहीं किन्तु शायद सूक्ष्मदर्शी लेंस से दिखाई दे जाय।” सोचिये तो सही, इस खोखलेपन पर भी यह भौला मनुष्य अपने रूप और शक्ति के अहंकार में चूर है।

जब परमाणुओं के बीच की पोल निकल जाती है और केवल नाभियाँ ही एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं तो उस भारी पदार्थ की उत्पत्ति होती है जो लुब्धक (सीरियस) तारे के प्रकाशहीन साथी तारे में पाया जाता है और जो प्लैटिनम ने 2000 गुना अधिक भारी है, इसे ‘न्युक्लियर मैटर’ कहते हैं और भारतीय भाषा में ‘वज्र’ कह सकते हैं। इस प्रकाशहीन तारे का व्यास सूर्य के व्यास का 30 वां भाग है किन्तु इसकी तौल सूर्य की तौल का तीन-चौथाई है। हिसाब लगाने से पता चलता है कि जिस पदार्थ का यह बना हुआ है

यदि आप उसका इतना बड़ा टुकड़ा तोड़ लें जो आपको जाकट की जेब में समा जाय तो उसका वजन 1 टन से भी अधिक होगा।

जो धनुष भगवान राम ने तोड़ा था, बाल्मीकि रामायण के अनुसार वह दधीचि ऋषि की वज्रमयी हड्डियों का बना हुआ था और केवल 10 फीट लम्बा था। सम्भवतः इसी कारण वह इतना भारी था कि रावण जैसे महायोद्धा भी उसे हिला न सके।

परमाणु की नाभि के चारों ओर चक्कर काटने वाले इलेक्ट्रॉन 1 इंच लम्बाई में 50 खरब समा जाते हैं और 8 करोड़ शंख इलेक्ट्रॉनों की तौल केवल फोरत के दाने के बराबर होती है। यह इलेक्ट्रॉन 1300 मील प्रति सेकंड की गति से घूमते रहते हैं, जबकि बन्दूक की गोली 1 सेकंड में आधा मील ही जाती है।

परमाणुओं की नाभि में न केवल प्रोटोन ही पाये जाते हैं अपितु वहाँ न्यूट्रोन नाम का एक और कण भी होता है। न्यूट्रोन नाम के कण, उदासीन कण होने के कारण, परमाणुओं के वक्ष को भेदने में बड़े कुशल होते हैं। इनके सम्बन्ध में बिहारी की यह उक्ति ठीक बैठती है कि ‘देखन में छोटे लंगें, करें धाव गम्भीर।’ कई-कई फीट मोटे शीशे की चादरों के पार निकल जाने की इनमें क्षमता है, जिन्हें एक्स किरणें भी नहीं पार कर पातीं। इन्हीं न्यूट्रोन कणों की सहायता से एटम बम का विस्फोट होता है। जिस वायु से हम सांस लेते हैं उसमें भी न्यूट्रोन विद्यमान हैं। वायु के 1 अरब परमाणुओं में केवल 5 न्यूट्रोन कण हैं। यदि मनुष्य के शरीर में यूरेनियम (वह धातु जिसका एटम बम बनता है) होता तो सांस के साथ जानेवाले यह न्यूट्रोन हमारे शरीर का उसी प्रकार विस्फोट कर देते, जैसे एटम बम में होता है। परमपिता परमात्मा की लीला देखिये कि उसने मनुष्य का शरीर बनाने में उस मिट्टी का प्रयोग किया है जिसमें लोहा, ताँबा आदि धातुएँ तो थीं, किन्तु यूरेनियम नहीं था।

भिन्न-भिन्न तत्वों के परमाणु 92 प्रकार के हैं। ये सब प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रॉन की भिन्न-भिन्न संख्याओं से मिलकर बने हैं। अर्थात् इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दीवाली के त्यौहार पर बिकनेवाले खांड के खिलौनों के समान कोई बन्दर दिखता है और कोई रानी; किन्तु वे हैं सब एक ही खांड के बने हुये। रानी के खिलौने को गलाकर बन्दर बनाया जा सकता है।

हाइड्रोजन परमाणु के केन्द्र में 1 प्रोटोन है और उसके चारों ओर एक ही इलेक्ट्रॉन घूमता है। हीलियम गैस के परमाणु के केन्द्र में 2 प्रोटोन और 2 न्यूट्रोन हैं और 2 इलेक्ट्रॉन बाहर की परिधि में घूमते हैं। लीथियम के केन्द्र में 3 प्रोटोन और 4 न्यूट्रोन हैं और 3 इलेक्ट्रॉन बाहर की परिधि में घूमते हैं। इसी प्रकार यह संख्या बढ़ती चली गई है। तांबे के परमाणु में 29, चांदी में 47, सोने में 79, पारे में 80 और सबसे भारी परमाणु रेनियम में 92 प्रोटोन होते हैं।

प्रोटोन और न्यूट्रोन की तौल लगभग बराबर है। हल्के हाइड्रोजन के परमाणु केन्द्र में केवल 1 प्रोटोन है, उस परमाणु की तौल 1 है। भारी हाइड्रोजन के परमाणु की तौल 2 है, उसके केन्द्र में 1 प्रोटोन और 1 न्यूट्रोन हैं। हीलियम के परमाणु की तौल 4 है इसलिये उसमें 2 प्रोटोन और 2 न्यूट्रोन हैं। तांबे के परमाणु की तौल 65 है अतएव उसमें 29 प्रोटोन और 36 न्यूट्रोन हैं। पारे के परमाणु की तौल 200 है और उसमें 80 प्रोटोन और 120 न्यूट्रोन हैं। और यूरेनियम के परमाणु की तौल 238 है और उसके परमाणु केन्द्र में 92 प्रोटोन और 146 न्यूट्रोन हैं।

जिस भारी हाइड्रोजन का अभी उल्लेख किया है उससे 'भारी जल' का निर्माण हुआ है जिस प्रकार हल्के हाइड्रोजन से निरन्तर व्यवहार में आनेवाले जल का निर्माण हुआ है। यह भारी पानी प्रकृति ने हल्के पानी में ही मिला रखा है—6 सेर पानी में केवल 20 बूंद। लगभग 13000 टन पानी में से विद्युत द्वारा

1 मन भारी पानी पृथक् किया जाता है। निरा भारी पानी विष है। उसके पीने से मनुष्य मर जाता है। किन्तु जिस प्रकार मनुष्य कुचला, संख्या आदि विष अल्पन्त अल्प मात्रा में ताकत के लिये व्यवहार करते हैं उसी प्रकार प्रकृति ने भारी जल जैसे विष को अल्प मात्रा में साधारण जल में मिला दिया है—उन अभाग्य व्यक्तियों के लिये जो जीवन पर्यन्त निर्धनता अपने भाग्य में लिखाकर लाये हैं। यही कारण है असाधारण परिस्थितियों में मनुष्य इस भारी जल की चन्द बूंदों के सहारे कई-कई दिन भूखे काट देते हैं। विधि का विधान विलक्षण है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सोना, चांदी, लोहा आदि जो भिन्न-भिन्न पदार्थ इस धरा पर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इन सबका निर्माण एक ही प्रकार की ईंट-चूने से हुआ है। उनका नाम है—प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रॉन।

पुद्गल—संसार की रचना में दो द्रव्यों का प्रमुख भाग है—पहला जीव (चेतन) या आत्मा और दूसरे को प्रकृति (जड़) या अचेतन कहा जाता है। जैनचार्यों ने प्रकृति (जड़) को पुद्गल के नाम से पुकारा है और पुद्गल शब्द की व्याख्या उसके नाम के अनुरूप ही उन्होंने की है 'पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः' अर्थात् पुद्गल उमे कहते हैं जिसमें पूरण और गलन क्रियाओं के द्वारा नई पर्यायों का प्रादुर्भाव होता है। विज्ञान की भाषा में इसे पयूजन और फिशन या इन्टीग्रेशन और डिडिन्टीग्रेशन कहते हैं। एटम बम को फिशन बम और हाइड्रोजन बम को पयूजन बम इसी कारण कहा गया है। एटम बम में एटम के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और तब शक्ति उत्पन्न होती है और हाइड्रोजन बम में एटम परस्पर मिलते हैं तब उसमें शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

'तत्त्वार्थ सूत्र' के पंचम अध्याय सूत्र नं० 33 में कहा गया है—'स्निग्धरुक्षत्वाद्वंधः' अर्थात् स्निग्ध और

रक्षक गुणों के कारण एटम एक सूत्र में बंधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में एक स्थान पर लिखा है 'स्निग्धरक्षगुणनिमित्तो विद्युत्' अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रक्ष गुणों के कारण विद्युत् की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध का अर्थ चिकना और रक्ष का अर्थ खुरदरा नहीं है। ये दोनों शब्द वास्तव में विशेष टेक्निकल अर्थों में प्रयोग किये गये हैं। जिस तरह एक अनपढ़ मोटर ड्रायवर बैटरी के एक तार को ठंडा और दूसरे तार को गरम कहता है (यद्यपि उनमें से कोई तार न ठंडा होता है और न गरम) और जिन्हें विज्ञान की भाषा में पोजिटिव व निगेटिव कहते हैं, ठीक उसी तरह जैन धर्म में स्निग्ध और रक्ष शब्दों का प्रयोग किया गया है। डा० बी. एन. सील ने अपनी कैम्ब्रिज से प्रकाशित पुस्तक 'पोजिटिव साइन्सज ऑफ एनसियन्ट हिन्दूज' में स्पष्ट लिखा है कि जैनाचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को आपस में रगड़ने से पोजिटिव और निगेटिव बिजली उत्पन्न की जा सकती है। इन सब बातों के समक्ष, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पोजिटिव और रक्ष का अर्थ निगेटिव विद्युत् है। एटम की रचना का जो वैज्ञानिक स्वरूप हमने ऊपर खींचा है उससे स्पष्ट है कि संसार के सभी परमाणु, चाहे वह किसी भी पदार्थ के हों, प्रोटोन (स्निग्ध कण) और न्यूट्रोन (उदासीन कण) भिन्न-भिन्न संख्याओं में इनके मिलने से बने हैं। इस बात से 'स्निग्धरक्षात्वाद-बंधः' सूत्र की प्रामाणिकता सम्पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाती है। जब स्निग्ध अथवा रक्ष कणों की संख्या बढ़ानी पड़ती है तो उसे 'पूरण' क्रिया कहते हैं और जब घटानी पड़ती है तब उसे 'गलन' क्रिया कहते हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल के वैज्ञानिक विश्लेषण के ठीक अनुकूल जैनाचार्यों ने इस विलक्षण 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थों में बहुत वर्षों पहले किया था।

जिसे हम गलन क्रिया कहते हैं यूरेनियम और रेडियम नाम के पदार्थों में स्वतः ही स्वाभाविक रूप से होती रहती है और नये पदार्थों का जन्म होता है। यूरेनियम की एक डली में अल्फा, बीटा, गामा किरणें अबाध गति से निरन्तर निकलती रहती हैं और लगभग 2 अरब वर्षों में यूरेनियम की आधी डली रेडियम में परिवर्तित हो जाती है। यही गलन की प्रतिक्रिया रेडियम में भी रात-दिन हुआ करती है। रेडियम की एक डली का आधा भाग लगभग 6 हजार वर्षों में सीसे (लैड) में परिवर्तित हो जाता है।

वैज्ञानिकों ने इसी प्रक्रिया को कृत्रिम रूप से प्रयोग-शालाओं में उत्पन्न किया है। इस क्रिया में अतिशीघ्र-गामी न्यूट्रोन कणों को गोली के रूप में प्रयोग किया जाता है। इन गोलीयों से जब किसी परमाणु पर प्रहार किया जाता है तब उस परमाणु का हृदय विदीर्ण हो जाता है। परमाणु का रूपान्तर हो जाता है। इस प्रकार से वैज्ञानिकों ने नाइट्रोजन को ऑक्सीजन में, सोडियम को मैग्नेशियम में, मैग्नेशियम को एल्यूमीनियम में, एल्यूमीनियम को सिलिकन में, सिलिकन को फास्फोरस में, बेरीलियम को कार्बन में बदल कर दिखा दिया है। इससे पुद्गल शब्द की व्याख्या पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध होती है। सबसे आश्चर्यजनक घटना पारे को सोने में परिवर्तित करने की है। पारे का अणु भार 200 है और प्रोटोन का भार 1 है। जब पारे के परमाणु पर प्रोटोन का आघात होता है तो पूरण क्रिया के द्वारा 201 भार का परमाणु बना जाता है। अब इस परमाणु पर न्यूट्रोन की गोली द्वारा प्रहार किया जाता है तो उसमें से गलित होकर एक अल्फा कण बाहर निकल आता है। अल्फा कण का भार 4 है। 201 में से 4 कम हुये तो 197 भार का परमाणु रह जाता है। सोने का अणु भार 197 है। दूसरे शब्दों में पूरण और गलन की प्रतिक्रियाओं के द्वारा पारे का परमाणु सोना बन गया। (सोना बनाने की यह विधि बहुत महंगी पड़ती

है)। यहां पर हमें याद आता है कि नवीं शताब्दी में नालन्दा (बिहार) विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी नाभार्जुन ने यह घोषणा की थी कि मैं पारे का सोना बनाकर दुनिया की दरिद्रता को दूर कर दूंगा। उसकी भविष्यवाणी तो पूरी हो गई, किन्तु दरिद्रता का विनाश अभी बहुत दूर है।

विगत 10 वर्षों से परमाणु की एक और तस्वीर विज्ञान जगत में उभर रही है, जिसे परमाणु का क्वार्क मॉडल कहा जा रहा है। इस क्वार्क की अमेरिका और अन्य देशों में हर तरफ बड़ी खोज हो रही है—वायु मण्डल की ऊँचाइयों में और समुद्र की गहराइयों में; किन्तु लाखों आदमियों के अथक प्रयास के बावजूद अभी तक यह मिला नहीं है। किन्हीं सैद्धान्तिक कारणों से वैज्ञानिक इस बात से सहमत नहीं हैं कि प्रोटोन, न्यूट्रोन, इलेक्ट्रॉन अणु के मूलभूत तत्व हैं। उनके विचार में यह तीनों किसी ऐसे पदार्थ के संयोग से बने हैं जिसे उनने क्वार्क का नाम दिया है। आगे-पीछे जब इस क्वार्क की खोज हो जायेगी तो यही क्वार्क जैनों का पुद्गल होगा। कितनी विलक्षण बात है कि वैज्ञानिकों ने क्वार्क को षट्कोणी माना है और जैनों ने अपने पुद्गल परमाणु को 'गोमट्टसार' में षट्कोणी कहा है। हमें अपने पूर्व आचार्यों के इस ज्ञान पर गर्व है। उन्होंने आज से हजारों वर्ष पूर्व यह बात बतलाई थी कि ताप, प्रकाश और विद्युत जो शक्ति के रूप हैं, पुद्गल का स्थूल-सूक्ष्म रूप है। यही बात आगे चलकर सन् 1905 में संसार के महान वैज्ञानिक आइन्सटाइन ने बताई। उन्होंने इतना बतलाया कि 3000 टन पत्थर के कोयले को जलाने से जितनी उष्मा उत्पन्न होती है, यदि उसे एकत्रित करके तौलना सम्भव हो तो उसका तौल 1 ग्राम होगा। परमाणु की कहानी यहां समाप्त होती है।

जैन मान्यता के अनुसार यह लोक छः द्रव्यों का समुदाय है, अर्थात् यह ब्रह्माण्ड छः पदार्थों से बना है—जीव, अजीव (मैटर एण्ड एनर्जी), धर्म (मीडियम

ऑफ मोशन) वह माध्यम जिसमें होकर प्रकाश की लहरे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचती हैं, अधर्म (मीडियम ऑफ रैस्ट) यानी फील्ड ऑफ फोर्स, आकाश और काल (टाइम)। जैन ग्रंथों में जहाँ-जहाँ धर्म द्रव्य का उल्लेख आया है वहाँ धर्म शब्द का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। यहाँ धर्म का अर्थ न तो कर्त्तव्य है और न उसका अभिप्राय सत्य, अहिंसा आदि 'सत्कार्यों' से है। 'धर्म' शब्द का अर्थ है एक अदृश्य, अरूपी (नोन मटीरियल) माध्यम जिसमें होकर जीवादि भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ एवं ऊर्जा गति करते हैं। यदि हमारे और तारों के बीच में यह माध्यम नहीं होता तो वहाँ से आनेवाला प्रकाश, जो लहरों के रूप में धर्म द्रव्य के माध्यम से हम तक पहुँचता है, वह नहीं आ सकता था और ये सब तारे अदृश्य हो जाते।

यह माध्यम विश्व के कोने-कोने में और परमाणु के भीतर भरा पड़ा है। यह द्रव्य नहीं होता तो ब्रह्माण्ड में कहीं भी गति नजर नहीं आती। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी वस्तु के स्थायित्व के लिये उसकी शक्ति अविचल रहनी चाहिये। यदि उसकी शक्ति शनैः शनैः नष्ट होती जाय या बिखरती जाय तो कालान्तर में उस वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इस ब्रह्माण्ड को कुछ लोग तो ऐसा मानते हैं कि इसका निर्माण आज से कुछ अरब वर्ष पहले किसी निश्चित तिथि पर हुआ। दूसरी मान्यता यह है कि यह ब्रह्माण्ड अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है और ऐसा ही चलता रहेगा। आइन्सटाइन का विश्व सम्बन्धी वेलन (सिलिण्डर) सिद्धान्त में इसी प्रकार की मान्यता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह ब्रह्माण्ड तीन दिशाओं (लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई) में सिलिण्डर की तरह सीमित है किन्तु सीमा की दिशा में अनन्त है। दूसरे शब्दों में हमारा ब्रह्माण्ड अनन्त काल से एक सीमित पिण्ड की भांति विद्यमान है।

वैसे तो अगर हम यह सोचने लगे कि ये आसमान कितना ऊँचा होगा, तो उसकी सीमा की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। हमारा मन कभी यह मानने को तैयार नहीं होगा कि कोई ऐसा स्थान भी है जिसके आगे आकाश नहीं है। जैन शास्त्रों में भी विश्व को अनादि अनन्त बताया है और उसके दो विभाग कर दिये हैं— एक का नाम 'लोक' रखा है, जिसमें सूर्य, चन्द्रमा तारे आदि सभी पदार्थ गमित हैं और इसका आयतन 343 घनरज्जु है। आइन्सटाइन ने भी लोक का आयतन घन-मीलों में दिया है। एक मील लम्बा, एक मील चौड़ा और एक मील ऊँचे आकाश खण्ड को एक घनमील कहते हैं। इसी प्रकार एक रज्जु लम्बी, एक रज्जु चौड़ी और एक रज्जु ऊँचे आकाश खण्ड को एक घनरज्जु कहते हैं आइन्सटाइन ने ब्रह्माण्ड का आयतन 1037×10^{63} घनमील बताया है अर्थात् 1037 लिबकर उसके आगे 63 बिन्दु लगाने से जो संख्या बनेगी (कुल अंकों की संख्या 67) उतने घनमील विश्व का आयतन है। इसकी 343 के साथ समीकरण करने पर एक रज्जु 15 हजार शंख मील के बराबर होता है।

ब्रह्माण्ड के दूसरे भाग को 'अलोक' कहा गया है। लोक से परे सीमा के बन्धनों से रहित यह अलोकाकाश लोक को चारों ओर से घेरे हुये है। यहां आकाश के सिवाय जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है।

लोक और अलोक के बीच की सीमा का निर्धारण करनेवाला धर्म द्रव्य अर्थात् 'ईश्वर' है। चूंकि लोक की सीमा से परे ईश्वर का अभाव है इस कारण लोक में विद्यमान कोई भी जीव या पदार्थ अपने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप में अर्थात् एनर्जी के रूप में भी लोक की सीमा से बाहर नहीं जा सकता। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि विश्व के समस्त पदार्थ और उसकी सम्पूर्ण शक्ति लोक के बाहर नहीं बिखर सकती

और लोक अनादि काल तक स्थायी बना रहता है। यदि विश्व की शक्ति शून्य: शून्य: अनन्त आकाश में फैल जाती तो एक दिन इस लोक का अस्तित्व ही मिट जाता। इसी स्थायित्व को कायम रखने के लिये आइन्सटाइन ने कर्वेचर ऑफ स्पेस की कल्पना की। इस मान्यता के अनुसार आकाश के जिस भाग में जितना अधिक पुद्गल द्रव्य (मैटर) विद्यमान रहता है उस स्थान पर आकाश उतना ही अधिक गोल हो जाता है। इस कारण ब्रह्माण्ड की सीमायें गोलाईदार हैं। शक्ति जब ब्रह्माण्ड की गोल सीमाओं से टकराती है तब उसका परावर्तन हो जाता है और वह ब्रह्माण्ड से बाहर नहीं निकल पाती। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की शक्ति अक्षुण्ण बनी रहती है और इस तरह वह अनन्त काल तक चलती रहती है।

पुद्गल की विद्यमानता से आकाश का गोल हो जाना एक ऐसे लोहे की गोली है जिसे निगलना आसान नहीं। आइन्सटाइन ने इस ब्रह्माण्ड को अनन्त काल तक स्थायी रूप देने के लिये ऐसी अनूठी कल्पना की। दूसरी ओर जैनाचार्यों ने इस मसले को यूँ कहकर हल कर दिया कि जिस माध्यम में होकर वस्तुओं, जीवों और शक्ति का गमन होता है, लोक से परे वह है ही नहीं। यह बड़ी युतिसंगत और बुद्धिगम्य बात है। जिस प्रकार जल के अभाव में कोई मछली तालाब की सीमा से बाहर नहीं जा सकती, उसी प्रकार लोक से अलोक में शक्ति का गमन ईश्वर के अभाव के कारण नहीं हो सकता। जैन शास्त्रों का धर्म द्रव्य मैटर या ईश्वर के अभाव के कारण नहीं हो सकता। जैन शास्त्रों का धर्म द्रव्य मैटर या एनर्जी नहीं है, किन्तु साइन्सवाले ईश्वर को एक सूक्ष्म पौद्गलिक माध्यम मानते आ रहे हैं और अनेकानेक प्रयोगों द्वारा उसके पौद्गलिक अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु वे आज तक इस दिशा में सफल नहीं हो पाये हैं। हमारी दृष्टि से इसका एकमात्र कारण यह है कि ईश्वर अरूपी पदार्थ है। कहीं तो वैज्ञानिकों ने ईश्वर को हवा

से भी पतला माना है और कहीं स्टील से भी अधिक मजबूत। ऐसे परस्पर विरोधी गुण वैज्ञानिकों का ईश्वर में पाये जाते हैं और चूँकि प्रयोगों के द्वारा वे उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सके हैं इसलिये आवश्यकता-नुसार वे कभी उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं और कभी इन्कार। वास्तविकता यही है जो जनागम में बतलाई गई है कि ईश्वर एक अरूपी द्रव्य है जो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण में समाया हुआ है और जिसमें से होकर जीव और पुद्गल का गमन होता है। यह ईश्वर द्रव्य प्रेरणात्मक नहीं है, यानी किसी जीव या पुद्गल को चलने की प्रेरणा नहीं करता वरन् स्वयं चलनेवाले जीव या पुद्गल की गति में सहायक हो जाता है, जैसे ऐंजिन के चलने में रेल की पटरी (लाइनें) सहायक हैं। इस द्रव्य के बिना किसी द्रव्य की गति सम्भव नहीं है।

अब हम पाठकों को विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ बातें बताते हैं—हिन्दुओं के संकल्प मन्त्र के अनुसार इस पृथ्वी का जन्म आज से 1 अरब 97 करोड़ 29 लाख 49 हजार 76 वर्ष पूर्व हुआ। संकल्प मन्त्र इस प्रकार है—ओऽम् तत्सत् ब्रह्मणे द्विताये पराद्धे, श्री श्वेत वाराह कल्पे, वैवस्वत् मन्वन्तरे अष्टा-विंशतितमे युगे, कलियुगे, कलि प्रथम चरणे इत्यादि।'

(संकल्प मन्त्र में से सृष्टि सम्बत् की यह संख्या किस प्रकार निकलती है, लेख का कलेवर बड़ जाने के भय से हम यहाँ बतलाना उचित नहीं समझते।)

कुछ समय पूर्व साइन्स की भी यही धारणा थी कि पृथ्वी का जन्म लगभग 2 अरब वर्ष पूर्व हुआ, किन्तु अब यह मान्यता बदल गई है। एक मान्यता ऐसी है कि पृथ्वी के प्रशान्त महासागर से चन्द्रमा का जन्म हुआ। अमृत-मंथन की कथा में इसी बात का संकेत मिलता है। जब चन्द्रमा पृथ्वी से पृथक् हुआ तो उसकी गति मित्र थी और यह गति अब घट गई है और जिस रेट से यह घट रही है उसका हिसाब लगाने से सृष्टि

की आयु 4 अरब 60 करोड़ वर्ष निश्चित होती है। सृष्टि की आयु से अभिप्राय यह है कि आज जिस रूप में हम सृष्टि को देख रहे हैं वह रूप लगभग साढ़े चार अरब वर्ष पुराना है।

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? विज्ञान के क्षेत्र में इस सम्बन्ध में मुख्य दो सिद्धान्त हैं—(1) महान आकस्मिक विस्फोट का सिद्धान्त, और (2) सतत् उत्पत्ति का सिद्धान्त।

महान आकस्मिक विस्फोट का सिद्धान्त जिसे सन् 1922 में रूसी वैज्ञानिक डा० फ्रैंडमैन ने जन्म दिया, हिन्दुओं की कल्पना से मेल खाता है। जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड का जन्म हिरण्य गर्भ (सोने का अण्डा) से हुआ। सोना धातुओं में सब से भारी है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिस पदार्थ से विश्व की रचना हुई है वह बहुत भारी था। उसका घनत्व सब से अधिक था। बढ़ते-बढ़ते यही अण्डा विश्वरूप हो गया।

अमेरिका के प्रोफेसर चन्द्रशेखर ने गणित के आधार पर बतलाया है कि विश्व रचना के प्रारम्भ में पदार्थ का घनत्व लगभग 160 टन प्रति घन इंच था। जबकि 1 घन इंच सोने का तोल केवल 5 छटांक होता है। दूसरे शब्दों में वह पदार्थ अत्यन्त भारी था।

आजकल के वैज्ञानिक इस प्रश्न पर दो समुदायों में बँटे हुये हैं—एक वह जिनका मत है कि यह ब्रह्माण्ड अनादिकाल से अपरिवर्तित रूप में चला आ रहा है और दूसरा वह जो यह विश्वास करते हैं कि आज से अनुमानतः 10 या 20 अरब वर्ष पूर्व एक महान आकस्मिक विस्फोट के द्वारा इस विश्व का जन्म हुआ। हाइड्रोजन गैस का एक बहुत बड़ा घनत्व हुआ बबूला अकस्मात फट गया और उसका सारा पदार्थ चारों दिशाओं में दूर-दूर तक छिटक पड़ा और आज भी वह पदार्थ हम से दूर जाता हुआ दिखाई दे रहा है।

ब्रह्माण्ड की सीमा पर जो क्वैसर नाम के तारक पिण्डों की खोज हुई है जो सूर्य से भी 10 करोड़ गुना अधिक चमकीले हैं, हम से इतनी तेजी से दूर भागे जा रहे हैं कि इनसे आकस्मिक विस्फोट के सिद्धान्त की पुष्टि होती है (भागने की गति 70,000 से 150,000 मील प्रति सेकंड)। किन्तु भागने की यह क्रिया एक दिन समाप्त हो जायेगी और यह सारा पदार्थ पुनः पीछे की ओर गिरकर एक स्थान पर एकत्रित हो जायेगा और विस्फोट की पुनरावृत्ति होगी। इस सम्पूर्ण क्रिया में 80 अरब वर्ष लगेंगे और इस प्रकार के विस्फोट अनन्त काल तक होते रहेंगे। जैनाचार्यों ने इसे परिणमन की क्रिया कहा है। इसमें षट्गुणी हानि वृद्धि होती रहती है।

दूसरा प्रमुख सिद्धान्त सतत् उत्पत्ति का सिद्धान्त है जिस अपरिवर्तनीय अवस्था का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसका अनुसार यह ब्रह्माण्ड एक घास के खेत के समान है जहाँ पुराने घास का तिनके भरते रहते हैं और उसके स्थान पर नये तिनके जन्म लेते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि घास के खेत की आकृति सदा एक-सी बनी रहती है। यह सिद्धान्त जैन धर्म के सिद्धान्त से अधिक मेल खाता है। जिसके अनुसार इस जगत का न तो कोई निमाण करनेवाला है और न किसी काल विशेष में इसका जन्म हुआ। यह अनादि का। से ऐसा ही चला आ रहा है और अनन्त काल तक ऐसा ही चलता रहेगा। हमारी मान्यता गीता की उस मान्यता के अनुकूल है, जिसमें कहा गया है—

“न कर्तृत्वं न कर्माणि, न लोभस्य सृजति प्रभु।”

एम० आई० टी० (अमरीका) के डा० फिलिप नोरीसन इस सम्बन्ध में कहते हैं—“ज्योतिषियों ने जो अब तक परीक्षण किये हैं उनके आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि खगोल उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में से कौनसा सिद्धान्त सही है।

इस समय इनमें से कोई सा भी सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप से वस्तु स्थिति का वर्णन नहीं करता।”

इस सम्बन्ध में हम संसार के महान वैज्ञानिक प्रो० आइन्स्टाइन का सिद्धान्त ऊपर वर्णन कर चुके हैं, जिसके अनुसार यह संसार अनादि अनन्त सिद्ध होता है।

विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लेख का निष्कर्ष यह निकलता है कि महान आकस्मिक विस्फोट सिद्धान्त के अनुसार इस ब्रह्माण्ड का प्रारम्भ एक ऐसे विस्फोट के रूप में हुआ, जैसा अतिशबाजी के अनार में होता है। अनार का विस्फोट तो केवल एक ही दिशा में होता है। यह विस्फोट सब दिशाओं में हुआ और जिस प्रकार विस्फोट के पदार्थ पुनः डमी बिन्दु की ओर गिर पड़ते हैं, इस विस्फोट में भी ऐसा ही होगा। सारा ब्रह्माण्ड पुनः अण्डे के रूप में संकुचित हो जायेगा। पुनः विस्फोट होगा और इस प्रकार की पुनरावृत्ति होती रहेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार भी ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति शून्य में से नहीं हुई। पदार्थ का रूप चाहे जो रहा हो, इसका अस्तित्व अनादि अनन्त है।

दूसरा सिद्धान्त सतत् उत्पत्ति का है। इसकी तो यह मान्यता है ही कि ब्रह्माण्ड रूपी धमन अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है और चलता रहेगा। इस सिद्धान्त की आइन्स्टाइन का आशीर्वाद भी प्राप्त है। अतएव जगत उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का सिद्धान्त सोलहों आने पूरा उतरता है।

इस लेख की समाप्ति हम यह कहकर कर रहे हैं कि 343 घन रज्जु इस लोक में इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन आदि मूलभूत कणों की संख्या 10^{72} से लेकर 10^{75} तक है, अर्थात् 1 का अंक लिखकर 73 या 75 बिन्दु लगाने से यह संख्या बनेगी।

अतुरणोयान महतोमहीयान



जैन गणित-विज्ञान की शोध दिशाएँ

लक्ष्मीचन्द्र जैन

वर्तमान वैज्ञानिक आधारों पर हुई खोजों के विज्ञान पर प्रकाशित हो चुके हैं।¹ ये लेख सतही संदर्भ में अमिनव अवधि में अनेक लेख जैन गणित एवं अथवा साहित्यिक नहीं हैं, किन्तु एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

1. (अ) Datta B. B., The Jaina School of Mathematics, Bull. Cal. Maths. Soc., 21 (1929) pp. 115-145.
- (ब) Datta B. B., Mathematics of Nemicaandra, The Jaina Antiquary, Arrah, 1, no. ii (1935) pp. 25-44.
- (स) Singh A. N., Mathematics of Dhavala - I, Satkhandagama, book iv, edited by Dr. H. L. Jain and others, Amaraoti, 1942. pp. v - xxi.
- (द) Singh, A. N., History of Mathematics in India from Jaina Sources, The Jaina Antiquary, 15, no. ii, (1949). pp. 46-53; and 16, no. ii (1950), pp. 54-69. The Central Jaina Oriental Library, Arrah.
- (इ) Jain, L. C., Tiloapannatti ka Ganita, Reprinted from introduction to Jambu Divapannatti Samgaho, Jivaraj Granthamala, Sholapur, 1958, pp. 1-109.
- (फ) Jain L. C., On the Jaina School of Mathematics, Babu Chotelal Jaina Smriti Grantha, Calcutta, 1967, pp. 265-292.
- (क) Jain, L. F., Set Theory in Jaina School of Mathematics, I. J. H. S. vol, 8, no. 1, 1973, pp 1-27.
- (ख) Jain, L. C., The Kinematic Motion of astral real and counter Bodies in Trilok-asara, I. J. H. S., vol. II, no. 1, 1976, pp. 58-74.
- (ग) Das, S. R., The Jaina Calendar, The Jaina Antiquary, Arrah, vol. 3, no. ii, sep. 1973, pp. 31-36

अपनाकर प्रस्तुत किये गये हैं। वलोदस्की ने श्रीधर तथा महावीराचार्य पर विशेष शोध लेख लिखे हैं। सिकदार के लेखों में जहाँ दर्शन और विज्ञान को यथा-योग्य मर्यादाओं तक विस्तृत कर नवीनता प्रखर उठी है, वहाँ महेन्द्र कुमार एवं जैन के लेखों में इतिहास, गणित एवं विज्ञान के विभिन्न पहलुओं को संयुक्त क्षेत्रों की खोज प्रस्तुत की गयी है। दत्त और सिंह ने बुनियादी कार्य किया है गणित इतिहास का, तथा गुप्ता ने गणित इतिहास की अज्ञात गहराइयों में पहुँच की है। लिश्क एवं शर्मा ने जैन ज्योतिष के गणितानुयोग पर कार्य किया है तथा सरस्वती ने प्राकृत ग्रंथों के गणित पर अभिव्यञ्जना की है। शुक्ला ने आर्यभट्ट प्रथम के

टीकाकार भास्कर प्रथम की टीका में पूर्ववर्ती प्राकृत ग्रंथों की आर्याओं और गाथाओं को खोजा है। अग्रवाल का शोध प्रबन्ध विस्तृत रूप में जैन गणित और ज्योतिष की जानकारी देता है। इस प्रकार अब तक जो कार्य हो चुका है वह नई शोध दिशाओं की ओर इंगित करता है तथा विभिन्न विद्या के केन्द्रों में जैन गणित-विज्ञान में शोध हेतु यथोचित प्रबन्ध कराने की ओर प्रेरणा देता है। ध्यान रहे कि यह सब शोध मुख्यतः ऐसे स्थानों में हुआ है जहाँ जैन ग्रंथ केन्द्र नहीं हैं अतः ये अनेक ग्रंथों के अभाव में हुए हैं। गोस्मटसारदि ग्रंथों की वृहद् टीकाओं की सामग्री में पंडित टोडरमल द्वारा बड़ा अंशदान है और उक्त प्रायः 3000 पृष्ठों की

-
- (घ) Shastri, N. C., Bhartiya Jyotisa ka Posaka Jaina Jyotisa. Varni Abhinandana Grantha, Saugor, 1962. pp.
 - (च) Sikdara, J. C., Jaina Atomic Theory, I. J. H. S., 5.2 (1970), pp. 197-218.
 - (छ) Shukla, K. S. Hindu Mathematics in the seventh century as found in Bhaskara I's commentary on Aryabhata's (iv), Ganita, vol. 23, Dec, 1972, no. 2, pp. 41-50.
 - (ज) Gupta, R. C., Circumference of the Jambudvīpa in Jaina Cosmography, vol. 10, no. 1, 1975, 38-46.
 - (झ) Volodarsky, A. I., Articles on Sridhara and Mahavira, Fiziko matematicheskie nauki V stranakh vostoka 1 (1966) and 2 (1969). Cf. also a special chapter on India, History of Mathematics from the earliest Times to the Beginning of the 19th Century, vol. I, edited by A. P. Yushkevich (Moscow 1970-1972).
 - (ट) Lishk S. S., and Sharma S. D., The Evolution of Measures in Jain Astronomy, Tirthankar, vol 1, nos. 7-12, Jul.-Dec. 1975, pp. 83-92.
 - (ठ) Jain, L. C., Aryabhata the Astronomer and Yativrsabha, the Cosmographer, ibid, pp. 102-106.
 - (ड) प्रमुख शोध प्रबन्धों में मुकुट बिहारी अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत, "गणित एवं ज्योतिष के विकास में जैनाचार्यों का योगदान" आचारा विश्वविद्यालय, 1972 है, तथा लिश्क, सज्जनसिंह द्वारा जैन ज्योतिष—बेदांगोत्तर एवं हेलेनयुगपूर्व, नामक शोध प्रबन्ध पंजाब विश्वविद्यालय में अक्टूबर '76 में प्रस्तुत होने जा रहा है। महावीरराज गेलड़ा द्वारा भी रसायन विज्ञान में शोध अग्रसर है।

सामग्री शोध छात्रों हेतु शीघ्र ही छपाना अब अति आवश्यक प्रतीत हो रहा है।²

जैन लौकिक गणित एवं ज्योतिष की (व्यावहारिक) गणित रूप में महावीराचार्य, श्रीधराचार्य तथा राजादित्य ठक्कर फेरू ने विकसित किया। ज्योतिष के गणित को विकसित करने में प्रमुख रूप से कालकाचार्य, हरिभद्र, चन्द्रलेख, महेन्द्र सूरी, लब्धचन्द्र गणि के अंशदान भी उल्लेखनीय हैं।³

उपरोक्त लौकिक रूप लोकोत्तर गणित-ज्योतिष से भिन्न रूप से विकसित हुआ प्रतीत होता है। विशेषकर कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी गणित को विकसित करने के लिए तिलोय पण्णत्ती⁴ जैसे ग्रंथों में आधार निमित्त किया गया है। षट्खण्डागम⁵ के प्रथम पाँच खंडों में भूमिका डाली गयी है तथा महाबन्ध ग्रंथों⁶ में बन्ध तत्त्व का निरूपण राशि सिद्धान्त के आश्रय से किया गया है। पुनः कसाय पाहुड⁷ में उपशम और क्षपणा के गणितीय रूप का निखार है। इन ग्रंथों के सार रूप एवं टीका रूप ग्रंथों में तथा इतर श्वेताम्बर कार्यादि ग्रंथों में गणित विज्ञान की सामग्री इतिहास तथा प्रयोग एवं विश्लेषण शोध कार्य हेतु अद्वितीय है।

इतिहास सम्बन्धी गणित ज्योतिष एवं कर्मगणित सिद्धान्त की शोध—

इस लेख में हम मुख्यतः लोकोत्तर गणित-विज्ञान शोध का विवरण प्रस्तुत करेंगे। लोकोत्तर गणितादि के प्रमाण यूनान, भारत और चीन में बेबिलनीय स्रोत के कुछ अंश लेकर प्रकट हुए हैं, जिनमें रवानी लाने का श्रेय वर्द्धमान महावीरकालीन मुनि मंडल को है जिनके अंशदान पश्चिम और पूर्व के उच्च मस्तिष्कों के लिए प्रेरणा एवं कौतूहल की वस्तु बन गये। यह निश्चित है कि महावीर पूर्व परम्पराओं की अभिलेख-बद्ध सामग्री मिश्र, चीन, बेबिलिन, सुमेरु आदि स्थलों पर जिस रूप में उपलब्ध है वह भारत में सिन्धु हड़प्पा के अज्ञात रूप में दिखाई देती है, किन्तु उन सभी में वह शक्ति नहीं थी कि वे विश्व की महावीरकालीन जागृति की ज्योति में नये गणित का उद्भव कर सकें।⁸ इसी हेतु इतिहास का यह पक्ष उभारना श्रेयस्कर होगा कि कर्म सिद्धान्त का निर्माण करने में जिस गणित विद्या की आवश्यकता हुई वह लोकोपकारी प्रवृत्ति को लेकर हुई तथा उसे उन्नत करने में विश्व के प्रत्येक भाग में विभिन्न गणित की शाखाएँ प्रस्फुटित होती चली गयीं। अलौकिक प्रेरणा का स्रोत भारत, यूनान तथा

2. गोम्मटसार, लब्धिसार एवं क्षपणासार, (वृ. तीन टीकाओं सहित), गांधी हरिभाई देवकरण ग्रंथमाला, कलकत्ता, 1919। इनमें पं टोडरमल कृतं सम्यक्ज्ञान चन्द्रिका टीका है जिसमें अर्थ संहृष्टि अधिकार अलग से दिये गये हैं।
3. देखिये, नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्योतिष, ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1970 पृ. 125—160।
4. तिलोय पण्णत्ती भाग 1 (1943), तथा भाग 2 (1952), शोलापुर।
5. षट्खण्डागम, (धवल टीका स.) भाग 1—16, डा. हीरालाल आदि, (अमरावती विविदा 1939—1959)
6. महाबन्ध, भाग 1—7, ज्ञानपीठ—काशी (पं. नु. चं. दिवाकर एवं पं. फू. चं. सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित), 1947—1958
7. कसायपाहुड—सूत्र और चूर्ण अनुवादादि, पं. हीरालाल सि. शा. कलकत्ता—1955। साथ ही, कसाय पाहुड (जयधवल टीका), मथुरा 1944 आदि।
8. देखिये, B. L. Vander Waerden, Science Awakening, Holland, 1945।

चीन रहा, किन्तु अहिंसा और सत्य के रूपों का चित्रण जिस रूप में वर्तमानकालीन भारत में हुआ, तथा उनकी विचारधारा में हुआ वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।⁹

गणित के गणित-इतिहासकार भले ही ऐसे स्रोत की प्रत्यक्ष उपस्थिति की परिकल्पना बेबलन में क्यों न करें किन्तु गणितीय विधियों में आमूल-मूल परिवर्तन प्राकृत ग्रंथों में ही — न्यायायिक समन्वय लिए, पर्याप्त रूप में सुझाव आवश्यक कारणों से हुआ दृष्टिगत होता है। अतः सिद्धान्त में ही अनादि अनन्त विषयक द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव राशियाँ, उनके अल्प-बहुत्व, उनका अन्तर्ग्रहण सलगा गणन, उनका वैश्लेषिक अध्ययन आदि किया गया है। सर्वाधिक रहस्य उस इतिहास का है जो क्रांतिकारी सिस्टम सिद्धान्त के तथ्यों को कर्मों के सामयिक विलक्षण परिवर्तनों में प्रकट करता है।

जहाँ इटली में जीनो (460 ई. पू.) के अनन्त-विभाज्यता सम्बन्धी तर्क विस्मय और कौतूहल उत्पन्न करते हैं, तथा यूनानियों को अनन्त की गणना से भयभीत करते हैं,¹⁰ तथा जहाँ चीन में 'हुई शिह' (पाँचवीं सदी ई. पू.) के असद्भास¹¹ से सहसम्बद्ध प्रतीत होते हैं वहाँ प्राकृत ग्रंथों में वे सिद्धान्त रूप से उपधारित किये जाकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की प्ररूपणा

का आधार बनते हैं। (धवल पु. 3 एवं 4)। कणाद¹² से प्रायः 200 वर्ष पूर्व जहाँ उमास्वाति ने पुद्गल परमाणु और उसके अविभागी प्रतिच्छेद (शक्ति-अंशों) की चर्चा की है वहाँ उसी आधार पर सीमित क्षेत्र में अनन्त-विभाज्यता का खण्डन करने वाले जीनों के तर्क और मोशिन (370 ई. पू.) की बिन्दु-परिभाषा सह-सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।¹³ अविभागी समय सम्बन्धी प्रकरण जीनों के अंतिम दो तर्कों का विषय बनते हैं। प्राकृत ग्रंथों में अनेक प्रकार के अविभागी प्रतिच्छेद यथार्थ अनन्तों के इतिहास का निर्माण करते हैं तथा अनेक प्रकार के द्रव्यात्मक, भावात्मक, कालात्मक एवं क्षेत्रात्मक अनन्तों के अल्प-बहुत्व को देकर इतिहास में अमरत्व प्रदान करते हैं। (ये प्रकरण धवल पु. 3 तथा 4 में तथा महाबन्ध ग्रन्थों में विशेष रूप से निर्वचनीय किये गये हैं।)

अनन्तों के अल्प-बहुत्व के प्रकरण यूरोप में पुनः गैलिलियो (1564—1642) की एक-एक संवाद चर्चाओं में प्रकट होते हैं¹⁴ तथा जार्ज केण्टर (1845-1958) के जीवन भर के अथक, अटूट, दुस्साहसपूर्ण प्रयासों में जन्म लेते हैं¹⁵ तथा वृक्ष रूप में पल्लवित होते हैं। उसके फलस्वरूप प्रायः 25 वर्ष से प्रस्फुटित हुए सिस्टम-सायबर्नेटिक सिद्धान्त हैं जिन्हें कर्म-सिद्धान्त

प्रा.देखिये, महावीराचार्य—गणित सार संग्रह—प्रस्तावना, शोलापुर 1963।

10. T. Heath, Greek History of Mathematics, vol. I (1921) pp. 275 et seq.

11. Needham J. and Ling W., Science and Civilization in China, vol. 1, Cambridge, p. 144 (1954), vol. 3. (1959).

12. देखिए Ray, P., History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Calcutta, 1956, pp. 46, 291, et seq.

13. देखिये, नीधम, भाग 1, पृ. 155। धवला पुस्तक 3 तथा 4 भी देखिए। आज का गणित अपरि-भाषित बिन्दु को लेकर व्यवहार करता है।

14. Bell E. T., Development of Mathematics, 1945, p. 273.

15. Fraenkel A. A., Abstract Set Theory, 1953, introduction.

का गणित, नवीन सामग्री अपने राशि सिद्धान्त पर आधारित कर दे सकेगी।¹⁶ (देखिये लब्धिसार एवं क्षणसार-बृहदटीकाएँ।) जहाँ जार्ज केन्टर को कोई ऐसी आवश्यकता का कोई आधार नहीं था वहाँ प्राकृत ग्रंथों के इस गणित को कर्म-सिद्धान्त प्रतिपादित करने की कठोर आवश्यकता का विशाल एवं गहन आधार था। परिणामों की अतीव निर्मलता का उद्देश्य जगत इतिहास की उपेक्षा करने में अपने नामों को छिपाकर अमर हो गया। प्रायः प्रत्येक घटना में सातता, अनुमान और अभिविन्दुता प्रस्थापित कर समाधान कर लिया जाता है। किन्तु असीम गहराइयों और अनन्त ऊचाइयों में पहुँच करने हेतु नवीन गणितीय उपकरणों का आविष्कार करना होता है—वह आज की आधुनिक ज्यामिति और बीजगणित जिनका सहसम्बन्ध प्राकृत ग्रंथों के क्षेत्रों और बीजों से करने परने पर इतिहास के पृष्ठ स्वर्णिम किए जा सकते हैं।

स्पष्ट है कि वर्द्धमान युग में एक नवीन पथ की ओर मोड़ देने के लिए, सर्वदृष्टियों से आदर्श को तौलने के लिये, भारत तथा विदेशों में भी प्रचलित लौकिक गणितों की साधन रूप में अवश्य चुना गया होगा। उसमें नवीन प्रसाधन अपने साध्यों के आधार पर आविष्कृत किये गये होंगे और युगान्तर में उनका प्रचलन पुनः-पुनः हारमोनिय भावों में देश-देशान्तरों में होता चल गया होगा। अमिलेखबद्ध सामग्री से प्रतीत होता है कि नवीन पद्धतियों का उपयोग सम्भवतः निम्न-रूप में विकसित हुआ होगा :—

1. विविध प्रतीकत्व का विकास (देखिए ति. प. एवं अ. सं.)

2. संख्याएँ लिखने तथा व्यक्त करने में दसार्हा आदि पद्धतियों का प्रयोग
3. ह्रासित गुण्य राशियों के लिखने में स्थानार्हा पद्धति का प्रयोग (अ. सं.)
4. सलागा गणन का उपयोग (धवल, पु. 3-4)
5. एक-एक, एक-बहु तथा बहु-बहु संवाद विधि का प्रयोग (धवल, पु.-3)
6. विरलन-देय गुणन तथा वर्गन संवर्गन विधियों का प्रयोग (धवल एवं तिलोपपण्णत्ती)
7. क्षेत्र प्रयोग विधि तथा काल प्रयोग विधि का उपयोग (धवल, पु. 3)
8. वर्गादि स्थानों में खण्डित, भाजित, वरलित, अपहृत, प्रमाण, कारण, निरुक्ति एवं विकल्प विधियों का प्रयोग। (धवल, पु. 3, पृ. 40, आदि)
9. धाराओं द्वारा अनेक अनन्तात्मक एवं असंख्यात्मक तथा संख्येय राशियों के पद एवं पद-स्थानों का निरूपण।¹⁷ (त्रिलोकसार, प्र. अध्याय)
10. सूच्यगुल जगश्रेणि, अंतर्मुहूर्त, पत्य, सागर, अविभागी प्रतिच्छेद, प्रदेश, समय आदि इकाइयों एवं संख्या तथा उपमा मानों के निरूपण और तीनों लोक के खंडों द्वारा विभिन्न राशियों के निरूपण।

16. Kalman R. E., Falb, P. L. and Arbib M. A. Topics in Mathematical System Theory, T M H, Bombay, 1969.

17. आचार्य नेमिचंद्र सि. च., "त्रिलोकसार" माधवचंद्र भैरव कृत टीका, बम्बई, 1920।

11. 109800 गगन खंडों के कोणीय माप तथा योजन के दूरीय माप द्वारा ज्योतिष बिम्बों का स्थिर एवं गतिशील प्रमाणों का निर्धारण।¹⁸

12. ज्योतिष बिम्बों का युग्मीय विधि से सम्मुख प्रस्थापन कर गतिशील घटनाओं के आकलन। कुंतल-दीर्घवृत्तीय बिम्बगमनशीलता का एक क्षेत्रीय सिद्धान्त।¹⁹

उपरोक्त आविष्कारों की ठीक तिथियाँ निर्धारण करना कठिन है, किन्तु स्मृति मंद होने के फलस्वरूप उनका उत्तरोत्तर अभिलेखन वर्द्धमान के बाद की प्रक्रिया अवश्य प्रतीत होती है, जिसका शृंखलाबद्ध प्रस्फुटन आज का विशालतम वैज्ञानिक गणितीय साहित्य रूप में दर्शनीय है। उपरोक्त सामग्री का अंतिम ऐतिहासिक रूप पंडित टोडरमल कृत गोम्मतसारादि की वृहद टीकाओं में दृष्टव्य है।²⁰ इसमें उन्होंने ऋण प्रतीक के लिए पाँच चिन्हों का प्रयोग बतलाया है। शून्य का विभिन्न अर्थों में प्रतीक-बद्ध उपयोग है। उसमें सलगा गणन के भी प्रयोग हैं जिनमें फलन के फलन के प्रतीक की अवधारणा को विकसित करने की ओर असफलता मिली प्रतीत होती है। यदि वे प्रयास इस ओर बढ़ते और भारतीय गणित विद्वानों का भुकाव इस ओर अधिक होता, तो कुछ शताब्दियों पूर्व ही आज का युग उपस्थित होता और यह श्रेय भारत को यथोचित मिलता। इसमें प्रयुक्त हुए कुछ प्रतीक गिरनार एवं अशोक काल से पूर्व के शिलालेख कालीन प्रतीन होते हैं। अशोक के पूर्व के बड़ली ग्राम (अजमेर) तथा नेपाल की तराई के

प्रियादा नामक स्थान में उपलब्ध सामग्री में जो 'ई' का चिन्ह है, उससे ऋण (रिण अथवा रि) के लिए प्रयुक्त चिन्हों का संबंध संभवतः स्थापित किया जा सकता है।²¹ (देखिये, ओझा रचित भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 2, 47, 1959 दिल्ली)।

जहाँ अरस्तू (384 ई. पू. से 322 ई. पू.) आत्माओं की श्रृंखला के सिद्धान्त का प्ररूपण करते हैं, वहाँ चीन में ऐसा ही सिद्धान्त हुआ त्जु (298 ई. पू.—238 ई. पू., Hsun Tzu या Hsun Chhing) द्वारा प्ररूपित किया गया है, और यही भारत में जीवों के मार्मणा स्थानादि रूप में निरूपित है। (नीधम, भाग 1, पृ. 155)। चीन से लेकर यूनान तक ऐसी अवधारणाओं का युगपत् प्रकट होना इतिहास की समस्या है। इसी प्रकार चन्द्रमा के बढ़ने-घटने के कारण समुद्रों के नीचे की पाताल वायु का फैलना (ति. प. भाग 1, 4—2403, शोलापुर, 1943), चीन और यूनान में क्रमशः लू शिह चुन बिउ (चौथी से तीसरी शताब्दी ई. पू.) और अरस्तू द्वारा चन्द्रमा की कलादि के कारण समुद्री रीढ़हीन जन्तुओं के फैलने आदि की चर्चा से समन्वय रखता प्रतीत होता है। इन तथ्यों के हजारों मील दूर फैलनेवाला स्रोत कहाँ था यह इतिहास की समस्या है।²²

भारत से एक ओर पियेगोरस और दूसरी ओर कन्फ्यूशन (छठी सदी 50) द्वारा पश्चिम और पूर्व में नवीन प्रतिभा का नेतृत्व संचालन एक अद्भुत क्रांति को प्रकट करता है। पियेगोरस सम्बन्धी अनेक किंव-

18. देखिये 1 (ख)।

19. वही।

20. देखिये 2।

21. देखिये 1 (फ)।

22. नीधम, भाग 1, पृ. 150—151 आदि।

इतिहास उनके अहिंसा पथ और गणितादि के विलक्षण ज्ञान को बतलाती हैं। लोक में जीवसंख्या की अवलता के आधार पर जनता को हिंसा तथा मांसाहार की ओर से मोड़कर शाकाहारी तथा हरियाली रहित भोजन की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न पियेगोरस की निजी प्रतिभा का द्योतक है (E. T. Bell, *Magic of Numbers*, 1946, pp. 87, 88, 91, 92)। यदि कोई साधारण स्रोत यूनान और चीन के मध्य रहा, तो ऐसे प्रकरण चीन में कल्पवृक्ष या ताओ काल में दृष्टिगत होना चाहिए। नीधम के अनुसार बौद्ध धर्म का चीन में प्रथम प्रवेश ई. पश्चात् 65 में हुआ जिसके प्रायः 100 वर्ष पश्चात् प्रथम सूत्रों का चीनी भाषा में लोयांग में अनुवाद प्रारम्भ हुआ। (नीधम, भाग 1, पृ. 112)। मिस्र देश की जागृति का काल भी प्रायः यही है, जबकि सायटिक युग (663-525 ई.) में वहाँ अहिंसक कूप कालीन प्राचीन परम्पराओं का अकस्मात् अनुसरण प्रारम्भ हुआ था और नरसिंह (Sphinx) प्रतीक पुनः पूजा की वस्तु बन गया था। सम्भवतः यही आकर्षण पियेगोरस के पूर्व देश भ्रमण का कारण बना होगा।²³

अविभागी पुद्गल परमाणु के आधार पर परिभाषित बिन्दु के प्रयोग में वीरसेन द्वारा कतिपय नवीन विधियों का उपयोग प्रकट हुआ है। इनमें से निरूपण विधि विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा शंकु के समन्वित्वक का घनफल निकाला गया है। इससे π का मान निकालने के ऐसे सूत्र का उपयोग किया गया है जो चीन में त्सु शुंग-चिह (प्रायः पाँचवीं सदी Tsu Chhung-Chih) द्वारा प्रयुक्त हुआ है। जैन ग्रंथों—धवल—में राशि सिद्धान्त में प्रयुक्त भिन्न कलन

चीन तथा मिस्र देशों के कलन से श्रेष्ठ है। चीन में सलगगणन (ई. पू. 4वीं शताब्दी में), भारत में प्रायः 6वीं सदी अथवा कतिपय ग्रंथों (षट् खण्डागमादि) में ई. पश्चात् 2री सदी में उपलब्ध हैं। जहाँ चीन में वर्ग और घनमूल ई. पू. प्रथम सदी में दृष्टिगत हैं वहाँ षट्खण्डागम में सीमित क्षेत्र में स्थिति प्रदेश बिन्दुओं की संख्या का बारहवाँ वर्गमूल निकालने का उल्लेख है और जिसके तुल्य मान क्षेत्र, काल, भाव में प्रदत्त हैं। चीन में ज्यामितीय सामग्री ई. पू. तृतीय सदी में उपलब्ध है, वहीं तिलोयपण्णत्ती में पाँचवीं सदी तथा इतर ग्रंथों में ई. पू. भी दृष्टिगत है। जहाँ चीन में प्रायः 1000 वर्ष पूर्व बीजगणित तथा ज्यामिति की मूलभूत तादात्म्य प्रकट है वहाँ धवल (9वीं सदी) तथा अलखवारिज्नी (9 वीं सदी) में दृष्टव्य है। चीन में कूट स्थिति के प्रयोग भी प्राकृत ग्रंथों में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार अनिर्धृत विश्लेषण सुन त्जू (4वीं सदी) तथा प्राकृत ग्रंथों में दृष्टिगत है।

लोकोत्तर गणित विज्ञान में ज्योतिष बिम्बों की संख्या का निर्धारण, उनकी गमनशीलता, सुमेरु से दूरी, चित्रातल से ऊँचाई, बिम्बों के आकार, तथा माप, आदि विविध प्रकार की सामग्री विकसित की गयी। इन प्राचीन तत्त्वों को हजारों वर्षों से अपरिवर्तित रखा गया (ति. प., पृ. 16-17)। यूनान से ये विधियाँ अत्यन्त भिन्न हैं।²⁴

कर्म सिद्धान्त के गणित का इतिहास विगत 25 वर्षों के विश्व विज्ञान में प्रोद्भूत गणितीय सिद्धान्त सिद्धान्त से प्रारम्भ हुआ है। नियंत्रण योग्यता तथा परिणाम योग्यता के आकलन गणितीय रूप में विश्व के

23. Salem Hossan, *The Sphinx, Its History in the Light of Recent Excavations*, Cairo, pp. 219-221, (1949).

24. देखिये 1 (ख)।

इतिहास में केवल कर्म सिद्धान्त में ही निहित हैं। इसमें से फलित ज्योतिष आदि का विकास स्वाभाविक है।²⁵

विज्ञान-विकास सम्बन्धी शोध दिशा :

जिस प्रकार आज के विज्ञान का आधार राशि-सिद्धान्त है, उसी प्रकार कर्म विज्ञान का आधारभूत गणित राशि-सैद्धान्तिक है। सिकदार द्वारा परमाणु सिद्धान्त पर विस्तृत शोध प्रबन्ध तथा अनेक शोध लेख प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण लिया गया है। वास्तव में कर्म सिद्धान्त का एक आधार परमाणु सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त एक-सूत्री तथा संगत सिद्धान्त के रूप में अनेक उपधारणाओं (Postulates) तथा परिकल्पनाओं (Hypothesis) का आधार लेकर निमित्त किया गया। यह प्रिसपिल थ्योरी के रूप में विकसित हुआ न कि कन्स्ट्रक्टिव थ्योरी के रूप में।²⁶

अभी तक जो विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन जी. आर. जैन, एवं कोल जे. एफ. आदि द्वारा हुए हैं उनसे स्थिति आशाजनक तो प्रतीत होती है।²⁷ घटनाओं का इस प्रकार का आंशिक समाधान ही किसी सिद्धान्त को संगत सिद्ध नहीं कर सकता है। अपितु सिद्धान्त का

महत्त्व तब सिद्ध होता है, जब कि वह आधुनिक सिद्धान्तों की समस्याओं को हल करने में योगदान देकर नवीन फलित को निकालने का पथ-प्रदर्शन कर सके।

कर्म सिद्धान्त में सन्निहित तत्त्वों में निम्नलिखित प्रमुख धारणाओं का सन्निवेश है :—

1. अनन्तों या अनन्त राशियों का पूर्णकों पर आधारित, धारा ज्ञान से उपधारित, अल्प-बहुत्वादि अनेक राशि सम्बन्धी सिद्धान्त।²⁸
2. समय की अविभाज्यता के आधार पर महत्तम एवं लघुत्तम प्रवेग की अवधारणा, जिससे काल और क्षेत्र के क्वांटम का प्रादुर्भाव।²⁹
3. पुद्गल परमाणु की अविभाज्यता तथा उनकी राशि की यथार्थ गणात्मक उपधारणा। यह राशि जीव राशि से अनन्त गुनी है।
4. पुद्गल परमाणु का अनन्त पुद्गल परमाणुओं के साथ एक ही प्रदेश में अवसाहन।
5. द्रव्यों तथा उनके गुण पर्यायों का एक-दूसरे के गुण पर्यायों में अन्योन्याभाव एवं अत्यन्तता

25. ज्योतिष सम्बन्धी चीन में उपलब्ध सामग्री हेतु देखिये, 11, भाग 3। मिश्र, यूनान तथा बेबिलन आदि में प्राप्त सामग्री हेतु देखिये Neugebauer, O., The Exact Sciences in Antiquity, Providence, 1957। कर्म सिद्धान्त में फलित ज्योतिष संवाद के रूप में स्वभावतः उपस्थित हो जाता है। आय, व्यय, पुण्य, पाप आदि भावों का सत्त्व, आलस्य निर्जरा से सम्बन्ध अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।
26. इन सिद्धान्तों का विवेचन डा. आइन्स्टाईन ने The London Times, Nov. 28, 1919 में दिया था।
27. Jain, G. R., Cosmology, Old and New, Lucknow 1942, Kohl, J. F., Physikalische und Biologische Weltbild der Indischen Jaina Sekte, Aligarh, 1956.
28. धाराओं से सम्बन्धित एक लेख शीघ्र प्रकाशित होने वाला है—Jain, L. C., Divergent Sequences Locating Transfinite Sets in Trilokasara (I. J. H. S. Calcutta)
29. देखिये Jain, L. C., Mathematical Foundations of Jaina Karma System, Bhagwan Mahavira and his relevance in modern times, Bikaner, 1976, pp. 132-150.

भावादि । इसे द्रव्य स्वातन्त्र्य भी कहते हैं जो केवल जिनागम में ही उपलब्ध है, अन्यत्र नहीं ।

6. स्पर्श गुण के अविभागी प्रतिच्छेदों (ऊर्जा स्तरों) के निश्चित आधार पर पुद्गल परमाणुओं का बन्ध ।³⁰
 7. समयों के बीतने की अतीत-अनागत दिशा— अथवा क्रमबद्ध पर्यायों से सह सम्बन्ध । यह Causality का सिद्धान्त है जिसका उपयोग सिस्टम सिद्धान्त में हुआ है ।³¹
 8. उपादान शक्तियों के सिवाय पुद्गल का अन्य द्रव्यों से उदासीन अनुग्रह (सहकारिता) से गमन, परिणमन, अवगाहन तथा स्थिरता होना ।
 9. पुद्गल में वर्ण, रस, गंध, स्पर्श विशेष गुणों के सिवाय सामान्य गुणों (प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अनन्त गुणी हानिवृद्धि, आदि) का होना ।
 10. केवल जीव तथा पुद्गल में क्रियावती एवं भाववती शक्ति का अस्तित्व । (द्रव्यों के देशान्तर प्राप्ति हेतु प्रदेशों के हलन-चलनरूप परिपन्द को क्रिया कहते हैं । उनमें होनेवाले अविरल प्रवाह रूप परिणमन को भाव कहते हैं ।)
 11. दोग और मोह रूपी अध्यवसाय (input functions) विचरण में गुण स्थानों (control stations) सम्बन्धी परिणाम (output functions) । इनका चित्रण सिस्टम सिद्धान्त का एक अंग है ।
 12. आस्रव (input values) तथा उदयादि-निर्जरा (output values) युक्ति से सत्त्व (State) का ज्ञान । इसका चित्रण सिस्टम सिद्धान्त का दूसरा अंग है ।
 13. कर्म सिद्धान्त में सिस्टम सिद्धान्त की अपेक्षा बन्धादि तत्त्वों का समावेश । इस प्रकार कर्म सिद्धान्त एकसूत्री संगत सिद्धान्त से सिस्टम सिद्धान्त में अनेक सुझाव तथा उन्नयन हेतु नवीन पथ का अनुसरण ।³²
 14. ज्योतिष सिद्धान्त में एकसूत्री सिद्धान्त (जो तिलोप पण्णसी प्रभृति ग्रन्थों में उपलब्ध है) द्वारा गणितीय गमनशीलता के नवीन नियमों की व्युत्पत्ति । कुन्तल-दीर्घवृत्तीय ज्योतिष बिम्बगमन द्वारा पंचांग सम्बन्धी समस्त जानकारी का आनयन ।³³
 15. आधुनिकतम बीजगणितीय एवं ज्यामितीय ज्ञान के उपयोग से कर्म सिद्धान्त की यथार्थ गहराइयों में पहुँच की पूर्ण संभावना ।³⁴
-
30. देखिये, वही ।
 31. देखिये, Jain L. C., The Jaina Theory of Ultimate Particles, paper read at the university of Indore on 8-4-1976.
 32. देखिये, 29 ।
 33. देखिये 1 (ख) ।
साथ ही देखिये, Jain L. C., On Spiro elliptic orbit of the Sun in Tiloyapannatti, paper read at the University of Saugar.
 34. इस विषय पर विस्तृत लेख System Theory in Jaina School of Mathematics प्रायः समाप्ति पर है ।

जहाँ तक प्रत्यक्ष दर्शन और ज्ञान का प्रश्न है, उनकी सम्भाव्यता का प्राकृत ग्रंथों में आधुनिक काल के लिए निषेध है। तब मति और श्रुत से परोक्ष दर्शन और ज्ञान का प्रकरण सम्मुख आता है। पुद्गल द्रव्य विषयक दर्शन ज्ञान की उपलब्धि श्रुत के सिवाय मति से होती है। गति का आकार संदेशवाहक, पुद्गलक क्रियाएँ हैं। संदेश वाहन काल पर आधारित होने से सापेक्षता सिद्धान्त की आवश्यकता स्पष्ट है। सापेक्षता सिद्धान्त में जब महत्तम प्रवेग की उपधारणा की जाती है, तो भौतिक विज्ञान के प्रारंभिक आधुनिक प्रयोगों की पुष्टि होती है। साथ ही अल्पतम क्रिया (action) के क्वाण्टम की उपधारणा से क्वाण्टम यांत्रिकी का आधार बनता है, जिसमें अनिश्चिति के अनुबन्ध भी प्रयुक्त होते हैं।³⁵ आधुनिक सापेक्षता सिद्धान्त में जहाँ एक ओर महत्तम प्रवेग को उपधारित किया गया है, वहाँ उसे अल्पतम प्रवेग तथा अविभागी समय से अछूता रखा गया है। क्वाण्टम यांत्रिकी में पुद्गल की द्वैतमय (तरंगात्मक एवं कणिकात्मक) दशाओं तथा गति और स्थिति के सम्बन्ध में समाधान नहीं मिलता है क्योंकि यह कन्स्ट्रक्टिव थ्योरी है, सापेक्षता सिद्धान्त की भाँति प्रिंसीपल थ्योरी नहीं है। इन समस्याओं का समाधान जैन समय तथा मंद तम प्रवेग की अवधारणाएँ करता प्रतीत होता है।³⁶

प्राकृत ग्रंथों में अतीत काल समय राशि से अनागत काल राशि अनन्तगुणी वृत्तलाना गणित की एक विल-

क्षण वस्तु है। इससे भी विलक्षण तथ्य है सुक्रमबद्धी साध्य (well-ordering theorem) गमित प्रक्रिया का अस्तित्व, “कि सर्वधारा में 1, 2, 3, से प्रारम्भ करते हुए, समस्त संख्येय, असंख्येय तथा अनन्त राशियाँ पार करते हुए केवल ज्ञान राशि तक पहुँचना।” इस साध्य को सिद्ध करने का आश्वासन जार्ज केण्टर ने दिया था। किन्तु यह साध्य अब कथंचित सिद्ध किया जा सकता है।³⁷

अनन्तों के अल्प-बहुत्व स्थापित करने में केण्टर और डेडिक्ैंड की ज्यामितीय विधियों में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ आज सरलरेखा अथवा व्यवहार काल की अतीत-अनागत दिशायेँ किन्हीं भी दो बिन्दुओं के अन्तराल में अगण्य (non-denumerable) राशि की मान्यता है, वहाँ प्राकृत ग्रंथों में बिन्दुओं की राशि की सीमित (असंख्येय अथवा संख्येय) संख्या की मान्यता है।³⁸ असंख्यात कालाणुओं से लोकाकाश-द्रव्य की अखंडता पूर्णरूपेण सम्पाती है।

इसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त विषयक अनेक तथ्यों को आधुनिक तथ्यों की तुलना में रखते हुए नवीन अंशदान का प्रयास करना होगा। ज्यामिति की अपेक्षा सिस्टम तथा कर्म सिद्धान्त में बीजगणितीय दृष्टि विकसित की गयी है जो घटना-चक्र की जानकारी अत्यंत सहज ढंग से देती है। इस आधार पर बीजगणितीय अध्ययन का शोध-क्षेत्र लाभदायक सिद्ध होता प्रतीत होता है।³⁹

35. देखिये, 29।

36. देखिये, वही।

37. देखिये, Zlot, W. L. The Role of the Axiom of Choice in the Development of the Abstract Theory of Sets, Library of Congress, Mic 57-2164, Columbia University Thesis (1957)

38. देखिए 1 (इ)।

39. देखिये, Kalman, R. E. Introduction to the Algebraic Theory of Linear Dynamical Systems, Lecture notes, vol. II, Springer Verlag, 1969.

प्रत्येक प्राणी को सर्वाधिक प्रिय उसका जीवन है। वह जीना चाहता है, और मुख्यतः जीने के ही लिये या यथासंभव सुखी जीवन जीने के ही लिये अपने जीवन के विविध उपक्रम करता है। कोई भी जीव अनायास ही मरना नहीं चाहता। यही कारण है कि महापुरुषों और धर्मावतारों ने सभी को जीने के अधिकार का समर्थन किया है। सभी महापुरुष हिंसा के विरोधी रहे हैं, या यों भी कह सकते हैं कि ससार ने या मानव जाति ने उन्हीं की महापुरुष या धर्मावतार के रूप में मान्य किया है जिन्होंने हिंसा के कुचक्र से

करनेवाले विभिन्न पक्ष क्या हैं ? इस प्रसंग पर दार्शनिकों, और वैज्ञानिकों के विचारों के आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के आचरण को प्रभावित करनेवाला सर्वप्रमुख तत्व है, उसका आहार। मनुष्य का आहार, उसकी बुद्धि, विचार शक्ति, शारीरिक संरचना, व्यवहार और संस्कारों पर अत्याधिक प्रभाव डालता है। यही कारण है कि दार्शनिकों ने इस पर तीव्र चिंतन और वैज्ञानिकों ने गहन अनुसंधान किये हैं। उन्होंने मनुष्य के आहार को दो भागों में बांटा है—शाकाहार और दूसरा

शाकाहार

वैज्ञानिक एवं चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण

डा० पदमचन्द्र जैन

निकलकर सभी जीवों के जीने के समान अधिकार का समर्थन किया है, सुख और शान्ति का अहिंसक मार्ग बताया है। सम्भवतः कोई भी धर्म या दर्शन ऐसा नहीं है, जिसमें जीव-हत्या या जीव भक्षण को उचित माना हो। सभी ने मनुष्य द्वारा हिंसा को अप्राकृतिक माना है और प्राकृतिक रूप से जीने और दूसरों को जीने देने के लिये और उत्तम आचरण के लिये उपदेश दिये हैं।

जहाँ उत्तम आचरण की चर्चा आती है वहाँ हमारा ध्यान इस प्रसंग पर जाता है कि आचरण को निर्मित

माँसाहार। दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से प्रथम प्रकार के आहार "शाकाहार" को मनुष्य का प्राकृतिक आहार माना जाता है, और माँसाहार को अप्राकृतिक। इस प्रकार शाकाहार ही श्रेष्ठ आहार माना गया है, इसकी श्रेष्ठता पर विचार करने के लिये इसके विभिन्न पक्षों पर विचार करना आवश्यक है—

प्राकृतिक पक्ष

प्राकृतिक दृष्टि से शाकाहार का पक्ष अत्याधिक सबल है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य की शारी-

रिक संरचना है। उसके मुँह, दाँतों, हाथ की उँगलियों एवं नाखूनों की बनावट के आधार पर प्रसिद्ध शरीर-रचना शास्त्री एवं वैज्ञानिक उसे त्रण-कुशाचारी पशुओं की भाँति वनस्पत्याहारी अथवा शाकाहारी प्राणियों में गिनते हैं, माँसाहारी प्राणियों में नहीं। लारेन्स, किंगफोर्ड, कुवियर, पॉशेट, वैशन, लिन्नियस एवं लंकास्टर आदि अनेकों पाश्चात्य विशेषज्ञों का मत है कि मात्र शाकाहार ही मनुष्य की प्रकृति और उसकी शारीरिक संरचना के सर्वथा अनुकूल है। डा० अलेक्जेंडर हेग के अनुसार भेड़िया, चीता, सिंह आदि माँसाहारी पशुओं का पाचनतंत्र माँसाहार को पचाकर विषाक्त द्रव्यों को शरीर से निष्कासित करने की क्षमता रखता है, जबकि मनुष्य का पाचनतंत्र वैसा नहीं कर सकता, न वह उस प्रकार माँस भोजन को उद्युक्त रक्त-रक्त आदि सप्त धातुओं में भली प्रकार परिवर्तित कर सकता है। प्रो. लारेन्स ने माँसाहार के समर्थकों के इस तर्क का कि माँसाहारियों में शारीरिक बल और साहस अधिक होता है, खण्डन करते हुए कहा है कि — शाकाहार के साथ शारीरिक दौर्बल्य एवं कायरता का उतना ही कम सम्बन्ध है, जितना कि माँसाहार के साथ शारीरिक बल और साहस का। वस्तुतः शाकाहारी की अपेक्षा माँसाहारी में सहनशक्ति, शौर्य और साहस कहीं अधिक कम होता है। पशु जगत् में हाथी, दरियाई घोड़ा, घोड़ा, ऊँट, गेंडा, बैल, महिष आदि शुद्ध शाकाहारी जीव विश्व के विभिन्न माँसाहारी जीवों की अपेक्षा अत्यधिक शक्तिशाली, साहसी, स्फूर्ति युक्त एवं दीर्घजीवी होते हैं।

दार्शनिक पक्ष

दार्शनिक दृष्टि से तो शाकाहार का पक्ष और भी प्रबल है, विश्व के लगभग सभी दार्शनिकों एवं महापुरुषों ने शाकाहार का प्रबल समर्थन किया है। यही नहीं उसे जीवन में अपनाया भी है। ऋग्वेद में कहा है — ‘हे मित्र ! जो पशु का माँस खाते हैं, उनका मिर

फोड़ डालो। हे अग्नि ! माँस भक्षण करनेवालों को अपने मुँह में रख लो।’ अथर्ववेद, मनु स्मृति और महाभारत में भी इसी प्रकार की धारणा व्यक्त की गई है। जनागमों में कहा है — ‘‘किसी भी प्राणी का घात करना स्वयं अपना घात करना है। भोजन जिह्वा के स्वाद के लिये नहीं खाया जाता—शरीर की रक्षा के लिये खाया जाता है। माँस-भक्षण, मद्यपान, पशु-पक्षियों का शिकार, चोरी, छूत क्रीड़ा (जुआ खेलना) और व्यभिचार भारी पाप हैं जो मनुष्य की दुर्गति करते हैं।’ भगवान बुद्ध ने लंकावतार सूत्र में कहा है—‘‘माँसाहारी दूसरों के प्राणों को बलपूर्वक लेने के कारण डाकू समान हैं। जो व्यक्ति लोभवश दूसरों के प्राण हरते हैं तथा माँस के उत्पादन में धनादिक से योग देते हैं वे पापी हैं, दुष्ट हैं, घोर वरक में जाकर महा-दुःख उठाते हैं। मैं मानता हूँ कि जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों का माँस खाता है वह वारतव में अपने पुत्र का माँस खाता है।’’

ईसा मसीह ने कहा है—‘‘देखो मैंने पृथ्वी पर सब प्रकार की जड़ी-बूटियाँ तथा उनके बीज दिये हैं। साथ ही, तरह-तरह के फलों से लदे पेड़-पौधे भी दिये हैं तथा उनके बीज भी। इन सब शाकाहारी पदार्थों को खाओ। वे तुम्हारे लिये माँस से अधिक लाभप्रद हैं। तुम मेरे निकट सदैव एक पवित्र आत्मा बने रहोगे, यदि तुम किसी का भी माँस न खाओ।’’ पंगम्बर मोशे ने भी कुरान शरीफ में कहा है—‘‘किसी भी प्रकार का माँस ईश्वर को नहीं पहुँचता, न किसी का रक्त ही। परन्तु जितनी कुछ दया पालोगे वही अल्लाताला को कबूल होगी।’’ हजरत अली ने और भी सशक्त रूप से कहा है कि—‘‘हे इन्सान ! पशु पक्षियों की कन्न तू अपने पेट में मत बना।’’ गुरु नानक देव ने कहा है—

‘‘जे रक्त लगे कापड़े, जामे होवे पलित्त ।
जो रस पीवे मानुषा, तिन क्यों निर्मल चित्त ॥’’

सूफी सन्त अबुल अली ने एक प्रसंग में लिखा है—“कसाई को छूरी चलाते देख बकरी ने कहा—हरी घास खाने पर मुझे यह सजा मिल रही है, तब मेरा मांस खानेवाले कसाई का क्या हाल होगा।” कबीरदास कहते हैं—

मांस अहारी मानवा, परतल्ल राक्षस अंग ।
तिनकी संगत मत करो, परत भजन में भंग ॥
जोरि कर जबहु करें, कहत करें हलाल ।
जब दपतर देखेगा दई, तब होया कौन हवाल ॥

प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात, चाणक्य, जरगुस्त, पाइथोगोरस, अफलातून (प्लेटो), तिरकुरल, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि ने शाकाहार का प्रबल समर्थन किया है। सम्राट अकबर ने तो बड़े ही कड़े शब्दों में कहा है—मेरे लिये कितने मुख की बात होती यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता कि मांसाहारी लोग केवल मेरे शरीर को ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते, ताकि वे फिर दूसरों को मारकर न खाते।” विश्व के सभी प्रमुख साहित्यकारों, वैज्ञानिकों, विचारकों ने भी इस पक्ष में अपने सशक्त मत व्यक्त किये हैं। टालस्टाय ने कहा है—“मांस खाने से पाशविक प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, काम उत्तेजित होता है, व्यभिचार करने और मदिरा पीने की इच्छा होती है। इन सब बातों के प्रमाण सच्चे-शुद्ध और सदाचारी नवयुवक हैं। विशेषकर स्त्रियाँ और जवान लड़कियाँ हैं जो इस बात को साफ-साफ कहती हैं कि मांस खाने के बाद काम की उत्तेजना और अन्य पाशविक प्रवृत्तियाँ आप-ही-आप प्रबल हो जाती हैं। मांस खाकर सदाचारी बनना असंभव है।” चार्ल्स डार्विन ने लिखा है—“प्राचीन काल में मनुष्य भारी संख्या में शाकाहारी ही थे। (Descent of Man, P. 156) और मैं विस्मित हूँ कि ऐसे असाधारण मजदूर मेरे देखने में कभी नहीं आए, जैसे कि चिल्ली की खानों में काम करते हैं। वे बड़े दृढ़, बलवान हैं और वे सब शाकाहारी हैं। इनके अतिरिक्त

अलवर्ट आईस्टीन, हमबोल्ट, ई. एल. प्रेट, मि. होरेस ग्रीले, प्रो. जोहेनरे, ए. ई. वेरिस, रवीन्द्रनाथ टैगोर, जार्ज बर्नार्ड शा, काका कालेलकर आदि अनेक विद्वानों ने भी शाकाहार का प्रबल समर्थन किया है।

बीसवीं सदी में अहिंसक वैचारिक क्रान्ति के उन्नायक महान्तम दार्शनिक-राजनीतिज्ञ एवं सन्त महात्मा गांधी तो न केवल इसके प्रबल समर्थक ही थे, वरन् इसके प्रचारक भी थे। शाकाहार उनके गांधीवादी जीवन-दर्शन का प्रमुख अंग है। उन्होंने लिखा है—“डॉक्टर किंग्सफोर्ड और हेग ने मांस की खुराक से शरीर पर होनेवाले बुरे असर को बहुत ही स्पष्ट रूप से बतलाया है। इन दोनों ने यह बात साबित कर दी है कि दाल खाने से जो एसिड पैदा होता है, वही एसिड मांस खाने से बनता या पैदा होता है। मांस खाने से दाँतों को हानि पहुँचती है, संधिवात हो जाता है। यही तक बस नहीं, इसके खाने से मनुष्यों में क्रोध उत्पन्न होता है। हमारी आरोग्यता की व्याख्या के अनुसार क्रोधी मनुष्य निरोग नहीं कहा जा सकता। केवल मांस-भोजियों के भोजन पर विचार करने की ज़रूरत नहीं, उनकी दशा ऐसी अधम है कि उसका ख्यालकर हम मांस खाना कभी पसन्द नहीं कर सकते। मांसाहारी कभी निरोग नहीं कहे जा सकते।”

सामाजिक पक्ष

सामाजिक दृष्टि से यदि हम मानवीय आहार का मूल्यांकन करें तो भी शाकाहार का पक्ष अत्याधिक प्रबल है। असामाजिक तथा आपराधिक तत्वों के सम्बन्ध में किये गए विभिन्न सामाजिक अनुसंधानों से जो तथ्य सामने आए हैं, उनसे स्पष्ट है कि युद्ध, कलह, रक्तपात, हिंसा एवं अन्य भीषण अपराध मांसाहारियों में ही अधिक पाए जाते हैं। मांसाहार और मद्यपान का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्यतः मांसाहारी मद्यपान की ओर प्रेरित होते हैं। इन दोनों के संयोग से यौन इच्छाएँ उग्र होने के कारण वे लोग यौन अपराधों में

संलग्न होते हैं। इससे यौन विकार उत्पन्न होते हैं तथा समाज में अव्यवस्था एवं कलह को प्रोत्साहन मिलता है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि माँसाहार क्रोध एवं यौन इच्छाओं को प्रोत्साहित करता है। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ मानव को असामाजिक कार्यों के लिये प्रेरित करती हैं। माँसाहार के लिये निरीह पशुओं का वध किया जाने के कारण माँसाहारियों में प्रेम, दया और अहिंसा की भावना लुप्त होती जाती है, इसके कारण क्रूरता, अदया एवं हिंसा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। यही नहीं, इसके कारण अनेकों पशु-पक्षियों की जातियाँ सर्वथा समाप्त होती जा रही हैं। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से भी शाकाहार अत्यधिक उपयुक्त आहार है, इससे आदर्श समाज की स्थापना में सहायता मिलती है।

आर्थिक पक्ष

आर्थिक दृष्टि से शाकाहार माँसाहार की तुलना में सस्ता, सुलभ, सहज एवं प्रचुर होता है। यह रचनात्मक उत्पादन का परिणाम होने से प्राकृतिक है। प्रकृति प्रत्येक समय समयानुकूल अन्न, फल तथा सज्जियाँ आदि उत्पादन प्रदान करती है। आज मनुष्य जाति का एक बहुत बड़ा भाग कृषि उत्पादन में लगा है। इनके परिश्रम तथा प्रकृति के आशीर्वाद से प्राकृतिक उत्पादनों में जितनी विविधताएँ उपलब्ध हैं, वह माँसाहार के लिये कल्पना की ही बात है। यही कारण है कि सम्भवतः विश्व में शायद ही कोई मानव ऐसा हो जो मात्र माँसाहार पर ही जीवित रहता हो और प्राकृतिक भोजन अन्न, फल, वनस्पतियों, सज्जियों आदि को ग्रहण करता हो जबकि विश्व में करोड़ों ऐसे लोग हैं जो पूर्णतः शाकाहार पर ही जीवित हैं और किसी भी दृष्टि से माँसाहारियों के समक्ष हीन नहीं हैं वरन् कई दृष्टियों से उनसे उन्नत हैं।

शाकाहार न केवल मूल्य की दृष्टि से सस्ता तथा उपलब्धता की दृष्टि से सहज व सुलभ ही है वरन् इसके

कारण करोड़ों व्यक्तियों को जो कृषि एवं उनसे सम्बद्ध रोजगारों में लगे हैं तथा करोड़ों जीवों को जो दुग्ध उत्पादन या कृषि उत्पादन में लगे हैं, को जीविका प्रदान करता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

मानवीय आहार के सम्बन्ध में अनेकों वैज्ञानिक अनुसंधान हुए हैं। इन अनुसंधानों से यह तथ्य स्पष्टतः रूप से उजागर हुए हैं कि शाकाहारी व्यक्ति अधिक दीर्घजीवी, सुदृढ़ एवं स्वस्थ होते हैं जबकि माँसाहार अनेक दोषों का कारक है। अजरवेजान (सोवियत रूस) के 168 वर्षीय शिराली मिसालिनोव ने माँसाहार और मदिरा दोनों को ग्रहण न करने को अपने दीर्घ और चुरस्त जीवन का रहस्य बताया है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों के अनुसार स्वस्थ एवं पुष्ट शरीर निर्माण के लिये निम्नलिखित तत्वों की पूर्ति आहार में आवश्यक मानी गयी है—

1. प्रोटीन—

यह शारीरिक विकास, उत्साह, शक्ति और स्फूर्ति पैदा कर शरीर की क्षतिपूर्ति करती है।

2. फैट (चिकनाई)—

यह शरीर में शक्ति और गरमी पैदा करती है।

3. खनिज लवण—

ये हड्डियों को मजबूत बनाते हैं तथा भोजन शक्ति को अच्छा रखते हैं।

4. कार्बोहाइड्रेट्स—

ये शरीर में शक्ति और गरमी पैदा करते हैं।

5. जल (नमी)—

यह शरीर को सफाई कर गन्दे पदार्थों यथा- पसीना, मल-मूत्र आदि, को शरीर के बाहर निकालने

तथा भोजन के पाचन एवं खून के दौरे में मदद देता है तथा शरीर के तापक्रम को समान रखता है ।

6. कैल्शियम—

यह हड्डियों और दांतों को मजबूत बनाने, शरीर का रंग निखारने, बालों को घने तथा मजबूत बनाने का कार्य करता है ।

7. लोहा—

यह खून के प्रत्येक तन्तु तक आक्सीजन पहुँचाने तथा खून की लाली बढ़ाने एवं बनाए रखने का काम करता है ।

8. विटामिन—

ये शरीर को स्वस्थ तथा रोगमुक्त रखते हैं ।

9. कैलोरी—

यह शरीर में शक्ति व गरमी मापने का पैमाना है अर्थात् शरीर में उत्पन्न गरमी और शक्ति मापने की माप है ।

विभिन्न खाद्य पदार्थों में पाए जानेवाले उपरोक्त तत्वों की मात्रा के आधार पर यह तथ्य सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अनाज व वनस्पतियों में पर्याप्त मात्रा में पोषक तत्व उपलब्ध होते हैं, (देखिये तालिका क्रमांक 4) न केवल यही वरन् बहुत सी वनस्पतियों में इनकी मात्रा माँसाहारी वस्तुओं की अपेक्षा काफी अधिक है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है:—

तालिका क्रमांक 1

वस्तु	पोषक अंशों की मात्रा
1. बादाम	91 प्रतिशत
2. चना, मटर	87 „
3. चावल	87 „
4. गेहूँ	86 „
5. जौ	84 „

6. घी	...	87 „
7. दूध	...	60 „
8. माँस	...	28 „
9. मछली	...	13 „

विभिन्न देशों के सन्दर्भ में वहाँ के निवासियों के लिये दैनिक रूप से आवश्यक विभिन्न पौष्टिक तत्वों के सन्दर्भ में किये गए अनुसंधान के आधार पर जो तथ्य प्रकाश में आए हैं, और इस आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के लिये जो सन्तुलित आहार सुझाये गये हैं उनसे भी यह बात स्पष्टतः प्रमाणित हुई है कि शाकाहार में ये सभी पौष्टिक तत्व पर्याप्त एवं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं । इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडीकल रिसर्च द्वारा सन् 1968 में भारतवासियों के लिये आवश्यक सन्तुलित भोजन की जो तालिकाएँ (देखिये तालिका क्रमांक 3) प्रकाशित की गई हैं उनसे भी यह स्पष्टतः प्रमाणित है कि शाकाहार ही सन्तुलित भोजन उपलब्ध कराने को पर्याप्त रूप से सक्षम आहार है !

चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टिकोण

वैज्ञानिकों एवं चिकित्सा शास्त्रियों ने आहार के सम्बन्ध में किये गये विभिन्न अनुसंधानों में संतुलित आहार तथा विभिन्न आहारों में उपलब्ध पोषक तत्वों के संबंध में पर्याप्त अनुसंधान किये हैं । उनसे जहाँ आहारों के गुणात्मक पक्ष पर प्रकाश पड़ा है, वहाँ गत शताब्दी में चिकित्सा शास्त्रियों ने विभिन्न आहारों द्वारा मानवीय शरीर पर पड़नेवाले कुप्रभावों पर भी पर्याप्त मात्रा में शोध-कार्य किये हैं, इन अनुसंधानों से जो नये तथ्य प्रकाश में आये हैं वे माँसाहारियों के लिये चौंका देनेवाले एवं गम्भीर चेतावनी स्वरूप हैं । अनेकों चिकित्सा शास्त्रियों के मतानुसार माँसाहार गठिया, कैंसर, पक्षाघात, राजयक्ष्मा, मृगी, रक्ताम्ल, कुष्ठ आदि कितने ही भयानक रोगों को प्रोत्साहित करता है । विगत में हुए अनुसंधानों से माँसाहारियों

का यह तर्क कि माँसाहार माँस तथा शक्ति की वृद्धि होती है, भी खण्डित हुआ। चिकित्सा विज्ञान के अनुसार माँसाहार माँस तथा चर्बी बढ़ाकर मोटापे में वृद्धि अवश्य करता है, परन्तु शक्ति या स्फूर्ति में नहीं। माँसाहार से स्फूर्ति या ओज प्रकट नहीं होता, यही कारण है कि घायल, बीमार, अशक्त, गभिणी अथवा प्रसूता को माँसाहार निषिद्ध रहता है और उसे दूध, फलों का रस तथा हल्का शाकाहारी भोजन दिया जाता है।

चिकित्सा शास्त्रीय अनुसंधानों में प्रत्येक आहार की सूक्ष्मतम बारीकियों की जाँच कर जो तथ्य प्रकाश में आए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि विभिन्न माँसाहारी वस्तुएँ मानव शरीर के लिये अत्यधिक घातक हैं। मानवीय आहार की चर्चा करते समय विभिन्न माँसाहारी वस्तुओं के इस पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक है।

अण्डे

आजकल कुछ लोग अण्डों को निर्जीव बताकर उसे शाकाहार के अन्तर्गत बताकर शाकाहारियों को उनके उपयोग का तर्क देने लगे हैं, या यों कहें कि कुछ शाकाहारी अण्डों के उपयोग को उपरोक्त तर्क से सिद्ध कर दूसरों को भी अण्डे खाने की सलाह देने लगे हैं और इस प्रकार इधर कुछ वर्षों में अण्डों का प्रयोग बढ़ा है, परन्तु वास्तविक रूप से यह तर्क निरर्थक है। माँस और हड्डी न होने के आधार पर अण्डे के तरल को शाकाहार कहना मूर्खता ही है। यह कहनेवाले यह जानकर भी कि—प्रत्येक जीव की उत्पत्ति तरल पदार्थ से ही होती है, इस प्रकार का तर्क देते हैं, यह दुर्भाग्यपूर्ण है। विगत अनुसंधानों ने यह सिद्ध किया है कि अण्डे की जरदी अण्डे का बड़ा खतरनाक भाग है। इसमें कोलेस्ट्रॉल नामक भयानक विष एक चिकना एलकोहल होता है, जो जिगर में पहुँचकर जमा होता है और हृदय से रक्त ले जानेवाली नाड़ियों में रुकावट पैदा

करता है, इसके कारण दिल की बीमारी हाई ब्लड प्रेशर, गुर्दे की बीमारी, पित्त की थैली बीमारी में पथरी और जोड़ों में दर्द हो जाता है।

कृषि विभाग, फ्लोरिडा (अमेरिका) ने अपने हैल्थ बुलेटिन (अक्टूबर 1967) में प्रकाशित शोध प्रतिवेदन (रिसर्च रिपोर्ट) में कहा है कि —“18 माह के परीक्षण के बाद 30 प्रतिशत अण्डों में डी. डी. टो. नामक विष पाया गया।” डा. जे. एम. विलकिंस ने लिखा है—“अण्डे की सफेदजरदी मुख्यतया अलबुमिन ही है, जो कि प्रोटीन की एक किस्म ही है। शरीर अलबुमिन को नष्ट तत्व के रूप में बाहर निकालता है। अण्डे का पीला भाग कोलेस्ट्रॉल नामक पदार्थ अपने अन्दर रखता है जो कि एक प्रकार की चिपचिपी शराब है जो यकृत और खून की रगों में जमा हो जाता है और खून की धमनियों (रगों) में जमा हो जाता है तथा खून की धमनियों (रगों) में जश्म और कड़ापन पैदा कर देता है।” डा. इ. व. मैककोलम ने जब बन्दरों को अण्डों पर ही रखा तो उनमें सड़नेवाले कीटाणु अधिक होने लगे और वे सुस्त हो गए, उनके पेशाब की मात्रा कम और रंग गहरा हो गया। जब उन्हें दूध व अंगूर की शर्करा दी गई तो मानसिक व शारीरिक दोनों परिवर्तन उनमें पुनः लौट आए और वे ठीक हो गए। उन्होंने अपने अनुसंधान के आधार पर यह परिणाम निकाला कि अण्डों में चूने की कमी होती है और उनमें शर्करा भी नहीं होती है। अतः अण्डों में आँत के अन्दर सड़ाने की रझान होती है बनिस्वत कि हाजमा दुस्त करने की। वे विषाक्त तत्वों को शरीर में पैदा कर देते हैं और सुस्ती लाते हैं।

इंग्लैण्ड के डा. राबर्ट ग्राम का लिखना है कि—मुर्गी के बच्चे में बहुत-सी बीमारियाँ होती हैं। अण्डे उन बीमारियों को विशेषतया टी. बी., पेचिश आदि के कीटाणुओं को अपने साथ लाते हैं और इनको खाने-वालों में पैदा कर देते हैं।” डा. इ. वी. मैककोलम ने

लिखा है—“अण्डों में कैल्शियम की कमी और कार्बो-हाइड्रेट्स का बिल्कुल अभाव होता है, इस कारण से बड़ी आंतों में जाकर सड़ान मारते हैं।” डा. गोविन्द-राज का कहना है कि “अण्डों में नाइट्रोजन, फास्फोरिक एसिड और चर्बी की अधिक मात्रा होती है, इस कारण ये शरीर में तेजाबी मादा पैदा करते हैं और मनुष्य को रोगी बनाते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्याति-प्राप्त चिकित्सकों द्वारा किये गए अनुसंधानों के आधार पर यह बात स्पष्टतः प्रमाणित हो गई है कि अण्डे मनुष्य के लिये उपयुक्त आहार नहीं हैं।

मांस एवं मछलियाँ

मांस के प्रभावों की चर्चा करते हुए हार्वर्ड स्कूल ऑफ अमेरिका के डा. ए. वाचमैन और डा. डी. एस. वर्मस्टीन¹ ने लिखा है—“मांसाहारी लोगों का पेशाब प्रायः तेजाबयुक्त होता है। इस कारण शरीर के रक्त का तेजाब और क्षार का अनुपात ठीक रखने के लिये हड्डियों में से क्षार के नमक खून में मिलते हैं, और इसके विपरीत शाकाहारियों का पेशाब क्षारवाला होता है। इसलिये उनकी हड्डियों का क्षार खून में नहीं जाता और हड्डियाँ मजबूत रहती हैं। उनकी राय में जिन व्यक्तियों की हड्डियाँ कमजोर हों उनको विशेष तौर पर अधिक फल, सब्जियों के प्रोटीन और दूध का सेवन करना चाहिये, मांस एक दम छोड़ देना चाहिये।”

लन्दन के डाक्टर एलेक्जेंडर हेग के वैज्ञानिक परीक्षण के अनुसार मछली और मांस में यूरिक एसिड विष होता है। यह विष जब खून में मिलता है तब दिल की बीमारी, टी. बी. जिगर की खराबी, श्वास रोग, खून की कमी, गठिया, हिस्टीरिया, सुस्ती, अजीर्ण

और तरह-तरह के दर्द पैदा कर देता है।” डा. हेग ने अपने अनुसंधान के आधार पर इस सन्दर्भ में निम्न तालिका प्रस्तुत की है—

तालिका क्रमांक 2

मछली व मांस में यूरिक एसिड विष

खाद्य पदार्थ का नाम	प्रति पाँड यूरिक एसिड विष की मात्रा
मछली ...	5 ग्रैन
भेड़, बकरी ...	6 ”
बछड़ा	8 ”
सूअर ...	8 ”
चूजा	9 ”
गाय ...	9 ”
गाय की भुनी बोटी	14 ”
गाय का जिगर	19 ”
मांस का शोरबा...	50 ”

यह यूरिक एसिड विष जब रक्त में मिलता है तब हार्ट डिजीज, टी. बी. सांस रोग, जिगर की बीमारी हिस्टीरिया, खून की कमी, गठिया, अजीर्ण, अधिक नींद आना, तरह-तरह के दर्द, इनफ्लुएन्जा जैसे अनेक प्रकार के बुखार आदि संकड़ों रोग पैदा होते हैं।

मुर्गे का मांस—

पशु चिकित्सा सेवाओं के संचाय निदेशक डा. एस. बुरासिहम ने अनुसंधान के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि मुर्गे खाने से पुरुषों का पौरुष खतरे में पड़ सकता है। मुर्गों में वजन बढ़ानेवाले हार्मोन्स होने के कारण इसके खाने से पुरुषों में स्त्रीयौचित गुणों का

1. लैंग्वेट 1968 ब्रोल्यूम, पृष्ठ 958

(साइन्स प्लूज : दिल्ली विज्ञान संघ से उद्धृत)

विकास हो सकता है। जो पुरुष मुग की दुकानों में काम करते हैं और मुर्गे की गर्दन खाते हैं उनके स्तनों में वृद्धि के लक्षण पाए गए हैं।

विभिन्न रोगों सम्बन्धी अनुसंधान—

विभिन्न रोगों के सम्बन्ध में किये गए अनुसंधानों में भी अधिकतर रोगों का कारण माँसाहार पाया गया है। डा. आर. जे. विलियम्स एवं राबर्टग्रांस के अनुसार अण्डे की सफेदी में एबीमान नामक मयान्तक तत्व एक्जीमा उत्पन्न करता है। जिन जानवरों को अण्डे की सफेदी खिलाई गई उन्हें लकवा मार गया और चमड़ी सूख गई। डा. रोबर्ट ग्रांस व प्रो. इरविंग डेविडसन के अनुसार—“एक अण्डे में लगभग 4 ग्रैन कोलेस्टरील की मात्रा पाई जाती है। इसकी अधिक मात्रा दिल की बीमारी, हार्टब्लड प्रेशर, गुर्दों के रोग, पित्त की थैली में पथरी आदि रोगों को पैदा करते हैं। न्यूअर कॉलेज आफ न्यूट्रिशन के डा. इ. वी. मेलकालम के अनुसार अण्डों में कोर्बोहाइड्रेट्स बिल्कुल नहीं होते और कैल्शियम भी बहुत कम होता है, अतः इससे पेट में सड़न पैदा होती है। डा. रॉबर्ट ग्रांस ने कहा है कि मुगियों में बहुत सी बीमारियाँ होती हैं, अण्डे उन बीमारियों को विशेषतया टी. बी. एवं पेचिश आदि को अपने साथ ले जाते हैं और इनको खानेवालों में पैदा करते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार जहाँ प्राकृतिक दार्शनिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से शाकाहार ही उचित एवं आवश्यक मानवीय आहार है वहाँ वैज्ञानिक एवं चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी शाकाहार ही सर्वाधिक उद्युक्त आहार है। शाकाहार जहाँ पूर्णाहार होने के साथ-साथ पोषक, सुलभ, स्फूर्ति एवं शक्तिदायक है वहाँ माँसाहार में मोटापा बढ़ाने के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष गुण नहीं हैं। उल्टे माँसाहार के कारण, पशु-पक्षियों के शरीर में पाये जानेवाले अनेक रोगाणु मानव शरीर में प्रवेश कर अनेकों विकार उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि चिकित्सा शास्त्रियों के मवीनतम अनुसंधानों के आधार पर पश्चिमी देशों में जो विशेषकर माँसाहारी क्षेत्र हैं, वहाँ शाकाहार का प्रबल प्रचार हो रहा है व माँसाहार के प्रति जन-सामान्य को आगाह किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में भारत जैसे देश में जहाँ की बड़ी संख्या शाकाहारी है, पश्चिम के अन्धानुकरण के कारण माँसाहार का बढ़ता प्रयोगचिन्तनीय है, ऐसी दशा में आवश्यक है कि लोगों को उनके आहार के सम्बन्ध में अधिकतम ज्ञान दिया जाये ताकि वह उचित-अनुचित का निर्णय कर सकें, इसी उद्देश्य से इस लेख में संक्षिप्त में पाठकों को उनके उचित आहार के बारे में तर्कसंगत जानकारी देने का प्रयास किया गया है।

तालिका क्रमांक 3
संतुलित भोजन
(इण्डियन काउन्सिल आफ मेडीकल रिसर्च द्वारा 1968 में प्रस्तावित)
(अ) वयस्क पुरुष का संतुलित भोजन

खाद्य पदार्थों का नाम	बैठकर काम करनेवाले के लिए (ग्राम में)	साधारण काम करनेवाले के लिये (ग्राम में)	अधिक परिश्रम करने वाले के लिये (ग्राम में)
अनाज	400	475	650
दालें	70	80	80
टूटे पत्ते वाले साग	100	125	125
अन्य साग	75	75	100
जड़ीली तरकारियां	75	100	100
फल	30	30	30
दूध	200	200	200
चिकनाई व तेल	35	40	50
चीनी व गुड़	30	40	55
मूंगफली	—	—	50*

* अगर मूंगफली न खाना चाहे तो उसके स्थान पर 30 ग्राम चिकनाई व तेल बढ़ा सकते हैं।

(ब) वयस्क स्त्री का संतुलित भोजन

खाद्य पदार्थ का नाम	बैठकर काम करनेवाली से लिये (ग्राम में)	साधारण काम करनेवाली के लिये (ग्राम में)	अधिक परिश्रम करने वाली के लिये (ग्राम में)	गर्भावस्था, गर्मिस्थिति, धात्रावस्था (ग्राम में)	अतिरिक्त भोजन (ग्राम में)
अनाज	300	350	475	50	100
दालें	60	70	70	—	10
हरे पत्ते वाले साग	125	125	125	25	25
अन्य सब्जियां	75	75	100	—	—
जड़ीली तरकारियां	50	75	100	—	—
फल	30	30	30	—	—
दूध	200	200	200	125	125
चिकनाई व तेल	30	35	40	—	15
चीनी व गुड़	30	30	40	10	20
मूंगफली	—	—	40*	—	—

* अगर 40 ग्राम मूंगफली न खाना चाहें तो उसके स्थान पर 25 ग्राम चिकनाई या तेल ले सकते हैं।

(स) किशोरावस्था वाले लड़के व लड़कियों का सन्तुलित भोजन

खाद्य पदार्थ का नाम	लड़के		लड़की
	13 से 15 वर्ष (ग्राम में)	17 से 18 वर्ष (ग्राम में)	13 से 18 वर्ष (ग्राम में)
अनाज	430	450	350
दालें	70	70	70
हरे पत्ते वाले साग	100	100	150
अन्य साग	75	75	75
जड़ीली तरकारियां	75	100	75
फल	30	30	30
दूध	250	250	250
चिकनाई व तेल	35	45	35
चीनी व गुड़	30	40	30
मूंगफली	—	50	—

* अगर मूंगफली न खाना चाहें तो उसके स्थान पर 30 ग्राम चिकनाई व तेल ले सकते हैं।

(द) बच्चों के लिये सन्तुलित भोजन

	स्कूल जाने के पूर्व आयु के बच्चे		स्कूल जाने वाले बच्चे	
	1 से 3 वर्ष (ग्राम में)	4 से 6 वर्ष (ग्राम में)	7 से 9 वर्ष (ग्राम में)	10 से 12 वर्ष (ग्राम में)
अनाज	150	200	250	320
दालें	50	60	70	70
हरे पत्ते वाले साग	50	75	75	100
अन्य साग और जड़ीले साग	30	50	50	75
फल	50	50	50	50
दूध	300	250	250	250
चिकनाई व तेल	20	25	30	35
गुड़ व चीनी	30	40	50	50

तालिका क्रमांक— 4

शाकाहार एवं मांसाहार के पोषितक तत्वों की तुलनात्मक तालिका

(अ) शाकाहारी खाद्य

	प्रोटीन	वसा (स्तेर)	खनिज लवण	कार्बो- हाइड्रेट्स	कैल्शियम	लोहा (मि. ग्रा.)	पानी	कैलोरी
गेहूं का आटा	12.1	1.7	2.8	69.4	0.04	11.5	12.2	352
मकई	11.1	3.6	1.5	66.2	0.01	2.1	14.9	343
चावल	8.5	0.6	0.9	77.4	0.01	2.8	12.6	349
मूंग	24.0	1.3	3.6	56.6	0.14	8.5	10.4	334
उड़द	24.0	1.4	3.4	60.3	0.20	9.8	10.9	350
अरहर	22.3	1.7	3.6	57.2	0.14	8.8	15.2	333
मसूर	25.1	0.7	2.1	59.7	0.13	2.0	12.4	346
भुना मटर	22.9	1.4	2.3	62.5	0.03	5.0	9.9	358
भुना चना	22.5	5.2	2.2	58.9	0.07	8.9	11.2	372
लोविया बड़ा	24.6	0.6	3.2	55.7	0.07	3.8	12.0	327
सोयाबीन	43.2	19.5	4.6	20.9	0.24	11.5	8.1	432
मेथी	26.2	5.8	3.0	44.1	0.16	14.1	13.7	333
वादास	28.8	58.9	2.8	10.5	0.23	3.5	5.2	655
काजू	21.2	46.9	2.4	22.3	0.05	5.0	5.9	596
भुनी मूंगफली	31.5	39.8	2.3	19.3	0.05	0.3	4.0	661
पिस्ता	19.8	53.5	2.8	16.2	0.14	13.7	5.6	626
अखरोट	15.5	64.5	1.8	11.0	0.10	4.8	4.5	687
मखन	—	80.8	—	—	—	—	—	730
घी	—	100.0	—	—	—	—	—	900
पनीर	24.1	25.1	4.2	6.3	0.79	2.1	40.3	348
खोया	14.6	31.2	3.1	20.5	0.65	5.8	30.6	420
सफेदा दूध पावडर	38.0	0.1	6.8	51.0	1.37	1.4	4.1	347

(ब) मांसाहारी खाद्य

	प्रोटीन	वसा (स्तेह)	खनिज लवण	कार्बो- हाईड्रेट्स	कैल्शियम	लोहा (मि. ग्रा.)	पानी	कैलोरी
मुर्गी का अण्डा	13.3	13.3	1.0	—	0.06	2.1	73.7	173
बतख का अण्डा	13.5	13.7	1.0	0.7	0.07	3.0	71.0	180
कलेजी (भेड़)	19.3	7.5	1.5	1.3	0.01	6.3	70.4	150
बकरी का गोश्त	18.5	13.3	1.3	—	0.15	2.5	71.5	194
सूअर का गोश्त	18.7	4.4	1.0	—	0.03	2.3	77.4	114
गाय का गोश्त	22.6	2.6	0.1	—	0.01	0.8	73.4	114
मछली	22.6	0.6	0.8	—	0.01	0.9	78.4	91

□ □

**ठ्वालियर
और
जैन धर्म
(विविध सन्दर्भ)**

अष्टम खण्ड

गोपाचल का एक विस्मृत महाकवि-रङ्गधू

डा० राजाराम जैन

भारतीय-वाङ्मय के उन्नयन में जिन वरेण्य साहित्यकारों ने अथक परिश्रम एवं अनवरत साधना करके अपना उत्तुल्लेख योगदान किया है, उनमें महाकवि रङ्गधू अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। उनका अवतरण एक ऐसे समय में हुआ था जब राजनीतिक विषमताओं एवं युद्ध-विभीषिकाओं से जन-जीवन जर्जर हो रहा था, तलवारों और भालों की निरन्तर वीरारों से शान्ति भी शान्ति की खोज कर रही थी, तब रङ्गधू ने जन-मानस की वेदना का अनुभव किया और एक लोकनायक कवि के रूप में अपनी अमृतस्रोतस्विनी को प्रवाहित किया। उनकी रचनाओं का विषय-वैविध्य, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषाओं पर असाधारण पाण्डित्य, इतिहास एवं संस्कृति का तलस्पर्शी ज्ञान, समाज एवं राष्ट्र की साहित्य, संगीत, कला एवं राष्ट्र धर्म के प्रति जागरूक करने की क्षमता अन्यत्र दुर्लभ है।

महाकवि का निवास-स्थल

रङ्गधू के जन्मस्थान एवं जन्मतिथि विषयक स्पष्ट उल्लेख अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके। किन्तु इस तथ्य के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि कवि की साहित्य

साधना का प्रमुख स्थल गोपाचल (भ्वालिघर) दुर्ग था। उसने गोपाचल की महिमा का गान बड़े ही श्रद्धासमन्वित भाव से विस्तारपूर्वक किया है। उसके साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रसंगों में कई ऐसे वर्णन एवं शब्दावलियाँ प्राप्त हैं, जिनसे यही सिद्ध होता है कि उक्त कवि गोपाचल का निवासी था।¹

काल-निर्णय

महाकवि का जन्म कब एवं किस वर्ष हुआ, यह जानकारी भी अभी तक अप्राप्त है, किन्तु कवि ने अपनी एक रचना 'सुकुसलचरित' की अन्त्य-प्रशस्ति में उसका रचना-समाप्ति काल वि० सं० 1496 दिया है² तथा उसमें अपनी पूर्ववर्ती कई रचनाओं के उल्लेख किये हैं एवं उन्हीं उल्लिखित रचनाओं की प्रशस्तियों में भी अपनी पूर्व-पूर्व-रचित रचनाओं के उल्लेख किये हैं, जिनकी संख्या 18 है। इससे विदित होता है कि कवि वि० सं० 1496 के पूर्व ही एक विशाल साहित्य का प्रणयन कर चुका था, क्योंकि वि० सं० 1496 के बाद ही उसकी मात्र पाँच रचनाएँ ही प्राप्त हैं। पूर्वोक्त 18 ग्रंथों के परिमाण को देखते हुए तथा उनके प्रथम गुरु गुणकीर्ति भट्टारक वि० सं० 1455 के

1. रङ्गधू-साहित्य का आलोचनत्मक परिशीलन (डा० राजाराम जैन) पृ० 44-45।
2. सुकुसलचरित 4/23/1-3

आसपास) के समय को देखने से यह विदित होता है कि कवि का जन्मकाल वि० सं० 1440 के आसपास होना चाहिए। इसी प्रकार कवि ने अपनी रचनाओं में गोपाचल नरेश कीर्तिसिंह तोमर एवं मट्टारक शुभचन्द्र (माथुरगच्छ पुष्करगणीय) के उल्लेख विस्तार के साथ किए हैं, जिनका कि समय वि० सं० 1536 के आसपास है। इन उल्लेखों तथा अन्य तथ्यों से यह स्पष्ट विदित होता है कि कवि उक्त समय तक साहित्य साधना करता रहा और इस प्रकार उसका कुल जीवनकाल अनुमानतः वि० सं० 1440 से 1536 के मध्य तक प्रतीत होता है।³

वंश-परम्परा

रङ्ग-साहित्य की प्रशस्तियों में मधुकरी वृत्ति से उनकी पारिवारिक-परम्परा का परिचय मिल जाता है। उसके अनुसार कवि के पितामह का नाम संघाधिप देवराज तथा पिता का नाम हरिसिंह था और माता का नाम था विजयश्री। रङ्ग तीन भाई थे—बाहोल, माहणसिंह एवं रङ्ग। रङ्ग की पत्नी का नाम सावित्री था तथा पुत्र का नाम उदयराज।⁴ कवि ने उदयराज के जन्म के दिन ही अपनी 'हरिवंशचरित' नामक रचना समाप्त की थी।

साहित्य साधना

महाकवि रङ्ग की साहित्य साधना गम्भीर विशाल एवं अद्भुत रही है। उन्होंने अपने जीवनकाल में तेईस से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की, जिनकी भाषा प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी है। कई ग्रन्थों में अपने आश्रयदाताओं के प्रति आशीर्वाचन सूचक संस्कृत श्लोकों की भी उन्होंने रचना की है। इन्हें देखकर प्रतीत होता है कि वे संस्कृत के भी अधिकारी विद्वान्

थे। भारतीय वाङ्मय के इतिहास में इतने विशाल साहित्य का प्रणेता एवं प्रायः सभी प्रमुख प्राच्य-भाषाओं का जानकार अन्य दूसरा कवि ज्ञात नहीं होता। रङ्ग विरचित साहित्य की वर्गीकृत सूची निम्न प्रकार है :—

(क) चरित साहित्य

(1) हरिवंशचरित (14 सन्धियाँ एवं 302 कडवक तथा 14 संस्कृत श्लोक); (2) बलहृदचरित (11 सं०, 240 कडवक एवं 11 सं० श्लोक) (3) मेहेसरचरित (13 सं०, 304 कडवक एवं 12 सं० श्लोक), (4) जसहरचरित (4 सं०, 104 कडवक, 4 सं० श्लोक); (5) सम्मदचरित (10 सं०, 246 कडवक एवं 10 सं० श्लोक); (6) तिसद्विम्हा-पुराणपुरिसआयारगुणालंकार (50 सन्धियाँ, 1357 कडवक); (7) सिरिसिरीवालचरित (10 सं०, 202 कडवक एवं 10 सं० श्लोक); (8) संतिणाहचरित (सचित्र, अपूर्ण, मात्र आठ सन्धियाँ ही प्राप्त हैं); (9) पासणाहचरित (7 सं०, 137 कडवक 7 सं० श्लोक) (10) जिमंधरचरित (13 सं०, 301 कडवक तथा 13 सं० श्लोक); (11) सुवकोसलचरित (4 सं०, 74 कडवक एवं 4 सं० श्लोक); (12) धणकुमारचरित (4 सं०, 74 कडवक एवं 4 सं० श्लोक);

(ख) आचार एवं सिद्धान्त साहित्य

(13) सावयचरित (6 सं०, 125 कडवक); (14) पुण्णासवकहा (13 सं०, 250 कडवक), (15) सम्मत्तगुणणिहाणकव्व (4 सं०, 104 कडवक), (16) अप्पसंवोहकव्व (3 सं०, 58, कडवक), (17) सिद्धन्तत्थसार (प्राकृत भाषा निबद्ध—13 अंक एवं 850 गाथाएँ); (19) वित्तसार (प्राकृत भाषा निबद्ध, 6 अंक, एवं 850 गाथाएँ);

3. विशेष के लिए देखिए रङ्ग सा० का आ० परि० पृ० 116-120

4. वही, पृ० 35-40

(ग) अध्यात्म एवं अन्य साहित्य

- (20) सोलहकारण जयमाला (27 पद्य);
(21) दहलखणजयमाला (11 पद्य); (22) बारा-
भावना (हिन्दी, 37 पद्य) ।

अन्य ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। उक्त ग्रन्थों में से क्रमांक 8 एवं 9 के ग्रन्थ सचित्र हैं और मध्यकालीन चित्रकला के अद्भुत उदाहरण हैं।⁵ उपर्युक्त समस्त साहित्य अद्यावधि अप्रकाशित है।

रङ्ग-साहित्य की विशेषताएँ प्रशस्तियाँ

रङ्ग-साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता उसकी विस्तृत प्रशस्तियाँ हैं। कवि ने अपने प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ के आदि एवं अन्त में विस्तृत प्रशस्तियाँ अंकित की हैं,

जिनमें समकालीन राजा, नगरसेठ, पूर्ववर्ती एवं समकालीन साहित्य एवं साहित्यकार तथा अन्य राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इन प्रशस्तियों में गोपाचल के मध्यकालीन इतिहास एवं संस्कृति की प्रचुर प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है।

राजाओं में कवि ने समकालीन तोमरवंशी राजा झुंजरसिंह, कीर्तिसिंह एवं प्रतापरुद्र चौहान के उल्लेख करते हुए उनका विस्तृत परिचय एवं कार्यकलापों का सुन्दर वर्णन किया है। कवि के अनुसार उक्त तीनों राजा शूरवीर एवं पराक्रमी होने के साथ-साथ सर्व धर्म समन्वयी एवं साहित्य तथा कला-रसिक थे।⁶ गोपाचल दुर्ग में झुंजरसिंह एवं कीर्तिसिंह ने राज्य की ओर से श्रेष्ठ मूर्तिकला के विशेषज्ञों को निमन्त्रित कर लगातार



जसहरचरित (मौसमावाद प्रति); सन्दर्भ— राजा यशोधर अपने मनोरंजन ग्रह में

5. सचित्र ग्रन्थों के परिचय की जानकारी हेतु हमारे द्वारा लिखित विस्तृत निबन्धों के लिए देखिए—जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा) 25/2/62-69 (सचित्र जसहरचरित के लिए) अनुसन्धान-पत्रिका (जन-मार्च) 1973) प्रवेशांक पृ० 50-57, (सचित्र पासणाहचरित के लिए) तथा रङ्ग सा० का आ० परि० पृष्ठ 551-552 (सचित्र सतिणाह चरित के लिए) ।
6. रङ्ग सा० का आ० परि० पृ० 95-116

33 वर्षों तक जैनमूर्तियों का निर्माण कराया था। जनरल कनिंघम ने उक्त मूर्तिकला से प्रभावित होकर लिखा है—⁷

The (Jaina) Rock Sculptures of Gwalior are unique in Northern India as well for their number as for their gigantic size.

प्रस्तुत प्रसंग में सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री हेमचन्द्रराय का निम्नकथन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है :—

He (Dungar Singh) was a great patron of the Jaina faith and held the Jainas in high esteem. During his eventful reign, the work of carving Jaina images on the rocks of the Fort of Gwalior was taken in hand; it was brought to completion during the reign of his successor Raja Karni Singh (or Kirti Singh). All around the base of the Fort, the magnificent Statues of the Jaina pontiffs antiquity gaze from their tall niches like mighty Guardians of the great Fort and its surrounding landscape. Babur was much annoyed by these rock-sculptures, as to issue orders for their destruction in 1557 A. D.

सम्राट बाबर के मूर्ति तोड़नेवाले उक्त आदेश का जनरल कनिंघम ने अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार किया है—⁸

“They have hewn the solid rock of this Adiva and sculptured out of it idols of

longer and smaller size. On the south part of it is a large size which may be about 40 feet in height. These figures are perfectly naked without even a rag to cover the parts of generation. Adiva is far from being a mean place, on the contrary, it is extremely pleasant. The greatest fault consists in the idol figures all about it. I directed these idols to be destroyed.”

रङ्गू के अनुसार प्रतापरुद्र चौहान चन्द्रवाडपट्टन का राजा था, जिसने अपने पराक्रम से मुस्लिम आक्रान्ताओं के हथके छुड़ा दिये थे और अपना राज्य विस्तार किया था। उसके राज्य में सभी धर्मों के लोग सौमनस्य एवं सौहार्दपूर्वक निवास करते थे। राज्य की समृद्धि अटूट थी। प्रतापरुद्र के एक अमात्य कुन्धुदास ने चन्द्रवाडपट्टन में हीरे, मोती, माणिक्य आदि की कई सुन्दर जैनमूर्तियाँ बनवाकर बड़े ही समारोह के साथ उनकी प्रतिष्ठा कराई थी।⁹

रङ्गू-साहित्य की प्रशस्तियों के अनुसार गोपाचल एवं चन्द्रवाडपट्टन में साहित्यकारों का सम्मान राज्य के सर्वश्रेष्ठ सम्मानों में श्रेष्ठतम माना जाता था। रङ्गू ने जब गोपाचल में ‘सम्मत्तगुणनिहाणकव्व’ नामक अपना काव्यग्रन्थ समाप्त किया था, तब कवि को उक्त ग्रन्थ के साथ ही ऐरावत के सहस्र सुन्दर हाथी पर विराजमान कराकर नगर भर में घुम या गया था।¹⁰

इसी प्रकार चन्द्रवाडपट्टन में जब कवि ने ‘पुष्पसक्कहा’ नामक ग्रन्थ की समाप्ति की तब

7. Murry's Northern India. Pages 381-2
8. Murry's Northern India. Pages 381-
9. पुष्पासव कहा 15/6-11.
10. सम्मत्त गुण० 1/5/6-10.

अगले ही दिन उसे हाथी पर बैठाकर नगर परिक्रमा कराकर उसका राजकीय सम्मान किया गया था ।¹¹

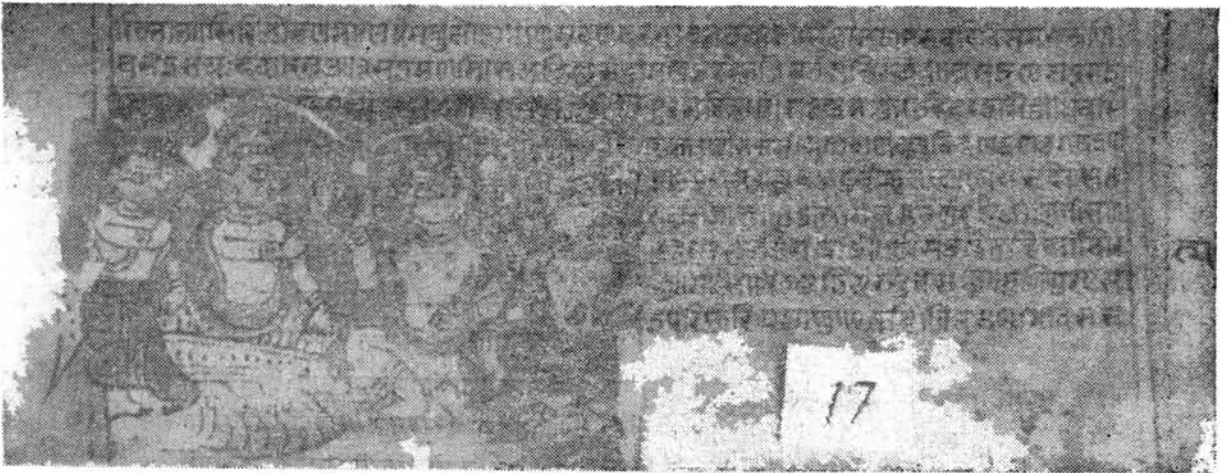
उक्त घटनाओं से यह विदित होता है कि गोपाचल एवं चन्द्रबाडपट्टन की राज्य परम्पराएँ आदर्श थीं और सचमुच ही रङ्गू द्वारा उल्लिखित उक्त तीनों राजा सम्राट अशोक एवं राजर्षि कुमारपाल की कोटि में आते हैं ।

भट्टारक

रङ्गू-साहित्य की प्रशस्तियों में कई भट्टारकों के उल्लेख मिलते हैं । इन भट्टारकों ने गोपाचल में सदैव ही साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वातावरण उत्पन्न कर स्वस्थ-समाज के निर्माण में अमूल्य योगदान किया है । ब्रज एवं बुन्देली का जो भी साहित्य निर्मित हुआ, उसके लिये मूल प्रेरणा इन भट्टारकों से मिली । धार्मिक साधना के साथ-साथ इनमें संगठन की प्रवृत्ति भी अद्भुत थी । राजाओं एवं नगरसेठों को प्रभावित कर उनसे आर्थिक सहायता लेने में भी ये पटु थे । अतः

साधन सम्पन्न होने के कारण ये नवीन-नवीन प्रतिभाओं की खोजकर उन्हें एकत्रित करते थे तथा वृत्ति आदि देकर उन्हें साहित्य के क्षेत्र में प्रशिक्षित करते थे । यही कारण है कि गोपाचल में वि० सं० 1440 से 1540 तक लगभग 100 वर्षों में जितना साहित्यिक कार्य हुआ है, उतना शायद ही अन्यत्र हुआ हो । इन सौ वर्षों में आक्रान्ताओं द्वारा पिछले वर्षों में साहित्य की जो होलियाँ जलाई गई थीं, तथा मूर्तियों का विध्वंस किया गया था, उसकी पूर्ति का अथक प्रयास किया गया ।

रङ्गू-प्रशस्तियों में उल्लिखित भट्टारकों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं — (1) रङ्गू-पूर्व-भट्टारक एवं (2) रङ्गू-समकालीन भट्टारक । पूर्ववर्ती भट्टारकों में देवसेनगणि, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन एवं सहस्त्रकीर्ति तथा समकालीन भट्टारकों में गुणकीर्ति यशःकीर्ति पाल्ह ब्रम्ह, खेमचन्द्र एवं कुमारसेन के नामोल्लेख मिलते हैं । ये सभी भट्टारक काष्ठासंघ माथुरगच्छ एवं पुष्करगण शाखा से सम्बन्ध रखते हैं ।



जसहरचरिउ; सन्दर्भ—राजा यशोधर अपने प्रमुख मंत्रियों से गम्भीर विचार विमर्श कर रहे हैं ।

[जसहरचरिउ, मौजमावाद, जयपुर प्रति]

11. पुष्पासचकहा 13/12/3.

इन सभी भट्टारकों ने साहित्य एवं कला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये ।¹²

भट्टारक शुभकीर्ति ने अपने गुरु भट्टारक कमल कीर्ति के आदेश से सुवर्णगिरि (आधुनिक सोनागिरि, झाँसी) पर एक भट्टारकीय पट्ट की स्थापना कर स्वयं ही उसका कार्य संचालन किया था तथा उसे प्राच्यविद्या का प्रमुख केन्द्र बनाया था । वहाँ के विशाल शास्त्र भण्डारों में आज भी महत्वपूर्ण सामग्री अपने प्रकाशन की राह देख रही है तथा कई ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए उत्कण्ठित है ।

भट्टारक कमलकीर्ति के एक अन्यतम शिष्य मण्डलाचार्य श्री रत्नकीर्ति ने वि० सं० 1516 में बड़वानी (वावनगजा-पश्चिम निमाड़) स्थित 84 फीट ऊँची आदिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति के आसपास एक बसति का जीर्णोद्धार कराया था ।¹³ ये उल्लेख वस्तुतः बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और मध्यप्रदेश के पुरातत्व की समृद्धि के लिए अमूल्य निधि हैं ।

गोपाचल दुर्ग में स्थित 57 फीट ऊँची आदिनाथ की मूर्ति पर भी एक लेख अंकित है । स्व० श्री राजेन्द्रलाल हाड़ा ने कठोर परिश्रम कर उसका अध्ययन किया था, किन्तु महाकवि रङ्ग कृत सम्मतगुण-गिहाणकव्व की आद्यप्रसस्ति का अध्ययन एवं मूर्ति लेख से उसकी तुलना करने से श्री हाड़ा का अध्ययन पर्याप्त भ्रमपूर्ण सिद्ध होता है । उनके पठनानुसार मूर्ति लेख निम्न प्रकार है—

श्री आदिनाथायनमः । संवत् 1497 वर्ष वेशाष
7 शुके पुनर्वसुनक्षत्रे श्री 'गोपाचल दुर्ग'
महाराजाविराज श्री डुंग संवर्तमानो श्री

कांचीसथे माधुरान्वयो पुस्करगण भट्टारक श्री गुणकीर्ति
देव तत्पदे यत्यःकीर्तिदेवा प्रतिष्ठाचार्य श्री पंडित रघू
तेप आभाए अग्रोतवंसे मोद्गल गोत्रासा ॥ धुरात्मा
तस्य पुत्रः साधु भोपा तस्या भार्या नाल्ही ॥ पुत्र प्रथम
साधु क्षेमसी द्वितीय साधु महाराजा तृतीय असराज
चतुर्थ धनपाल पञ्चम साधु पालका । साधु क्षेमसी
भार्या नोरादेवी पुत्र ज्येष्ठ पुत्र भघायि पति कौल ।।
भ—भार्या च ज्येष्ठस्त्री सरसुती पुत्र मल्लिदास द्वितीय
भार्या साध्वीसरा पुत्र चन्द्रपाल क्षेमसीपुत्र द्वितीया साधु
श्री भोजराजा भार्या देवस्यपुत्र पूर्णपाल । एतेषा
मध्ये श्री ॥ त्वादि जिनसंधाधिपति 'काला' सदा
प्रणमति ।

उक्त लेख में रेखांकित पद विचारणीय हैं । यह तो सर्वविदित ही है कि गोपाचल (ग्वालियर) में वि० सं० 1497 में तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह का राज्य था । उनके समय में गोपाचल काष्ठासंघ माधुरान्वय एवं पुष्करगणीय भट्टारकों का गढ़ था । उनमें भट्टारक गुणकीर्ति के शिष्य यशकीर्ति तथा उनके शिष्य महाकवि रङ्ग ने डूंगरसिंह के आग्रह से उनके दुर्ग में रहकर ही साहित्य साधना की थी । महाकवि के बालसखा एवं डूंगरसिंह के अमात्य कमलसिंह ने दुर्ग में 57 फीट ऊँची आदिनाथ की मूर्ति का निर्माण कराया था, जिसकी प्रतिष्ठा डूंगरसिंह की सहायता से कमलसिंह ने रङ्ग द्वारा कराई थी ।

उक्त वक्तव्य के रेखांकित पदों की, मूर्तिलेख के रेखांकित पदों से तुलना करने पर संगति ठीक ही बैठ जाती है । उक्त संगति का मूलाधार रङ्ग कृत 'सम्मत्तगुणगिहाणकव्व' ही है, जिसे रङ्ग ने कमलसिंह के आश्रय में रहकर उसके स्वाध्याय हेतु तैयार किया था तथा उसने उसकी प्रशस्ति में कमलसिंह का वंशवृक्ष,

12. विशेष के लिए देखिए रङ्ग, साहित्य का आलोचनात्मक परीक्षण पृ० 69-83.

13. दे० बड़वानी भित्तिलेख.

डूंगरसिंह का विस्तृत वर्णन एवं गोपाचल की राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्र खींचा है। मूर्तिलेख में अंकित सामग्री निम्न प्रशस्ति में दृष्टव्य है :—

गोपाचलि डूंगरराय रज्जि ।
सिव ऊसइणा विहिय कज्जि ॥
तहि णिव सम्माणें तोसियंगु ।
बुहयणहँ बिहिउ जं णिच्य संगु ॥
करुणावल्ली वण-धवल-कंदु ।
सिरि अइरवाल-कुल-कुमुय चंदु ॥
सिरि भोपाणामें हुवउ साहु ।
संपत्तु जेण धम्में जिलाहु ॥
तहु णाल्हाही णामेण भउज ।
अइसावहाण सा पुण्णकज्ज ॥
तहुणंदण चारि गुणोह वास ।
ससिणिह जसभर पूरिय दिसास ॥
खेमसीहु पसिद्धउ महि गरिट्ठु ।
महराजु महामइ तहु कणिट्ठु ॥
असरज दुहिय जण आसऊर ।
पाल्हा कुल-कमल-वियास सुरु ॥
एयहु गरुवउ जो खेमसीहु ।
वणियउ एच्छ भवभमण वीहु ॥
तहु णिउरादे भामिणि पउत्त ।
गुरु-देव-सच्छ-पय-कमल-भत्त ॥
तहि उवरि उवण्ण विणिणपुत्त ।
विण्णाण-कला-गुण-सेणि जुत्त ॥
पढमउ संधाहिवउ कमलसीहु ।
जो पयलु महीयलि सिवसमीहु ॥
णामेण सरासइ तहु कलत्त ।
वीई जि ससिपिय पाय भत्त ॥
चउविह दाणें पीणिय सुपत्त ।
अह्णिनु विरइय जिणणाहजत्त ॥

तहुणदणु णामें मल्लिदासु ।
सो सपत्तउ सुहगइ णिवासु ॥
संधाहिव कमलहु लहुउ भाउ ।
णामेण पसिद्धउ भोयराउ ॥
तहु भामिणि देवइ णाम उत्त ।
विहु पुत्तहि सा सोहइ सउत्त ॥
णामेण भणिउ गुरु चंदसेणु ।
पुणु पुण्णपालु लहुवउ अरेणु ॥

घत्ता

इय परिणय जुत्तउ एच्छणिह ।
कमलसीहु संधाहिव चिरणंदउ ॥
एच्छु पसणु मणु णिहय ।
दुहिय जण आइ ॥

सम्मत० 4/35

इस प्रकार महाकवि रङ्ग के 'सम्मतगुण-णिहाणकव्व' की प्रशस्ति को सम्मुख रखकर उक्त मूर्तिलेख के अशुद्ध पढ़े गये पाठों को सरलता से शुद्ध किया जा सकता है ।

गोपाचल के श्रेष्ठजन

रङ्ग ने अपनी प्रशस्तियों में प्रसंगवश कई नगर श्रेष्ठियों की विस्तृत चर्चा की है । इनमें से कुछ श्रेष्ठिजन रङ्ग की कवित्वशक्ति से अत्यन्त प्रभावित होकर उन्हें अपना गुरु मानकर चलते थे तथा वे निरन्तर ही अपने स्वाध्याय हेतु उनसे काव्यग्रन्थ लिखने का आग्रह-भरा निवेदन किया करते थे । यहाँ दो-एक उदाहरण प्रस्तुत कर यह दर्शाने का प्रयास किया जायगा कि मध्यकालीन नगर श्रेष्ठिजन ऐश्वर्य और भोगों के बीच रहते हुए भी कितने साहित्य-रसिक एवं साहित्यकारों को मुकुटमणि के समान समझते थे । कवि रङ्ग के एक भक्त थे—कमलसिंह संघवी, जो तोमर राजा डूंगरसिंह

के अमात्य थे तथा ऐश्वर्य में किसी भी राजा से कम न थे। वे कवि से कहते हैं 'हे कविवर, शयनासन, हाथी, घोड़े, ध्वजा, छत्र, चमर, सुन्दर-सुन्दर रानियाँ, रथ, सेना, सोना-चाँदी, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, पुत्र, भाई, आदि सभी मुझे उपलब्ध हैं। सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक-सामग्री की मुझे कमी नहीं, किन्तु इतना सब होने पर भी एक वस्तु का अभाव मुझे निरन्तर खटकता रहता है, और वह यह कि मेरे पास

काव्यरूपी एक भी सुन्दर मणि नहीं है। उसके बिना मेरा सारा ऐश्वर्य फीका-फीका लगता है। हे काव्यरूपी रत्नों के रत्नाकर, तुम तो मेरे स्नेही बालमित्र हो, तुम्हीं हमारे सच्चे पुण्य-सहायक हो। मेरे मन की इच्छा को पूर्ण करनेवाले हो। इस नगर में बहुत से विद्वज्जन रहते हैं, किन्तु मुझे आप जैसा कोई भी अन्य सुकवि नहीं दिखता। अतः हे कविश्रेष्ठ, मैं अपने हृदय की गाँठ खोलकर आपसे सच-सच कह रहा हूँ कि आप मेरे निमित्त एक काव्य की रचना कर मुझ पर अपनी महती



रईधूकृत पासणाह चरिउ प्रतिलिपि काल—वि० स० १४९३

सन्दर्भ— राजा अरविन्द अपने मन्त्री वायुभूति से उसके भाई कमठ के चरित्र के विषय में पूछ रहा है तथा कमठ को तत्काल ही देश निर्वासन की सलाह कर रहा है।

कृपा कीजिए ।¹⁴ कवि रङ्घू ने कमलसिंह की यह मार्मिक-प्रार्थना स्वीकार कर उसके निमित्त 'सम्मतगुण-णिहाणकव्व' नामक एक काव्य-ग्रन्थ की रचना करदी ।

महाकवि का एक दूसरा भक्त था हरिसिंह साहू । उसकी तीव्र इच्छा थी कि उसका नाम चन्द्र विमान में लिखा जाय । अतः वह कवि से निवेदन करता है—'हे मित्र, मुझ पर अनुरागी बनकर मेरी विनती सुन लीजिए एवं मेरे द्वारा इच्छित 'बलभद्र चरित' नामक रचना लिखकर मेरा नाम चन्द्र-विमान में अंकित करा दीजिए ।'¹⁵ हरिसिंह की यह प्रार्थना सुनकर कवि ने कई कारणों से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए तथा 'बलभद्र चरित' की विशालता का अनुभव करते हुए उत्तर दिया :—

धणएण भरइ को उवहि-तोउ ।
को फणि-सिरमणि पयडइ विणोउ ॥
पंचाणण-मुहि को खिवइ हत्थु ।
विणु सुत्ते महि को रयइ बत्थु ॥
विणु-बुद्धिए तहँ कव्वहँ पसारु ।
विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु ॥

बलभद्र० 1/4/1.4

अर्थात्—'हे भाई, बलभद्र-चरित का लिखना सरल कार्य नहीं । उसके लिखने के लिए महान् साधना, क्षमता एवं शक्ति की आवश्यकता है । आप ही बताइये कि भला घड़े में समस्त समुद्र-जल को कोई भर सकता है ? साँप के सिर से मणि को कोई ले सकता है ? प्रज्ज्वलित पंचाग्नि में कोई अपना हाथ डाल सकता है ?

बिना धागे से रत्नों की माला कोई गूँथ सकता है ? बिना बुद्धि के इस विशाल काव्य की रचना करने में मैं कैसे पार पा सकूँगा ?"

उक्त प्रकार से उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवतः टाल देना चाहा, किन्तु साहू बड़ा चतुर था । अतः ऐसे अवसर पर उसने वणिवबुद्धि से कार्य किया । उसने कवि को अपनी पूर्व-मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहा: "कविवर, आप तो निर्दोष काव्य रचना में धुरन्धर हैं, शास्त्रार्थ आदि में निपुण हैं, आपके श्री मुख में तो सरस्वती का वास है । आप काव्य-प्रणयन में पूर्ण समर्थ हैं, अतः इच्छित-ग्रन्थ की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिए ।"¹⁶ अन्ततः कवि ने उक्त ग्रन्थ की रचना करदी ।

रङ्घू-साहित्य में वर्णित गोपाचल

रङ्घू-साहित्य में गोपाचल का बड़ा ही समृद्ध वर्णन मिलता है । कवि ने उसकी उपमा स्वर्गपुरी, इन्द्रपुरी, एवं कुबेरपुरी से दी है, किन्तु प्रतीत होता है कि उसे इस तुलना से भी सन्तोष नहीं है, क्योंकि एक सन्त कहाकवि की दृष्टि में ज्ञान एवं गुरु ही सर्वोपरि होते हैं, भौतिक समृद्धि तो उनके समक्ष नगण्य है । अतः वह गोपाचल को 'नगरों का गुरु' अथवा 'पण्डित' घोषित करता है । वह कहता है:—

महिवीढि पहाणउं णं गिरिराणउं ।
सुरहँ वि मणि विमउ जणिउं ॥
कउसीसहँ मंडिउ णं इहु ।
पंडिउ गोवायलु णामे भणिउं ॥

14. सम्मतगुण० 1/15/1-6.

15. बलहृदचरित 1/4/6-12.

16. बलहृद० 1/5/5-6.

पास० 1/2/15-16

वही 1/3/17-18

अर्थात् “पृथ्वी-मण्डल में प्रधान, गिरिराज (सुमेरु) के समान विशाल, देवताओं के मन में भी विस्मय उत्पन्न करनेवाला, भवन-शिखरों से मण्डित तथा पृथ्वी-मण्डल के श्रेष्ठ पण्डित के समान गोपाचल नामक एक नगर कहा गया है।”

अर्थात् “सुख-समृद्धि एवं यश के लिए वह गोपाचल रत्नाकर के समान आकर था, बुधजनों के समूहों से युक्त वह नगर मानों इन्द्रपुरी ही था। शास्त्रार्थों से सुशोभित तथा जन-मन को आकर्षित करनेवाले सर्व-श्रेष्ठ नगरों का मानों यह गुरु ही था।”

सुहृच्छ जसयर ण रयणावर ।
बुहयण जुहु णं इंदउर ॥
सत्थत्थहिं सोहिउ जणमणु ।
मोहिउ णं वरणयरहं एहु गुरु ॥

वहाँ के सामाजिक-जीवन का भी वह सुन्दर वर्णन करता है। कवि के अनुसार वहाँ के आबाल-वृद्ध, नर-नारी दुर्व्यसनों से कोसों दूर थे। प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर वहाँ की नारियाँ सुन्दर वस्त्र धारणकर



महाकवि रईधूत अपभ्रंश का एक अद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ, “निसट्टि महापुराणपुरिस आवाड-गुणालंकार” के अन्तिम पृष्ठ की फोटो कापी

पवित्र मन से प्रभाती-गीत गाती हुई जब देवालयों की ओर जाती थीं, तब नगर का सारा वातावरण सात्विक एवं धर्म-महिमापूर्ण हो जाता था। कुलवधुएँ सत्पात्रों को भोजन कराए बिना भोजन नहीं करती थीं, तथा दीन-दुखी एवं अनार्थों के प्रति वे निरन्तर दयालु रहती थीं।¹⁷

एक ओर जहाँ रङ्ग-वर्णित महिलाएँ इतनी उदार थीं, वहीं दूसरी ओर धर्म-विरुद्ध कार्यों का घोर विरोध करनेवाली, सत्साहसी एवं वीरांगनाएँ भी वहाँ थीं। कवि ने अपने 'सिरिसिरि-वालकहा' नामक ग्रन्थ में उज्जयिनी की राजकुमारी मयणासुन्दरी का उल्लेख करते हुए बताया है कि राजा प्रभुपाल ने किस प्रकार मयणासुन्दरी की कला-विद्याओं की कुशलता से प्रसन्न होकर उसे स्वयं ही अपने योग्य वर के चुनाव कर लेने का आदेश दिया।¹⁸ किन्तु मयणासुन्दरी इसे भारतीय-परम्परा के विपरीत होने के कारण आपत्तिजनक मानकर उसका घोर विरोध करती है। कवि ने इस प्रसंग की चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ की है। प्रतीत होता है कि मयणासुन्दरी के माध्यम से कवि ने वहाँ के नारी वर्ग के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं।

उक्त प्रसंग के अनुसार पिता के विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव सुनकर मयणासुन्दरी विचार करती है :—

कुलमग्गु ण याणइ अलियभासि ।
नियगेह आणइ अवजसह-रसिरा ॥

सिरिवाल० 2/4/8

अर्थात् यह (मेरा पिता) कुल-परम्पराओं को जानता नहीं, वह असत्यभाषी है और अब अपने घर में अपयशों को ला रहा है।

17. सम्मत्तगुण० 1/4.

18. सिरिवाल० 2/4/5.

जिह मइमत्तु गइंदु णिरंकुसु ।
जं भावइ तं बोलइ जिह सिसु ॥
जायंधु वि जह मग्गु ण जाणइ ।
चउदिसु घाणमाणु दुहु माणइ ॥
तिहि राणउ लज्जा मेल्लिवि ।
जं रुच्चइ तं चवइ उवेल्लिवि ॥

वही० 2/5/8-11

अर्थात् "जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी निरंकुश हो जाता है, उसी प्रकार हमारा पिता भी निरंकुश हो गया है। अज्ञानी बच्चों के समान ही जो मन में आता है, सो बोलता है। जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति मार्ग नहीं जानता और चारों दिशाओं में दौड़ता हुआ दुःख-माजक बनता है, ठीक उसी प्रकार यह भी मान-मर्यादा छोड़कर जो मन में आता है, वही करता है और बोलता है।" इसके बाद वह अपने पिता को निर्भोक्ता के साथ उत्तर देती हुई कहती है :—

मो ताय-ताय-पई णिरु अजुत्तु ।
जंपियउ ण मुणियउ जिणहु सुत्तु ॥
वर-कुलि उवण जा कण्ण होइ ।
सालज्ज ण मेल्लइ एच्छ लोय ॥
वादाववाउ नउ जुत्तु ताउ ।
तहँ पुणु तुअ अवस्सवमि णिसुणि राउ ।
विहु-लोय-विरुद्धउ एहु कम्मु ।
जं सुव सइवरु णिण्हइ सुद्धम्म ॥
पई मण इच्छइ किज्जइ विवाहु ।
तो लोय सुहिल्लउ इय पवाहु ॥

वही० 2/6/5

अर्थात् "हे पिताजी, आपने जिनागम-सूत्रों के विरुद्ध ही मुझे अपने आप पति के चुनाव कर लेने का

आदेश दिया है। किन्तु जो कन्याएँ कुलीन होती हैं, वे कभी भी ऐसा निर्लज्जता का कार्य नहीं कर सकती। हे पिताजी, इस विषय में मैं वाद-विवाद नहीं करना चाहती। इसलिए, मेरी प्रार्थना ध्यानपूर्वक सुनें। आपका यह कार्य लोक-विरुद्ध होगा कि आपकी कन्या स्वयंवर करके अपने पति का निर्वाचन करे। अतः मुझसे कहे बिना ही आपकी इच्छा जहाँ हो, वहीं पर मेरा विवाह कर दें.....

भरत वाक्य

रङ्ग-साहित्य की यह विशेषता है कि उसके प्रायः सभी ग्रन्थों में विस्तृत भरत-वाक्य भी उपलब्ध होते हैं। उनके मूल में कवि के अन्तस्का उज्ज्वल रूप ही प्रतिभाषित होता है। कवि-हृदय लोकमंगल की कामना से ओतप्रोत है। उसकी अभिलाषा है कि राजा कल्याण-मित्र बने, प्रजा उसे अपना पिता समझे, राजा भी उसे अपनी सन्तति के समान स्नेह करे। समस्त आधियाँ एवं व्याधियाँ नष्ट हों। ऋतुएँ समयानुसार सुफल दें। सर्वत्र सुख-सन्तोष एवं शान्ति का साम्राज्य हो। कवि कहता है :—

णिखद्दु णिवसउ सयलुदेसु ।
 पयपालउ णंदउ पुणु णरेसु ॥
 जिणंसासणु णंदउ दोसमुक्कु ।
 मुणिगण णंदउ तहिं विसय-वृक्कु ॥
 णंदहु सावययण गलियपाव ।
 जेणिसुणहिं जीवाजीव माव ॥
 णंदउ महि णिरसिय असुहुक्कमु ।
 जो जीवदयावर परमधम्म ॥ ..

घत्ता

मच्छरमयहीणउं सत्थपवीणउं ।
 पंडिययणु णंदउ सुचिर ॥

परमुण गह्णायर वयणियभायर ।
 जिणपयपरुह णविय सिर ॥

पास० 7/11

अर्थात् “सम्पूर्ण देश उपद्रवों से रहित रहे, नरेश प्रजा का पालन करता हुआ आनन्दित रहे। जिन-शासन फले-फूले। निर्दोष मुनिगण विषय-वासना से दूर रहकर आनन्दित रहें। जो श्रावकगण जीव-अजीव आदि पदार्थों का श्रवण करते हैं, वे पापरहित होकर आनन्द से रहें।”

दूसरों के गुण ग्रहण करनेवाले, व्रत एवं नियमों का आचरण करनेवाले, मात्सर्य-मद से रहित एवं शास्त्र में प्रवीण पण्डितगण चिरकाल तक आनन्द करें एवं सभी जन जिनेन्द्र के चरण-कमलों में नत-मस्तक रहें।”

रङ्ग-साहित्य में प्रयुक्त आधुनिक भारतीय भाषाओं के शब्द

महाकवि रङ्ग यद्यपि मूलतः अपभ्रंश कवि है किन्तु उनके साहित्य में ऐसी शब्दावलियाँ भी प्रयुक्त हैं जो आधुनिक भारतीय भाषाओं की शब्दावलियों से समकक्षता रखती हैं। उदाहरणस्वरूप यहाँ कुछ शब्दों को प्रस्तुत किया जाता है :—

टोपी (जसहर० 1/5/7), डोर (अप्प० 1/4/2),
 चोजु (आश्चर्य, सुक्को० 1/6/3), साला-साली (अप्प० 3/4/2), रसोइ (सुक्को० 4/5) गड्डी = गाड़ी, (घण्ण० 2/7), गाली (अप्प० 1/8), जंगल (अप्प० 2/3/1),
 पोटली (घण्ण० 2/6/4), बुक्कड = बकरा—घण्ण० 2/7/5), थट्ट = भीड़ सम्मड० 1/17/4—खट्ट = खाट—घण्ण० 2/14/8—सुत्त = सूतना = सोना, घण्ण० 3/15/3), पटवारी (घण्ण० 4/20/5),
 वक्कल = बकला = छिलका—सुक्को० 2/5/12), डिल्ल = डीला—अप्प० 1/12/6), पुराना (अप्प० 1/19/3), झूठे = झगड़े (अप्प० 1/20/5), अंगोछा = धोती, (सम्मत्त० 5/10/13) मुगदालि = मूंग

की दाल (हरिवंश० 4/7/8), पीड़ा=गल्ला, (पास० 6/1/6) लइगउ=लेगया (अप्प० 3-8-10) मामा मामा (हरिवंश० 4/8/6), कप्पड़=कपड़ा (अप्प० 1/12/5), पैज=प्रतिज्ञा, (पुण्ण० 3/4/7), कुकुर पुण्ण० (12/25/11) खाजा (पुण्ण० 1/10/5) अथउ=सूर्यास्त पूर्व का मोजन, (पुण्ण० 12/3/4) चुत्तू (पुण्ण० 1/14/7), साँकल (पुण्ण० 1/3/4), मोल (पुण्ण० 5/1/10), देहली (पुण्ण० 8/2/8), गला (पुण्ण० 13/4/12), तलवर=कोतवाल, (पुण्ण० 9/7/10) आदि ऐसे शब्द हैं, जो आज भी बुन्देली, वघेली, ब्रज, भोजपुरी, अवधी एवं पंजाबी में प्रयुक्त होते हैं।

रङ्ग साहित्य का महत्व

इस प्रकार महाकवि रङ्ग ने विविध भाषाओं एवं साहित्यिक-शैलियों में एक विशाल साहित्य रूपी भास्कर

दीप को प्रज्वलित कर माँ भारती के श्रीचरणों को आलोकित किया है। उसने विविध आक्रमणों से जर्जर मालवभूमि के गिरते गौरव को अपनी समर्थ-लेखनी से उन्नतकर उसके पद को पुनः प्रतिष्ठित किया है तथा अन्धकार में विलीन होते हुए उसके कई ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी प्रशस्तियों के माध्यम से प्रकाशित किया है। निःस्सन्देह ही रङ्ग-साहित्य मालव प्रदेश का ही नहीं समग्र भारतीय-वाङ्मय का भी एक स्वर्णिम अध्याय है। उसने शिक्षा जगत् का महान् उपकार किया है। अतः गोपाचल के इस वरेण्य कवि के अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशदान देने से ही म० प्र० उसके ऋणों से उद्धार हो सकेगा और इसी प्रकार रङ्ग के प्रति रचनात्मक समर्थ श्रद्धांजलियाँ भी समर्पित की जा सकेंगी।

□ □

ग्वालियर एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में स्थित

जैन सांस्कृतिक केन्द्र

डा० बी० बी० लाल

भारत की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक जैन संस्कृति, जिसे श्रमण संस्कृति भी कहा जाता है, की व्यापकता उसकी एक प्रमुख विशेषता रही है। यों तो सम्पूर्ण भारतवर्ष में जैन संस्कृति के प्रतीक स्वरूप अनेकों तीर्थ, मन्दिर, मूर्तियाँ आदि अनेक प्रकार के स्मारक उपलब्ध होते हैं, परन्तु उत्तर भारत और मध्य भारत के बीच का क्षेत्र इस दृष्टि से और भी अधिक सम्पन्न क्षेत्र है। ग्वालियर के निकटवर्ती क्षेत्र जैन पुरातत्व के वैभव से भरे पड़े हैं, विभिन्न अंचलों में युगयुगीन जैन संस्कृति के अनेकों प्रतीकात्मक स्मारक उपलब्ध हैं। इसका एक प्रमुख कारण सम्भवतः यह भी है कि विभिन्न जैन तीर्थंकरों व साधुओं ने देश भर में पैदल बिहार कर अपने धर्म का प्रचार किया और लोगों को अहिंसात्मक जीवन पद्धति अपनाने का उपदेश दिया। जो क्षेत्र तीर्थंकरों के बिहार में प्रमुख रहे उनमें बिहार, उत्तरप्रदेश और उत्तरी मध्यप्रदेश के क्षेत्र प्रमुख हैं।

ग्वालियर उत्तरी मध्यप्रदेश के प्राचीनतम क्षेत्रों में से एक है। ग्वालियर के निकट पवाया नाम के ग्राम की वेदों में पद्मावती नामक ऐतिहासिक नगरी मानने में अनेकों इतिहासकार एकमत हैं। यहाँ प्राप्त प्राचीन पुरातत्वीय सामग्री से यह तथ्य बहुत कुछ पुष्ट होता है। मुरैना जिले में सिहोनिया, दतिया जिले में स्वर्णगिरी, शिवपुरी जिले के नरवर, गुना जिले में चंदेरी, तुमैन और झरकौन जैंगर (बजरंग गढ़) तथा ग्वालियर के अमरौल व दुर्ग आदि स्थल भी प्राचीन ऐतिहासिक महत्व व पुरातत्विक सम्पदा की दृष्टि से सम्पन्न क्षेत्र हैं। इन सभी क्षेत्रों में जो कुछ भी प्राचीनतम पुरातत्विक अवशेष एवं अन्य सामग्री उपलब्ध हुई है उसका बड़ा भाग जैन संस्कृति से सम्बन्धित है। इस प्रकार ग्वालियर और उसका निकटवर्ती सम्पूर्ण क्षेत्र जैन पुरातत्व की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न क्षेत्र है तथापि जैन संस्कृति के कुछ प्रमुखतम केन्द्रों के रूप में कुछ क्षेत्रों का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्व है। यहाँ ऐसे ही कुछ प्रमुख स्थलों की चर्चा की गई है।

सिद्धक्षेत्र स्वर्णागिरी—

दतिया स्टेशन से तीन मील की दूरी पर स्थित स्वर्णागिरी (सौनागिरी) धार्मिक दृष्टि से सिद्धक्षेत्र माना जाता है। जिस ग्राम में यह क्षेत्र स्थित है वह सनावल कहलाता है, जो “श्रमणाचल” का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है, जिसका तात्पर्य श्रमण संस्कृति के प्रमुख अंचल से है। जिससे प्रतीत होता है कि यह क्षेत्र श्रमण दिगम्बर जैन साधुओं की प्राचीनतम तपोभूमि रही है।

वर्तमान में यहाँ एक पहाड़ी बनी है जिस पर कुल 77 मन्दिर बने हुए हैं। नीचे के निकटवर्ती भू-भाग में भी सोलह भव्य मन्दिर बने हैं। इन सारे मन्दिरों में पहाड़ी के शीर्षस्थ स्थान पर बने तीर्थंकर चन्द्रप्रभू के मन्दिर का विशेष महत्व है। पहाड़ी की सर्वोच्च शिला पर उत्कीर्ण तीर्थंकर चन्द्रप्रभू की प्रतिमा के चारों ओर भव्य मन्दिर बना है, जिसमें बाद में समय समय पर अन्य अनेकों तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी विराजमान की गई हैं।

तीर्थंकर चन्द्रप्रभू की प्रतिमा यहाँ की प्राचीनतम एवं इस मन्दिर की मूल नायक प्रतिमा है। जैन शास्त्रों के उल्लेख के अनुसार इस स्थल पर तीर्थंकर चन्द्रप्रभू स्वामी का समवशरण विहार करते समय ठहरा था, और उन्होंने काफी समय तक यहाँ उपदेश दिये थे। इस कारण इस स्थान का अत्याधिक धार्मिक महत्व है। इस घटना के प्रतीक स्वरूप ही यहाँ तीर्थंकर चन्द्रप्रभू की यह प्रतिमा उत्कीर्ण की गई। यह मनोज्ञ प्रतिमा खड़गासन मुद्रा में है जिसकी ऊँचाई साढ़े सात फीट है। प्रतिमा के नीचे के भाग में उत्कीर्ण हिन्दी लेख में जो कि किसी प्राचीन लेख के आधार पर लिखा गया है, इस प्रतिमा और मन्दिर को सम्वत् 335 वि. में निमित्त दर्शाया है। इस लेख के अनुसार श्री श्रवणसेन कनकसेन ने इस मन्दिर का निर्माण सं. 335 वि. में

करवाया तथा सं. 1883 में पुनः मथुरा के सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी द्वारा इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया गया। इस जीर्णोद्धार के समय मूल शिलालेख चरणों के नीचे होने से दब गया पर सेठ लक्ष्मीचन्द्र जी ने इसका अनुवाद कराकर लगा दिया जिसे अविश्वसनीय मानने का कोई कारण नहीं है।

जैन ग्रन्थों के उल्लेखों के अनुसार यह पर्वत जैन साधुओं की प्रमुख साधना स्थली रहा है, व लगभग साढ़े पाँच करोड़ साधुओं ने इसे अपनी सिद्धभूमि होने का गौरव प्रदान किया है। साधुओं के संघ के विहार के सम्बन्ध में उल्लेखनीय प्राचीनतम घटना सन् 258 ई. के लगभग की बताई जाती है जब कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में महाकाल पड़ने पर जैन साधू संघ का एक अंश चलकर यहाँ आकर ठहरा। उन्होंने वहाँ जो अपना शिलालेख लगवाया वह अभी तक उपलब्ध है। सम्राट अशोक के शासन काल में एक उपशासक कुमारपाल की यहाँ नियुक्ति किये जाने का भी उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार अपने प्रारंभिक काल में जब सम्राट अशोक का झुकाव जैन धर्म की ओर था, उन दिनों सम्राट अशोक ने भी इस स्थान की वन्दना की थी।

पहाड़ से मोक्ष को प्राप्त साढ़े पाँच करोड़ मुनियों में सर्वाधिक प्रामाणिक ऐतिहासिक उल्लेख मुनि नंग-अनंग कुमार का उपलब्ध होता है। इनके स्मारक के रूप में तीर्थंकर चन्द्रप्रभू के मन्दिर के निकट ही इनके चरण प्रतिष्ठापित हैं। पहाड़ी पर बने अन्य मन्दिर भी अत्याधिक भव्य हैं तथा उनमें विराजमान प्रतिमाओं में से अनेकों काफी प्राचीन हैं। व्यवस्थापन समिति द्वारा एक मन्दिर के वरामदों में पुरातत्व संग्रहालय के रूप में एक बीथिका बना दी गई है। इसमें भी सन् 300 ई. तक की अनेकों प्राचीन जैन प्रतिमाएँ खण्डित रूप में उपलब्ध हैं। इनके साथ ही समवशरण आदि के कुछ अवशेष भी इस संग्रहालय में हैं। पहाड़ी पर प्राकृतिक रूप से बने एक कुण्ड का आकार नारियल जैसा होने से

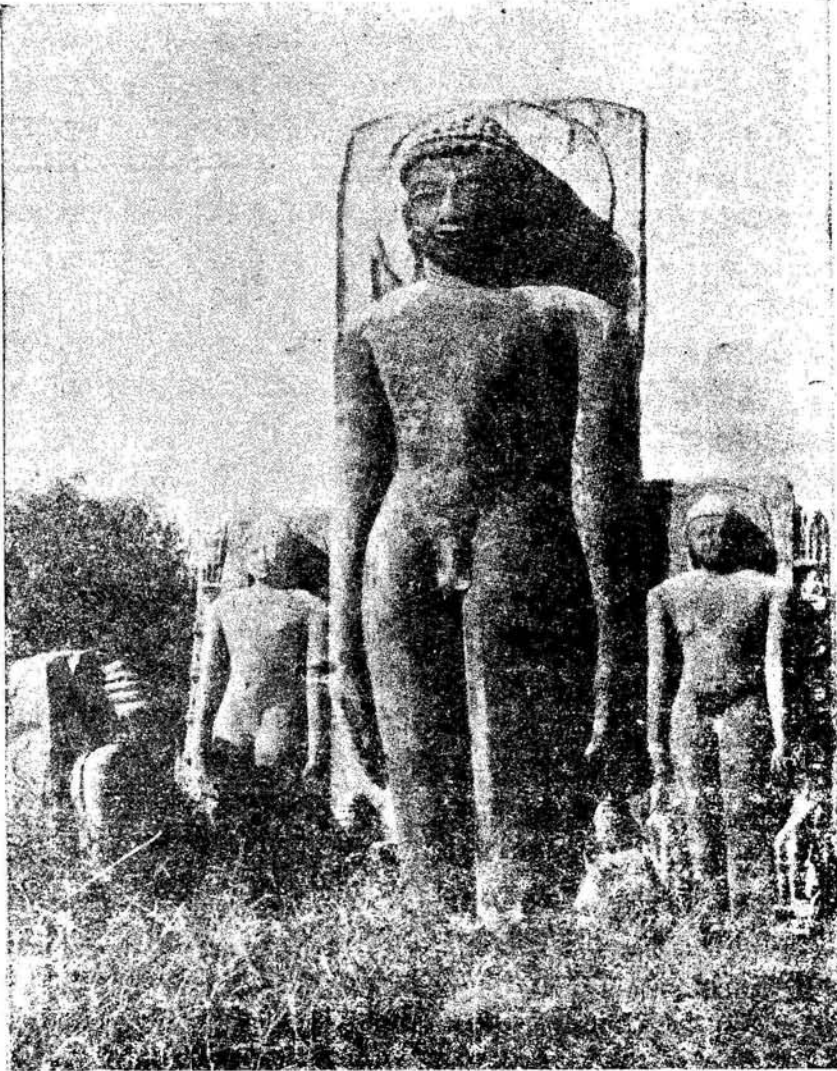
वह नारियल कुण्ड, तथा एक विशाल शिला ठोकने पर आवाज करने के कारण बजनी शिला के नाम से जानी जाती हैं। नीचे के मन्दिरों में भट्टारक हरेन्द्रभूषण जी का मन्दिर प्राचीन भी काफी है।

विगत कुछ समय पूर्व बने बाहुबली स्वामी का मन्दिर, मानसाम्म तथा कुछ अन्य मन्दिर भी भव्य हैं। तीर्थंकर चन्द्रप्रभु के समवशरण की विश्राम स्थली तथा

पाँच करोड़ साधुओं की सिद्ध स्थली होने के कारण जैन संस्कृति का यह प्राचीन केन्द्र ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ धार्मिक दृष्टि से भी अत्याधिक महत्वपूर्ण सिद्ध क्षेत्र (तीर्थ) माना जाता है।

सिहोनिया—

मुरैना जिले में स्थित सिहोनिया नामक नगरी इस क्षेत्र की प्राचीनतम ऐतिहासिक नगरियों में प्रमुख है।



चैत्रनाथ की प्रतिमाएँ सिहोनिया (जिला मुरैना) (श्री हरिहर निवास जी द्विवेदी के सौजन्य से)

प्राचीन ग्रन्थों में नाग सम्राटों की राजधानी क्रान्तिपुरी इसी नगरी का ऐतिहासिक नाम है। यहाँ स्थित माता के मन्दिर के चारों ओर तथा निकटवर्ती अन्य मन्दिरों में पहली से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य पुरातत्विक अवशेष भरे पड़े हैं, इनमें अनेकों जैन धर्म से सम्बन्धित हैं, अभी तक इन पर पर्याप्त शोध के अभाव में इनके बारे में बहुत से तथ्य अज्ञात हैं। यहीं ग्वालियर के तोमर राजा वीरमदेव के समय में बना विशाल एवं भव्य चैत्रनाथ मूर्ति समूह अभी भी सुरक्षित है। इसमें चैत्रनाथ की जैन मूर्ति पर वि. सं. 1467 (सन् 1410 ई.) का एक शिलालेख अंकित है।¹

दूबकुण्ड (श्यौपुर) —

मुरैना जिले में ही श्यौपुर तहसील में स्थित दूब-कुण्ड नामक स्थान भी जैन संस्कृति का प्राचीन केन्द्र रहा है। यहाँ भी कई प्राचीन जैन मूर्तियों के अवशेष प्राप्त होते हैं। यहाँ प्राप्त वि. सं. 1145 (सन् 1088 ई.) के विक्रमसिंह के शिलालेख से प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र के कच्छपघात राजाओं का प्रश्रय भी जैन सूरियों को प्राप्त हुआ था। शान्तिषेण सूरि और उनके शिष्य विजयकीर्ति द्वारा एक प्रशस्ति लिखी गई थी।² यहाँ के जैन मन्दिर के शिलालेख वि. सं. 1152 (सन् 1095 ई.) से ज्ञात होता है कि यहाँ काष्ठा संघ के महाचार्यवर्य श्री देवसेन के पादुका चिन्ह की पूजा होती थी।³

पवाया (पद्मावती) —

ग्वालियर जिले में डबरा के निकट स्थित पवाया नामक ग्राम ऐतिहासिक दृष्टि से इस सारे क्षेत्र में स्थित

प्राचीनतम नगरों में से एक है। अनेकों इतिहासकारों के अनुसार भारतीय वेदों में वर्णित पद्मावती नामक ऐतिहासिक नगरी यही पवाया है। यहाँ अत्यधिक प्राचीन पुरातत्विक सम्पदा उपलब्ध है। उपलब्ध अवशेषों में से कुछेक इस क्षेत्र में जैन संस्कृति के प्रचुरतापूर्ण प्रसार की साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। यहाँ उपलब्ध प्राचीन अवशेषों पर अभी पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। यहाँ प्राप्त मूर्तियों में एक मूर्ति विचित्र प्रकार की उपलब्ध हुई है जिसमें एक व्यक्ति अपने सिर के ऊपर एक ध्यानस्थ नग्न आकृति की प्रतिमा की विराजमान किये हुए है। यह प्रतिमा जैन प्रतिमा प्रतीत होती है, जो अब तक उपलब्ध प्रतिमाओं की तुलना में विचित्रताएँ लिये हुए एवं अनूठी है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतिमाएँ आदि भी उपलब्ध हैं।

अमरौल तथा सोहजना —

ग्वालियर जिले में ही ग्वालियर के दक्षिण पूर्व में स्थित अन्य ग्राम अमरौल में भी अनेकों उल्लेखनीय प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। इनमें पूर्व मध्यकाल की पार्श्वनाथ और आदिनाथ की प्रतिमा का सूक्ष्मता के साथ प्रतिरूपण हुआ है जिसमें तीर्थंकर के चारों ओर यक्षों की वामन आकृतियाँ पद्म पीठों पर सुखासन-मुद्रा में बंठी हुई दर्शायी गयी हैं। पद्मपीठ कमलपत्रावली द्वारा भव्य रूप से अलंकृत हैं।⁴

ग्वालियर —

ग्वालियर नगर स्वयं भी जैन संस्कृति के प्राचीनतम केन्द्रों में से एक है। यहाँ जैन संस्कृति से सम्बन्धित

1. आर्को. सर्वे. रि. भाग 2, पृ. 396।
2. ग्वालियर राज्य अभिलेख, क्र. 54।
3. ग्वालियर राज्य अभिलेख, क्र. 58।
4. जैनकला एवं स्थापत्य, खण्ड 1, भारतीय ज्ञानपीठ, भाग 4, वास्तु स्मारक एवं मूर्तिकला (600 से 1000 ई.। अध्याय 16, मध्य भारत कृष्णदेव। पृ. 177-78।



(सुहजना से प्राप्त प्राचीन जैन प्रतिमा) (श्री हरिहर निवासजी द्विवेदी के सौजन्य से)

प्रमाण आठवीं शती तक के प्राचीन उपलब्ध होते हैं। ग्यारहवीं शती में ग्वालियर दुर्ग (गोपाचल गढ़) के ऊपर एक जैन मन्दिर उपलब्ध होने के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। दुर्ग के अतिरिक्त ग्वालियर नगर के निकटवर्ती क्षेत्रों में भी अनेकों प्राचीन प्रतिमाएँ व अवशेष उपलब्ध होते हैं। इनमें तिघरा बाँध के पास स्थित सौजना (सुहजना) ग्राम में प्राप्त प्राचीन जैन प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं।

कच्छपघात राजाओं के काल में यहाँ जैन संस्कृति का प्रसार अवश्य ही कुछ कम हुआ था परन्तु चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में तोमर राजाओं के काल में ग्वालियर में जैन संस्कृति का व्यापक एवं अभूतपूर्व प्रचार हुआ। तोमर काल में ग्वालियर में जैन धर्मावलम्बी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। इस काल में अनेकों जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। ग्वालियर दुर्ग के चारों ओर निर्मित

गुहा मन्दिर और विशाल तीर्थंकर प्रतिमा समूह भारतीय पुरातत्व की अद्वितीय उपलब्धि है। बाबर के शासन काल में खण्डित ये जैन प्रतिमाएँ आज भी आकर्षक एवं मनोज्ञ स्वरूप लिये हैं तथा इनका अत्यधिक ऐतिहासिक एवं पुरातत्विक महत्व है। उरवाई द्वार पर स्थित आदिनाथ की प्रतिमा इस सम्पूर्ण मध्य भारतीय क्षेत्र में स्थित विशालतम प्रतिमा है तथा एक पत्थर की बावड़ी पर स्थित गुहा मन्दिर एवं विशाल मूर्तियों का समूह देश में अद्वितीय है। इतनी विशाल प्रतिमाएँ इतनी बड़ी संख्या में एक स्थान पर एक साथ कहीं नहीं मिलतीं।

ग्वालियर में बने जैन मन्दिरों में भी अनेकों प्राचीन एवं भव्य मन्दिर हैं, जिनमें प्राचीन प्रतिमाएँ एवं साहित्य उपलब्ध है। इस प्रकार ग्वालियर नगर स्वयं भी जैन संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र रहा है तथा उसके सांस्कृतिक विकास में जैनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

नरवर—

शिवपुरी जिले में शिवपुरी से 40 किलोमीटर उत्तर-पूर्व स्थित नरवर नगर नल और दमयन्ती के काल में नल द्वारा बसाया गया नगर माना जाता है। प्राचीन उल्लेखों में इसे नलपुर कहा गया गया है। यहाँ अनेक जैन मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों और मूर्तियों के उपयोग में आए श्वेत पाषाण पर यहाँ इतना अच्छा पालिश किया गया कि वह संगमरमर-सा दिखता है। नरवर के यज्वपाल, गोपाल देव और आसल्ल देव नामक राजाओं ने कला के विकास में व्यापक योग दिया।⁵ तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में नरवर और इसके आसपास जैन धर्म का

बहुत प्रसार हुआ। वि. सं. 1314 से 1324 के मूर्तिलेखों युक्त सैकड़ों जैन मूर्तियाँ नरवर में प्राप्त हुई हैं। जज्वल राजाओं के अधिकांश शिलालेखों के प्रशस्तिकार जैन मुनि हैं। यहाँ के बड़े जैन मन्दिर में वि. सं. 1475 (सन् 1418 ई.) का एक ताम्रपत्र भी उपलब्ध है जिसमें महाराजाधिराज बीरमेन्द्र तथा उनके मंत्री साधु कुशराज का उल्लेख है। नरवर के जैन मन्दिरों में जैन साहित्यकारों की अनेकों प्राचीन रचनाएँ व धर्मग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं जो इस क्षेत्र में जैन संस्कृति के विकास के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

चन्देरी (गुना) —

गुना जिले में चन्देरी और तुमैन जैन कला के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। चन्देरी में अनेकों प्राचीन एवं विशाल जैन मन्दिर स्थित हैं। चन्देरी और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में इस काल की पाषाण मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। उनमें तीर्थंकरों और देवियों के अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ भी हैं, जिनमें बहुत-सी अभिलिखित हैं। लगभग 1400 ई. में चन्देरी पट्ट की स्थापना हुई। श्री भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति और उनके उत्तराधिकारियों ने उस क्षेत्र में जैन धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। विदिशा जिले का सिरोंज, चन्देरी के भट्टारकों के कार्यक्षेत्र में आता था।⁶ इन मन्दिरों में बहुत-सा प्राचीन साहित्य एवं अभिलेख भी उपलब्ध है।

उपलब्ध प्रचुर सामग्री के संरक्षण एवं शोध की आवश्यकता—

इस प्रकार ग्वालियर और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में जैन संस्कृति का व्यापक प्रचार-प्रसार रहा है, और

5. जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड 1, भाग 6, भारतीय ज्ञानपीठ; वास्तु स्मारक एवं मूर्तिकला (1300 से 1800 ई.) अध्याय 27—मध्य भारत, पृष्ठ 356।
6. जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड 2, भाग 6, वास्तु स्मारक एवं मूर्तिकला (1300 से 1800 ई.) अध्याय 27, मध्य भारत पृष्ठ 356 भारतीय ज्ञानपीठ।

इसकी पुष्टि हेतु प्रचुर मात्रा में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री भी उपलब्ध है, परन्तु यह बड़े ही खेद का प्रसंग है कि जैन संस्कृति के पोषकों ने जहाँ सैकड़ों वर्षों तक अपनी इस प्राचीन सांस्कृतिक सम्पदा का संरक्षण एवं सम्बर्द्धन किया वहाँ वे अब इस पर अधिक ध्यान नहीं दे रहे हैं। आज प्राचीन सम्पदा के संरक्षण एवं उसके संग्रहीकरण की नितान्त आवश्यकता है जिसकी पूर्ति शीघ्र ही की जाना चाहिये। साथ ही इस दिशा में पर्याप्त शोध की भी आवश्यकता है ताकि इस संस्कृति एवं क्षेत्र के प्राचीन एवं गौरवमयी पक्ष को उजागर किया जा सके। ग्वालियर और इसके निकटवर्ती क्षेत्र

में जैन संस्कृति, पुरातत्व एवं प्राचीन साहित्य से सम्बन्धित इतना विशाल भण्डार उपलब्ध है कि उसके संग्रह से एक राष्ट्रीय स्तर का विशाल संग्रहालय निर्मित किया जा सकता है; साथ ही उसके सम्बन्ध में शोध-कार्य को प्रोत्साहित करने के लिये एक नियमित शोध संस्थान चलाया जा सकता है। महावीर निर्वाण महोत्सव के 2500वें वर्ष में इस दिशा में रुचि रखने वाले कुछ लोग आगे आएँ तो इस क्षेत्र की प्राचीन संस्कृति को उजागर करने की दिशा में महत्वपूर्ण सहयोग तथा भारतीय संस्कृति के विशाल ज्ञान भण्डार को महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकते हैं।

□ □

गोपाद्री देवपत्तने

* हरिहरनिवास द्विवेदी

वि० सं० 1469 (सन् 1412 ई०) में कुन्दकुन्दा-
चार्य के प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत
“तत्त्वदीपिका” टीका की एक प्रतिलिपि बीरमेन्द्रदेव के
राज्यकाल में ग्वालियर में की गई थी। इसके प्रतिलिपि
काल और प्रतिलिपि स्थल के विषय में उसमें निम्न-
लिखित पंक्तियां प्राप्त होती हैं—

विक्रमादित्य राज्येऽस्मिन्चतुर्दशरेषते ।
नवषष्ठ्या युते किन्तु गोपाद्री देवपत्तने ॥

बीरमेन्द्रदेव ग्वालियर के तोमर राजा (सन् 1402-
1423 ई०) थे और टीका के प्रतिलिपिकार ने उनके
गढ़ गोपाद्री को “देवपत्तन” कहा है। कुछ जैन
तीर्थमालाओं में भी ग्वालियर का उल्लेख प्रसिद्ध जैन
तीर्थ के रूप में किया गया है।¹

इन उल्लेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि कभी
ग्वालियर की गणना प्रसिद्ध जैन तीर्थों में की जाती थी
और जैन धर्मवलम्बियों के लिए वह “देवपत्तन” था।

ग्वालियर की वह महिमा अब नहीं रही है। वह महिमा
किस प्रकार उपलब्ध हुई थी और वह फिर किस प्रकार
नष्ट हो गई इसके इतिहास की खोज अभी तक सम्भक्
रूप से नहीं की गई है, यद्यपि इस कार्य को सम्पन्न
करने के लिये बहुत अधिक सामग्री अभी भी उपलब्ध
है। इस विषय से सम्बद्ध इतने अधिक शिलालेख,
मूर्तिखण्ड तथा साहित्यिक उल्लेख प्राप्त होते हैं कि
उनकी ओर अब तक समर्थ विद्वानों का ध्यान आकर्षित
होना चाहिये था। उस सामग्री के आधार पर न केवल
उत्तरी मध्यप्रदेश में जैन धर्म के विकास का इतिहास
सुपुष्ट रूप से लिखा जा सकता है, वरन् उस प्रदेश के
मध्ययुग का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास भी
प्रामाणिक रूप से जाना जा सकता है।

तोमरों के इतिहास की सामग्री की खोज करते
समय मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि अब तक हम जिस
सामग्री को इतिहास-निर्माण का प्रमुख आधार मान
कर चले हैं, वह बहुत प्रामाणिक नहीं है। इस क्रम में
यह धारणा भी पुष्ट हुई है कि समकालीन जैन साहित्य

1. वावन गज प्रतिमा गढ़ गुवालेरि सदा सोभती ॥ 33 ॥

—तीर्थमाला, पृ० 111।

गढ़ गवालेर वावन गज प्रतिमा

बन्दु ऋषभ रंगरोली जी ॥ 14- ॥

सौभाग्य विजय तीर्थमाला, पृ० 98।

में ऐसी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है जिसके आधार पर मध्ययुग के इतिहास की खोज हुई कठिनों को जोड़ा जा सकता है और कुछ बहुत बड़ी भूलों को सुधारा जा सकता है। यहाँ एक उदाहरण ही पर्याप्त है। लगभग चार शताब्दियों से भारतीय इतिहास में यह बात निर्विवाद मानी जाती है कि पृथ्वीराज चौहान दिल्ली का राजा था, और यह राज्य उसे उसके पूर्वज विग्रहराज चतुर्थ से दाय में मिला था; अर्थात्, विग्रहराज चतुर्थ ने कभी सन् 1151 ई० में तोमरों से दिल्ली जीत ली थी। यद्यपि इसकी चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के कुछ जैन मुनि भी इस भ्रम से अभिभूत थे, तथापि, समकालीन जैन रचनाएं यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करती हैं कि चौहानों ने तोमरों से दिल्ली कभी नहीं जीती थी और पृथ्वीराज चौहान का दिल्ली से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। उसका राज्य शाकम्भरी प्रदेश तक सीमित था और उसकी राजधानी सदा अजमेर ही रही। यदि ये जैन ग्रन्थ उस समय उपलब्ध हो जाते जब भारत का इतिहास लिखे जाने का प्रारम्भिक प्रयास किया जा रहा था, तब हमारी अनेक पीढ़ियाँ दिल्ली का अशुद्ध इतिहास पढ़ने से बच जातीं। अब वह अशुद्धि हमारे मस्तिष्क पटल पर इतनी गहरी खचित हो गई है कि उसे मिटाने में भी बहुत समय लग सकता है।

ग्वालियर प्रदेश के मध्ययुगीन इतिहास ग्रन्थों में इतनी भयंकर भूलें तो नहीं थीं, फिर भी कुछ थीं अवश्य। समकालीन जैन ग्रन्थ, जैन मूर्तिलेख आदि से न केवल उन भूलों को सुधारा जा सकता है, वरन् जो तथ्य अब तक अज्ञात ही हैं उन पर विषद् प्रकाश डाला जा सकता है। तात्पर्य यह है कि ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास के इतिहास का अध्ययन न केवल जैन धर्म के अनुयायियों के लिए उपयोगी एवं स्फूर्तिदायक है, वरन् भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास को भी ठोस धरातल प्रदान करता है। मैंने ग्वालियर या दिल्ली क्षेत्र में जैन धर्म के विकास का अध्ययन

सम्यक् रूप से नहीं किया है, वरन्, इन क्षेत्रों के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास से परिचय प्राप्त करने के लिए ही जैन-स्रोतों का अध्ययन किया है। उसी आनुषंगिक अध्ययन के क्रम में जैन धर्म के विकास की कुछ रूपरेखा भी सामने आई है। दिल्ली में जैन धर्म के विकास की गाथा यहाँ असम्बद्ध है, यहाँ केवल ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास की उपलब्ध सामग्री पर किञ्चित् प्रकाश डालना अभीष्ट है।

जैन धर्म के विकास का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु ग्वालियर क्षेत्र में उसके विकास का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है, अथवा यह कहना उचित होगा कि ईसवी सातवीं-आठवीं शताब्दी के पूर्व के इस क्षेत्र के जैन धर्म के विकास के इतिहास की सामग्री की अभी खोज नहीं की जा सकी है।

सब से प्राचीन अनुश्रुति पद्मावती की प्राप्त होती है। इसकी प्रथम शताब्दी के आसपास मथुरा, कान्तिपुरी, पद्मावती और विदिशा में नाग राजाओं का राज्य था। उनमें से कुछ को निर्विवाद रूप से सम्राट् कहा जा सकता है। इन चारों नगरों में कान्तिपुरी और पद्मावती ग्वालियर क्षेत्र में हैं। पद्मावती वर्तमान समय में पवाया नामक छोटे-से ग्राम के रूप में विद्यमान है और कान्तिपुरी के स्थान पर कुतवार नामक ग्राम है। जिस समय ये दोनों स्थान महानगरों के रूप में बसे हुए थे उस समय गोपाद्रि गोपों अर्थात् गोपालों की भूमि था और उसका विशेष महत्व नहीं था।

दुर्भाग्य से पद्मावती (पवाया) तथा कान्तिपुरी (कुतवार) का अभी तक विस्तृत पुरातात्विक अन्वेषण नहीं हुआ है। इन स्थानों पर उत्खनन करने पर ऐसी प्राचीन सामग्री प्राप्त होगी जिससे यहाँ जैन धर्म की स्थिति पर प्रकाश पड़ेगा। आज जैसी स्थिति है उसमें केवल अनुश्रुति से काम चलाना पड़ेगा।

जैनियों की चौरासी उपजातियों में एक “पद्मावती पुरवाल” भी है। इसी उपजाति में पन्द्रहवीं शताब्दी में रङ्गू नामक जैन कवि हुआ था। वह अपने आपको “पोसावइ-कुल-कमल-दिवायर” लिखता है। पद्मावती पुरवाल अपना उद्गम ब्राह्मणों से बतलाते हैं और अपने आपको पूज्यपाद देवनन्दी की सन्तान कहते हैं। जैन जातियों के आधुनिक विवेचकों को पद्मावती पुरवाल उपजाति के ब्राह्मण-प्रसूत होने में घोर आपत्ति है। परन्तु, इतिहास पद्मावती पुरवालों में प्रचलित अनुश्रुति का समर्थन करता है। जिसे वे “पूज्यपाद देवनन्दी” कहते हैं वह पद्मावती का नाग सम्राट् देवनन्दी है। वह जन्म से ब्राह्मण था। उसकी मुद्राएं अत्यधिक संख्या में पद्मावती में प्राप्त होती हैं जिन पर “चक्र” का लांछन मिलता है और “श्री देवनागम्य” या “महाराज देवेन्द्र” श्रुतिवाक्य प्राप्त होते हैं। देवनाग का अनुमानित समय पहली ईसवी शताब्दी है।¹ पद्मावती पुरवालों में प्रचलित अनुश्रुति तथा पद्मावती के देवनाग का इतिहास एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञात यह होता है कि देवनन्दी अथवा उसके किसी पुत्र ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और उसकी संतति अपने आपको पद्मावती पुरवाल जैन कहने लगी। जैन मुनि और जैन व्यापारी कभी एक स्थल पर बंधकर नहीं रहते। ये पद्मावती पुरवाल समस्त भारत में फैल गए, तथापि वे न तो पूज्यपाद देवनन्दी को भूले और न अपनी धात्री पद्मावती को ही भूल सके।

पद्मावती में अभी तक कोई प्राचीन जैन मूर्ति नहीं खोजी जा सकती है। उसका कारण यही है कि उस स्थल पर अभी कोई विस्तृत उत्खनन हुआ ही नहीं है। वहां पर जो माणिक्य यक्ष की प्रतिमा मिली

है वह जैनों द्वारा भी पूजित हो सकती है, परन्तु निश्चयात्मक रूप से उसे जैन प्रतिमा नहीं कहा जा सकता। उस युग के सभी व्यापारी यक्ष पूजा करते थे। कुबेर को भी वे यक्ष ही मानते थे। यही कारण है कि प्राचीन राजमार्गों पर बसे नगरों में यक्षों की मूर्तियां बहुत मिलती हैं। वे उस समय के सार्थवाहों के आराध्य देवता थे। उन सार्थवाहों में अधिकांश जैन होते थे।

इसके आगे लगभग पांच-छह शताब्दियों तक चम्बल और सिन्धु के बीच के प्रदेश के सन्दर्भ में जैन धर्म के विकास या अस्तित्व का कोई प्रमाण हमें नहीं मिल सका है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इसी बीच गोपाचलगढ़ पर कुछ हलचल होने लगी थी। वहाँ किसी रूप में कुछ बस्ती बस गई थी। सन् 520 ई० में अर्थात्, मिहिरकुल हूण के राज्य के पन्द्रहवें वर्ष में मातृचेट ने गोपागिरि पर सूर्य का मन्दिर बनवाया था, यह तथ्य शिलालेख की साक्ष्य से सिद्ध है।² मातृचेट के शिलालेख में गोपाद्रि का वर्णन संक्षिप्त रूप में दिया गया है—“गोप नाम का भूधर जिस पर विभिन्न धातुएं प्राप्त होती हैं।” इन धातुओं को प्राप्त करने के लिए मानव श्रम आवश्यक रहा होगा, और आसपास मानव निवास हो गया होगा। कुछ साधु-सन्त भी वहाँ रहने लगे होंगे, परन्तु वे सिद्ध योगी थे।

गोपाचलगढ़ और उसके आस-पास जैन धर्म के विकास के क्रम में यशोवर्मन के राजकुमार आम का नाम उल्लेखनीय है। प्रबन्धकोश के अनुसार, गोपालगिरि दुर्ग-नगर कान्यकुब्ज देश में था और उसे कन्नौज के प्रतापी राजा यशोवर्मन के पुत्र आम ने अपनी राजधानी

2. द्विवेदी, मध्यभारत का इतिहास, भाग 1, पृ० 471।

3. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र० 616।

बनाया था। इस आम ने बप्पभट्टि सूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया और गोपगिरि पर एक सौ एक हाथ लम्बा मन्दिर बनवाया जिसमें वर्धमान महावीर की विशाल प्रतिमा स्थापित की गई। बप्पभट्टिचरित तथा प्रभावक चरित से भी इस अनुश्रुति की पुष्टि होती है। "आम" यदि यशोवर्मन का राजकुमार है तब उसका समय 750 ई० माना जाएगा। गोपाचलगढ़ पर जैन मन्दिर निर्माण का यह प्रथम उल्लेख है। आम द्वारा निर्मित जैन मन्दिर बहुत समय तक अस्तित्व में रहा। संभवतः उसे तेरहवीं शताब्दी में कभी तोड़ दिया गया था। यह हड़तापूर्वक कहा जा सकता है कि इस मन्दिर में उत्कीर्ण मूर्तियां अत्यन्त पुष्ट मूर्तिशिल्प का उदाहरण थीं। अभी हाल ही में सिन्धिया पब्लिक स्कूल के इतिहास के प्राध्यापक श्री आर्थर छूज को गढ़ पर गंगोलाताल के कचरे में एक मूर्तिखण्ड प्राप्त हुआ है। भारतीय मूर्तिकला के अवशेष की यह अप्रतिम उपलब्धि है और आठवीं शताब्दी के पश्चात् की नहीं है। उस समय ग्वालियर के आसपास अन्य जैन मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था। लेखक के संग्रह में जो जैन चौखम्भा है वह उसे मुरार नदी के पास एक बंगले में प्राप्त हुआ था। वह भी आठवीं शताब्दी की कृति ज्ञात होता है। तेली के मन्दिर के प्रांगण में अनेक जैन मूर्तियां रख दी गई हैं। उनमें से अनेक आठवीं और नौवीं शताब्दी की ज्ञात होती हैं। गूजरीमहल संग्रहालय में भी आठवीं और नौवीं शताब्दियों की अनेक जैन मूर्तियां हैं, परन्तु उनके उपलब्ध होने के स्थलों का पता नहीं चलता। उनमें से अनेक ग्वालियर गढ़ अथवा ग्वालियर नगर से प्राप्त हुई होंगी। बप्पभट्टि सूरि उपदेश से आम ने जो विशाल जैन मन्दिर बनवाया था, उसके अवशेष मेजर जनरल कनिंघम ने भी देखे थे। वह सासवह मन्दिर तथा हथिया पौर के

बीच में स्थित था। उस पर एक वि० सं० 1165 (सन् 1108 ई०) का शिलालेख भी मिला था, जिसमें केवल वर्ष ही पढ़ा जाता था। श्री कनिंघम ने अनुमान यह किया था कि यह मन्दिर सन् 1108 ई० में निर्मित हुआ था।⁴ यह कथन ठीक ज्ञात नहीं होता। यह वही जैन मन्दिर था जो सन् 750 ई० के आसपास आम ने बनवाया था। वि० सं० 1165 का शिलालेख जीर्णोद्धार से सम्बन्धित होगा। वि० सं० 1165 में कोई नवीन जैन मन्दिर गोपाचलगढ़ पर निर्मित नहीं हुआ था, न हो सकता था।

कन्नौज के प्रतीहार राजा परम बैष्णव थे। रामदेव तथा भोजदेव ने गोपाचलगढ़ को अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। चतुर्भुज मन्दिर के शिलालेख तथा अन्य शिलालेखों⁵ से यह ज्ञात होता है कि रामदेव प्रतीहार ने गोपाचलगढ़ पर स्वामि कार्तिकेय का मन्दिर बनवाया था और आनन्दपुर (गुजरात) के बाइल्लभट्ट को "मर्यादाधुर्य" (सीमाओं का रक्षक) नियुक्त किया था। वि० सं० 932 (सन् 875 ई०) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस बाइल्लभट्ट का पुत्र अल्ल गढ़ का कोटपाल था और उसने अपने पिता की स्मृति में बाइल्लभट्ट स्वामिन् विष्णु का मन्दिर बनवाया था। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि प्रतीहारों के समय में जैन धर्म के अनुयायियों पर कोई प्रतिबंध लगाया गया था। भारत का राजतन्त्र समस्त प्रजाधर्मों के पोषण की नीति अपनाता था।

जिस समय कन्नौज के प्रतीहारों का प्रताप सूर्य पूर्ण प्रभामय होकर अस्ताचलगामी हो रहा था, उसी समय चम्बल की उपत्यिका में एक नवीन असिजीवी वर्ग संगठित हो रहा था। स्थानीय कच्छपान्वय वर्ग को

4. आर्कोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग 2, पृ० 363।

5. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० 8 तथा 415

पराजित कर उसने कच्छपघात विरुद्ध धारण किया। इसी वंश में परम प्रतापी वज्रदामन कच्छपघात हुआ जिसने नगाड़े बजाते हुए कन्नौज के राजा को पराजित कर उससे गोपाद्रिगढ़ जीत लिया। इस वज्रदामन कच्छपघात के राज्यकाल की एक जैन प्रतिमा मुहानिया में प्राप्त हुई है जिस पर वि. सं. 1034 (सन् 977 ई.) का मूर्तिलेख है और महाराजाधिराज वज्रदामन के राज्यकाल का उल्लेख है।⁶ ज्ञात यह होता है कि इस नवोदित कच्छपघात शक्ति के पीछे जैन मुनियों का मस्तिष्क कार्य कर रहा था। श्योपुर जिले के दुबकुण्ड नामक स्थान पर वि. सं. 1145 (सन् 1088 ई.) के विक्रमसिंह के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि विक्रमसिंह के पिता अर्जुन कच्छपघात ने राजपाल प्रतीहार को मार डाला था।⁷ यह अर्जुन विद्याधर चन्देल का मित्र था। विक्रमसिंह के शिलालेख के रचयिता हैं शान्तिषेण के शिष्य विजयकीर्ति। वज्रदामन के समय के जैन मूर्तिलेख तथा विक्रम सिंह के दुबकुण्ड के शिलालेख के बीच 110 वर्ष का अन्तर है। ज्ञात यह होता है कि इस बीच उत्तरी ग्वालियर क्षेत्र में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय पर्याप्त प्रभावशाली हो गया था। सासबहू के मन्दिर (बड़े) अर्थात् पद्मनाभ विष्णु के मन्दिर के विस्तृत शिलालेख का रचयिता यद्यपि गोविन्द का पुत्र मणिकण्ठ है, तथापि वह दिगम्बर यशोदेव द्वारा लिखित है।⁸ यह स्पष्ट है कि ग्वालियर के कच्छपघातों की राजसभा में दिगम्बर जैन मुनियों का पर्याप्त सम्मान था। वि. सं. 1152 (सन् 1095 ई.) के दुबकुण्ड के जैन मन्दिर के

शिलालेख⁹ से यह भी ज्ञात होता है कि उस मन्दिर में महाचार्यवर्य देवसेन की पादुका का पूजन होता था। महाचार्य देवसेन ने इस क्षेत्र में धर्म की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ाई थी।

सबसे विचित्र शिलालेख मधुसूदन कच्छपघात के शिव मन्दिर का है। वि. सं. 1161 (सन् 1104 ई.) के शिव मन्दिर के इस शिलालेख के रचयिता निर्ग्रन्थनाथ यशोदेव हैं।¹⁰ उस समय भी ग्वालियर में हिन्दू और जैनों में पूर्ण सौहार्द था।

परन्तु परम वैष्णव और शैव कच्छपघातों के राज्यकाल में कभी-कभी उनके राज्याधिकारी जैनियों को संकट उत्पन्न कर देते थे। कच्छपघात मूलदेव (भुवनैकमल्ल) के राज्यकाल में कुछ राज्याधिकारियों ने गोपाचलगढ़ पर स्थित वर्धमान महावीर के मन्दिर की पूजा-अर्चा के लिए जैनियों का अबाध प्रवेश बन्द कर दिया। मलधारी गच्छ के श्री अभयदेव सूरि ग्वालियर पधारे और उन्होंने भुवनैकमल्ल को उपदेश दिया। राजा ने पुनः समस्त जैनियों को वर्धमान के मन्दिर में पूजा-अर्चा की अनुमति दे दी।

कच्छपघातों के पश्चात् ग्वालियरगढ़ पुनः प्रतीहारों के अधिकार में आया। हमें कोई ऐसा साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिससे यह ज्ञात हो सके कि ग्वालियर के इन प्रतीहारों के समय में जैन धर्म की इस क्षेत्र में क्या स्थिति थी। परन्तु यह सुनिश्चित है कि उन्होंने जैन धर्म को उत्सन्न करने का कोई कार्य नहीं किया।

6. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र. 20।
7. वही, क्र. 54।
8. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र. 55 तथा 56।
9. वही, क्र. 58।
10. वही क्र. 61।

अन्तःसलिला के समान जैन मुनि अपना प्रचार करते रहे। परन्तु इस क्षेत्र का गुलाम सुल्तानों द्वारा विजित किया जाना सभी भारतमूलीय धर्म साधनाओं के लिए घातक सिद्ध हुआ था। इल्तुतमिश ने आम के प्रसिद्ध महावीर मन्दिर को भी ध्वस्त कर डाला और उसे मस्जिद बना दिया।

इसी बीच जैन धर्म नरवर में विकास कर रहा था। जैन धर्म की नरवर में वास्तविक उन्नति जज्ज-पेल्ल वंश के समय में हुई है। चाहूदेव से गणपतिदेव (सन् 1247-1298 ई.) तक यह राजवंश नरवर पर राज्य करता रहा; उन राजाओं के राज्यकाल में नरवर में जैन धर्म का बहुत अधिक विकास हुआ। वि. सं. 1314 (सन् 1257 ई.) से वि. सं. 1324 (सन् 1267 ई.) के बीच निमित्त सैकड़ों जैन मूर्तियाँ नरवर में प्राप्त हुई हैं¹¹ नरवर के इन राजाओं के शिलालेखों के अधिकांश पाठ जैन साधुओं द्वारा विरचित हैं।

इसी बीच कभी स्वर्णगिरि क्षेत्र में भी जैनपट्ट स्थापित हो गया था। रङ्ग ने सम्मश्चरित में स्वर्णगिरि के काष्ठासंघ के भट्टारकों की वंश परम्परा दी है। उसमें दुबकुण्डवाले देवसेन को प्रथम भट्टारक बतलाया है। सन् 1411 ई. के पूर्व इस पट्ट पर देवसेन, बिमलसेन, धर्मसेन तथा सहलकीर्ति पट्टासीन हो चुके थे। अगले भट्टारक गुणकीर्ति (सन् 1411-1429 ई.) ने अपना पट्ट ग्वालियर में स्थानान्तरित कर लिया था और यहीं से स्वर्णगिरि तथा नरवर के जैन संघों का नियंत्रण होने लगा था।

चम्बल के किनारे स्थित ऐसाह के छोटे-से तोमर जागीरदार वीरसिंहदेव ने सन् 1394 ई. में गोपाचलगढ़

पर अधिकार कर लिया था और दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन को पराजित कर अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी।¹² इस घटना के पूर्व ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास के कुछ विखरे हुए प्रमाण ही उपलब्ध हुए हैं। इस क्षेत्र में सन् 1400 ई. के पूर्व का न तो कोई जैन ग्रन्थ ही उपलब्ध हुआ है और न जैन मुनियों एवं श्रावकों की गतिविधियों की कोई जानकारी ही प्राप्त हुई है। कुछ मूर्तियों एवं शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में जब-जब किसी स्थानीय शक्ति ने तुर्क सुल्तानों के वर्चस्व से सम्पूर्ण या आंशिक त्राण प्राप्त किया तभी भारतमूलीय धर्मों के अनुयायियों ने अपने आराधना स्थलों का निर्माण या पुनर्निर्माण प्रारंभ कर दिया। यह भी सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू तथा जैन धर्मों के अनुयायी, दोनों बिना किसी झगड़े के साथ-साथ अपने मार्ग अपनाते रहे। परन्तु मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण मात्र धार्मिक चिन्तन के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त नहीं है। इन मूर्तियों को प्रश्रय देनेवाले मन्दिर सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के प्रश्रय के प्रमुख स्थल होते थे। दुर्भाग्य से जो—कुछ अवशिष्ट है वह उस धर्मसाधना का बाह्य रूप ही है, उसकी आत्मा हमें उपलब्ध नहीं हो सकी है। उस समय के समस्त मन्दिर तथा उनमें विरचित साहित्य कालगति अथवा मानव द्वारा नष्ट कर दिए गए और वे प्रमाण अनुपलब्ध हो गए जिनसे उस युग के चिन्तन के स्वरूप को जाना जा सकता। परन्तु यह मानना भूल होगी कि उस समय के इस क्षेत्र के जैन साहित्य का अब अस्तित्व है ही नहीं। स्वर्णगिरि, नरवर, ग्वालियर, मगरोनी, झांसी आदि के जैन मन्दिरों के ज्ञान भण्डारों में हजारों ग्रन्थ अभी भी सुरक्षित हैं, जिनकी प्रति वर्ष धूपदीप देकर

11, नरवर और शिवपुरी क्षेत्र में वि. सं. 1206 (1149 ई.) से ही जैन मूर्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं।

देखिये, द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र. 72, 73, 74, 76, 77 तथा 84।

12. द्विवेदी, तोमरों का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. 28-29।

पूजा की जाती है, दुर्भाग्य से उन्हें कोई पढ़ता नहीं है, न उनकी सूचियाँ बनी हैं। जिस दिन यह कार्य सम्पन्न हो सकेगा, इस क्षेत्र के जैन धर्म के विकास के इतिहास को सजीव रूप दिया जा सकेगा।

सन् 1394 ई. में ग्वालियर के तोमर राज्य की स्थापना के साथ ही इस क्षेत्र के इतिहास पटल पर से अन्धकार का पर्दा हट जाता है। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के साथ-साथ जैनधर्म के विकास का इतिहास भी अत्यंत सजीव रूप से प्रत्यक्ष होने लगता है। जैन मूर्तियों के शिलालेख और जैन मुनियों एवं जैन पण्डितों की रचनाएँ बहुत विस्तृत और अनुट जानकारी प्रस्तुत करती हैं। उनके आधार पर ग्वालियर क्षेत्र का और साथ ही जैन धर्म के विकास का इतिहास बहुत विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है।

ग्वालियर के तोमर राज्य के संस्थापक वीरसिंहदेव (सन् 1375-1400 ई.) शिव और शक्ति के उपासक थे। वि. सं. 1439 (सन् 1382 ई.) में उन्होंने वीर-सिंहावलोक नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की थी। वे ज्योतिष, धर्मशास्त्र एवं वेदों के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके द्वारा दुर्गामक्ति तरंगिणी की भी रचना की गई थी। परन्तु साथ ही वे जैन धर्म के प्रति भी अनुदार नहीं थे। उनके समय में श्रीकृष्णगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्री जयसिंह सूरि ग्वालियर आए थे। वीरसिंहदेव के समापण्डित शाङ्गधर तथा जयसिंह सूरि के बीच शास्त्रार्थ भी हुआ था। उस शास्त्रार्थ का विवरण जयसिंह सूरि के शिष्य नयचन्द्र सूरि ने अपने हम्मीर महाकाव्य में दिया है। नयचन्द्र सूरि ने लिखा है, “सूरियों के इस चक्र के क्रम में, जिनके चरित विस्मय के आचास थे, श्री जयसिंह सूरि हुए, जो विद्वानों में चूड़ाक्षिण थे, उनके द्वारा सारंग को वादविवाद में पराजित किया गया। यह सारंग उन कवियों में श्रेष्ठ था जो षड्भाषा में कविता कर सकते थे, तथा वह प्रामाणिकों (न्याय शास्त्रियों) में अग्रणी था।”

केवल नयचन्द्र की साक्षी के आधार पर यह मानना कठिन है कि शाङ्गधर जयसिंह सूरि से शास्त्रार्थ में पराजित हुए थे, परन्तु यह सुनिश्चित है कि तोमर-राजसभा सूरिजी की ज्ञान गरिमा से बहुत अधिक प्रभावित हुई और ग्वालियर में जैन धर्म के अद्वितीय विकास का सूत्रपात हुआ।

वीरसिंहदेव के पश्चात् उनके युवराज उद्धरणदेव (सन् 1400—1402 ई.) राजा बने। उनके छोटे-से राज्यकाल की कोई घटना ज्ञात नहीं हो सकी है। जैन धर्म के विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण उद्धरणदेव के युवराज वीरमदेव (सन् 1402—1423 ई.) का राज्यकाल है।

वीरमदेव स्वयं अम्बिकादेवी और शिव के भक्त थे। साथ ही वे जैन धर्म को भी प्रश्रय देते थे। उनका प्रधान मंत्री कुशराज जैन था।

वीरम तोमर के समय में ग्वालियर में जैन धर्म का प्रभाव अपने विशिष्ट रूप में दिखाई देता है। देश के अन्य भागों में उस समय हिन्दू और जैन आपस में पर्याप्त भेदभाव मानने लगे थे और दो नटखट भाइयों के समान दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी भी आपस में झगड़ते थे। परन्तु यह मनमुटाव केवल ऊपरी था। वह जो हो, वीरमदेव के समय में ग्वालियर में कुछ और प्रकार का दृश्य दिखाई देता है। यहाँ का राजा शिव-शक्तिका अनन्य उपासक और मंत्री अत्यन्त धर्मपरायण जैन था। परन्तु दोनों के निजी धर्म एक-दूसरे के पूरक दिखाई देते हैं। उस समय ग्वालियर के जैन पट्ट के भट्टारक थे गुणकीर्ति (सन् 1411—1429 ई.)। भट्टारक गुणकीर्ति ने जैन काव्य यशोधर चरित लिखाया अर्जुन कवि पद्मनाथ कायस्थ से। यद्यपि उसी समय वीरमदेव की राजसभा में नयचन्द्र सूरि जैसे महाकवि भी थे, तथापि उन्होंने जैन चरित न लिखकर हम्मीर महाकाव्य तथा रम्मा मंजरी लिखे, अर्थात् जैन

सूरि का कार्य करता है वैष्णव कायस्थ और राज-नीति का उपदेश देते हैं जैन सूरि। वीरमदेव के मंत्री कुशराज जैन ने ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास के लिए बहुत कार्य किया था। इस कार्य में उसे राजा ने भी पूरा सहयोग दिया था। वि. सं. 1367 (सन् 1410 ई.) में सुहानियां में वीरमदेव ने अम्बिकादेवी के मन्दिर का पुनर्निर्माण किया और उसी वर्ष पास में ही चैत्रनाथ की विशाल जिन मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई।

कुशराज ने स्वयं ग्वालियर में चन्द्रप्रभु का विशाल मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा का उत्सव बहुत समारोह के साथ किया। उसी समय उसने पद्मनाथ से यशोधर चरित काव्य लिखने का आग्रह किया था। पद्मनाथ कायस्थ को इस रचना के लिए भट्टारक यशःकीर्ति का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था और कुशराज जैन द्वारा प्रश्रय मिला था।

कुशराज का एक ताम्रपत्र भी प्राप्त हुआ है। यह वि. सं. 1375 (सन् 1418 ई.) में उत्कीर्ण किया गया था। इसके लेख से ज्ञात होता है कि कुशराज इस यंत्र की पूजा प्रतिदिन किया करता था।¹³

वीरमदेव के राज्य काल में संभवतः भट्टारक गुणकीर्ति की प्रेरणा से आचार्य अमृतचन्द्रकृत प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका की गई। अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश की उस समय ग्वालियर में प्रतिलिपि की गई थी। इस प्रकार वीरमदेव के समय से इस क्षेत्र में न केवल जैन मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण पुनः प्रारंभ हुआ, वरन् प्राचीन जैन ग्रन्थों का अवगाहन भी प्रारंभ हुआ।

वीरमदेव की राजसभा के एक रत्न नयचन्द्र सूरि का उल्लेख किया जा चुका है। श्रीकृष्णगच्छ के नयचन्द्र पर काष्ठा संघ के भट्टारक गुणकीर्ति का कितना प्रभाव था, यह ज्ञात नहीं है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि ग्वालियर के तोमरों के राष्ट्र-कवि नयचन्द्र सूरि ने अपने राजा की राजसभा में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया था जिसके कारण जैनतर नागरिकों में जैन मुनि बहुत आदरास्पद बन गये। आगे एक शताब्दी तक ग्वालियर में जैन धर्म की जो उन्नति हुई उसमें नयचन्द्र सूरि का बहुत हाथ था।

उस समय इस प्रदेश के हिन्दू तथा जैन, सभी तुर्कों के अत्याचार से पीड़ित थे। उस समय शासक और शासित वर्ग में विद्वेष की खाई बहुत बढ़ गई थी। शासित वर्ग ने यद्यपि बहुसंख्यक था, तथापि वह अपनी जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए स्वतंत्र नहीं था। इन परिस्थितियों में जो भी वीर किसी तुर्क मुल्तान से युद्ध करने का साहस करता था, उसे तत्कालीन बहुसंख्यक समाज राष्ट्रीय वीर के रूप में सम्मान देता था। नयचन्द्र सूरि ने राष्ट्र की इस भावना का समादर किया। हिन्दू-जैन विवाद से बहुत ऊपर उठकर उसने अपने युग की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को समझा। ब्राह्मण और जैन सम्प्रदायों के बन्दनीय देवताओं की द्विअर्थक वंदना के मंगल-श्लोक लिखकर उसने अपने हम्मीर महाकाव्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा—¹⁴

“पूर्व काल में मान्धाता, सीतापति राम और कंक (गुधिष्ठिर) आदि पृथ्वी पर कितने राजा नहीं हो गए, पर उन सब में अपने सत्वगुण के कारण, हम्मीर देव अद्वितीय और स्तवन योग्य पुरुष हैं। इस सात्विक वृत्ति

13. तोमरों का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. 50।

14. हम्मीर महाकाव्य क्र. 8, 9 तथा 10।

वाले पुरुष ने विधर्मी शक (अलाउद्दीन) को अपनी पुत्री तथा अपने शरण में आए विधर्मी व्यक्तियों (माहि-मसाहि) तक को न देने के लिए राजलक्ष्मी, सुखविलास और अपने जीवन तक को तृणवत् समझकर उसका त्याग कर दिया।

“इसलिए राजन्यजन के मन को पवित्र करने की इच्छा से मैं उस वीर के उक्त गुणों के गौरव से प्रेरित होकर उसका थोड़ा-सा चरित वर्णन करता हूँ।”

नयचन्द्र सूरि ने वीरमदेव तोमर के समक्ष हम्मीर-देव का आदर्श रखा था। अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए तथा शरणार्थी का प्रतिपालन करने के लिए, भले ही वह किसी धर्म का अनुयायी हो, युद्ध में प्राण देना श्रेयस्कर है। महाकवि के इस उद्बोध ने उस युग के अनेक राजन्यजन के मनों को पवित्र किया था और वे अपनी जीवन-पद्धति की रक्षा के लिए युद्धरत हुए थे।

नयचन्द्र सूरि की दूसरी रचना रंभामंजरी है। रंभामंजरी में सूत्रधार ने व्यक्त किया है कि “ग्रीष्म ऋतु की विश्वनाथ यात्रा के लिए एकत्रित भद्रजनों का प्रबन्ध-नाट्य द्वारा मनोरंजन किया जाए।” नयचन्द्र को ज्ञात था कि जिस समाज के लिए वह नाटक लिख रहा है, उसमें अधिकांश विश्वनाथ का भक्त है, अतएव उसने उसके अभिनीत किए जाने के लिए विश्वनाथ यात्रा का समय ही सुनिश्चित किया। रंभामंजरी के मंगल श्लोक में विष्णु के बराह रूप की वंदना की गई है। जैन मुनि द्वारा यह मंगल श्लोक सामिप्राय लिखा गया था और वह नयचन्द्र सूरि की महान राष्ट्रीय भावना का द्योतक है। पंक में फँसी विश्वा—पृथ्वी को दंष्ट्राग्र पर उठाकर उद्धार करनेवाली शक्ति की तत्कालीन भारत को परम आवश्यकता थी।¹⁵

अपनी विद्वत्ता और राष्ट्र प्रेम के कारण नयचन्द्र सूरि ने तत्कालीन तोमर राजा, उसकी “सामाजिक संसद” तथा अन्य नागरिकों को बहुत अधिक प्रभावित किया था। इस प्रभाव का उपयोग भट्टारक यशःकीर्ति, जैन श्रेष्ठ और श्रावकों ने ग्वालियर में जैन धर्म को प्रतिष्ठित करने में बहुत बुद्धिमतापूर्वक किया।

वीरमदेव तोमर के राज्यकाल में ही कालपी के सुल्तान ग्वालियर के तोमर राज्य की घेर रहे थे और उसे हड़प जाना चाहते थे। कालपी के सुल्तानों का राज्य ग्वालियर के पास भाण्डेर तक फैल गया था। सन् 1435 ई. में ग्वालियर के तोमर राजा डूंगरेन्द्रसिंह ने कालपी के सुल्तान मुबारकशाह को भाण्डेर पर पूर्णतः पराजित कर दिया। इस युद्ध में डूंगरेन्द्रसिंह को बहुत अधिक धन भी मिला था और प्रतिष्ठा भी। इस विजय के उपलक्ष्य में ग्वालियर में बहुत बड़े समारोह मनाए गए। महाराज डूंगरेन्द्रसिंह ने अपने राजकवि विष्णुदास से पांडव चरितु (महामारत) की रचना कराई। उधर स्थानीय जैन समाज ने भी इस उत्सव में पूर्ण योगदान दिया। साहु खेतसिंह के पुत्र कमलसिंह ने ग्यारह हाथ ऊँची जैन प्रतिमा का निर्माण कराया और, विजय की इस शुभ वेला में, महाराज डूंगरेन्द्रसिंह से इसके प्रतिष्ठोत्सव के लिए आज्ञा माँगी। राजा ने स्वीकृति देते हुए कहा, “आप इस धार्मिक कार्य को सम्पन्न कीजिए। मुझसे आप जो माँगेंगे सो दूँगा।”

इसी प्रतिष्ठोत्सव समारोह के अवसर पर प्रसिद्ध जैन कवि पण्डित रघू ने अपनी प्रथम रचना सम्मत-गुण-निहान प्रस्तुत की।

सन् 1435 ई. की इस घटना ने ग्वालियर के इतिहास को बहुत अधिक प्रभावित किया। अगले 40 वर्षों में दिल्ली, हिसार, चन्दवार आदि स्थलों से अनेक

15. यह स्मरणीय है कि बराहावतार को ग्वालियर के तोमरों ने अपना राजचिह्न बनाया था।



(एक पत्थर की वावड़ी, पर स्थित, गुहा मन्दिर; जैन मूर्ति समूह)

जैन व्यापारी ग्वालियर आते रहे। उनमें से अनेक यहाँ बस गए और लगभग सभी ने गोपाचल के किसी-न-किसी कोने में गुहामन्दिर बनवाए तथा जैन ग्रन्थों की रचना की प्रेरणा दी और अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराईं। इन समस्त कार्यों के पीछे भट्टारक यशःकीर्ति की प्रेरणा थी।

रङ्घू के ग्रन्थों से तथा इस समय के उपलब्ध लगभग 40 मूर्तिलेखों से डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के समय में ग्वालियर में हुए जैन धर्म के विकास का बहुत स्पष्ट और विस्तृत इतिहास लिखा जा सकता है। दर्जनों संवाधिपतियों, तथा सैकड़ों श्रावकों का पूर्ण विवरण सजीव रूप में ज्ञात हो जाता है। किसने क्या कराया,

इसका भी पूरा विवरण प्राप्त हो जाता है। वह समस्त विवरण यहाँ देने से प्रसंग बहुत बढ़ जाएगा। यहाँ एक-दो उदाहरण देना ही पर्याप्त है।

रङ्घू ने “सम्मइजिन-चरिउ” में हिसार निवासी एक अग्रवाल जैन व्यापारी का बहुत विस्तृत विवरण दिया है। साहु नरपति का पुत्र बील्हा फीरोजशाह तुगलुक द्वारा सम्मानित व्यापारी था। उसी के वंश में संवाधिपति सहजपाल हुआ, जिसने गिरनार की यात्रा का संघ चलाया था और उसका समस्त व्यय भार वहन किया था। सहजपाल का पुत्र साहु सहदेव भी संवाधिपति था। उसका छोटा भाई तोसड़ था। तोसड़ का पुत्र खेल्हा था। भट्टारक यशःकीर्ति का आशीर्वाद

प्राप्त करने के लिए खेल्हा ने गोपाचल पर चन्द्रप्रभु की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। उसने ही रङ्धू से “सम्मईजिनचरित” ग्रन्थ की रचना कराई।

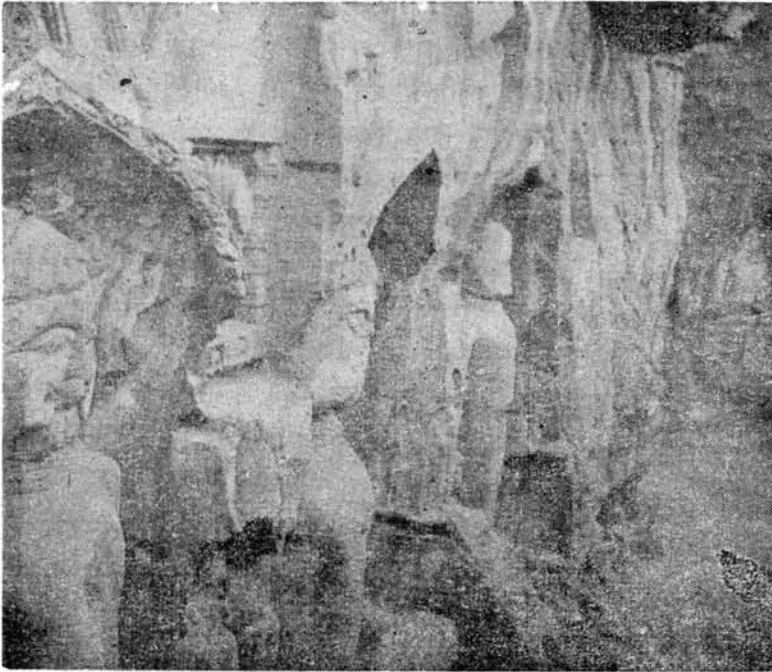
रङ्धू ने मेघेश्वर चरित तथा पार्श्वनाथ चरित में एक और व्यापारी-परिवार का उल्लेख किया है। यह परिवार दिल्ली से आकर ग्वालियर में बस गया था। साहु खेऊ दिल्ली से ग्वालियर आकर यहाँ नगर सेठ बन गए। खेऊ द्वीपान्तरों से वस्त्र और रत्न मँगाकर व्यापार करते थे। उसने गोपाचलगढ़ पर विशाल जिन मूर्ति बनवाई। इस मूर्ति के लेख से ज्ञात होता है कि उसके प्रतिष्ठाचार्य रङ्धू ही थे। खेऊ के पुत्र कमलसिंह भी ग्वालियर में ही रहे। उनके द्वारा आदिनाथ की ग्यारह हाथ ऊँची प्रतिमा बनवाई गई। रङ्धू ने कमलसिंह के पुत्र हेमराज का भी उल्लेख किया है। हेमराज का व्यापार ग्वालियर और दिल्ली, दोनों स्थलों पर चलता था। हेमराज संवाधिपति भी बना।

उसने गोपाचलगढ़ पर युगादिनाथ की प्रतिमा का निर्माण कराया। इस मूर्ति के लेख में ग्वालियर के महाराज कीर्तिसिंह देव को “हिन्दू-सुरत्राण” कहा गया है।¹⁶

इसी समय एक और साहु पद्मसिंह के दर्शन होते हैं। इन्होंने अपनी “चंचला लक्ष्मी” का सदुपयोग करने के लिए 24 जिनालय बनवाए, पुष्पदन्त के आदिपुराण की प्रतिलिपि कराई तथा एक लाख ग्रन्थ प्रतिलिपि कराकर भट्टारक वशःकीर्ति को भेंट किए।

कुछ जैन साध्वियों ने भी अनेक गुहामन्दिर बनवाकर उनके मूर्तिलेखों पर अपने नाम अंकित करा दिए।

चालीस वर्षों के समय में ग्वालियर में जैन धर्म के विकास के लिए जो कुछ हुआ था, उसमें डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह की उदार धार्मिक नीति तो प्रधान थी ही, तथापि इसका प्रमुख श्रेय भट्टारक गुणभद्र के



(उखाई द्वार स्थित
खण्डित जैन प्रतिमाएँ)

16. द्विवेदी, ग्वालियर राज्यके अभिलेख, क्र. 293।

छोटे भाई और शिष्य भट्टारक यशःकीर्ति को है। उन्हीं की प्रेरणा से उत्तरी भारत के समृद्ध जैन व्यापारी ग्वालियर की ओर आकर्षित हुए और उन्होंने गढ़ और नगर, दोनों को जैनतीर्थ का स्वरूप दे दिया। भट्टारक यशःकीर्ति की प्रेरणा से ही पण्डित रङ्घू ने अनेक जैन ग्रन्थ लिखे। तथापि भट्टारक यशःकीर्ति का बहुत महत्वपूर्ण कार्य प्राचीन जैन साहित्य का पुनरुद्धार था। आज स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे महाकवियों की रचना उपलब्ध न होती, यदि ग्वालियर के जैन मठ में भट्टारक यशःकीर्ति उनकी प्रतिलिपियाँ कराकर न रखते। जिस प्रकार ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी में गुजरात में हेमचन्द्राचार्य ने जैन धर्म के विकास के लिए बहुमुखी प्रयास किया था, वैसा ही प्रयास महामुनि यशःकीर्ति ने ग्वालियर में किया था।

कीर्तिसिंह (सन् 1459—1480 ई.) के उपरान्त ग्वालियर पर कल्याण मल्ल (सन् 1480—1486 ई.) का राज्य हुआ। उस समय तक भट्टारक यशःकीर्ति की मृत्यु हो चुकी थी। उसी समय दक्षिण के कुन्दकुन्दान्वय सरस्वतीगच्छ का पट्ट भी ग्वालियर में स्थापित हो गया था। उस पट्ट पर भट्टारक शुभचन्द्र देव आसीन थे।

मानसिंह तोमर (सन् 1486—1516 ई.) के राज्यकाल में भी ग्वालियर में जैन धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा रही। उसका प्रधान मंत्री खेमशाह जैन था। उसने भी संघाधिपति या सिंघई या विरुद लिया था। उनके समय में काष्ठासंघ के पट्ट पर भट्टारक विजयसेन आसीन थे। कुछ नवीन जैन मन्दिर भी बने थे। सिरीमल के पुत्र चतूरु ने वि. सं. 1469 (सन् 1512 ई.) में नेमीश्वरगीत लिखा था। इसमें तत्कालीन जैन समाज के विषय में उसने लिखा है—

एक सोवन की लंका जिसी, तीव्र राउ सबल बलवीर
भुयबल आपुनु साहस धीर, मानसिंह जग जानिए।
ताके राज मुखी सब लोग, राज समान करहि दिन भोग
जैन धर्म बहुविधि चलै, श्रावण दिन जु करै षट्कर्म॥

मानसिंह के राज्यकाल तक तोमरों का ग्वालियर जैन धर्मानुयायियों के लिए “देवपत्तन” बना रहा। सन् 1523 ई. में मानसिंह का राजकुमार विक्रमादित्य (सन् 1516—1523 ई.) इब्राहीम लोदी द्वारा पराजित हुआ और उसे गोपाचलगढ़ छोड़ देना पड़ा। उसके उपरान्त “गोपाद्री देवपत्तन” में क्या होता रहा, यह हमारा यहाँ वर्ण्य विषय नहीं है। हम एक बात कह सकते हैं, उसके उपरान्त जैन सम्प्रदाय के अनुयायी भी यह भूल गए कि देश के इस भाग में उनके धर्म के विकास, प्रचार और प्रसार के लिए क्या-क्या किया गया था, कैसे महान् विभूतियों ने कितने उच्च प्रतिमान स्थापित किये थे? भट्टारकगण गुणकीर्ति और यशःकीर्ति के गौरवशाली कृत्यों का आज किसे स्मरण है? रङ्घू मात्र जैन-कथा लेखक के रूप में प्रख्यात है, उसने “तीर्थशोकेश्वरो गणनुत्तो गौरीश्वरो शंकरो” लिखकर ऋषभदेव और शंकर की एकरूपता प्रतिपादित कर धार्मिक सहिष्णुता का भी मार्ग प्रशस्त किया था, यह कितनों को ज्ञात है? कुशराज जैन तथा श्री तोडर क्षेमशाह जैसे प्रधान मंत्रियों ने, साहु खेल्हा, खेऊ, कमलसिंह आदि ने जैन धर्म और ग्वालियर की समृद्धि के लिए क्या-क्या किया था ये सब तथ्य पूर्णतः भुलाये जा चुके हैं। कुछ पत्थर बोलना चाहते हैं, इनकी यशोगाथा वे शताब्दियों से अपने हृदय-पटलों पर अंकित किए पड़े हैं, परन्तु उन्हें कोई सुनना नहीं चाहता। वास्तव में सन् 1523 ई. में ग्वालियर का अन्तिम स्वतंत्र राजा विक्रमादित्य ही पराजित नहीं हुआ था, उसके प्रदेश की उसके पूर्व की अनेक पीढ़ियों द्वारा किए गए सांस्कृतिक जागरण के कारणभूत महापुरुषों की यशोगाथा भी भुला दी गई। विजेताओं की विजयवाहिनियों के घोर दुर्दुभिनाद में उनकी वाणी तिरोहित हो गई और उन सेनाओं के प्रयाण से उड़ी धूल में वह गौरवशाली अतीत दब गया। पराजय की यह अनिवार्य नियति है। उस देवपत्तन के इतिहास-निर्माण की ओर सक्षम और समर्थ व्यक्ति आकर्षित हों, यह मंगल कामना है।

○ ○



ग्वालियर के सांस्कृतिक विकास में जैन धर्म

श्रीरत्न मालव

भारत के हृदय-स्थल पर स्थित देश के इस भाग का इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। यद्यपि विभिन्न इतिहासकारों ने समय-समय पर प्रकाशित अपने ऐतिहासिक लेखों एवं पुस्तकों में इस क्षेत्र की प्राचीनता के सम्बन्ध में लिखा है तथापि यहाँ के इतिहास के सम्बन्ध में पर्याप्त शोध न होने के कारण अनेकों ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में नहीं आ पाये हैं। इसी कारण अनेकों स्थानों पर इसके अभाव में इतिहासकारों एवं लेखकों को कल्पनाशक्ति का सहारा लेने को विवश होना पड़ा है।

यों तो सारे भारत में ही इतिहास विषय पर पर्याप्त शोध-कार्य नहीं हुआ है और न ही विशेष लिखा ही गया है, परन्तु ग्वालियर के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से कही जा सकती है। यही कारण है कि यहाँ के प्राचीन इतिहास का अधिकांश भाग अन्धकारमय है। सब पूछा जाये तो इसका प्रमुख कारण हमारी संस्कृति ही रही। प्रारम्भ में इस देश में इतिहास लिखने की परम्परा नहीं थी। शासकगण अपना अधिकतर समय

राज्य का क्षेत्र बढ़ाने, अपनी विचारधारा का प्रचार करने आदि में व्यतीत करते थे। तथापि सभी के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनेकों राजाओं ने इन सबके अतिरिक्त कला एवं साहित्य के विकास तथा स्थापत्य पर भी ध्यान दिया। अधिकतर निर्माण-कार्य मंदिरों और महलों के ही रूप में कराये गये। आगे चलकर शिलालेख खुदवाने की परम्परा भी पाई जाती है। लेकिन जहाँ तक लेखन का प्रश्न है प्राचीन समय में धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत कम ही लिखा गया। यदि थोड़ा-बहुत लिखा भी गया है तो वह राजाओं की प्रशंसा आदि के सम्बन्ध में है। हाँ विदेशों से आये विभिन्न दूतों द्वारा लिखा गया वर्णन अवश्य अनेकों ऐतिहासिक तथ्यों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन समय में इतिहास लिखने की परम्परा नहीं थी। अन्य जो कुछ लिखा भी गया, वह सुरक्षित नहीं है। हाँ शिलालेख और धर्मग्रन्थ अवश्य थोड़ा-बहुत प्रकाश डालते हैं।

अनेकों प्राचीन ऐतिहासिक नगरों पद्मावती तथा सिंहीनियाँ आदि से मिलकर बना यह भाग भारत के इतिहास में अपना अत्याधिक महत्व रखता है, परन्तु इसके सम्बन्ध में भी यही दशा है। यहाँ के बहुत से ऐतिहासिक तथ्य और ग्रन्थ नष्ट हो गए हैं और जो हैं भी उन पर पर्याप्त शोध न होने के कारण कुछ सीमित जानकारी के सहारे तथा अन्य स्थानों पर कल्पना शक्ति के ही सहारे आगे बढ़ना पड़ता है। फिर भी प्राचीन ग्रन्थों आदि से इस क्षेत्र के ऐतिहासिक दृष्टि से धनवान होने के उदाहरण मिलते हैं। अनेकों प्राचीन ग्रन्थों में पद्मावती, सिंहीनियाँ, गोपाद्री, गोपागिरी और गोपाचल आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है।

वैसे इस दुर्ग के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ऐतिहासिक

प्रमाण सूर्यकुण्ड पर स्थित हूण और मिहिरकुल के एक शिलालेख द्वारा प्राप्त होता है¹ जिसका काल लगभग 515 ई. माना जात है। इस काल के बारे में विशेष विवरण नहीं मिलता। इस कारण जैनों की स्थिति के बारे में कुछ निश्चित मत व्यक्त नहीं किये जा सकते। पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस नगर निर्माण के काल से ही शनैः-शनैः जैन धर्मावलम्बी इस नगर में आकर बसने लगे थे।

इस समय ग्वालियर पर तोरमन और उसके पुत्र मिहिरकुल का आधिपत्य था। इनका शासन काल बड़ा दुःखदायी रहा। सन् 533 ई. में यशोवर्मन द्वारा पराजित किये जाने पर वह काश्मीर भाग गया पर स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। यशोवर्मन और उसके पुत्र नागवर्मन ने सन् 550 ई. तक यहाँ राज्य किया। इस प्रकार इन 80 वर्षों में राज्य की दशा बड़ी ही अस्थिर रही। इसके पश्चात् हर्ष के सम्राट होने पर उसने ग्वालियर पर भी कब्जा कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। इसके राज्य में शान्ति रही, यद्यपि वह स्वयं बौद्ध मतावलम्बी था परन्तु वह धर्मान्ध नहीं था। अतः इसने सभी वर्गों को समान रूप से प्रगति के अवसर प्रदान किये। इसके कारण उसके काल में यहाँ जैन पर्याप्त मात्रा में थे और इस क्षेत्र में तभी से क्रियाशील हो उठे थे। वे धर्म प्रचार और साधना के अतिरिक्त अब संगठन, तथा मंदिरों के निर्माण पर भी ध्यान देने लगे थे।

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग इन्हीं के राज्यकाल में भारत आया था। उसने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर जैन साधुओं की चर्चा करते हुए लिखा है—
“निग्रन्थ साधू अपने शरीर को नग्न रखते हैं और बालों को नीच डालते हैं। उनकी प्रधानता सारे देश में

1. आ. स. ई. रिपोर्ट, भाग 2, पृष्ठ 339, तथा भाग 20, पृष्ठ 107।

थी, बल्कि भारत के बाहर भी वे फैले हुए थे।² सन् 648 में हर्ष की मृत्यु हो गई और पुनः एक बार इस क्षेत्र में अराजकता जैसी स्थिति निर्मित हो गई।

ग्वालियर के दो शैलोत्कीर्ण शिल्पांकन भी इसी काल के अंत की ही रचनाएँ प्रतीत होती हैं। इनमें से एक प्रतिमा में तीर्थंकर को कायोत्सर्ग मुद्रा में तथा दूसरी को पद्मासनस्थ ध्यानमुद्रा में अंकित किया गया है। पद्मासन-मुद्रावाले तीर्थंकर के पार्श्व में अंकित सेवक पूर्ण विकसित कमल पुष्पों पर खड़े हुए हैं। इन कमल पुष्पों को बौद्ध (वामन) लोगों ने थाम रखा है, जो स्वयं मोटे कमलनाल जैसे दिखाई देते हैं। ऐसा ही लम्बी तालयुक्त कमल पुष्पों पर खड़े यक्षों का अंकन मथुरा संग्रहालय की (बी 6 तथा बी 7 क्रमांकित) दो सुन्दर मूर्तियों में भी पाया जाता है। खड्गासन तीर्थंकर-प्रतिमा के मूर्तन की तुलना राजगिरि की वैभार पहाड़ी स्थित दो खड्गासन प्रतिमाओं के मूर्तन से की जा सकती है। ग्वालियर की इन दोनों तीर्थंकर प्रतिमाओं में गुप्त-शैली का अनुकरण किया गया है। सेवक अलंकृत टोपी जैसे मुकुट तथा गले में एकावली धारण किये हुए हैं। तीर्थंकरों का परिकर परवर्ती गुप्तकालीन प्रतिमाओं की भाँति सुसज्जित न होकर यहाँ भी सादा रहा।³

आठवीं शती के सम्बन्ध में उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों से से इस बात की पुष्टि होती है कि आठवीं

शती में गोपाचल क्षेत्र में जैन धर्म का क्रमबद्ध विकास प्रारम्भ हो गया था। कन्नौज के प्रतापी यशोवर्मन के पुत्र आम ने गोपाचल गढ़ को सन् 750 ई. में अपनी राजधानी बनाया था। आम ने वप्पभट्ट सूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया था।⁴ जैन प्रबन्धों के अनुसार आम नामक नरेश ने जो नीवी शताब्दी में कन्नौज और ग्वालियर पर शासन करता था कन्नौज में एक मन्दिर का निर्माण कराया था, जो 100 हाथ ऊँचा था और जिसमें उसने तीर्थंकर महावीर की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित करायी थी। उसने ग्वालियर में 23 हाथ ऊँची महावीर की प्रतिमा स्थापित की थी। यह भी कहा जाता है कि उसने मथुरा, अनहिल वाड़, मोढ़ेरा आदि में भी जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था।⁵ जैन परम्पराओं में उल्लिखित नरेश आम प्रतिहार नागभट्ट द्वितीय (मृत्यु 883 ई.) रहे होंगे, जो जैन धर्म के प्रति अपनी आस्था के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। इस जैन परम्परा की सत्यता इन स्थानों से प्राप्त मध्यकालीन जैन अवशेषों द्वारा प्रमाणित होती है।

ग्वालियर के किले में अंबिका यक्षी और गोमेद यक्ष की शैलोत्कीर्ण सपरिकर प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। ललितासन में बैठी अंबिका के पार्श्व में, उनकी सेविकाएँ हैं। इन प्रतिमाओं का निर्माणकाल लगभग आठवीं शताब्दी निर्धारित किया जाता है।⁶ ये प्रतिमाएँ भारी आकार और रचना सौष्ठव के लिये विशेष उल्लेखनीय हैं, तथा कुषाण एवं गुप्तकालीन पांचिक

2. ट्रेवेल्स आफ हुऐनसांग, पृष्ठ 224।
3. जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड 1; भाग 3 (वास्तु स्मारक एवं मूर्तिकला) (300 से 600 ई.), अध्याय 12 (मध्यभारत)—डा. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह।
4. प्रबन्ध कोष, पृष्ठ 27; प्रभावक चरित, पृष्ठ 99।
5. मज्जिमदार (आर. सी.) तथा पुसालकर (ए. डी.) सम्पादक—एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, 1955, बम्बई, पृष्ठ 289।
6. ब्रून (क्लास) जिन इमेजेज आफ देवगढ़, 1969, लीडन, चित्र 18-18 A।

एवं हारीति प्रतिमाओं के समनुरूप हैं। अंबिका यक्षी की मुखाकृति अण्डाकार है, नेत्र अर्द्ध निमीलित हैं, केश सज्जा घम्मिल्ल आकार का है, कसे हुए गोल स्तन हैं, ग्रीवा और कुक्षी पर त्रिवलियाँ हैं, उदर भरा हुआ तथा नितम्ब चौड़े हैं। यक्ष की प्रतिमा स्थूलकाय और लम्बी-चौड़ी है। उसकी तोंद मटके जैसी है।¹⁷ ग्वालियर के किले में तीन स्वतन्त्र जैन प्रतिमाएँ भी विद्यमान हैं जो लगभग उसी काल की हैं। इनमें से एक प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में आदिनाथ का अंकन है जिसके चारों ओर पद्मासन मुद्रा में तेईस तीर्थंकर अंकित हैं। इस प्रकार यह प्रतिमा एक चतुर्विंशति-पट्ट के रूप में है। दूसरी प्रतिमा में नन्दीश्वर द्वीप सहित तीर्थंकर आदिनाथ अंकित हैं। तीसरी प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में पार्श्वनाथ की है। उनके शीर्ष पर नामफण का छत्र अंकित है तथा सुन्दर अर्द्ध मानवाकृति नागों द्वारा तीर्थंकर का जलाभिषेक करते दिखाया गया है। नागों के सिर पर लहरिया केश सज्जा है।¹⁸ इस प्रकार आठवीं-नवीं शताब्दी में ग्वालियर में जैन धर्म का काफी प्रभाव था और इसी कारण जैन शिल्पांकन की दिशा में भी इस काल में बहुत कार्य हुआ।

कन्नौज के परिहार राजा भोजदेव ने भी कुछ समय के लिये इस दुर्ग पर अपना शासन स्थापित किया जिसका प्रमाण हमें किले के नीचे सागर ताल पर स्थित सन् 875 तथा सन् 876 के चतुर्भुज मन्दिर के शिलालेखों से प्राप्त होता है। इनके शासन काल में भी श्री वज्रदान नामक जैन साधू द्वारा सं. 1034 (सन् 977) में वैशाख वदी पंचमी के दिन जैन मूर्ति

की प्रतिष्ठा कर उसे वहाँ स्थापित कराया।¹⁹ इससे लगता है कि भोजदेव के काल में जैन धर्मावलंबियों की अच्छी दशा थी। इन्होंने 10 वी. शताब्दी तक शासन किया। दसवीं शताब्दी में पुनः बरजुमन कछवाहा के नेतृत्व में राजपूतों ने इस क्षेत्र तथा दुर्ग पर अपना शासन स्थापित किया।

वर्तमान सास-बहू के मन्दिरों का भी निर्माण इसी काल में हुआ। इस मन्दिर के लम्बे शिलालेख का पाठ दिगम्बर यक्षोदेव द्वारा रचित है। इससे प्रकट होता है कि महीपाल कच्छपघात के समय में भी ग्वालियर में जैन सम्प्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। ऐसा माना जाता है कि 105 फुट लम्बा, 75 फुट चौड़ा और 100 फुट ऊँचा यह मन्दिर महीपाल नामक राजपूत शासक द्वारा नन्दीश्वर द्वीप अष्टानिका के व्रत के उपलक्ष में जिनमन्दिर के रूप में बनवाया गया। यही कारण है कि उसमें देव-देवांगनाओं की नृत्य तथा अन्य मुद्राओं में मूर्तियाँ खुदी हैं। इसकी प्रतिष्ठा में पद्मनाभ क्षुल्लक आदि ने भी भाग लिया था। यह लगभग सन् 1036 में बनकर पूर्ण हुआ। इसके द्वारों, छत और दीवारों की खुदाई दर्शनीय है। यह सास-बहू के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान में कुछ इतिहासकारों ने इसका प्राचीन नाम सहस्रबाहु का मन्दिर बताते हुये इसे विष्णु मन्दिर भी कहा है।

भारत सरकार द्वारा सन् 1869 में ग्वालियर दुर्ग में कुछ ऐतिहासिक महत्व के स्थलों के उत्खनन के अवसर पर प्राप्त, एक ताम्र चैत्य तथा चार तीर्थंकरों

7. जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड 1, भारतीय ज्ञानपीठ, भाग 4, वास्तु स्मारक एवं मूर्तिकला (600 से 1000 ई.) अध्याय 16, मध्यभारत, कृष्णदेव, पृष्ठ 177-78।
8. मेईस्टर (माइकेल डब्ल्यू); आम, अन्नोल एण्ड जैनज्म इन ग्वालियर फोर्ट, जर्नल आफ दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, 22; 354-58।
9. ग्वालियर का अतीत, पृष्ठ 14।

की ताम्र प्रतिमाएँ प्रस्तुत की गई हैं। ये चैत्य एवं तीर्थंकर प्रतिमाएँ 10-11 वीं सदी के लगभग किसी समय की प्रतीत होती हैं।¹⁰

नन्दीश्वर—

कला की दृष्टि से इनमें ताम्रचैत्य, प्रमुखतः उल्लेखनीय है। यह नीचे वर्गाकारों तथा ऊपर पिरामिड के आकार का बना है। 1 फीट 6.75 इंच ऊँचे इस नन्दीश्वर चैत्य के वर्गाकारी आचार का क्षेत्रफल 6.25 वर्गइंच है। नीचे के भाग में तीन वर्गाकार मंजिलें हैं, तीसरे वर्ग के ऊपर पिरामिड आकार का आमासक युक्त गुम्बद बना है। प्रत्येक वर्ग के चारों कोने पर स्तम्भ बने हैं। इन वर्गाकारी मंजिलों की ऊँचाई नीचे से ऊपर की ओर, क्रमशः कम है। इन वर्गों में चौबीस तीर्थंकरों के चित्र हैं, सबसे नीचेवाले (तल) वर्ग में प्रत्येक ओर खड्गासन मुद्रा में तीन-तीन तीर्थंकर इस प्रकार कुल बारह तीर्थंकर मुद्राएँ बनी हैं। इसके ऊपरवाले (मध्य) वर्ग पर प्रत्येक ओर पद्मासन (सम्प्रयंक) मुद्रा में दो-दो तीर्थंकर इस प्रकार आठ तीर्थंकर मुद्राएँ बनी हैं। यह वर्ग ऊँचाई में तल वर्ग की अपेक्षा कम ऊँचा है। इसके भी ऊपर सबसे कम ऊँचाई वाले तीसरे वर्ग में प्रत्येक ओर एक-एक इस प्रकार कुल चार तीर्थंकर मुद्राएँ अंकित हैं। इनमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मुद्रा सभी से अलग प्रकार की होने के कारण आसानी से पहचानी जा सकती है। इसमें शीर्ष के ऊपर पंचफणी सर्प अंकित है। प्रत्येक तीर्थंकर मुद्रा के वक्ष पर प्रतीक स्वरूप श्रीवत्स अंकित है।

यह प्रतिमा जैन कास्मोलॉजी के अनुसार वर्णित द्वीपों में से एक द्वीप नन्दीश्वर द्वीप की प्रतीक स्वरूप है। इस द्वीप में 52 देवों एवं पवित्रात्माओं द्वारा जिन (तीर्थंकर) पूजा की जाने का जैन शास्त्रों में वर्णन प्राप्त होता है। तदनुसार यह द्वीप मन्दिरों, सभागृहों; नाट्यगृहों; सज्जित मंचों; सुन्दर स्तूपों, मूर्तियों एवं प्रतिमाओं, पवित्र चैत्य वृक्ष, इन्द्रध्वज तथा कमल-युक्त झील आदि से युक्त है। इन सभी मन्दिरों में अर्हंत एवं जिन से सम्बन्धित पवित्र दिनों पर आठ दिवसीय एवं जिन से सम्बन्धित पवित्र दिनों पर आठ दिवसीय पर्व मनाए जाते हैं। जैन धर्मावलम्बी इस वर्णन के अनुसार वर्ष में तीन बार आषाढ़, कार्तिक तथा फाल्गुन माहों में अष्टमी से पूर्णिमा तक आठ दिवसीय अष्टानिका पर्व मनाकर इस अवसर पर व्रत एवं पूजा आदि करते हैं।

चैत्य पर अंकित शब्द क्षतिग्रस्त हो गए हैं। तल मंजिल पर एक ओर “.....हीं .. ना .. दा.... धी” शब्द पढ़े गये हैं, इनके आचार पर कई पुरातत्व वेत्ताओं ने इसे 4-5वीं शती में निर्मित माना है, तथापि यह चैत्य 9-10वीं शती के लगभग या इससे पूर्व का अवश्य है।

छठवें तीर्थंकर पद्मप्रभ—

अन्य चार जिन प्रतिमाओं में एक छठवें तीर्थंकर पद्मप्रभ की है जिसकी ऊँचाई आचार सहित साढ़े पाँच इंच, तथा बिना आधार के साढ़े तीन इंच है। पद्मासन (सम्प्रयंक) अवस्था में बैठी इस मुद्रा के पृष्ठ भाग में नालन्दा कांस्य की शैली के चँवर बने हैं। आधार के

10. “Jaina Images & Places of first class Importance”, T. N. Ramachandran. (Presidential address during the All India Jaina Sasana Conference 194; Held on the occasion of the 2500th Anniversary of the first Preaching of lord Mahavir Swami; Calcutta) Publisher—Hony. Secy. Vira Sasana Sangha, 82 Lower Chitpur Road, Calcutta.

रूप में बने आसन के मध्य पद्मासन के नीचे सामने की ओर तीर्थंकर पद्मप्रभ का लाँछन कमल व प्रतिमा के शीर्ष पर ऊर्णिस एवं घुंघराले बाल दृष्टव्य हैं।

दूसरी प्रमुख प्रतिमा आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की है। कुल साढ़े दस इंच ऊँची इस प्रतिमा में तीर्थंकर मुद्रा मात्र ही साढ़े पाँच इंच ऊँचाई की है। सम्प्रयक में भद्रासन अवस्था में बैठी मुद्रा की इस जिन प्रतिमा के पृष्ठ भाग में नालन्दा जैसी उन्नत कला दर्शनीय है। प्रतिमा के पृष्ठ भाग में प्रभामण्डल कलात्मक स्वरूप लिये हुए है। प्रतीक स्वरूप तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का लाँछन अर्द्धचन्द्र तथा वक्ष के मध्य श्रीवत्स का चिन्ह अंकित है। इनकी शैली के आधार पर सुनिश्चित रूप से इनका निर्माण काल 10-11वीं शती कहा जा सकता है।

कच्छपघात बज्रदामन ने भी जैन सम्प्रदाय को प्रश्रय दिया था। वि. सं. 1034 (सन् 977 ई.) में बज्रदामन के राज्यकाल में ग्वालियर में जैन मूर्तियों की स्थापना की गई थी।¹¹

इस प्रकार यह निश्चित है कि 11वीं शताब्दी में एक जिन मन्दिर तथा कुछ जैन मूर्तियाँ गोपाचगलड़ पर निश्चय ही स्थित थीं। कच्छपघात मूलदेव (भुवनैकमल्ल) के राज्य में राज्याधिकारियों ने इस मन्दिर में जैन भक्तों का निर्वाध प्रवेश बन्द कर दिया था। मलधारी गच्छ के श्री अभयदेव सूरि के आग्रह पर महावीर स्वामी के इस मन्दिर के द्वार समस्त जैन जनता के लिये उन्मुक्त कर दिये गए थे।¹²

सन् 1844 ई. में जनरल कनिंघम ने ग्वालियर दुर्ग पर स्थित सास-बहू के मन्दिरों के निकट अत्यन्त

जीर्ण-शीर्ण अवस्था में स्थित 35 फुट लम्बे तथा 15 फुट चौड़े खंडहर कमरे के संबंध में किये गये शोध-कार्य के आधार पर उसे जैनियों के 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का मन्दिर माना है, और इसका निर्माण-कार्य सन् 1108 ई. के लगभग सम्पन्न होता माना है। उसके पूर्ण सर्वेक्षण, आसपास किये गये खुदाई के कार्य और स्तम्भों के आधार पर उसका क्षेत्र पीछे 50 फुट और होता बताया है। उसके अनुसार यह मन्दिर लगभग 69 फीट लम्बे तथा 15 फीट चौड़े क्षेत्र में फैला था।

इसके निर्माण का समय (सन् 1108 ई.) इस बात की साक्षी देता है कि यह मन्दिर कछवाहों के शासन काल में ही निर्मित किया गया। इससे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि इनके शासन काल में भी जैन अच्छी अवस्था में थे। विस्तृत ऐतिहासिक विवरण के अभाव में यह कहना अत्यंत कठिन है कि किस राजा ने दुर्ग पर इस मन्दिर का निर्माण करवाया अथवा निर्माण हेतु स्वीकृति प्रदान की। इससे भी यह प्रतीत होता है कि इसके भी शताब्दियों पूर्व से जैन इस क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखते थे और शनैः-शनैः वे इतने प्रभावशाली हो गये कि वे शासक एवं शासन को भी प्रभावित कर मन्दिर निर्माण करा सके।

इस काल के ग्वालियर के निकटवर्ती क्षेत्रों में भी जैन मूर्तियों व शिलालेखों का निर्माण हुआ। दूबकुण्ड (श्यापुर) के वि. सं. 1145 (सन् 1088 ई.) के विक्रमसिंह के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र के कच्छपघात भी जैन सूरियों को प्रश्रय देते थे। शान्तिषेण सूरि और उनके शिष्य विजयकीर्ति द्वारा वह प्रशस्ति लिखी गयी

11. ग्वालियर राज्य अभिलेख, क्र. 20।

12. संगी गोपनिषत्सार, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, प्रस्तावना, पृष्ठ 7।

थी।¹³ दूवकुण्ड के जैन मन्दिर के वि. सं. 1152 (सन् 1095 ई.) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वहाँ काष्ठासंघ के महाचार्यवर्य श्री देवसेन के पादुका चिन्ह की पूजा होती थी।¹⁴ नरवर में भी वि. सं. 1314 (सन् 1257 ई.) से 1324 (सन् 1267 ई.) के मूर्तिलेखों से युक्त सैकड़ों मूर्तियाँ नरवर में प्राप्त हुई हैं।

जो कुछ भी ज्ञान उपलब्ध है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ जैन धर्मावलंबियों के परिवार मात्र निवास ही नहीं करते थे वरन् यहाँ जैनियों के संघ भी संचालित थे जिनमें संघाधिपति तथा अन्वय हुआ करते थे। इतना ही नहीं वे नियमित विद्यापीठ का भी संचालन करते थे। 15वीं शताब्दी में बनी मूर्तियों से प्राप्त जानकारी से ये तथ्य पुनः परीक्षित होते हैं।

सन् 1122 ई. में परिहारों ने इस वंश के अन्तिम राजा तेजकरण को निकाल दिया और स्वतः राजा बन बैठे थे। परिहार वंश के कुल 7 राजाओं ने इस दुर्ग पर राज्य किया। इस बीच में एक बार सन् 1196 ई. में कुतुबुद्दीन ने ग्वालियर पर आक्रमण कर दुर्ग पर अपना अधिकार स्थापित किया परन्तु उनके हाथों में यह दुर्ग अधिक न रह सका और 16 वर्ष बाद सन् 1212 में परिहारों ने पुनः दुर्ग को वापस ले लिया और सन् 1232 तक अपने अधिकार में रखा। सन् 1232 में अलतमश ने तत्कालीन परिहार शासक सारंग देव पर भारी फौज सहित आक्रमण किया और 11 मास तक दुर्ग को घेरे रहा। अन्त में सारंगदेव ने स्वयं

किले से निकलकर मुसलमानों से युद्ध किया। युद्ध के लिये राजा को जाते देख रानियों ने कहा—

“पहले हमें जु जौहर पारी,
तब तुम जूझो कन्ध सम्हारी”

यह कहकर 70 रानियाँ किले में आग में कूदकर बलिदान हो गईं। आज भी इस जौहर की स्मृति में जौहरताल का नाम विख्यात है। उरवाई दरवाजे पर इस घटना का उल्लेख करनेवाला शिलालेख सन् 1805 ई. तक पाया गया है। इस युद्ध में राजा भी अपने 15 साथियों के साथ काम आए तब कहीं मुसलमान इस किले पर कदम रख पाये। इसके बाद सन् 1318 ई0 तक यह दुर्ग मुसलमानों के अधिकार में रहा। उन्होंने इसे राजकीय कैंदखाने के रूप में प्रयोग किया। इस प्रकार ग्वालियर का यह प्रदेश 166 वर्षों तक लूट-खसोट और अत्याचार से आतंकित रहा।

पर कभी किसी का शासन स्थायी नहीं रहा। जब तैमूर लंग ने भारत के अन्दर ऊधम मचाया तो मुस्लिम सत्ता डाँवाडोल हो गई और वीरसिंह तँवर¹⁵, जो कि सन् 1375 ई. में मुस्लिमों की ओर से किलेदार नियुक्त हुआ था, ने अवसर पाकर दुश्मनों को परस्पर लड़ाकर बड़ी चतुराई के साथ इस किले पर अपना अधिकार कर लिया। इसने सम्भवतः सन् 1380 ई. में अपना राज्य स्थापित किया। यह बड़ा पराक्रमी और विवेकी तथा राजनीति में दक्ष शासक था।

13. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र. 24।

14. वही, क्र. 58।

15. जात. श्रीवीरसिंहः सकलरि पकुलव्रातनिर्धतिपातो,
वंशे श्रीतोमराणां निजविमलयशोख्यातदिकचक्रवालः।
दानैर्माने विवेकैर्न भवति समता येन साकं नृपाणां,
केशामेषा कवीनां प्रभवति धिषणा वर्णने तद्गुणानां॥

—यशोधरचरित प्रशस्ति

इसके पश्चात् इसका पुत्र उद्धरणदेव अपने पिता की गद्दी पर बैठा ।¹⁶ शासन प्राप्ति के बाद यह कुल दो वर्ष ही जीवित रहा । इसके काल के संबंध में विशेष विवरण प्राप्त नहीं है । सन् 1402 ई. के लगभग उद्धरणदेव का पुत्र वीरमदेव गद्दी पर बैठा ।¹⁷ यह बड़ा पराक्रमी था । इसके काल में मल्लू इकबाल खाँ ने इस पर आक्रमण किया परन्तु वह वीरमदेव को हराने में असफल रहा । इसके दरबार में कुशराज नाम का विश्वासपात्र महामात्य था । यह जैसवाल जैन कुल में उत्पन्न हुआ था, इसके पिता का नाम जैनपाल और माँ का नाम लोणा देवी था । यह राजनीति में बड़ा ही दक्ष और पराक्रमी था ।¹⁸ यह सदा जैनेन्द्र की सेवा में रत रहता था । यह अपनी भार्या रहूँ और लक्ष्मणश्री तथा पुत्र कल्याणमल्ल और उसकी भार्या जयतन्त्रिदे

इत्यादि परिवार के कल्याण के लिये उस यंत्र की पूजा करता था । इसकी एक तीसरी भार्या कौशीरा थी ।

इसने भ. विजय कीर्ति के उपदेश से ग्वालियर में चन्द्रप्रभु का एक विशाल मन्दिर बनवाया था और भारी धूमधाम से उसका प्रतिष्ठोत्सव समारोह आयोजित किया । इस अवसर पर जौनार (सामूहिक भोज) भी आयोजित की गई । चन्द्रप्रभु का यह मन्दिर ही बाद में शेख मोहम्मद गौस का निवास-स्थान बना जिसे आजम हुमायूँ ने भ्रष्ट कर दिया था । इस घटना का विस्तृत उल्लेख आगे उपलब्ध है ।

राजा का विश्वासपात्र महामात्य जैन होने के कारण वीरमदेव के शासन काल में जैन धर्मावलंबियों को विकास का अच्छा अवसर मिला । कुशराज ने

16. ईश्वर चूडारत्नं विनिहत करघातवृत्तसंहातः ।

चन्द्र इव दुग्धसिधोस्तस्मादुद्धरणभूपतिर्जनितः ॥

— यशोधरचरित प्रशस्ति

17. तत्पुत्रो वीरमेन्द्रः सकलवसुमतीपालचूडामणियः ।

प्रख्यातः सर्वलोके सकलबुधकलानन्दकारी विशेषात् ।

तस्मिन् भूपालरत्ने निखिलनिधिगृहे गोपदुर्गे प्रसिद्धि,

भुजाने प्राज्यराज्यं विगतरिपुमयं सुप्रजः सेव्यमानः ॥ — यशोधरचरित प्रशस्ति

18. वशेऽभूजजैसवाले विमलगुणभूँलणः साधुरत्नं,

साधुश्री जैनपालो भवदुदितयास्तस्मृतो दानशीलः ।

जैनेन्द्रः राघनेसु प्रमुदित हृदयः सेवकः सद्गुरूणां,

लोणाख्या सत्यशीलाऽजनि विमलमतिर्जैनपालस्य भार्या

जातः षट्त्तनयास्तयोः सकृत्तिनोः श्रीहंसराजोभवत्,

तेषामाद्यतमस्ततस्तदनुजः सौराजनामाऽजनि ।

रैराजोमवराजकः समजनि प्रख्यातकीर्तिमहा —

साधुश्री कुशराजकस्तदनु च श्री क्षेमराजो लघुः ॥ 6 ॥

जाताः श्रीकुशराज एव सकलक्षमापालचूडामणोः,

श्रीमत्तोमर-वीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान् ।

मन्त्री मन्त्रविचक्षणः क्षणमयः क्षीणारिपक्षः क्षणात् ।

क्षेणीमीक्षणरक्षणमतिर्जैनेन्द्रपूजारतः ॥ 7 ॥

— यशोधरचरित प्रशस्ति

वरदार के ही एक अन्य कायस्थ विद्वान पद्मनाभ से भ. गुणकीर्ति के आदेशानुसार "यशोधर चरित्र" (दया सुन्दर विधान) नामक काव्य की रचना करवाई। इसके शासनकाल की संवत् 1460, 1468, 1469 और 1479 की लिखी हुई चार ग्रन्थलिपि प्रशस्तियाँ अभी भी उपलब्ध हैं। सं. 1460 में गोपाचल में साहु वरदेव के चैत्यालय में भ. हेमकीर्ति के शिष्य मुनि धर्मचन्द्र ने माघ वदी दशमी के दिन "सम्यक्त्व कौमुदी" की प्रति आत्मपठनार्थ लिपिबद्ध की।¹⁹ सं. 1468 में आषाढ़ वदी 2, शुक्रवार के दिन काष्ठा संघ, माधुरान्वय के आचार्य श्री भावसेन, सहस्रकीर्ति और भ. गुणकीर्ति की आम्नाय में साहु मरूदेव की पुत्री देवसिरी ने 'पंचास्तिकाय' टीका की प्रतिलिपि लिपिबद्ध कराई थी। जो इस समय कारंजा के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है।²⁰

संवत् 1469 में आचार्य अमृतचन्द्र कृत प्रवचन सार्थी की "तत्त्वदीपिका" टीका लिखी गई। सन् 1479 में आषाढ़ सुदी 5 बुधवार के दिन गढ़ोत्पुर के नेमिनाथ चैत्यालय में जौतुका स्त्री सरो ने अपने ज्ञानवर्णी कर्णों के क्षयार्थ "षट्कर्मोपदेश" की एक प्रति लिखकर जैत श्री की शिष्या विमलमति को पूजा विधान महोत्सव के

साथ समर्पित की थी जिसे पंडित रामचन्द्र ने लिखा था। यह प्रति आमेर के भण्डार में सुरक्षित है।

वीरमदेव के पश्चात् उसका पुत्र गणपतिदेव गद्दी पर बैठा। उसका राज्यकाल अत्यंत रहा, जिसका विवरण उपलब्ध नहीं है।

सन् 1424 में गणपतिदेव के पुत्र झूगरसिंह तँवर गद्दी पर आसीन हुए। यह बड़े ही वीर और पराक्रमी शासक थे। उसने शासन सँभालते ही अपनी सेना संगठित कर मालवे की राजधानी मांडू पर आक्रमण कर वहाँ के राजा हुशंगशाह को परास्त किया। संभवतः इसी विजय में इनके हाथ कोहिनूर नामक विश्वप्रसिद्ध हीरा लगा। इस प्रकार उसने अपने राज्य की सीमा और बढ़ाकर अपनी स्थिति और सुदृढ़ कर ली। इसके काल में राज्य में सभी प्रकार की सुख शांति थी। इससे निकटवर्ती राज्यों के शासकों की ललचाई दृष्टि सदैव इसके राज्य पर लगी रहती थी और यदा-कदा खालियर पर आक्रमण होते रहते थे। राजा झूगरसिंह ने सभी का डटकर मुकाबला किया और सभी में विजयी रहे। विभिन्न लेखकों ने इसकी वीरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि "बहु अनेक राजाओं द्वारा पूजित

19. संवत् 1460 शके 1325 षष्ठाब्दयोर्मध्ये विरोधी नाम संवत्सरे प्रवर्तत गोपाचल दुर्गस्थाने राजा वीरमदेव राज्य प्रवर्तमाने साहु वरदेव चैत्यालये भ. श्री हेमकीर्तिदेव तत्शिष्य मुनि धर्मचन्द्रेण आत्मपठनार्थ पुस्तकं लिखितं माघ वदि 10 भौमदिने।

— तेरापंथी मन्दिर जयपुर, शास्त्र भण्डार

- 20 संवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द 1468 वर्ष आषाढ़ वदि 2 शुक्र दिने श्री गोपाचले राजा वीरमदेव विजय राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माधुरान्वये पुष्कर गण आचार्य श्री भावसेनदेवाः तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्तिदेवास्तेषामाम्नाये संघई महाराजवधू साधु मरूदेव पुत्री देवसिरी तथा इदं पंचास्तिकायसार ग्रंथं लिखापितम्।

— कारंजा भण्डार, जयपुर

तथा सम्मानित था। और शत्रुओं का मान मर्दन करने में दक्ष था।²¹ युद्ध-स्थल में उसके समान कोई वीर योद्धा नहीं था।²² नरवर गढ़ में स्थित विजय स्तम्भ (जैत स्तम्भ) अभी भी इसकी साक्षी दे रहा है।

परन्तु इन सब विजय अभियानों में व्यस्त रहते हुए भी उसका ध्यान विद्वानों, धार्मिक समारोहों और निर्माणों की ओर भी गया। इसने जैन धर्म के सिद्धांतों को अपने जीवन में अपनाया। जैन धर्म से उसका अनुराग मात्र ही नहीं था किन्तु उस पर उसकी परम आस्था थी। वे जैन धर्म के प्रबल पोषक थे। वह जैन विद्वानों एवं संतों को बड़े ही आदर की दृष्टि से देखता था।

इसके राज्यकाल में ही ग्वालियर गढ़ की चट्टानों में जैन प्रतिमाओं के उत्खनन के कार्य का प्रारम्भ हुआ। सन् 1440 ई. के तीन शिलालेख इस बात के सूचक हैं कि इनके आश्रय में अनेक जैन धर्मावलम्बियों ने दुर्ग के

चारों ओर जैन प्रतिमाओं के खुदवाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इन अभिलेखों में जैनाचार्य देवसेन, यशकीर्ति, जयकीर्ति, आदि भट्टारकों का भी उल्लेख मिलता है। इस कार्य पर करोड़ों रुपये व्यय हुए तथा कुल 33 वर्ष का समय लगा। डूंगरसिंह अपने जीवनकाल में इसे पूरा नहीं करा सका। तब उसके प्रिय पुत्र कीर्तिसिंह ने उसे पूरा कराया।

डूंगरसिंह के राज्य में ग्रन्थ निर्माण और मूर्ति प्रतिष्ठा

मूर्ति निर्माण के अतिरिक्त राजा डूंगरसिंह के समय में ग्वालियर के जैन धर्मानुयायी श्रावकों ने ग्रन्थ निर्माण और मूर्ति प्रतिष्ठा का भी कार्य सम्पन्न कराया। सन् 1429 में भ. गुणकीर्ति के शिष्य भ. यशकीर्ति ने आत्म पठनार्थ, “सुकुमाल चरित”²³ और कवि श्रीधर की “संस्कृत भविष्य दत्त पंचमी”²⁴ कथा की प्रतियाँ लिखवाई थीं; इसके अतिरिक्त उन्होंने हरिवंश पुराण,

21. श्री तोमरानुर्काशस्त्रामणित्वं, यः प्रापभूपालशताचित्तैर्घ्नः।

श्री राजमानो हतशत्रुमानः ।, श्री डूंगरेदोऽत्र, नराधिपोस्ति ॥

समयसार लिपि प्र० सेनगण भण्डार, कारंजा

22. भुषबल पराणु, समरंगणि अणु ण तहु समाणु ।

णिरुवम अबिरल गुण मणि निकेउ, ... ।

साहणसमुद्दु जयसिरिणिवासु, जस ऊयरि पउरियदहदिसासु ।

जस करवाल णिहाए अरि-कवाल, तोडि वि घल्लिउ णं कमलणालु ।

दुपिच्छ मिच्छ रणरंगु मल्लु, अरियणकामिणिमण दिण्णु सल्लु ।

.. सम्मतत्तगुणनिधान प्रशस्ति

23. —संवत् 1468 वर्ष अश्विणि वदि 13 सोमदिने गोपाचलदुर्ग राजा डूंगरसिंहदेव देवविजयराज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंधे माथुरान्वये आचार्य श्री भावसेन देवास्तत्पट्टे श्री सहस्त्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे श्री गुणकीर्ति देवास्तत्क्षिप्येन श्री यशः कीर्तिदेवन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इदं सुकुमाल चरित लिखापितं । कीयस्थ याजनापुत्र थलू लेखनीय । जयपुर भण्डार ।

24. संवत् 1486 वर्ष आषाढ़ वदि 9 गुरुदिने गोपाचलदुर्ग राजा डूंगरसिंह राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंधे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस्त्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्ति देवास्तत्क्षिप्य यशःकीर्ति देवास्तेन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इदं भविष्यदस्त पंचमी कथा लिखापितं नया मंदिर धर्मपुरा दिल्ली

रात्रि भोजन कथा, रविवार व्रत कथा, चन्द्रनाथ चरित्र आदि 23 ग्रन्थ भी लिखे थे। ये सं. 1486 तक रहे।

संवत् 1492 से पूर्व अग्रवाल वंशज साहू खेमसिंह के पुत्र साहू कमलसिंह ने 11 हाथ ऊँची आदिनाथ की एक विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। इसके प्रतिष्ठोत्सव में राजा झुंगरसिंहजी ने शासन से पूरा सहयोग प्रदान किया और ताम्बूल आदि से उसका सम्मान किया।²⁵

संवत् 1492 में साहू कमलसिंह ने कवि रईधू से “सम्मत गुण निधान” नामक ग्रन्थ की रचना करवाई जो माद्रपाद मास के पूर्णिमा के दिन समाप्त हुई। इस ग्रन्थ की रचना करने में कवि को 3 मास का समय लगा। इसके बाद कवि रईधू ने “नेमिनाथ चरित्र”, “पार्श्वनाथ चरित्र” तथा “बलभद्र चरित्र” (रामायण) नामक ग्रन्थों की रचना की। सं. 1496 में रचे गये “सुकीशल चरित्र” नामक ग्रन्थों में इन ग्रन्थों की रचना का उल्लेख किया गया है। ये जाति के पदमावती पुरवाल थे। इनके पिता का नाम हरिसिंह सिंगी था।

बलहृद चरित्र में केवल हरिवंश पुराण (नेमिज्ज चरित्र) के रचे जाने का भी उल्लेख मिलता है। हरिवंश पुराण में त्रिषष्टिशलाका चरित (महापुराण), मेघेश्वर चरित्र, यशोधर चरित्र, वृत्तसार और जीवंधर नामक 6 अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया गया है। ये सभी सं. 1496 से पूर्व के रचे गये हैं। सम्मईजिन

चरित प्रशस्ति में मेघेश्वर चरित, त्रिषष्टि महापुराण, सिद्धचक्रविधि, बलहृद चरित्र, सुदर्शन चरित और धन्य-कुमार चरित नामक ग्रन्थों का भी उल्लेख है। संभवतः ये सभी ग्रन्थ कवि रईधू ने सं. 1492 और 1496 के काल में लिखे हैं। इनमें एक और ग्रन्थ “आत्म संबोध काव्य” की 29 पत्रात्मक जीर्ण प्रति भी उपलब्ध हुई है।²⁶ जो संवत् 1448 की लिखी हुई है। रईधू के काल में ग्वालियर में जैन धर्म एवं संस्कृति अत्यधिक सम्पन्न अवस्था में थी। झुंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के काल में गढ़ के नीचे नगर में बहुत से जैन मन्दिर बने थे। रईधू ने लिखा है कि—“नगर जैन मन्दिरों से विभूषित था और श्रावक दान-पूजा में निरत रहते थे।”..... “नैमिनाथ, चन्द्रप्रभु और वर्द्धमान के जैन मन्दिर थे और उनके पास बिहार भी बने थे।” स्वयं रईधू ऐसे ही बिहार में रहता था। अलवर और चौरासी मथुरा के जैन मन्दिरों में ग्वालियर के तौमरों के उल्लेख युक्त प्रतिमाएँ इन्हीं जैन मन्दिरों की हैं। इससे प्रतीत होता है कि कविवर रईधू दीर्घजीवी रहे होंगे। उपलब्ध ग्रन्थों से उनका रचनाकाल सं. 1448 से सं. 1525 तक का उपलब्ध होता है।

सं. 1497 में “परमात्म प्रकाश” ग्रन्थ की सटीक प्रति की रचना की गई।²⁷ इसी वर्ष पांडु पुराण भी अपभ्रंश भाषा में लिखा गया। सं. 1506 में घनपाल की “मविष्यदत्त पंचमी कथा” तथा सं. 1510 में “समय सार” नामक ग्रन्थों की प्रतिलिपि की गई।²⁸

25. —जो देवाहिदेव तित्थंकर, अङ्गणाहु तित्थोय सुहंकर।

तहु पडिमा दुग्गइ —णिण्णासणि, जामिच्छत —गिरिद —सरासणि,
जामहिरो —सोय दुह —णासणि

26. संवत् 1448 वर्षे फाल्गुण वदि । गुरौ दिने म्त्रावण लम्पण कम्मक्षय विनाशार्थं लिखितं । “—यह आमेर भण्डार जयपुर में अभी भी सुरक्षित है।

27. यह अभी भी जयपुर के ठोलियों के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

28. यह अभी भी कारंजा के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

उनके अतिरिक्त ज्ञानार्णव, चन्द्रप्रभु चरित्र तथा परिमाल कवि आगरा द्वारा श्रीपाल चरित्र आदि लिखे गये। सं. 1497 और सं. 1510 में प्रतिष्ठापित मूर्तियों के लेख उपलब्ध हैं।²⁹

शाह टोडरमल जी, दोल जी काशलीवाल भी उनके काल में ही मारवाड़ से ग्वालियर आये थे। उस समय तोमर व कछवाय जैन मत पालते थे। उन्होंने पहाड़ी पर गुफा व जैन मन्दिर के निर्माण भी कराये।

वे जैनधर्म से बड़ा प्रभावित थे। तत्कालीन भ. गुणकीर्ति के प्रति इसके हृदय में असीम श्रद्धा थी। उनके उपदेशामृत से इसने जैन धर्म स्वीकार किया। इस काल में गुणकीर्ति उनके शिष्यों तथा प्रशिष्यों का भी जैन धर्म एवं जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सर्वाधिक योगदान रहा। इसके काल में अनेकों मूर्तियों का निर्माण हुआ तथा प्रतिष्ठायें करवाई गईं। इसके काल में प्रजा सुखी तथा समृद्ध थी। इसने कुल 30 वर्ष तक ग्वालियर पर शासन किया।

इसके पश्चात् कीर्तिसिंह या कीर्तिपाल गद्दी पर बैठे। यह डूंगरसिंह का पुत्र था।³⁰ यह अपने पिता के समान ही गुणज्ञ, बलवान और राजनीति में चतुर था।³¹ यह पराक्रमी होने के साथ-साथ दयालु, सहृदय और प्रजा वत्सल भी था। इसने लगभग सन् 1424 में शासन भार ग्रहण किया।

इसने अपने राज्य को और भी बढ़ाया। इसके समय के दो लेख 1468 और 1473 ई. के मिले हैं। इसकी मृत्यु सन् 1479 में हुई थी अतः इसका राज्यकाल 1479 तक माना जाता है।

यह जैन धर्म में अत्याधिक आस्था रखता था। इसने अपने पिता द्वारा अधूरे छोड़े गये मूर्तियों के उत्खनन के कार्य को पूरा कराया। इसका काल सं. 1522 से 1531 तक मिलता है। इस काल में अनेकों नई मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित हुईं, जिनमें अकित लेखों में कीर्तिसिंह का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—बाबा की बाबड़ी के दाहिनी ओर बनी पार्श्वनाथ की मूर्ति पर लिखे अभिलेख में महाराजा कीर्तिसिंह का विवरण दिया है। इस खड्गशासन मूर्ति के निकट ही नौ अन्य मूर्तियाँ भी खुदी हैं जिनमें कुछ पदमासन भी हैं। इनके मुख खडित कर दिये गये हैं।

इन मूर्तियों का निर्माण मूर्तिकला के क्षेत्र में इस प्रदेश के कारीगरों का अभिनव प्रयास था जिसके अन्तर्गत वि. सं. 1530 तक के 33 वर्ष के थोड़े समय में ही दुर्ग की ये बेडोल और मूक चट्टानें विशालता, कीतरागिता, शान्ति, एवं तपस्या की भाव ध्वजना से मुखरित हो उठीं। गढ़ के चारों ओर खदी हुई इन विशाल मूर्तियों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूर्तियों के निर्माणकर्ता अपनी श्रद्धा और भक्ति के अनुकूल विशाल प्रतिमाओं का निर्माण करना अथवा कराना चाहते होंगे। अतः इससे प्रेरित होकर उत्कीर्णकों ने निर्मापक की निर्मल भावनाओं को साकार रूप प्रदान करने के उद्देश्य से उस विशालता में सौन्दर्य का और समावेश कर कला की अपूर्व कृतियों का निर्माण किया। प्रतिमाओं के ये समूह दुर्ग के विभिन्न अंचलों में बने हैं जो गुहा मन्दिरों के नाम से जाने जाते हैं। ये असंख्य छोटे-बड़े मन्दिर संख्या और आकार की दृष्टि से उत्तर भारत में अद्वितीय हैं। मूर्तिकला और मन्दिर स्थापत्य दोनों में अद्भुत सामंजस्य स्थापित है। सबसे

29. देखो जनरल एशियाटिक सोसाइटी, भाग 31, पृ. 423 गोपाचल दुर्ग तोमरवंशे राजा श्री गणपति देवास्त पुत्रों महाराजाधिराज श्री डूंगरसिंह राज्ये (प्रतिष्ठित) चौरासी मथुरा की मूलनायक मूर्ति का लेख।
30. कवि रईधु—श्रीपाल चरित्र
31. समयसार लिपि, प्र० शास्त्र मन्डार, कारंजा।

प्रमुख विशेषता यह है कि इनका निर्माण राजाओं ने नहीं बरन् तत्कालीन जैन व्यापारियों व अन्य श्रावकों ने करवाया। अनेक जैन महिलाओं ने भी इसके निर्माण के लिये दान दिये थे। इस कार्य में हजारों शिल्पकारों ने भाग लिया, जिनके कुशल हाथों ने लगभग डेढ़ मील लम्बे गोपाचल दुर्ग को उत्कीर्ण करने योग्य कोई कोना शेष नहीं छोड़ा। इन सारी प्रतिमाओं को 5 समूहों में विभाजित किया जा सकता है।

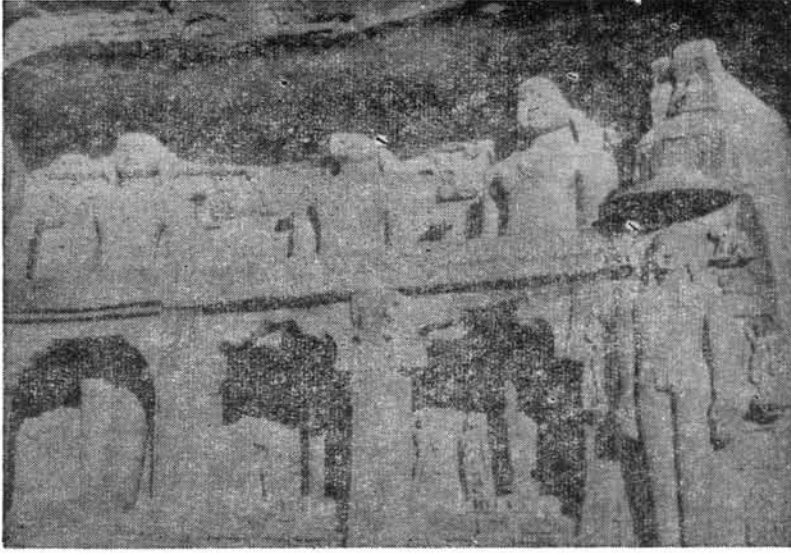
(1) उरवाही समूह:—उरवाई द्वार पर कुल 22 जैन मूर्तियाँ हैं। इनमें से 6 मूर्तियों पर सं. 1497 (सन् 1440 ई.) से सं. 1510 (सन् 1453 ई.) के अभिलेख खुदे हैं। इनमें 20 नम्बर की आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है। बाबर ने अपने “बाबरनामा” में इसकी ऊँचाई 20 गज अनुमान की थी। परन्तु

वास्तव में यह 57 फुट ऊँची है। इसकी चरण चौकी पर सं. 1497 लिखा है। वर्तमान में इसके नीचे का कुछ भाग मिट्टी में दब गया है। यह चरणों के पास 9 फुट चौड़ी है। यहीं 22 नम्बर की नेमिनाथ की पदमासन मूर्ति है। जो 30 फुट ऊँची है। नेमिनाथ की इतनी विशाल मूर्ति शायद ही अन्यत्र कहीं हो।

(2) दक्षिण पश्चिम समूह:—यह खंभा ताल के नीचे उरवाई द्वार की बाहर की शिला पर है। इसमें 5 मूर्तियाँ हैं। 1 नम्बर के प्रतिमा समूह में एक स्त्री, पुरुष तथा बालक की मूर्तियाँ हैं। 2 नम्बर में एक 8 फुट लम्बी लेटी हुई स्त्री की प्रतिमा है जो 8 फुट लम्बी है। इस पर ओष किया हुआ है। प्रारम्भ में कुछ लोग इसे बुद्ध भगवान की मूर्ति बताते थे। परन्तु विशेष शोध करने के पश्चात् इतिहासकार इसी निष्कर्ष पर



(ग्वालियर दुर्ग पर उत्थित पदमासस मुद्रा में विशाल जैन प्रतिमा)



एक पत्थर की बावड़ी पर स्थित गुहा मन्दिर में उत्खनित विशाल जैन प्रतिमाओं के समूह का एक दृष्टि)

पहुँचे कि ये जैन मूर्तियाँ हैं। संभवतया यह त्रिशला माता तथा महावीर की मूर्ति है। कला की दृष्टि से इन मूर्तियों का विशेष महत्व नहीं है।

(3) उत्तर पश्चिम समूह :— इसमें आदिनाथ की एक महत्त्वपूर्ण मूर्ति बनी है जिस पर सं. 1527 का अभिलेख अंकित है। यह विशेष कलात्मक नहीं है।

(4) उत्तर पूर्व समूह :— इसमें भी छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं और उन पर भी कोई लेख न होने से ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखती हैं। कला की दृष्टि से भी उनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

(5) दक्षिण पूर्व समूह :— इस समूह की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये मूर्तियाँ फूलबाग के दरवाजे से निकलते ही लगभग आधे मील के क्षेत्र में खुदी हुई दिखाई देती हैं। अन्य मूर्तियों की अपेक्षा कुछ बाद में बनने के कारण ये अभ्यस्त हाथों द्वारा निर्मित होने के कारण इनमें अंगों के अनुपात और सौष्ठव में कहीं न्यूनता नहीं दिखाई देती। इनमें कला का रूप निखर उठा है।

इस समूह में लगभग 20 प्रतिमायें 20 से 30 फुट तक की ऊँचाई की और लगभग इतनी ही 8 से 15 फुट तक की ऊँचाई लिये हुये हैं। इसमें आदिनाथ, नेमिनाथ, पद्मप्रभु, चन्द्रप्रभु, संभवनाथ, कुन्तनाथ, और महावीर आदि की मूर्तियाँ हैं। इनमें कुछ एक मूर्तियों पर 1525 से 1530 तक के अभिलेख खुदे हुये हैं।

इन समूहों में तीर्थंकरों के अतिरिक्त अंबिका, यक्ष, यक्षिणी तथा विभिन्न प्रतीक भी उत्कीर्ण किये गए हैं। इनके अतिरिक्त तेली की लाट के पास तथा गूजरी महल संग्रहालय में रखी प्रतिमायें भी अधिकतर इनकी समकालीन प्रतीत होती हैं। इससे प्रतीत होता है कि उपरोक्त समूहों के अतिरिक्त अन्य प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ था।

ग्रन्थ निर्माण-मूर्ति प्रतिष्ठापन :—

इनके शासनकाल में ही कुशा साह जी जैसवाल वंशज ने गोपाचल पहाड़ी के बाहरी तरफ कुछ गुफाओं में मूर्तियाँ खुदवाई तथा मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठापन

करवाई जिसमें करोड़ों रुपये व्यय हुये। एक अन्य अग्र-वाल वंशज भोयल गोत्री खल्हा नामक जैन सज्जन ने भी गोपाचल के बाहरी ओर गुफा मन्दिर बनवाकर आचार्य महीचन्द्रजी महाराज द्वारा प्रतिष्ठा करवाई। इसमें भी करोड़ों रुपये व्यय हुये। सं. 1515 में बाबड़ी की ओर गोतालारे वंशज कुमुद चन्द्र ने पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई जिसमें सिंहकीर्ति नामक भट्टारक ने भी भाग लिया।

सं. 1521 में ग्वालियर के जैसवाल कुल भूषण उल्हा साहू के नेष्ठ पुत्र साहू पदमसिंह ने अपनी चंचल लक्ष्मी का उपयोग करने के लिये 24 जिनालयों का निर्माण करवाया तथा एक लाख ग्रन्थ लिखवाकर मेट किये।³² इनके राज्यकाल में जैन साहित्य रचना का भी कार्य हुआ। कविवर रईधू ने इनके राज्य काल में “सम्यक्त्व कौमुदी” तथा “श्रावकाचार” की रचना की।

उपरोक्त मन्दिरों में से कुछेक समाप्त हो गये हैं और कुछ का जीर्णोद्धार होकर नये मन्दिर बन गये हैं जो अभी भी ग्वालियर में अपने परिवर्तित रूप में स्थित हैं। साहित्य का अधिकतर भाग नष्ट हो गया है, बहुत कम ही शेष है।

सं. 1521 में “ज्ञानार्णव” नामक ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि लिपिबद्ध की गई।³³ भ. गुणभद्र ने भी ग्वालियर निवासी जैन श्रावकों की प्रेरणा से अनेकों कथाओं की रचना की।

कीर्तिसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र कल्याण-मल (मल्लसिंह) ने शासन की बागडोर संभाली। इन्होंने सं. 1481 ई. से 1486 ई. तक ही शासन किया। इनके समय में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। संभवतः अपने शासनकाल के 7 वर्षों में इन्होंने कीर्तिसिंह के उन कार्यों को, जो अधूरे थे, पूर्ण किया। इनका काल बहुत शान्तिपूर्वक बीता। इनके काल का सं. 1552 का केवल एक ही मूर्तिलेख उपलब्ध है।³⁴

सन् 1486 ई. में कल्याणमल की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र मानसिंह गद्दी पर बैठा। यह राजा, बड़ा प्रतापी, संगीत प्रेमी और कला प्रेमी था और जिस किसी प्रकार से अपने पूर्वजों द्वारा संरक्षित एवं संवर्धित राज्य को स्वतंत्र रखने में समर्थ हो चुका था।³⁵ इसे अपने शासनकाल में अनेकों बार बहूलोल लोदी और उसकी मृत्यु पर उसके पुत्र सिकन्दर लोदी से लोहा लेना पड़ा। इसने संगीत और कला को अपना संरक्षण प्रदान किया। इसके काल में यहाँ एक संगीत विद्यालय भी था। सुप्रसिद्ध गायक तानसेन ने इसी

32. विज्जुल चंचलु लच्छीसहाउ, आलोइविहुउ जिणधम्ममाउ।

जिण गंधु लिहावउ लक्खु एकु, सावय लक्खा हारीति रिक्खु।

मुणि भोजन भुंजाविय सहासु, चउवीस जिणालउ किउ सुमासु — जैन ग्रन्थ प्रशस्ति, जैन ग्रन्थ प्रशसित सं०, पृ० 144 बाराबंकी शास्त्र भंडार।

33. यह ग्रन्थ जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध है।

34. जैन लेख संग्रह — पूर्णचन्द्र नाहर भाग 2।

35. एक सोबनकी लंका जिसि, तो बरू राउ सबल बरवीर। भुपत्रल आयु जु साहस धीर, मानसिंह जग जानिये। ताके राज सुखी लोग, राज समान करहि दिनभोष। जैनधर्म बहुविधि चले, श्रावगदिन जु करें षट् कर्म।

—नमीश्वर गीत

विद्यालय में संगीत शिक्षा ग्रहण की थी। इसके द्वारा बनवाया गया महल मान रन्दिर (चित्र महल) हिन्दू स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है। बाबर ने भी इस महल की कारीगरी की प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त इसने मृगनयनी गूजरी के लिये गूजरी महल बनवाया। छुपद गीतों का आविष्कार भी सर्वप्रथम महाराजा मानसिंह द्वारा ही हुआ। इन्होंने “मान कुतुहल” के नाम से एक संगीत ग्रन्थ की रचना की। परन्तु इन सबके बावजूद इसके शासनकाल में इसके द्वारा किसी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार को प्रश्रय नहीं दिया जाने से, इस समय तक उपलब्ध अपभ्रंश की रचनाओं की परम्परा समाप्त हो गई जिसके कारण आज अन्य अनेकों तथ्य अँवरे के गर्त में डूब गये हैं।

महाराजा मानसिंह के काल का सन् 1495 ई. का एक शिलालेख अवश्य ग्वालियर गढ़ की एक जैन प्रतिमा की चरण चौकी पर मिला था,³⁶ जिससे हम प्रदेश की जैन धर्म की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसकी प्रथम तीन पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं।

श्रीमद्गोपाचलगढ़ दुर्गे महाराजाधिराज
श्री मल्लसिंहदेव विजयराज्ये प्रवर्त्तमाने। संवत् 1552
वर्षे ज्येष्ठ सुदि 9 सोमवासरे श्री मूलसंधे वलत्करगणे
सरस्वतीगच्छे। कुंदकुंदाचार्यान्विये। भ. श्री पद्म-
नन्दिदेव तत् पट्टालंकार श्री शुभचन्द्र देव। तत्पट्टे
भ. मणिचन्द्र देव। तत्पट्टे पं. मुनि गणि कचर
देव तदन्वये बारह श्रेणी वंशे सालम भार्या व

उक्त शिलालेख से प्रकट होता है कि मानसिंह के काल में भी कुछ जैन प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई थीं। उक्त प्रतिमा की स्थापना सरस्वती गच्छ के भट्टारकों ने कराई थी।

भट्टारक मणिचन्द्र देव के पश्चात् जो मुनि हुए उनका नाम उक्त शिलालेख में नहीं पढ़ा जा सका, तथापि उन्हें भट्टारक के स्थान पर मुनि कहने से प्रकट होता है कि मूलसंध की इस शाखा का मूल पट्ट ग्वालियर के बाहर कहीं स्थापित हो गया था।³⁷

प्राचीन साहित्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि महाराजा इंगरसिंह एवं कीर्तिसिंह के राज्यकाल में समादृत जैन साधुओं एवं भट्टारकों के प्रति उनका व्यवहार कैसा था तथापि इस बात की संभावना कम ही है कि संगीत, भवन निर्माण, कला को संरक्षण देने-वाले तथा युद्धों में व्यस्त महाराजा धार्मिक विवेचन के लिये समय दे सके होंगे। साहित्यिक प्रमाणों के अभाव में इनके काल के संबंध में कोई शोध-कार्य नहीं हो पाया है। फिर भी एक-दो उल्लेख मिलते हैं जिनके अनुसार सन् 1501 में चैत्र सुदी 10 सोमवार के दिन काष्ठासंध नदिगच्छ विद्यागण के भट्टारक सोमकीर्त और भ. विजयकीर्ति के शिष्य ब्रह्मकाला द्वारा गोपाचल दुर्ग में आत्म पठनार्थ अमर कीर्ति के “षट्कर्मोपदेश” की प्रति लिखवाए जाने का उल्लेख मिलता है।³⁸ इसके अतिरिक्त सन् 1512 में गोपाचल में श्रावक सिरीमल के पुत्र चतरू ने 44 पद्यों के “नेमीश्वर गीत” की रचना

36. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० 341, पूर्णचन्द्र नाहर, जैन अभिलेख—भाग 2, क्र० 1429।

37. ग्वालियर के तोमर—हरिहर निवास द्विवेदी, प्र० 1।

38. अथ नृसति विक्रमादित्य संवत् 1558 वर्ष चैत्र सुदी 10 सोमवासरे अश्लेषा नक्षत्रे गोपाचलगढ़ दुर्ग महाराजाधिराज श्री मानसिंह राज्ये प्रवर्त्तमाने श्री काष्ठासंधे नदिगच्छे विद्यागणे भ० श्री सोमकीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० श्री विजयसेन देवास्तत् शिष्य ब्रह्मकाला इव षट्कर्मोपदेशशास्त्र लिखाप्ये आत्मपठनार्थ।

की। इसमें जैनियों के 23 वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-परिचय अंकित है।³⁹

उधर सिकंदर लोदी की मृत्यु के पश्चात् इब्राहीम लोदी ने शासन सँभालते ही अपने पूर्वजों की महत्वाकांक्षा को साकार करने के उद्देश्य से ग्वालियर दुर्ग पर पुनः आक्रमण कर दिया। इसी बीच सन् 1519 ई. में महाराजा मानसिंह की मृत्यु हो गई और तलवारों की छाया में उनके पुत्र विक्रमादित्य गद्दी पर बैठे। उनके नेतृत्व में राजपूत जी तोड़कर लड़े पर अपने से अनुपात में कई गुनी लोदियों की सेना पर विजय न पा सके और लोदियों के सेनापति हुमायूँ से सन्धि करना पड़ी। वे अब शमसाबाद के एक जागीरदार मात्र रह गए और उन्हें लोदियों की ओर से पानीपत में बाबर के विरुद्ध युद्ध करने भेजा गया। इस बीच तैमूर बंश के एक दूसरे तेजस्वी राजकुमार रामसिंह तोमर ने ग्वालियर दुर्ग पर आक्रमण कर किले के अफगान अधिकारी तातार खाँ को परास्त कर दुर्ग पर अपने झण्डे गाड़ दिये।

लगभग इसी काल में सन् 1523 ई. के आसपास कभी शेख मोहम्मद गौस नामक फक्कड़ साधू गाजीपुर (मूलनाम कुमारगढ़) से ग्वालियर आ बसे। वे आकर चन्द्रप्रभू के मन्दिर में ठहरे। यह चन्द्रप्रभू का मन्दिर वही विशाल जैन मन्दिर था जिसे बीरमदेव तोमर के मंत्री कुशराज ने बनवाया था।⁴⁰ यह मन्दिर आजम हुमायूँ के आक्रमण के समय (सन् 1518-23) क्षतिग्रस्त कर दिया गया था। शेख गौस ने इसी में अपनी खानकाह बनाई और आज वहीं उसका मजार बना है।

इन पंक्तियों के लेखक ने सन् 1669 में प्रकाशित ग्वालियर जैन डायरेक्टरी में अपने एक लेख “अतीत की ओर एक दृष्टि” में इतिहासकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था, और बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि सन् 1976 में प्रकाशित श्री हरिहर निवास जी द्विवेदी की पुस्तक “ग्वालियर के तोमर” में इस सम्बन्ध में उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाण एवं तथ्य उजागर हुए हैं। इस सम्बन्ध में खड्गराय की पुस्तक “गोपाचल आख्यान” में वर्णित सूत्र पर्याप्त प्रकाश डालता है :—

जो विधिना विधि आपनु करै, सोई होई न टारी टरै ।
देखो विधना को संजोग, जनमें कहुँ कहुँ रहै लोग ॥
पूरव गाजीपुर को ठाऊ, कुमरगढ़ा ताको रहि नाऊ ।
मोहम्मद गौस जहां ते आई, रहे ग्वालियर में सुख पाइ ॥

विधिना विधि ऐसे छई, सोई भई जु आई ।

चन्द्रप्रभू के थोहरें, रहे गौस सुख पाई ॥⁴¹

इस बीच तातार खाँ दुर्ग में ही छिपा रहा और जंसे ही बाबर दिल्ली का मन्नाट बना, तातार खाँ ने उसे गुप्त संदेश भेजकर उससे सहायता प्राप्त की और मोहम्मद गौस साहब की कृपा से ख्वाजा रहीम और शेख गोरन के नेतृत्व में विशाल सेना से दुर्ग पर आक्रमण कर, उसे अपने आधिपत्य में ले लिया और महाराजा रामसिंह तोमर मेवाड़ की ओर भाग गये। इस प्रकार सन् 1559 में दुर्ग पुनः मुगलों के हाथ में चला गया। उधर विक्रमादित्य पानीपत युद्ध में वीरगति पा गये। इसी के साथ ही तोमर बंश का सूर्य सदा के लिये अस्त हो गया। इसके साथ-साथ ही धार्मिक, साहित्यिक एवं

39. यह ग्रन्थ अभी आमेर भण्डार में सुरक्षित है।

संवत पन्द्रह सौ छे गमें, गुनहत्तर ताऊपर भने
भादों बदि पंचमीवार, सोम नषितु रेवती सार ॥

40. ग्वालियर के तोमर—हरिहरनिवास द्विवेदी पृ० 63।

41. पूर्वोक्त, पृ० 203—4।

कलात्मक गतिविधियाँ समाप्त हो गईं। विक्रमादित्य का परिवार अब हुमायूँ के अधीन हो गया। उसकी सद्भावना पाने के उद्देश्य से उन्होंने तैयारों द्वारा मांझ के सुल्तानों पर प्राप्त विजय की निशानी रत्नों का सरताज (कोहिनूर) नामक विश्वप्रसिद्ध हीरा हुमायूँ को भेंट कर दिया।

मुगलों का पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद जब बादशाह बाबर स्वयं ग्वालियर आया तब इस दुर्ग का अवलोकन करते समय सन् 1527 में उसकी कुदृष्टि दुर्ग पर स्थित जैन मूर्तियों पर भी पड़ी।

बाबर ने “बाबरनामा” में अपनी ग्वालियर यात्रा (28 सितम्बर 1528 ई.) का वर्णन करते हुए लिखा है:—⁴²

इस बाहरी दीवार के नीचे तथा बाहर एक बहुत बड़ी झील है। यह (कभी-कभी) इतनी सूख जाती है कि झील नहीं रह पाती। इसमें से आब (बुन्द जल संग्रह) में जल जाता है। उरवा के भीतर दो अन्य झीलें हैं। किले के निवासी इनके जल को सबसे अधिक उत्तम समझते हैं।

उरवा के तीन ओर ठोस चट्टानें हैं। इनका रंग बयाना की ठोस चट्टानों के समान नहीं है, अपितु फीका-फीका है। इन दिशाओं में लोगों ने पत्थर की मूर्तियाँ कटवा रखी हैं। वे छोटी-बड़ी सभी प्रकार की हैं। एक बहुत बड़ी मूर्ति, जो कि दक्षिण की ओर है, सम्भवतः 20 कारी ऊँची होगी। यह मूर्तियाँ पूर्णतः नग्न हैं और गुप्त अंग भी ढके हुए नहीं हैं। उरवा की इन दोनों बड़ी झीलों के चारों ओर 20-30 कूँए भी खुदे हैं। इनके जल से तरकारियाँ, फूल तथा वृक्ष लगाए जाते हैं।

उरवा बुरा स्थान नहीं है। यह बन्द स्थान है। मूर्तियाँ ही इस स्थान का सबसे बड़ा देव है। मैंने उनके नष्ट करने का आदेश दे दिया।

उरवा से निकलकर हम पुनः किले में प्रविष्ट हुए। हमने सुल्तानी पुल की खिड़की से सैर की। यह काफ़िरोँ के समय से अभी तक बन्द रही होगी। हम लोग सायंकाल की नमाज के समय रहीमदाद के बगीचे में पहुँचे। वहीं ठहर कर हम सो गए। हम लोगों ने इस बगीचे से प्रस्थान करके ग्वालियर के मन्दिरों की सैर की। कुछ मन्दिरों में दो-दो और कुछ में तीन-तीन मंजिलें थीं। प्रत्येक मंजिल प्राचीन प्रधानुसार नीची-नीची थीं। उनके पत्थर के स्तम्भ के नीचे की चौकी पर पत्थर की मूर्तियाँ रखी थीं। कुछ मन्दिर मदरसों के समान थे। उनमें दालान तथा ऊँचे गुम्बज एवं मदरसों के कमरों के समान कमरे थे। प्रत्येक कमरे के ऊपर पत्थर के तराशे हुए सकरे गुम्बज थे। नीचे की कोठरियों में चट्टान से तराशी हुई मूर्तियाँ थीं, ज्ञात होता है कि ये आजन हुमायूँ के चेरे के समय अपूज्य और भूष्ट कर दिये गए थे; और फिर बाबर के वंशजों के अधिकारियों ने इन्हें तुड़वा दिया।

एक जनश्रुति के अनुसार कहा जाता है कि एक रात्रि को वह और उसके सैनिक इतने विशाल आकार की दिगम्बर जैन मूर्तियों को देखकर चकित एवं भयभीत हो गये। उसके क्रोध की सीमा न रही। वह जैन धर्म से इतना क्रुद्ध हुआ कि अगले दिवस ही उसने अपनी सेना को दुर्ग पर स्थित सभी मूर्तियों को समूल रूप से नष्ट कर देने का आदेश प्रदान किया परन्तु यह कोई आसान कार्य नहीं था अतः मुगल सैनिक प्रतिमाओं को समूल रूप से नष्ट न कर सके, उन्हें खण्डित कर गये। और इस प्रकार कुशल कारीगरों की 33

वर्षों के कठिन परिश्रम से बनी मूर्तियों के सौन्दर्य को कुछ ही दिवसों में नष्ट कर दिया गया। क्रूर बाबर ने इस कृत्य का अपनी आत्मकथा (बाबरनामा) में बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है। इस प्रकार यदि सब पृष्ठा जाये तो इस सारी घटना में जैन ही उसके सर्वाधिक कोपभाजन रहे। इस थोड़े काल में उसने दुर्ग पर स्थित इन मूर्तियों को ध्वस्त करने के अतिरिक्त नगरों में स्थित मन्दिरों को भी ध्वस्त किया, जहाँ उनको यह संभव न दिखा वहाँ मूर्तियों और वेदियों को ही नष्ट कर अपनी सन्तुष्टि कर ली।

परन्तु बाबर भी अधिक काल तक इस दुर्ग को उपभोग न कर सका और सन् 1540 में यह दुर्ग मुगलों के हाथ से निकलकर शेरशाह सूरी के हाथों में आ गया। उन्होंने इसे राजधानी के रूप में प्रयोग किया। और यहाँ से वे शेष राज्य पर शासन करते रहे। सन् 1559 ई. में अकबर ने सूरी वंश को नष्टकर ग्वालियर को अपने अधिकार में ले लिया।

इस बीच शेख मोहम्मद गौस ग्वालियर में महत्वपूर्ण व्यक्ति बने रहे। ग्वालियर दुर्ग पर मुगल राजाओं का अधिकार कराने और हर संकट के समय उन्हें मार्गदर्शन व सहायता प्रदान कर उनके राज्य को स्थायी बनाने में शेख गौस ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। इस कारण विभिन्न मुगल शासकों बाबर, हुमायूँ और अकबर की नजर में वे सदैव सम्माननीय व्यक्ति बने रहे। ग्वालियर दुर्ग पर नियुक्त मुगल अधिकारी भी उनसे अत्याधिक प्रभावित रहे। हिजरी सन् 970 (सोमवार 10 मई 1563 ई.) को आगरा में शेख मोहम्मद गौस की मृत्यु हो गई। उनका शव ग्वालियर लाया गया।

चन्द्रप्रभू के मन्दिर में जहाँ शेख की खानकाह थी उन्हें दफना दिया गया; और वहीं उतका मकबरा बना दिया गया।⁴³

उसके बाद लगभग 200 वर्षों तक ग्वालियर पर मुगलों का ही अधिकार रहा। इस कार्यकाल में दुर्ग का प्रयोग केवल बंदी गृह के रूप में ही किया गया मुगल शासकों द्वारा अनेकों ऐसे शहजादे, जागीरदार, बड़े सरदार तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति जिन्हें जनता के समक्ष मृत्यु दण्ड देना अहितकर प्रतीत होता था, इस दुर्ग में लाये जाने लगे। यहाँ उन्हें या तो मन्द जहर दे दिया जाता था या ऐसी यातनायें दी जाती थीं जिनसे वह पागल होकर स्वयं प्राणान्त कर लेते थे। इस तरह विभिन्न क्षेत्रों से लाये गये राज विद्रोही हाथी पोल से चढ़ाकर किले में लाये जाते थे और फिर वे संसार के दर्शन करने के लिये कभी नहीं लौटते थे।

अकबर की मृत्यु के बाद जब जहांगीर दिल्ली के तख्त पर बैठा तब यह दुर्ग उसके अधिकार में आ गया। उसने लिखा है कि तख्त पर बैठने के अवसर पर उसने मुगल साम्राज्य के समस्त कैदियों को बन्दीगृह से मुक्त करने की आज्ञा दी। उस समय ग्वालियर दुर्ग से 7 हजार कैदी छोड़े गये। उनमें कई लोगों की आयु 40 वर्ष के लगभग थी। परन्तु बाद में बादशाह जहांगीर ने भी इस दुर्ग को बन्दीगृह के रूप में ही प्रयोग किया।

जहांगीर के ही शासनकाल में एक बार भट्टारक ब्रज-भूषण के शिष्य पदमावती पुरवाल वंशज, टापू निवासी श्री ब्रह्मगुलाल जी मुनि होने के बाद भ्रमण करते हुये ग्वालियर भी पधारे।⁴⁴ मुनि के साथ-साथ वे कवि भी थे। सन् 1618 ई. में इन्होंने यहाँ पर "त्रेपन क्रिया"

43. ग्वालियर के तोमर, हरिहर निवास द्विवेदी पृ. 209।

44. अगरचन्द नाहटा—मध्य प्रदेश के कवि "ब्रह्मगुलाल"
मध्यभारत सदेश, 31 दिसम्बर 1955

नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें श्रावकों की त्रेपन क्रियाओं का सरल व सुन्दर भाषा में वर्णन किया गया है। इसके अन्त में वे लिखते हैं कि —

ए त्रेपन विधि करहु किया भव पाप समूहन चूरे हो।
सोरह से पैंसठि समच्छर कालिक तीज अन्धियारी हो।
भट्टारक जगभूषण चेला ब्रह्मगुलाल विचारी हो॥
ब्रह्मगुलाल विचारि बनाई गढ़ गोपाचल थाने।
छत्रपति चहु चक्र विराजे साहे सलेम मुग लाने॥ १॥

जहांगीर के बाद औरंगजेब उसका उत्तराधिकारी बना। उसने भी इस दुर्ग को बन्दीगृह के रूप में प्रयोग किया। अपने भाई मुराद को उसने इसी दुर्ग में बन्दी बनाया था। दारा के पुत्र सुलेमान शिको: को भी इसी दुर्ग में कैद रखा गया। अपने पुत्र सुलतान मुहम्मद को भी औरंगजेब ने यहीं कैद रखा। मुराद को फांसी भी इसी दुर्ग में दी गई। इन सब कारणों से ग्वालियर का किला मृत्यु का द्वार कहा जाने लगा।

इस प्रकार दो शताब्दियों के इस काल में ग्वालियर दुर्ग बन्दी घर के रूप में ही प्रयुक्त होता रहा। नगर क्षेत्र तथा उसके विकास के ऊपर कोई ध्यान नहीं दिया गया और बादशाह के द्वारा नियुक्त नुमायन्दे ही राज्य की देखभाल करते रहे। इस काल में जैनियों की दशा के बारे में कुछ भी लेख आदि नहीं मिलते हैं। संभवतः इस काल में शासन की विरोधी नीति के कारण जैनियों की क्या, भारतीय मूलों के सभी धर्मों की दशा अच्छी नहीं थी। इस काल में अनेकों हिन्दू, शासकों के कृपा पात्र बनने के उद्देश्य से या तो स्वयं-मुसलमान हो गये या जबरदस्ती मुसलमान धर्म में दीक्षित कर दिये गये। शासकों द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता का खुलकर हनन किया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय संरक्षण समाप्त होना और धर्म पालन पर प्रतिबन्ध ही इसके मूल कारण रहे।

तथापि इतने सबके बावजूद भी जैन धर्मावलम्बियों की गतिविधियाँ पूर्णतः समाप्त न की जा सकीं। यदा-

कदा अवसर प्राप्त होने पर जैन धर्मावलम्बी अपनी धार्मिक गतिविधियों को संचालित करते रहे। दौलतगंज में बना हुआ पार्श्वनाथ मन्दिर लगभग इसी काल में निर्मित हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य किसी मन्दिर आदि के निर्माण के संबंध में कोई विवरण प्राप्त नहीं है।

इधर 18वीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध के प्रारंभ से ही मराठे लोग अत्याधिक शक्तिशाली हो उठे और दिल्ली तक हमले करने लगे। बाजीराव पेशवा ने राणोजी सिन्धिया को मालवा राज्य की कमान सौंप दी। उन्होंने उत्तर भारत में राज्य विस्तार करने का अभियान प्रारंभ कर दिया। और ग्वालियर को इसका केन्द्र बनाया। राणोजी की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र जयप्पा और माधोजी ने उनका कार्यभार संभाला। इसी बीच सन् 1761 में पानीपत में युद्ध विभीषिका प्रवर्तित हो उठी और भारत भर में विभिन्न पक्षों के वीरों की तलवारें खिंच गईं। माधव जी इगमें घायल हो गये। इस बीच भरतपुर के जाटों ने लोकेन्द्र सिंह के चाचा के नेतृत्व में दुर्ग पर अधिकार कर लिया। उधर उत्तर भारत का और भी तमाम भाग मराठों के हाथ से निकल चुका था। पर शीघ्र ही पानीपत से लौटकर मराठा वीरों ने महादजी के नेतृत्व में पुनः उत्तर भारत में विजय अभियान प्रारंभ कर दिया और ग्वालियर दुर्ग को अपने अधिकार में ले लिया। इन्होंने इसे फौजी केन्द्र के रूप में प्रयोग करने के उद्देश्य से ग्वालियर दुर्ग के दक्षिण में 1 लाख सैनिकों की बड़ी फौजी छावनी का कैंप लगाया और इसे लश्कर नाम दिया।

युद्ध के इस बातावरण के मध्य भी धार्मिक गति-विधियाँ यदाकदा संचालित होती रहीं। सन् 1768 के लगभग सेठ मथुरादास लक्ष्मीचन्द्र जी अग्रवाल द्वारा लश्कर क्षेत्र में अत्यन्त भव्य एवं कलात्मक श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर पुरानी सहेली का निर्माण कराया गया। इस काल में ही एक अन्य भव्य एवं कलात्मक मन्दिर श्री दिगम्बर जैन मन्दिर चम्पाबाग का निर्माण कार्य

सम्पन्न हुआ। ये दोनों मन्दिर वर्तमान में ग्वालियर में उपलब्ध जैन मन्दिरों में कलात्मक दृष्टि से अद्वितीय हैं।

इन दिनों ग्वालियर में महादजी का अधिकार था। उन्होंने उज्जैन को अपनी राजधानी के रूप में प्रयोग किया। यह बड़े प्रतापी शासक थे। इनका सारा जीवन युद्धों में बीता। जिसमें इन्होंने उत्तर में एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया और यह कलकत्ते के समान एक महत्वपूर्ण स्थान बन गया। दिल्ली के शासक भी इसके आश्रय को उत्सुक रहते थे। वारेन हेस्टिंग्स इस बढ़ती शक्ति को सहन न कर सका और 3 अगस्त सन् 1760 को आधी रात के समय किले की पश्चिमी दीवार से चढ़कर उसने अपनी फौजों को दुर्ग में प्रविष्ट करा दिया। दुर्ग का यह भाग अभी भी फिरंगी पहाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार दुर्ग अंग्रेजों के हाथ में चला गया। 13 अक्टूबर सन् 1781 को पुनः एक सन्धि में यह दुर्ग राणा लोकेन्द्र सिंह को मिला।

लगभग इसी काल में ग्वालियर नगर में “जती जी के मन्दिर” के नाम से जाने वाले मन्दिर का निर्माण हुआ। इससे प्रतीत होता है कि अशान्ति के इस वातावरण में भी मन्दिरों आदि का निर्माण कार्य होता रहता था।

सन् 1783 में सिन्धिया शासकों ने अंग्रेजों की मदद प्राप्त कर एक पहरदार की सहायता से इस दुर्ग में पुनः प्रवेश किया। राणा को मालूम पड़ते ही उसने गुलामी से बचने के लिये आत्महत्या कर ली। इस बीच महादजी ने लश्कर नामक फौजी छावनी के पास एक बाड़ा कचहरी भी स्थापित की। जिसमें वे युद्धों से अवकाश निकालकर प्रशासन एवं न्याय का कार्य देखते थे।

वे दक्षिण के राज्य को भी इसी राज्य में मिलाकर एक बड़ा हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसी बीच 12 फरवरी सन् 1794 ई. को पूना से 2 कोस

दूर स्थित बानोड़ी नामक ग्राम में इनका देहान्त हो गया।

इनके कोई पुत्र न था अतः इनकी मृत्यु के पश्चात् तुकोजीराव के 14 वर्षीय पुत्र आनंदराव इनके उत्तराधिकारी बनाये गये और उनका नाम दौलतराव रखा गया। कार्यभार सँभालने के एक वर्ष बाद ही इन्हें निजाम से युद्ध करना पड़ा जिसमें वे विजयी हुये और इन्हें करोड़ों रुपयों का लाभ हुआ। इसके बाद वे अन्य राजाओं के सहयोग से कार्य चलाते रहे। किन्तु इन्हीं दिनों उत्तर भारत में फिर से अशान्ति फैल गई। अतः महाराजा दौलतराव पूना से उत्तर भारत की ओर आये। रास्ते में इन्होंने इन्दौर के होल्कर राजा को परास्त कर उनके राज्य को खूब लूटा। परन्तु अन्त में आपको अंग्रेजों से युद्ध करना पड़ा। इस लड़ाई में दक्षिण भारत में स्थित अहमदनगर, और अशीदगढ़ के बड़े-बड़े किले इनके हाथ से निकल गये। इधर उत्तर भारत में भी लार्ड लेक ने धावा बोल दिया। जिसमें दिल्ली, अलीगढ़, मथुरा और आगरा के इलाके इनके हाथ से जाते रहे। सन् 1802 में ग्वालियर दुर्ग भी इनके हाथ से चला गया। इनके अधिकांश सैनिक युद्ध में काम आ चुके थे। और कोई रास्ता न देखकर इन्हें सन् 1805 में मजबूरी में अंग्रेजों से सन्धि करनी पड़ी जिसमें इन्हें ग्वालियर और आसपास का क्षेत्र वापिस कर दिया गया। सन् 1812 में इन्होंने अपने पिताजी द्वारा स्थापित फौजी कैम्पवाले मैदान लश्कर पर पुनः छावनी डाली। सन् 1812 में यहां नगर बसाकर इसी को ग्वालियर राज्य की राजधानी बनाया तथा इसका नाम लश्कर ही रखा।

कहा जाता है कि इसी फौजी छावनी में एक जैन ओवरसियर भी कार्य करते थे। जब मुरार में छावनी स्थापित की गई तो वे वहाँ रहने लगे। इनकी माँ बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति की थीं तथा नित्यप्रति दर्शन करने के पश्चात् ही अन्न ग्रहण करती थीं। मुरार में मन्दिर न होने के कारण उन्हें बड़ी परेशानी होती थी और दर्शन

करने के लिये उन्हें वड़ागांव जाना पड़ता था। अतः उन्होंने अपने पुत्र से मुरार में एक मन्दिर स्थापित करने को कहा। पुत्र ने अपनी माँ की सुविधा की दृष्टि से मुरार में एक कमरे के अन्दर मूर्ति प्रतिष्ठा कराकर मन्दिर की स्थापना की। जो आज अपने बड़े रूप में बना हुआ है। लश्कर में कसेरा ओली में स्थित राजा जी का चैत्यालय भी इसी काल का बना हुआ है।

इस प्रकार इस काल में महाराजा दीलतराव अँग्रेजों के सहयोग से राज्य कार्य चलाते रहे। सन् 1827 में इनका स्वर्गवास हो गया। इनके पश्चात् उनकी प्रिय पत्नी ने एक 11 वर्षीय नावालिग लड़के को गोद लिया और उसका नाम जनकोजीराव रखा। उनके युवा होने तक महारानी ने ही राज्य संचालन का कार्य किया। युवा होने पर उन्होंने स्वयं शासन का भार संभाल लिया इनके काल में कोई विशेष घटना घटित नहीं हुई। दिनांक 7 फरवरी 1843 ई. को अल्पायु में ही इनका स्वर्गवास हो गया।

नया बाजार लश्कर में स्थित दिगम्बरजैन मन्दिर और ग्वालियर नगर में स्थित गोकुलचन्द्र का मन्दिर इन्हीं के काल में निर्मित हुये थे।

महाराजा जनकोजीराव के कौलाशवासी होने पर महारानी ताराबाई ने उनका पुत्र नहोने के कारण एक 8 वर्षीय बालक को गोद लिया। उनका नाम जीवाजीराव सिंधिया रखा गया। महाराजा की नावालिगी में कौन प्रबन्ध करे इस विषय को लेकर सरदारों में खूब झगड़े हुये। अँग्रेजों ने मौके का फायदा उठाकर सन् 1845 में एक 6 सदस्यीय कौंसिल आफ रिजेंसी कायम कर दी। 9 वर्ष तक राज्य का सारा प्रबन्ध इसी कौंसिल ने किया। इस कौंसिल के शासनकाल में सन् 1848 में लश्कर में दानाओली में जैसवाल पंचायत द्वारा मन्दिर का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ।

सन् 1854 में महाराजा के वालिग होने पर वे स्वयं अँग्रेजों के मार्गदर्शन में कार्य करने लगे। 3 वर्ष पश्चात्

ही सन् 1857 में भारत के राष्ट्रभक्त वीरों द्वारा स्वतन्त्रता संग्राम छेड़ दिया गया। महाराजा अँग्रेजों के परमभक्त थे। अतः इस अवसर को अँग्रेजों को प्रसन्न करने के लिये उपयुक्त समय मानकर उन्होंने अपनी भक्ति भावना का पूर्ण परिचय देने का संकल्प किया। परिणाम यह हुआ कि 28 मई को स्वतन्त्रता प्रेमी सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। उधर महाराजा अँग्रेजों की सुरक्षा का प्रबन्ध करने में जी जान लगाकर जुट गये। परन्तु समूह एक शक्ति होती है। 14 जून 1857 की रात्रि को कन्टिन्जेंट फौज ने भी राष्ट्रप्रेमियों के समर्थन में विद्रोह कर दिया। अनेकों अँग्रेज अफसर मौत के घाट उतार दिये गये। महाराजा ने अपनी भक्ति का परिचय देते हुये शेष सभी जीवित अँग्रेज पुरुषों को महिलाओं व बच्चों सहित आगरा पहुँचा दिया। दिनांक 28 मई सन् 1858 ई. को नाना पेशवा, तात्या टोपे और महारानी लक्ष्मीबाई के नेतृत्व में स्वातंत्र्य वीरों की सेना राष्ट्र-द्रोहियों को खूदती हुई ग्वालियर की छाती पर चढ़ आई और 1 जून से भयंकर रूप में युद्ध शुरू कर दिया। ग्वालियर के सारे राष्ट्रप्रेमी स्वातन्त्र वीरों ने उनका साथ दिया जिससे भयभीत होकर जियाजीराव युद्ध-स्थल से भाग खड़े हुये और अँग्रेजों की शरण में आगरा आ पहुँचे।

इधर स्वातंत्र्य वीरों ने सभी शासकीय केन्द्रों पर कब्जा कर लिया और ग्वालियर पर अपने झंडे गाड़ दिये। गोरखी में स्थित शासकीय खजाने को लूट लिया गया। इस समय अमरचन्द्र वांठिया नामक एक जैन धर्मावलम्बी महाराजा के खजांची थे। लूट के समय वे वहीं मौजूद थे। उन्होंने स्वातंत्र्य वीरों का कोई प्रतिकार नहीं किया। उन्होंने खुलकर लूट की और सारा खजाना लूट लिया। वीर पुत्रों का संरक्षण या ग्वालियर की भूमि निहाल हो उठी।

परन्तु दूसरी ओर सर ह्यूरोज ने वीरों से अनुपात में कई गुनी सेना लाकर उन्हें चारों ओर से घेर लिया।

दिनांक 18 जून को भयंकर युद्ध हुआ। जिसमें अनेकों वीरों सहित वीरांगना लक्ष्मीबाई भी शहीद हुईं। अवसर पाकर अंग्रेज पुनः सत्तारूढ़ हो गये। शान्ति स्थापित होने पर महाराजा जयाजीराव सिन्धिया भी ग्वालियर वापिस लौट आये। ग्वालियर आने के पश्चात् उन्होंने स्वातंत्र्य प्रेमी निवासियों को दण्ड देने का अभियान चालू किया। जिसका सर्वप्रथम शिकार ग्वालियर राज्य के कोषाध्यक्ष ओसवाल जैनवंशी श्री अमरचन्द्र वाठिया बनाये गये और उन्हें महारानी लक्ष्मीबाई आदि से मिलकर शासकीय खजाने की लूट करवाने के आरोप में मृत्यु दण्ड देने का आदेश दिया। भविष्य में अन्य नगरवासी कभी इस प्रकार का कृत्य न कर सकें अतः उन्हें भयभीत करने के उद्देश्य से अमरचन्द्र वाठिया को सराफा बाजार में स्थित एक विशाल नीम के वृक्ष पर लटकाकर फांसी दी गई। शहीद का मृत शरीर 3 दिवस तक नीम पर ही टँगा रखा गया। जिससे अन्य नगरवासी भविष्य में कभी इस प्रकार का कार्य करने का साहस न करें। यह वृक्ष अभी भी खूनी नीम के नाम से प्रसिद्ध है।

बाद में महाराजा जयाजीराव सिन्धिया के इन भक्तिपूर्ण कृत्यों से प्रसन्न होकर दिनांक 30 नवम्बर को आगरा में एक समारोह आयोजित कर गवर्नर जनरल लार्ड कनिंग ने पुराने ग्वालियर राज्य में तीन लाख रुपये का राज्य और शामिल कर उन्हें पुनः औपचारिक रूप से राज्यभार सौंपते हुए अंग्रेजों की भक्ति के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और साथ ही महाराजा के और बकाया लाखों रुपये की रकम भी छोड़ दी। उन्हें अनेकों उत्कृष्ट पदवियों से विभूषित कर ब्रिटिश सेना का आनरेरी जनरल नियुक्त किया। परन्तु दुर्ग पर अभी भी अंग्रेजों का ही आधिपत्य रहा। महाराजा द्वारा अनेकों बार याचना करने पर सन् 1886 में पुनः यह दुर्ग सिन्धिया राजवंश को प्रदान कर दिया गया। महाराजा अपने सारे राज्यकाल में अंग्रेजों को प्रसन्न करने व स्वामिभक्ति का परिचय देने में ही लगे

रहे और अंग्रेज यदा-कदा उन्हें खुश रखने के लिये सम्मानित करते रहे।

इनके काल में अशान्तिपूर्ण वातावरण होते हुये भी अनेकों मन्दिर आदि के निर्माण कार्य संपन्न हुये। सन् 1864 के लगभग रामकुई पर नसियां जी के मन्दिर की स्थापना हुई। लगभग 1 वर्ष बाद ही छत्री बाजार स्थित मन्दिर का निर्माण हुआ। ग्वालियर में खच्चाराम मुहल्ला में स्थित मन्दिर भी इसी काल का बना हुआ है। सन् 1878 में मामा के बाजार में भी एक जैन मन्दिर का निर्माण कार्य संपन्न कराया गया।

सन् 1885 के लगभग महाराजा को जलोदर रोग हो गया जिसकी पीड़ा से परेशान होकर वे दिल बहलाने के उद्देश्य से यात्रा पर भी गये परन्तु दिनांक 20 जून 1886 के दिन बड़े कष्टपूर्वक उनका प्राणान्त हो गया।

इनकी मृत्यु के समय इनके पुत्र माधवराव केवल दस वर्ष के ही थे। परन्तु परम्परा के अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् उनका ही राज्याभिषेक कर दिया गया। अवयस्कता के काल में अंग्रेजों द्वारा नियुक्त एक कौंसिल द्वारा सरदारों और अधिकारियों के सहयोग से राज्य कार्य का संचालन किया गया।

सन् 1888 में मामा के बाजार में एक दिगम्बर तथा सन् 1893 में सराफा बाजार में एक श्वेताम्बर जैन मन्दिरों का निर्माण करवाया गया। इनमें सराफा बाजार श्वेताम्बर मन्दिर अत्यन्त भव्य एवं कलात्मक है।

दिनांक 15 दिसम्बर 1894 के दिन इस क्षेत्र के गवर्नर जनरल ने एक समारोह में 30 हजार वर्ग मील में फैले 32 लाख की आबादी और डेढ़ करोड़ की आयवाले तत्कालीन ग्वालियर के शासन का कार्यभार माधवराव सिन्धिया को सौंप दिया।

अंग्रेजों का संरक्षण होने के कारण ये सारे शासनकाल में युद्ध आदि के भय से निश्चिन्त रहे। अतः प्रजा

के लाभ के कार्यों में अपना काफी समय दिया। इनके काल में क्षेत्र के सर्वांगीण विकास की ओर काफी ध्यान दिया गया। आपने सभी धर्मों को प्रगति का समुचित अवसर दिया। वे स्वयं सभी धर्मों के विशेष उत्सवों में भाग लेते थे।

इनके शासनकाल में अनेकों जैन मन्दिरों का निर्माण कार्य संपन्न हुआ। सन् 1903 में मामा के बाजार में एक और जैन मन्दिर का निर्माण कराया गया, जो बड़ा मन्दिर मामा के बाजार के नाम से जाना जाता है।

माधवराव सिंधिया के काल में राज्य में अनेकों विकास कार्यक्रम संचालित हुए। इस बीच सम्पूर्ण देश में कांग्रेस और महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता आन्दोलन की लहर ने देशी राज्यों में भी जन जागृति को प्रोत्साहित किया। ग्वालियर भी इससे अछूता न रहा। गांधीजी के विचारों में अहिंसा की प्रधानता ने जैनों को सर्वाधिक आकषित किया। ग्वालियर में 1917 ई. में श्री श्यामलाल पाण्डवीय ने ग्वालियर राज्य में "गल्प-पत्रिका" के नाम से सर्वप्रथम समाचार-पत्र प्रकाशित कर पत्रकारिता के माध्यम से राजनीति में प्रवेश किया। अपने उग्र विचारों के कारण वे कई बार दण्डित हुए व

जेलयात्रा भी की। 30 अप्रैल 1938 को विदिशा के प्रसिद्ध अभिभाषक श्री तख्तमल जैन के सद्प्रयत्नों से ग्वालियर में सार्वजनिक सभा की स्थापना हुई जो बाद में ग्वालियर स्टेट कांग्रेस में परिवर्तित हो गई। इसी क्रम में समाजवादी विचारधारा के श्री भीकमचन्द जैन ने भी राजनीतिक एवं जन-जागरण आन्दोलनों में एवं गतिविधियों में सक्रिय एवं उल्लेखनीय भाग लिया। इनके अतिरिक्त अन्य कई जैन धर्मावलम्बियों ने भी ग्वालियर के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास में गतिशील योगदान दिया।

इस प्रकार ग्वालियर के सांस्कृतिक विकास में जैनों ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह की है। ग्वालियर के इतिहास, साहित्य एवं पुरातत्व का एक बड़ा भाग जैनों से प्रभावित रहा है। आज इस सम्बन्ध में जो भी साहित्यादि प्रमाण उपलब्ध हैं, उनकी रक्षा में भी जैनों ने अत्यधिक महत्वपूर्ण योग दिया है, उनके इस गुण के कारण सुरक्षित साधनों ने ही आज ग्वालियर के इतिहास के उपलब्ध ज्ञान को उजागर किया है, तथापि आज भी इसके बहुत से पक्ष लुप्त हैं, जिन्हें उजागर करने को पर्याप्त शोध की आवश्यकता है।



વિવિધા

તત્ત્વ શાસ્ત્ર

समीक्षा एवं समालोचना

श्री २५००वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव वर्ष

में प्रकाशित
जैन साहित्य

तीर्थंकर महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर आयोजित विभिन्न कार्यक्रमों की श्रृंखला में साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में किया गया कार्य सर्वाधिक उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण है। इस क्रम में विभिन्न संस्थाओं तथा प्रकाशकों द्वारा अनेकों प्राचीन एवं दुर्लभ कृतियों का प्रकाशन, उन पर टीकाएँ तथा बालोचनात्मक एवं शोधपूर्ण सामग्री के साथ-साथ विविध अध्ययनपूर्ण, सामयिक एवं ज्ञानचर्चक ग्रन्थों, संग्रहों एवं पुस्तकों का प्रकाशन किया गया है। ऐसी दशा में यह आवश्यक ही है कि इन प्रकाशनों पर विभिन्न दृष्टिकोण सामने आएँ, जिससे उत्कृष्ट श्रेणी के उच्चस्तरीय साहित्य के प्रकाशन को बल मिले; साथ ही अधिकाधिक प्रबुद्ध पाठकों को इसके सम्बन्ध में पर्याप्त विवरण प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य से यहाँ कुछ चुनी हुई पुस्तकों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

अंग सुत्ताणि (तीन खण्ड)

सम्पादक—मुनि श्री नथमल, वाचना प्रमुख—
आचार्य तुलसी, प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनू
(राजस्थान), मूल्य—प्रथम खण्ड—पिच्चासी रुपये—
द्वितीय खण्ड—नब्बे रुपये, तृतीय खण्ड—अस्सी रुपये।

आचार्य श्री तुलसीजी के निर्देशन में मुनिश्री नथमल द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ आगम साहित्य के प्रकाशन में महत्वपूर्ण कड़ी कहा जा सकता है। ग्रन्थ के सम्पादन में मुनिश्री दुलहराजजी ने सहयोगी तथा सुदर्शनजी, मधुकरजी व हीरालालजी ने पाठ संशोधन के महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह किया है।

श्री 2500वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर जैन विश्व भारती द्वारा प्रथम ग्रन्थ-माला के रूप में प्रकाशित इस ग्रन्थ में ग्यारह अंग ग्रन्थों के मूल संशोधित पाठों को तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है।

प्रथम खण्ड में प्रथम चार अंगों आचारो (आचार), सूयगडो (सूत्रकृत, ठाडं (स्थान) एवं समवायो (समवाय) का संग्रह है। इनमें से आचारांग एवं सूत्रकृतांग में प्रयुक्त आदर्शों में चूर्णि एवं वृत्ति के सन्दर्भ में पाठों को उनके तुलनात्मक एवं गम्भीर समीक्षा के पश्चात्, “ठाडं” में कुछ हस्त प्रतियों के आधार पर तथा “समवायांग” में तीन प्राचीन आदर्श प्रतियों एवं वृत्ति के आधार पर तैयार किया गया है।

द्वितीय खण्ड में पाँचवा अंग “भगवई” (भगवती सूत्र) प्रकाशित किया गया है, जिसे ताड़पत्र एवं कर्ग-लीय सात हस्तप्रतियों तथा आगमोदय-समिति द्वारा प्रकाशित किया गया है।

तृतीय खण्ड में छह अंगनायाधम्मकहाओ (ज्ञाता-धर्म कथा), उवासगढसाओ (उपासक दशा), अंतगढद-साओ (अन्तकृतदशा), पण्डावागरणाई (प्रश्न व्याकरण),

और विवागसुयं (विपाक) का संग्रह है। इसमें भी कति-पय उल्लेख ताड़पत्रीय एवं कर्गलीय हस्तप्रतियों के आधार पर पाठ-संशोधनों के साथ अवशिष्ट अंग-ग्रन्थों को प्रस्तुत किया गया है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ आगम साहित्य के प्रकाशन की दिशा में एक महत्वपूर्ण देन है। ग्रन्थ का सम्पादन उच्च कोटि का है, प्रबन्ध सम्पादक और प्रकाशन संस्था के आगम और साहित्य प्रकाशन के निदेशक श्रीचन्द्र रामपुरिया ने ग्रन्थ को सुन्दर बनाने में काफी परिश्रम किया है। ग्रन्थ का मुद्रण एवं बाइण्डिंग भी उत्तम कोटि का है। श्री जयचन्द्रलालजी सूरजमलजी गोरी परिवार (सरदार-शहर) तथा श्री रामलाल हंसराज गोलछा, (विराट-नगर, भोपाल) ने ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु साधन उपलब्ध कराये हैं।

विषय और भाषा के पूर्व ऐतिहासिक क्रम को ध्यान में रखते हुए अस्पष्ट तथा सदिग्ध पाठों को चूर्णियों एवं वृत्तियों के आलोक में निर्धारित कर उनके पाठ संशोधन मावधानी पूर्वक प्रस्तुत किये गए हैं। आगम-मूर्ति मुनिश्री नथमलजी एवं आगम साहित्य के लिये समर्पित व्यक्तित्व श्रीचन्द्र रामपुरिया एवं उस दल के साधू-साध्वियों के अथक परिश्रम से जैन विद्या को इस ग्रन्थ में नवीन उपलब्धियाँ हुई हैं। इसके लिये साहित्य जगत आभारी रहेगा।

□

श्रमण महावीर

लेखक—मुनिश्री नथमल । सम्पादक—मुनिश्री
दुलहराज प्रबन्ध सम्पादक—श्रीचन्द्र रामपुरिया ।
प्रकाशक—जैन विश्वभारती लाडनू (राजस्थान) ।
मूल्य—सोलह रुपये ।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रमण महावीर के सम्बन्ध में उपलब्ध प्राचीनतम प्रमाणों के आधार पर भगवान महावीर के

जीवनदर्शन सम्बन्धी शोध-ग्रन्थ है। लेखक मुनि तथमल-जी ने अद्भुतमागधी आगम ग्रन्थों एवं उनके टीका ग्रन्थों में उपलब्ध, चर्चित एवं अचर्चित प्रायः सभी सन्दर्भों में इस ग्रन्थ का संयोजन करने का प्रयास किया है। उन्मुक्त विचारक अमर मुनि के शब्दों में “यह भगवान महावीर का प्रथम मानवीय चित्रण है।” अन्वकार में छिपे अनेक स्त्रोतों का यह विवेचन आह्लादक ही नहीं है, वरन् अनेक नए तथ्यों को उद्घाटित भी करता है।

भाषा शैली की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ इतना सुन्दर बन पड़ा है कि, ऐसा प्रतीत होता है, मानो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय रूपरेखा महावीरकालीन हो। ऐसे प्रसंगों में असंग्रह का वातायन, अभय का आलोकन आदिवासियों के बीच, प्रगति के संकेत, नारी का बन्ध विमोचन, सेवा, जातिवाद, जनभाषा, जनता के लिये, सहअस्तित्व, समन्वय की दिशा का उद्घाटन, सर्वजन-हिताय-सर्वजन सुखाय आदि प्रकरण पठनीय एवं विचार-णीय हैं। तीर्थंकर की माता के सत्रह स्वप्नों (पृ० सं० 2-3) का विचार अति नवीन है।

चरित्र, इतिहास, संस्कृत, भूगोल, दर्शन, आचार सिद्धान्त एवं आध्यात्म का अद्भुत संयोजन एवं औपन्यासिक शैली में प्रस्तुत यह चरित्र ग्रन्थ सभी क्षेत्रों में समादर प्राप्त करेगा, ऐसी आशा है।



कलम

रचयिता—कल्याण कुमार जैन “शशि”। प्रकाशक—बाबू आनन्द कुमार जैन संस्थान, रामपुर। मूल्य—तीन रुपये।

“कलम” आशुकि श्री कल्याण कुमार जैन “शशि” का कार्य संग्रह है। कलमकार ने अपनी सशक्त कलम से सर्वथा मौलिक रचना को जन्म दे, जीवन के विभिन्न

पहलुओं को छुआ है। उनकी रचनाएं कहीं-कहीं हृदय को स्पर्श कर लेती हैं और मानवता की रस वर्षा करती हैं। निश्चय ही श्री शशिजी का यह काव्य संग्रह श्रेष्ठ एवं अनूठी कृति है।



“खराद” —

रचयिता—कल्याण कुमार जैन “शशि”। प्रकाशक—बाबू आनन्द कुमार जैन संस्थान, रामपुर। मूल्य—तीन रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में कवि ने अपनी सशक्त काव्यशक्ति का परिचय देकर मुक्तकों के माध्यम से मानवजीवन के विभिन्न पक्षों को कसौटी पर कसा है। “शशि” जी का प्रस्तुत संग्रह पाठकों को दृढ़तापूर्वक कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करने में निश्चित ही पूर्ण रूप से सफल हुआ है।



पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ

प्रबन्ध सम्पादक श्री ज्ञानचन्द्र खिन्नुका। सम्पादक—सर्वश्री पं. मिलापचन्द्र शास्त्री, डा. कमलचन्द्र सोगानी डा. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल। प्रकाशक—साहित्य शोध, विभाग, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी प्रबन्ध कारिणी समिति, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर। मूल्य—चालीस रुपये।

श्री महावीरजी, जैन दर्शन के मनीषी प्रकांड विद्वान पंडित चैनसुखदासजी की साधना-स्थली रही है। उनकी स्मृति में क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग द्वारा स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित कर उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की है। जैन विद्या का यह सुन्दर सन्दर्भ ग्रन्थ विषय-सामग्री की

दृष्टि से चार खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में पंडितजी के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलियाँ तथा तथा उनके जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर बत्तीस विभिन्न विषयों पर लेख तथा संस्मरण संग्रहित किए गये हैं जो पंडितजीके बहुमुखी व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। द्वितीय खण्ड में धर्म और दर्शन से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर चौदह लेख, तृतीय खण्ड में साहित्य एवं संस्कृति से सम्बन्धित उन्नीस लेखों तथा चतुर्थ खण्ड में इतिहास एवं पुरातत्व से सम्बन्धित विषयों पर तेरह लेखों का संग्रह है। द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ खण्डों में प्रकाशित लेखों में अधिकतर सामग्री शोधपूर्ण है, जिनके द्वारा जैन वाङ्मय के कई अज्ञात एवं लुप्त पक्षों को उजागर किया-गया है। कई शोधपत्र अत्यन्त उच्च-कोटि के हैं। सम्पादन व मुद्रण पर पर्याप्त परिश्रम किया गया है, जिसने ग्रन्थ को और भी सुन्दर बना दिया है।



चौबीस तीर्थंकर

लेखक—डा. गोकुलचन्द्र जैन । आशीर्षचन—
आचार्य श्री तुलसी । प्रकाशक—पराग प्रकाशन, विश्वास
नगर, शाहदरा, दिल्ली 32, मूल्य—छह रुपये ।

पाकेट बुक आकार में प्रकाशित प्रस्तुत पुस्तक में जनसामान्य के अध्ययन की दृष्टि से सरल भाषा तथा आकर्षक शैली में चौबीसों जैन तीर्थंकरों का सजीव चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भ में “आओ तीर्थ-कर-बनें” शीर्षक से लेखक ने तीर्थंकर बनने की योग्यता का सशक्त विश्लेषण किया है, तत्पश्चात् क्रमशः चौबीसों तीर्थंकरों का वर्णन है। विवादास्पद तत्वों के सन्दर्भ में लेखक ने अनेकान्तिक चिन्तन के आधार पर अनाग्रही दृष्टिकोण को अमिव्यक्त किया है। यद्यपि-कुछेक तीर्थ-करों के बारे में अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया है, तथापि वह मननीय है। चौबीसों तीर्थंकरों के जीवनचरित्र

तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के निर्माण में इन महापुरुषों की भूमिका पर प्रकाश डालनेवाली हिन्दी की यह प्रथम पुस्तक है।



जैन दर्शन की रूपरेखा

लेखक—एस. गोपालन । भाषान्तर—गुप्ताकर
मुले, । प्रकाशक—वाईली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली ।
मूल्य—सोलह रुपये ।

पुस्तक श्री एस. गोपालन की मूल अंग्रेजी पुस्तक Outlines of Jainism का हिन्दी अनुवाद है। यद्यपि पुस्तक में संक्षिप्त में ही, जैन परम्परा के उद्गम से अधुनातम् विकास का सर्वतोमुखी परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, तथापि पुस्तक में जैन सिद्धान्तों के सभी आवश्यक तत्वों का समावेश है। जैन ज्ञानमीमांसा, मनोविज्ञान, तत्व मीमांसा तथा नीतिशास्त्र के बारे में लेखक ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक विषय विवेचन किया है। पुस्तक का भाषान्तर भी उत्तम है। जैन दर्शन के विद्या-थियों के लिये सरल भाषा तथा संक्षिप्ताकार में उपलब्ध यह अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है।



जैन सिद्धान्त भास्कर

(जुलाई 1975 भाग—28-1 किरण (The Jain Antiquary), जैन पुरातत्व सम्बन्धी षण्मासिक पत्र ।
प्रकाशक—श्री देव कुमार जैन ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट एवं जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) । मूल्य—एक प्रति—बस रुपये, वार्षिक—बोस रुपये ।

प्रस्तुत षण्मासिक पत्रिका जैन पुरातत्व सम्बन्धी अद्वितीय शोध पत्रिका है। जुलाई अंक में “प्राकृत जैन स्रोतों का भक्ति एवं दर्शनमूलक विश्लेषण; गौतम गणधर

कृत ईसा से छः सदी पूर्व का दि. जैन ग्रन्थ, अपभ्रंश का अद्यावधि प्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ “तिसट्ठमहापुराण-पुरिसआयारगुणालंकार”); महान् आचार्य वप्पभट्टसूरि का गौडेश्वर धर्मपाल, बौद्धाचार्य वर्द्धन कुंजर और कवि वाक्पतिराज पर प्रभाव, जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, शीर्षकों से सर्वश्री डा. केदारनाथ ब्रह्मचारी, एस. सी. दिवाकर, डा. राजाराम जैन, अगरचन्द्र नाहुटा एवं प्रो. उदयचन्द्र जैन के शोधपत्र प्रकाशित किये गए हैं। सभी शोधपत्र मौलिक तथा पुरातत्त्वीय अध्ययन एवं शोध की दृष्टि से उच्चस्तरीय हैं। पुस्तिका जैन पुरातत्त्व में शोधकार्य के दुष्कर कार्य की पूर्ति की दिशा में विशेष महत्व की है।



**जनरल आफ पूरनचन्द्र नाहर
इन्स्टीट्यूट आफ जैनोलाजी
(नवम्बर 75 एवं अप्रैल 76 अंक)**

सम्पादक—के. सी. लल्लवानी। प्रकाशक—पूरनचन्द्र नाहर इन्स्टीट्यूट आफ जैनोलाजी, कुमारसिंह हाल, 46 इण्डियन मिरर स्ट्रीट, कलकत्ता 13। मूल्य—प्रति अंक दो रुपये, वार्षिक—पाँच रुपये।

स्व. पूरनचन्द्रजी नाहर की स्मृति में स्थापित इन्स्टीट्यूट आफ जैनोलाजी द्वारा जैन विद्या पर शोध-कार्य को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से प्रकाशित यह पत्रिका शोध-पत्रिकाओं की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। पत्रिका का नवम्बर 75 अंक पूरनचन्द्र नाहर शताब्दी अंक है जिसमें नाहरजी की सेवाओं के प्रति श्रद्धांजलियों एवं संस्मरणों के अतिरिक्त मुनिश्री सुशील कुमार व सर्वश्री ए. एन. उपाध्ये तथा भागचन्द्रजी के मौलिक एवं शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किये गए हैं।

अप्रैल 76 अंक में सर्वश्री के. सी. लल्लवानी, पूरन-चन्द्र नाहर, डी. पी. घोष, पी. वी. पंडित, मुनिश्री रूप-

चन्द्र, अगरचन्द्र नाहुटा, भंवरलाल नाहुटा तथा ज्योति प्रसादजी जैन के सात मौलिक, एवं शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किये गए हैं।



पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तव्य

लेखक—डा. हुकमचन्द्र भारिल्ल, प्रकाशक—प टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4 बापूनगर, जयपुर 4 मूल्य—सात रुपये।

इन्दौर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत यह शोध-प्रबन्ध आचार्यकल्प पंडित प्रवर टोडर-मल के जीवन, व्यक्तित्व और उनके सामाजिक, धार्मिक व साहित्यिक कार्यों का प्रामाणिक विवेचन कर उनका मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। पुस्तक की विषय-सामग्री-सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में पूर्व धार्मिक व सामाजिक विचारधाराएँ और परिस्थितियाँ, द्वितीय अध्याय में आचार्य प्रवर का जीवनवृत्त, तृतीय अध्याय में आचार्य प्रवर की रचनाएँ और उनका वर्गीकरण तथा रचनाओं का परिचयात्मक अनुशीलन, चतुर्थ अध्याय में वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार तथा विविध विचार, पंचम अध्याय में गद्य शैली, षष्ठम में भाषा तथा सप्तम में उपसंहार: उपलब्धियाँ और मूल्यांकन शीर्षकों से पंडितजी के व्यक्तित्व और कर्तव्य का शोधपूर्ण विवेचन किया गया है। पंडितजी के सम्बन्ध में नवीन सन्दर्भों में प्रामाणिक विवरण उपलब्ध करानेवाला यह शोध प्रबन्ध भाषा एवं शैली की उत्कृष्टता के कारण अति सुन्दर बन पड़ा है।



तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ

लेखक - डा. हुकमचन्द्र भारिल्ल। प्रकाशक—पं.

टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, वापनगर, जयपुर ।
मूल्य—पु. सं.—पाँच रुपया; पाकेट बुक—दो रुपया ।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक डा. हुकुमचन्द्र भारिलाल ने तीर्थंकर महावीर के जीवन और सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। दो खण्डों में विभक्त इस कृति के प्रथम खण्ड में बालक वर्द्धमान से भगवान महावीर के केवलज्ञानी होने तक से जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। द्वितीय खण्ड में उनके द्वारा प्रवर्तित सर्वोदय तीर्थ का वर्णन है जिसमें उनके द्वारा प्रतिपादित मुक्ति मार्ग का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत सप्त तत्त्व देवशास्त्र—गुरु, भेद-विज्ञान और आत्मानुभूति का मार्मिक चित्रण है, तो सम्यक ज्ञान के अन्तर्गत अनेकान्त, स्याद्वाद और प्रमाण नय का तार्किक विवेचन है। सम्यक चरित्र की भी प्रामाणिक विवेचना की गई है। अन्त में उपसंहार शीर्षक से भगवान महावीर के सिद्धान्तों का आधुनिक सन्दर्भों में विवेचन किया गया है।



दशवें आलियं

लेखक—मुनिश्री नथमल, वाचना—आचार्य श्री तुलसी । प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान) । मूल्य—पिचियासी रुपया ।

श्री जैन श्वेताम्बर तैरापन्थी महासभा, कलकत्ता के द्वारा प्रकाशित पूर्वोक्त संस्करण की समाप्ति के बाद जैन विश्वभारती ने दूसरे संस्करण के रूप में इस ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन किया है। ग्रन्थ में, मूलपाठ के साथ संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी का प्रकाशन कर इसे प्रथम संस्करण की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक एवं सर्वाङ्गीण बनाने का प्रयास किया गया है।

दशवैकालिक अति प्रचलित और अति व्यवहृत आगम ग्रन्थ है। इसके दस अध्ययन हैं। विकाल में रचा जाने के कारण इसका नाम दसवैकालिक रखा गया। ग्रन्थ के कर्ता श्रुतकेवली शय्यभव, रचनाकाल वीर संवत् 72 के आसपास, तथा रचना स्थली “चम्पा” है। ग्रन्थ के सम्पादक-विवेचक मुनि नथमलजी ने ग्रन्थ के सम्पादन एवं विवेचन में कड़ा परिश्रम कर इसे और उपयोगी एवं माननीय बना दिया है। आगम ग्रन्थों के प्रकाशन की श्रृंखला में यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण कड़ी है।



दशवैकालिक और उत्तराध्ययन

सम्पादक एवं अनुवादक—मुनि नथनमल, रह-योगी—मुनि मीठालाल, मुनि बुलहराज, वाचना प्रमुख—आचार्य श्री तुलसी । प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान) । मूल्य—पन्द्रह रुपया ।

ग्रन्थ के प्रस्तुत संस्करण में जैन आचार-भोचर और दार्शनिक विचारधारा के प्रतिनिधि दो महत्वपूर्ण आगम ग्रन्थों “दशवैकालिक” और “उत्तराध्ययन” का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। जैन परम्परा में उनका अध्ययन, वाचन और मनन बहुलता से होता है। दशवैकालिक में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि धर्म तत्त्वों और आचार-विचार का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन है तथा उत्तराध्ययन में वैराग्यपूर्ण कथा प्रसंगों के द्वारा धार्मिक जीवन का अति प्रभावशाली चित्राकन तथा तात्त्विक विचारों का हृदय-ग्राही सग्रह किया है। पुस्तक का अनुवाद भाषा व शैली की दृष्टि से मूलता लिये हुए है।

आगम ग्रन्थों के प्रकाशन की श्रृंखला में मूल सूत्रों दशवैकालिक और उत्तराध्ययन के प्रस्तुत हिन्दी संस्करण

उन व्यक्तियों के लिये जो हिन्दी के माध्यम से आगामी का अनुशीलन करना चाहते हैं, एक नयी उपलब्धि होने से उनके लिये नितान्त उपयोगी सिद्ध होगी।



भगवान महावीर आधुनिक सन्दर्भ में

सम्पादक—डा. नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, सह सम्पादक डा. शान्ता भानावत। प्रकाशक—श्री अखिल भारत-वर्षीय साधुसर्गी जैन संघ, समता भवन रामपुरिया सड़क, बीकानेर। प्रमुख वितरक—मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7। मूल्य—चालीस रुपये।

पुस्तक में विभिन्न विषयों पर राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त अधिकारिक विद्वानों के पचास लेखों, शोधपत्रों एवं निबन्धों का संग्रह है। पुस्तक की सामग्री नौ खण्डों में विभाजित की गई है। प्रथम खण्ड में जीवन, व्यक्तित्व और विचार, द्वितीय खण्ड में सामाजिक सन्दर्भ, तृतीय खण्ड में आर्थिक सन्दर्भ, चतुर्थ खण्ड में राजनीतिक सन्दर्भ, पंचम खण्ड में दार्शनिक सन्दर्भ, षष्ठम खण्ड में वैज्ञानिक सन्दर्भ, सप्तम खण्ड में मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ, अष्टम खण्ड में सांस्कृतिक सन्दर्भ, एवं नवम् खण्ड में परिचर्चा शीर्षकों के अन्तर्गत उच्चकोटि के लेखों एवं निबन्धों द्वारा अनेकों नवीन विषयों को छुआ गया है, जिससे नवीन सन्दर्भों में तीर्थंकर महावीर के सिद्धांतों पर चिन्तन को बल मिला है। पुस्तक शोधार्थियों एवं पाठकों के लिए नितान्त उपयोगी है।



भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक—डा. ज्योतिप्रसाद जैन। प्रकाशक—श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तरप्रदेश। प्राप्त स्थान—श्री अजीत प्रसाद जैन, उपसचिव, श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तर प्रदेश, पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ—226,004। मूल्य—पचास रुपये।

श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तरप्रदेश द्वारा प्रकाशित “भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ” में विविध विषयों पर देश के सुप्रसिद्ध विद्वानों के लेखों को सुनियोजित ढंग से संकलित कर विषय-सामग्री को सात खण्डों में विभाजित किया गया है। जिनमें क्रमशः महावीर वचनानामृत, महावीर स्तवन, महावीरः युगः जीवन और देन, जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति, शाकाहार, उत्तर-प्रदेश और जैनधर्म, तथा श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तरप्रदेश शीर्षकों के अन्तर्गत विविध सामग्री संकलित की गई है। ग्रन्थ में अस्सी के लगभग निबन्धों, लेखों तथा शोध-पत्रों का संग्रह है। अनेकों लेख शोधपूर्ण एवं उच्चस्तरीय होने से ग्रन्थ विविध विषयों पर एक उत्तम संकलन प्रस्तुत करता है।



भरत बाहुबलि महाकाव्यम्

प्रस्तुति—मुनिश्री नथमल। आशीर्वाचन—आचार्य श्री तुलसी। अनुवादक—मुनि तुलहराज। प्रकाशक—जैन विश्वभारती-लाडनूँ (राजस्थान)। मूल्य—तीस रुपये।

श्री पुण्य कुशलमणि द्वारा वि.सं. 1641 से 1659 के मध्य विरचित संस्कृत महाकाव्य की दो उपलब्ध हस्तप्रतियों के आधार पर मुनिश्री नथमल द्वारा उसका पाठ संशोधन तथा त्रुटित श्लोक खण्डों की

पूति सम्पन्न होकर मुनिश्री कुलहराजजी ने इसका सर्व-प्रथम सम्पादन तथा अनुवाद कर यह अद्यावधि अप्रकाशित महाकाव्य, मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन किया गया है।

प्रस्तुत महाकाव्य में अठारह सर्ग एवं 535 श्लोक हैं। प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में सम्पादक ने प्रतिपाद्य विषय, श्लोक परिमाण, सलक्षण छन्दनाम, तथा सर्ग संज्ञेप देकर अध्येताओं की सुविधा के लिये सर्गानुकूल भाव-भूमिका प्रस्तुत की है। प्रस्तुत महाकाव्य में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के दो पुत्रों भरत-बाहुबलि के जीवन के एक पक्ष-युद्ध से सम्बन्धित प्रसंग का काव्यात्मक वर्णन है। भरत बाहुबलि का जीवन बड़ा ही लोकप्रिय एवं आह्लादकारी रहा है और इस पर अनेकों कवियों द्वारा स्वतन्त्र रचनाएँ की गई हैं परन्तु पुण्य कुशलमणि जी का यह महाकाव्य इन पुस्तकों की शृंखला में अत्यधिक उच्च कोटि का माना जाता है। पुस्तक का अनुवाद भाषा एवं शैली की उत्कृष्टता के कारण मौलिक-सा प्रतीत होता है। ग्रन्थ के पूर्व, ग्रन्थ की विस्तृत प्रस्तावना में ग्रन्थ का साहित्यिक मूल्यांकन किया गया है। आवरण पृष्ठ पर श्रवणवेलगोला की बाहुबलिजी की प्रतिमा के रेखाचित्र ने ग्रन्थ के बाह्य सौन्दर्य को दीप्तिमान कर दिया है।



महावीर ओ चित्रशतक

सम्पादक एवं लेखक—कमलकुमार जी शास्त्री
“कुपुव,” कवि श्री फूलचन्द्रजी पुष्पेन्नु । प्रकाशक—
भोकमसेन रतनलाल जैन, 1286 बकीलपुरा, देहली
110,006 । मूल्य दस रुपये ।

पुस्तक तीर्थंकर महावीर के सम्बन्ध में अपने प्रकार का अनूठा प्रकाशन है। पुस्तक के प्रारम्भ में

भगवान महावीर के प्रति अनेकों राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कवियों द्वारा अर्पित काव्यमयी श्रद्धांजलि सम्बन्धी कविताओं का संग्रह है। तत्पश्चात् भगवान महावीर के जीवन-दर्शन व संदेश सम्बन्धी दो निबन्ध तथा काव्यमयी जीवन चक्र (हीयमान से वर्द्धमान) प्रस्तुत किया गया है। अन्त में भगवान महावीर चित्रशतक के अन्तर्गत सौ चित्रों तथा उनके काव्यमयी वर्णन के माध्यम से भगवान महावीर की पूर्व भवों से लेकर परिनिर्वाण तक की गाथा का सर्जीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक भगवान महावीर के बारे में सर्वोपयोगी शैली में जन-सामान्य को जानकारी देने की दिशा में उत्तम प्रयास है।



वचन दूतम्

रचयिता—पं. मूलचन्द्र शास्त्री । प्रकाशक—
साहित्य शोध विभाग, श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र
श्री महावीरजी, महावीर भवन, सवाई मारनसह हाईवे,
जयपुर । मूल्य—पाँच रुपये ।

प्रस्तुत काव्य संस्कृत के मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखित मेघदूत एवं पार्श्वयुद्ध—शैली में रचित दूतकाव्य है। इसमें मेघदूत के पद्यों के चतुर्थ पाद की समस्यापूर्ति के साथ राजुल की अन्तर्वेदना का मार्मिक चित्रण है। शताब्दियों के उपरान्त एतादृश परम्पराशील रचना देखकर ऐसा विश्वास होने लगा कि संस्कृत में सर्जनात्मक साहित्य की गति मन्द भले ही पड़ गई हो किन्तु अभी सर्वथा समाप्त नहीं हुई है। पुस्तक संस्कृत साहित्य की इस शताब्दी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।



वज्रङ्गावली-हनुमान

सम्पादक—कमल कुमार जैन शास्त्री 'कुमुद,'
फूलचन्द्र जैन 'पुष्पेन्दु' । प्रकाशक—भोकभसेन
रतनलाल जैन, 1286, बकीलपुरा, देहली 6 ।
मूल्य—दो रुपया ।

जैन रामायण "पद्म पुराण" में हनुमानजी के
सन्दर्भ में वर्णित स्थलों के आधार पर रचित यह खण्ड
काव्य कविवर श्री ब्रह्मराय रचित "हनुमान चरित"
का संशोधित स्वरूप है । जैन रामायण के सन्दर्भ में
वज्राङ्गवली हनुमान का सुन्दर चरित्र-चित्रण प्रस्तुत
करनेवाली यह अपने प्रकार की अनूठी पुस्तक है ।



समण सुत्त' (श्रमण सूत्रम्)

अनुवाद—पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, मुनिश्री
नथमलजी, संस्कृत छाया परिशोधन—पं. बेचरदासजी
दोशी । प्रकाशक—सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट,
वाराणसी, । मूल्य—पेपर बंक—दस रुपया, सजिल्द—
बारह रुपया ।

सर्वोदयी सन्त आचार्य विनोबा भावे की मूल प्रेरणा
से भगवान महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव
के अवसर पर प्रकाशित यह ग्रन्थ समन्वय के प्रतीक के
रूप में सर्व प्रमुख उपलब्धि मानी जाती है । इससे पूर्व
की तीन वाचनाई श्रमण सम्प्रदाय के एक वर्ग की मान्य

नहीं थीं और लगभग पन्द्रह सौ वर्षों से दिगम्बरों और
श्वेताम्बरों में अलगाव की दुःखद स्थिति चली आ रही
थी । प्रस्तुत ग्रन्थ दिल्ली में सर्वमान्यता के लिये आयो-
जित संगति में सम्मिलित सभी आम्नायों के साधुओं,
विद्वानों, श्रावकों और सेवकों की सर्वमान्य उपलब्धि है ।
इसे सर्वप्रथम क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी ने दिगम्बर एवं
श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थों से कुछ सारभूत
गाथाओं का संकलन कर सम्पादित किया । तत्पश्चात्
सन्त कानजी स्वामी, दलसुख माई मालवणिया आदि ने
उसका संशोधन कर उसे "जिण धम्म" नाम दिया ।
उसका भी डा. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, उपाध्याय
मुनिश्री विद्यानन्दजी, मुनिश्री सुशील कुमार जी प्रभृति
सन्तों एवं मुनियों के सानिध्य में वाचनकर उसे अन्त में
"समण सुत्ताणि" नाम दिया ।

ग्रन्थ की विषय-सामग्री को ज्योतिर्मय, मोक्षमार्ग
तत्त्वदर्शन, एवं स्याद्वाद नामक चार खण्डों और चवा-
लीस प्रकरणों में विभक्त किया गया है । इसका मूला-
नुगामी—हिन्दी अनुवाद पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री,
वाराणसी तथा मुनि श्री नथमलजी महाराज एवं संस्कृत
छाया परिशोधन पं. बेचरदासजी दोशी, अहमदाबाद
द्वारा सम्पन्न हुआ है । सर्व सेवा संघ वाराणसी के संचा-
लक श्री कृष्णराज मेहता ने इस कार्य के संयोजन एवं
प्रकाशन में प्रशंसनीय एवं चिरस्मरणीय कार्य किया
है । सर्वमान्य होने के कारण यह पुस्तक जैन दर्शन में
रुचि रखनेवाले प्रबुद्ध पाठकों हेतु अभूतपूर्व एवं
अद्वितीय उपलब्धि है ।



ENGLISH

BHAGWAN MAHAVIRA AND HIS RELEVANCE IN MODERN TIMES

Editor – Dr. Narendra Bhanawat & Dr. Prem Sagar Jain; Associate Editor – Dr V. P. Bhatt; Published by – Akhil Bharatvarshiya Sadhumargi Jain Sangha, Samta Bhawan, Rampuria Road, Bikaner (Rajasthan); Price—Twenty five Rupees.

The book is an embodiment of the great labour of the distinguished eminent scholars of almost all parts of India, deals with various subjects like Religion, Philosophy, Science, language and literature, etc. based on the teachings of Bhagwan Mahavira. The book corporates twenty nine articles on different topics depicting Tirthankar Mahavira's thoughts and teachings, few of which have been taken from the proceedings of various Seminars.



JAIN TARKA BHASA

By — Dayananda Bhargava; Published by—Motilal Banarsidas, Bunglow Road, Jawahar Nagar, Delhi 7; Price – Twenty Rupees.

The present book is a popular treatise of well known Jain Logician Sri Yasovijaya Gani who flourished in the 17th century, and who, on account of his vast erudition

in logic and metaphysics obtained the titles of Upadhyaya, Nyaya Visharad and Nyayacharya.

The work is divided in three Chapters, viz (i) Valid Knowledge – Pramana, (ii) knowledge from particular standpoints Nayas, and (iii) Imposition, – Niksepa. It also discusses Vyaptigraha, induction or process of ascertaining a universal connection between the middle term and the major term.

This work presents the viewpoints of the Non – Jaina opponents also, viz. Baneld has, Naiyavikas, Sankhyas and it repudiates them in a very plain, simple and lucid way. It contains a literal english translation, notes and critical introduction. An index of sanskrit words with their english meaning is also added.



LORD MAHAVIRA AND HIS TIMES

By – Dr. Kailash Chandra Jain; Published by – Motilal Banarsidas, Bunglow Road, Jawahar Nagar, Delhi 7; Price – Sixty Rupees.

The book deals with the history and culture of India during the age of Mahavira in the Sixth Century B. C. It discus-

ses the antiquity of Jainism by ascertaining the traditions of Jaina Scriptures with the recent archeological discussions and also describes the teachings of Lord Mahavira based on historical fact.

The subject matter of the book is divided into ten chapters. Chs. I & II deals with the origin of Jainism, its antiquity and long continuous history depicting the circumstances that gave birth to lord Mahavira. Chs. III & IV are devoted to the life of the great Lord and his teachings. Chs V to VIII describe the religious sects, political conditions and institutions, social organisations and economic planning in Mahavira's time. Ch. IX brings out the special features of art and architecture and gives in detail the description of currency produced during the period. Ch. X describes the progress achieved in the literacy, technical and scientific fields. The study is also documented with bibliography, general index & maps.



LORD MAHAVIRA IN THE EYES OF FOREIGNERS

Edited by — Akshaya Kumar Jain; Published by — Meena Bharti., 1508 Wazir Nagar, New Delhi 110.003; Price — Fourty Rupees.

This book, as its title denotes, includes scholarly contributions by eminent scholars from various parts of the world, who

have beautifully sketched the ideal life of Lord Mahavira and brilliantly given expression to his noble teachings. This book, edited by Sri. Akshaya Kumar Jain, eminent journalist & writer of the nation, starts with the message of H. H. Muni Sushil Kumar, President to World Fellowship of Religions, New Delhi and forwarded by Dr. Karan Singh, Minister of Health and Family Planning, Union of India. The book contains contribution of nine articles in all, from eminent scholars of the world, Mr. Hermann Jacobi, Bonn; Mr. Heinrich Zimmer, Germany; Mr. Max Weber; Mr. Paul Tuxen; Mr. J. N. Farquhar, Germany; Mr. A. C. Bouquet, Cambridge University; Mr. Rev. E. Osbern Martin; Mr Edmund Buckley, U. S. A; and Mrs. N. R. Guseva, U. S. S. R.

Each article is thoroughly an original and documented piece of work with graphic narrations in a penetrating style. Altogether the book throws a new light on some of the important aspects of Jainism and could be regarded as a valuable addition to existing literature on Indian Religions.

Employing the most authentic sources, the scholars have explored new fields in tracing the emergence of Jainism as a faith and have dealt in greater details with its multifarious aspects such as history and culture, language and literature,

religion and philosophy, art and architecture, customs and conventions, mythology and legend, reform and development.



OUTLINES OF JAINISM

By – S. Gopalan, Centre of Advanced study in Philosophy, University of Madras;
Published by – Wiley Eastern Limited, New Delhi; Price – Fourteen Rupees.

This book is an introductory work on Jain Philosophy with comprehensive coverage of the whole Jain tradition from its ancient beginnings to the present day developments. The book is written in such a manner that it covers all the essentials in short and concise manner. The author; has made a sympathetic study of Jain tenets; and his discussions about Jain epistemology, psychology and metaphysics are thought provoking and testify to his scholarly approach to the subject.

The subject matter of the book is divided into five parts, viz – I. Introduction, II. Epistemology, III. Psychology, IV. Metaphysics and V. Ethics.



TIRTHANKAR MAHAVIRA, LIFE AND PHILOSOPHY

By – Vidwat Ratna, S. C. Diwaker, Sastri;
Published by – Jain Mitra Mandal, Dharam pura, Delhi, Price – Ten Rupees.

The book presents in brief, the life of Tirthankar Mahavira and Jain Teachings. This book contents 18 Chapters. Most of them are new and written for this book particularly and few of them are essays and lectures of the author which were published as "Glimpses of Jainism" A new chapter "Gems of Jinavani", has been written so that the seekers after truth can enjoy the wisdom, depth, beauty and sublimity of Jain teachers and seers at a glance.

* * *

भगवान महावीर का पच्चीस सौ वा निर्वाण महोत्सव और ग्वालियर संभाग

एक रुप

भगवान महावीर के निर्वाण की पच्चीसवीं शताब्दि पूर्ति के अवसर पर विश्वभर में “भगवान महावीर महापरिनिर्वाण महोत्सव वर्ष” का आयोजन किया गया। इस अवसर पर भगवान महावीर के उपदेशों के प्रचार तथा प्रसार तथा लोक-कल्याण के उद्देश्य से अनेकों मन्दिरों, कीर्ति-स्तम्भों, स्मारकों एवं लोक-कल्याणकारी संस्थानों के निर्माण, ग्रन्थ एवं अन्य साहित्य प्रकाशन, बौद्धिक कार्यक्रम (प्रवचन, व्याख्यानमाला, परिचर्चा, गोष्ठी एवं सभा आयोजन आदि), धार्मिक समारोह आदि के आयोजन के अनेकों कार्य सम्पन्न हुए अथवा प्रारम्भ किये गए। ग्वालियर संभाग के नागरिकों ने भी इस पुनीत वर्ष में यथाशक्ति विविध समारोहों का आयोजन किया तथा अनेकों स्थाई निर्माण कार्य एवं योजनाएँ प्रारम्भ कीं, जिनके द्वारा न केवल भगवान महावीर के उपदेशों का प्रचार-प्रसार संभव हुआ, वरन् उनके मानव धर्म की भावना के अनुरूप अनेकों मानव हितशी लोक-कल्याणकारी योजनाएँ भी

प्रारम्भ की गईं जो ग्वालियर संभाग के नागरिकों के लिये एक अभूतपूर्व उपलब्धि है।

आयोजन समितियों का गठन—संभाग के सभी जिलों में तीन स्तरों पर इस वर्ष में विभिन्न कार्यक्रमों के आयोजनार्थ विभिन्न समितियों का गठन किया गया। प्रथमतः प्रत्येक जिले में जैन समाज के विभिन्न आम्नायों की जिला समितियाँ गठित हुईं। इन समितियों की तहसील, विकास खण्ड एवं ग्राम स्तर पर भी शाखाएँ गठित की गईं। द्वितीयतः सम्पूर्ण जैन समाज की सम्मिलित जिला समितियाँ गठित की गईं तथा तृतीयतः शासकीय स्तर पर प्रत्येक जिला मुख्यालय पर जिलाध्यक्ष की अध्यक्षता में जन समितियाँ गठित की गईं। इन सभी समितियों ने अपने-अपने स्तर पर विभिन्न कार्य हाथ में लिये जिनके प्रयासों से ग्वालियर संभाग में उल्लेखनीय कार्यक्रम समारोह एवं निर्माण आयोजित हुए।

धर्माचार्यों का आगमन एवं मार्गदर्शन—समस्त वर्ष की योजनाओं को अनेकों आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त हुई। मुनि श्री चन्दनमलजी व उनका संघ इस सम्पूर्ण वर्ष में ग्वालियर संभाग में विभिन्न स्थलों पर रहा व, वे, निर्वाण वर्ष के महत्व की प्रतिपादित करते हुए इस वर्ष में स्थायी महत्व के कार्यों के संचालन को निरन्तर प्रेरणा देते रहे। उन्होंने निरन्तर चार चातुर्मास (1973-76) श्री ग्वालियर में ही किये, तथा ग्वालियर में निर्वाण वर्ष के कार्यक्रमों को मार्गदर्शन प्रदान किया। उनके अतिरिक्त निर्वाण वर्ष में दिगम्बर आम्नाय के भी चार प्रमुख आचार्य श्री 108 मुनिश्री सम्भव सागरजी महाराज, श्री 108 मुनिश्री वीर सागरजी महाराज, श्री 108 मुनिश्री पुष्पदन्त सागरजी महाराज तथा श्री 105 एलक सम्मत सागरजी महाराज अपने संघों सहित ग्वालियर पधारे और कुछ दिवसों ग्वालियर में रहकर धर्मप्रभावना की तथा निर्वाण वर्ष के कार्यक्रमों को प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्रदान किया।

लोककल्याणकारी एवं निर्माण कार्य

मन्दिर निर्माण :—इस वर्ष में ग्वालियर संभाग में बारह नए मन्दिरों का निर्माण हुआ जिसपर लगभग 6.35 लाख रुपये की लागत का अनुमान है। इनमें लश्कर में श्री कन्हैयालालजी अग्रवाल द्वारा प्रदत्त दान से श्री पार्श्वनाथ ट्रस्ट ग्वालियर द्वारा लगभग 85 हजार रुपये की लागत से दानाओली में निर्मित "अहिंसा भवन एवं जिन मन्दिर", भिण्ड जिले के भी ग्राम के जैन समाज द्वारा लगभग डेढ़ लाख रुपये की लागत से एवं शिवपुरी में प्रमुखतः श्री नेमीचन्दजी गोंदवालों द्वारा प्रदत्त दान से लगभग दो लाख रुपये की लागत से निर्मित जैन मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त लश्कर में श्री सत्यनारायण पहाड़िया पर "जिन मन्दिर" दानाओली में "जैन भवन" तथा डबरा मण्डी में "वरिया पंचायती मन्दिर" के नाम

से तीन अन्य नवीन मन्दिरों का निर्माण हुआ। भिण्ड में मेहगाँव, फूफ तथा गोरमी ग्रामों में; शिवपुरी जिले के तिरसौद; गुना जिले के पिपरई; तथा मुरैना जिले के सबलगढ़ नामक स्थानों पर भगवान महावीर के मन्दिरों का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ। इसी क्रम में संभाग में स्थित अनेकों प्राचीन जैन मन्दिरों का विकास एवं जीर्णोद्धार भी कराया गया जिन पर लगभग डेढ़ लाख रुपये व्यय किये गए। इनमें माधवगंज मन्दिर लश्कर में पनिहार की प्राचीन एवं विशाल जिन प्रतिमाओं की पुनर्स्थापना व वेदी निर्माण, बड़ा मन्दिर, गस्त का ताजिया लश्कर में स्वर्णादि का कलात्मक कार्य, नया बाजार मन्दिर लश्कर में शिखर निर्माण, चंपाबाग मन्दिर लश्कर में नवीन वेदी निर्माण, वास-पूज्य पंचायती मन्दिर ग्वालियर नगर में शिखर निर्माण तथा मगरोनी (शिवपुरी), आरोन (गुना) एवं अम्बाह (मुरैना) में मन्दिर निर्माण कार्य प्रमुख हैं।

तीर्थंकर महावीर कीर्ति-स्तम्भ—देशभर में तीर्थंकर महावीर के उपदेशों के प्रचारार्थ स्थापित तीर्थंकर महावीर कीर्ति-स्तम्भों की श्रृंखला में ग्वालियर संभाग में पन्द्रह स्थानों पर कीर्ति-स्तम्भों की स्थापना का निश्चय किया गया। ग्वालियर जिले में महावीर उद्यान, हायकोर्ट रोड, लश्कर, ग्वालियर में; भिण्ड जिले में भिण्ड नगर, मौ एवं मेहगाँव में; शिवपुरी जिले में शिवपुरी नगर व मगरोनी में; मुरैना जिले में मुरैना एवं हयोपुर में; दतिया जिले में सिद्धक्षेत्र सोनागिरजी व दतिया नगर में; गुना जिले में गुना नगर, अशोकनगर व आरोन में स्थापित होनेवाले कीर्ति-स्तम्भों में से अधिकतर का निर्माण कार्य लगभग पूर्ण भी हो चुका है व शेष का शीघ्र ही पूर्ण होने की आशा है। इनके निर्माण पर लगभग 5.25 लाख रुपये के व्यय का अनुमान है।

महावीर भवन—भगवान महावीर के उपदेशों के प्रचारार्थ बहुउद्देशीय योजनाओं के क्रियान्वयन के उद्देश्य से केन्द्रीय समिति के निर्देश पर देश के प्रमुख केन्द्रों पर

धर्मचक्र-यात्रा की झलकियां

← धर्मचक्र के ग्वालियर आगमन पर आयोजित शोभा यात्रा का एक चित्र ।

← इन्द्र के धर्मचक्र पर आरूढ़ श्री पारस कुमार गंगवाल को तिलक करते हुए जिलाध्यक्ष श्री रामकृष्ण गुप्त ।

← धर्मचक्र के ग्वालियर आगमन पर उसके स्वागत के अवसर पर भाषण करते हुए ग्वालियर के जिलाध्यक्ष श्री रामकृष्ण गुप्त । चक्र वाहन पर विराजित श्री मानिकचन्द्र गंगवाल तथा खड़े हुए बाँये से दाँये—धर्मचक्र प्रवाचक डा. प्रकाशचन्द्र जैन, मानिक चन्द्र जैन एडवो., मिश्रीलाल पाटनी ।

← सोनगढ़ (गुजरात) से भारत यात्रा के दौरान ग्वालियर पधारे धर्मचक्र की शोभा यात्रा का एक चित्र ।



झलकियां

←केशलुंचन समारोह

(वांये से दाये)—श्री 105 धुल्लक धर्मसागर जी, श्री 108 मुनि संभव सागर जी, श्री 108 मुनि सुवर्ण सागर जी, व मुनि श्री चन्दनमल जी (प्रवचन करते हुए)।

←महावीर भवन निर्माण स्थल पर योजना का अवलोकन करते हुए प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्यामदासजी बिरला, उनकी वांयी ओर प्रसिद्ध उद्योग विशेषज्ञ श्री दुर्गाप्रसादजी मंडेलिया तथा वांयी ओर महावीर न्यास के उपाध्यक्ष श्री रामअवतार शर्मा।

←(वायीं ओर)—श्री 108 मुनि संभव सागर जी धार्मिक प्रवचन करते हुए।
(दाहिनी ओर)—प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्यामदास जी बिरला को महावीर भवन की योजना समझाते हुए महावीर न्यास के महामंत्री श्री मानिकचन्द्र गंगवाल।

←(नीचे)—महावीर निर्वाण महोत्सव समारोह पर एक सभा को सम्बोधित करते हुए मध्यप्रदेश के मुख्य न्यायाधिपति न्यायमूर्ति श्री शिवदयाल जी।



“महावीर भवन” के निर्माण का कार्यक्रम निश्चित किया गया था। इस सम्बर्ध में ग्वालियर में विशाल महावीर भवन के निर्माण का निश्चय किया गया। इस हेतु म० प्र० शासन से 60 हजार वर्गफीट भूमि की मांग की गई, जिस पर शासन द्वारा कम्पू प्रांगण में 30 हजार वर्गफीट भूमि प्रदान कर दी गई है व शेष निकटवर्ती भूमि की प्राप्ति के प्रयास जारी हैं। इस विशाल भवन में एक आधुनिक आडिटोरियम, सभा, एवं गोष्ठी कक्ष, शोध संस्थान पुरातत्वीय संग्रहालय, आध्यात्मिक ग्रन्थ-गार, पुस्तकालय एवं वाचनालय, साधु, सन्त एवं विद्वानों के विश्राम कक्ष, बालोद्यान एवं पुष्पवाटिका होंगे। इस पूरी योजना पर लगभग 20 लाख रुपये का व्यय अनुमानित है। इसी क्रम में दतिया जिला मुख्यालय पर भी एक लाख रुपये की लागत से महावीर भवन के निर्माण की योजना है।

छात्रावास निर्माण एवं विकास—छात्रावासों के निर्माण एवं विकास की दृष्टि से भी इस वर्ष में महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए जिनपर लगभग डेढ़ लाख रुपये की लागत का अनुमान है। लश्कर स्थित “वीर जैन छात्रावास” में “डा० ओंकारप्रसाद दीवान स्मारक पुस्तकालय एवं वाचनालय भवन”, “श्री श्यामलाल पाण्डवीय स्टेडियम” तथा दस नये कमरों व विश्रान्ति गृह का निर्माण किया गया। शिवपुरी में श्री नेमीचन्द्र-जी गौदवालों द्वारा तथा मी ग्राम जिला मिण्ड में स्थानीय जैन समाज द्वारा जैन छात्रावासों का निर्माण प्रारम्भ किया गया। इसी क्रम में मिण्ड नगर में भी एक जैन छात्रावास के निर्माण की योजना हाथ में ली गई है।

चिकित्सालय एवं प्रसूतिगृह—महापरिनिर्वाण वर्ष के अन्तर्गत विभिन्न स्थानों पर चिकित्सालयों एवं प्रसूतिगृहों का निर्माण किया गया। इन पर लगभग ढाई लाख रु. की लागत का अनुमान है। इस क्रम में ग्वालियर के उपनगर मुरार में शासन ने निःशुल्क प्राप्त भूमि पर श्री सेठ दीपचन्द्रजी जैन मुरार द्वारा अपनी सम्पूर्ण

सम्पत्ति के दान तथा जन सहयोग से “श्रीमती कस्तूरी देवी जैन प्रसूति गृह” का निर्माण प्रारम्भ किया गया। वयोवृद्ध समाजसेवी श्री श्यामलाल जी पाण्डवीय ने इसका शिलान्यास किया। इसके भवन निर्माण का कार्य लगभग पूर्ण हो चुका है व शीघ्र इसका प्रारम्भ होने की आशा है। इस पूरी योजना पर लगभग दो लाख रुपये व्यय होना अनुमानित है। इसके अतिरिक्त लश्कर में नयाबाजार स्थित जैन मन्दिर तथा शिवपुरी जिले के सिरसौद एवं रन्नोद ग्रामों में जैन औषधालय भवनों का निर्माण प्रारम्भ किया गया।

पुस्तकालय एवं वाचनालय—लोक सेवा, शैक्षणिक प्रसार एवं चरित्र निर्माण के उद्देश्य से संभाग में अनेकों स्थानों पर पुस्तकालय एवं वाचनालय प्रारम्भ किये गए। लश्कर में श्री नया मन्दिर दानाओली श्री चंपाबाग बीसपंथी पंचायती मन्दिर, जैन भवन दानाओली, तथा श्री वीर जैन छात्रावास में; मिण्ड जिले में मिण्ड नगर तथा मी, मेहगांव एवं अमायन ग्रामों में; शिवपुरी जिले में शिवपुरी नगर तथा सिरसौद एवं सुनारी ग्रामों में; गुना जिले में साढ़ौरा, आरोन एवं वामनखास ग्रामों में पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का प्रारम्भ तथा कहीं-कहीं इस हेतु भवन निर्माण का भी प्रारम्भ किया गया। इन पर लगभग पौने तीन लाख रुपये का व्यय अनुमानित है।

महाविद्यालय विद्यालय एवं पाठशालाएँ—संभाग में शिक्षा प्रसार और चरित्र निर्माण के उद्देश्य से अनेकों विद्यालयों एवं पाठशालाओं का निर्माण एवं प्रारम्भ किया गया, जिन पर लगभग 5.4 लाख रुपये के व्यय का अनुमान है। मिण्ड नगर में “श्रीमती कुसुमबाई जैन कन्या महाविद्यालय” प्रारम्भ किया गया तथा इस हेतु भवन निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। यहीं पूर्व से संचालित “जैन महाविद्यालय” में दो बड़े कमरों का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त मिण्ड जिले में मी, अटेर, अमायन, परधना, गोहद, फूफ

एवं गोरभी ग्रामों में पाठशालाएँ प्रारम्भ की गईं। शिवपुरी जिले में शिवपुरी नगर तथा सिरसौद, मगरौनी, पोहरी, एवं खनियाघाणा में पाठशालाएँ प्रारम्भ की गईं। गुना जिले में मुंगावली, ईसागढ़, राधोगढ़, अशोकनगर नामक कस्बों में विद्यालय प्रारम्भ किये गए। मुरैना जिले में मुरैना नगर में विद्यालय भवन निर्माण तथा अम्बाह, पोरसा, श्योपुर नामक कस्बों में पाठशालाएँ एवं विद्यालय प्रारम्भ किये गए। ग्वालियर जिले में, लश्कर में पार्श्वनाथ जैन मन्दिर, दानाओली, डबरा तथा मगरौनी में पाठशालाएँ प्रारम्भ की गईं। इनके अतिरिक्त श्री 13 पंथी दिगम्बर जैन मन्दिर माधवगंज लश्कर में तथा मुंगावली (गुना) में शिवणकला प्रशिक्षण विद्यालय प्रारम्भ किये गए।

धर्मशाला एवं विश्रान्ति ग्रह—संभाग में अनेकों नवीन धर्मशालाओं एवं विश्रान्ति गृहों का निर्माण तथा विकास किया गया जिन पर लगभग 22.5 लाख रुपये का व्यय अनुमानित है। इनमें ग्वालियर में दिगम्बर जैन धर्मशाला, चिक सन्तर मुरार में सवा लाख की लागत से विशाल हाल निर्माण, शिवपुरी में श्री नेमीचन्द्र जी गौंदवालों द्वारा प्रदत्त दान एवं सहयोग से एक लाख रुपये की लागत से नवीन धर्मशाला निर्माण, सिद्ध क्षेत्र श्री सोनागिरिजी में सवा बारह लाख रुपये की लागत से एक नवीन धर्मशाला निर्माण तथा पुरानी धर्मशालाओं में नवनिर्माण एवं विकास, मुरैना, गुना एवं अशोकनगर में एक-एक लाख रुपये लागत की नवीन धर्मशालाओं के निर्माण की योजनाएँ प्रारम्भ की गईं। इनके अतिरिक्त ग्वालियर उपनगर में बासपूज्य पंचायती मन्दिर धर्मशाला; भिण्ड जिले में फूफ, अमायन; शिवपुरी जिले में मगरौनी में; मुरैना जिले में श्योपुर नगर एवं अम्बाह में; गुना जिले में थोवनजी व मुंगावली में; ग्वालियर जिले में अमरौली में तथा दतिया जिले में दतिया नगर में नवीन धर्मशाला निर्माण एवं पूर्व स्थित धर्मशालाओं का विकास किया गया।

विभिन्न जैन सांस्कृतिक केन्द्रों के लिए सड़क निर्माण—निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर प्रदेश शासन द्वारा सम्बन्धित विभागों को पुरातत्विक महत्त्व के जैन संस्कृति के केन्द्रों एवं दर्शनीय स्थल तक के लिए पक्की सड़कों के निर्माण के प्रयास किये गए जिनमें थोवनजी (गुना) एवं एक पत्थर की बावड़ी (ग्वालियर दुर्ग) प्रमुख हैं। इस हेतु योजनाएँ निर्मित एवं स्वीकृत भी की जा चुकी हैं परन्तु दुर्भाग्यवश अभी इनका क्रियान्वयन नहीं हो सका है।

अन्य विविध लोक कल्याणकारी कार्य—भगवान महावीर के महापरिनिर्वाण के अवसर पर विविध प्रकार के अनेकों जनसेवी एवं लोक-कल्याणकारी कार्य भी सम्पादित किये गए। इन पर लगभग दो लाख रुपये व्यय किये गए। इनमें भिण्ड नगर, मौ फूफ (भिण्ड), शिवपुरी में कुआ निर्माण, अम्बाह (मुरैना), वामनधार, ईसागढ़, अशोकनगर—(गुना) में धाऊ निर्माण तथा अम्बाह (मुरैना), भिण्ड नगर, मौ एवं मेहगांव (भिण्ड) में बालोद्यान एवं स्त्रीङांगन निर्माण की योजनाएँ प्रारम्भ की गईं।

धार्मिक उत्सव एवं समारोह

धार्मिक समारोह—भगवान महावीर के पच्चीस सौ वें निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर अनेकों धार्मिक समारोह आयोजित किये गए। ग्वालियर संभाग में इस वर्ष में भिण्ड, शिवपुरी तथा पोरसा (मुरैना) में विशाल पंच कल्याणक समारोह आयोजित हुए, जिनपर लगभग 6.5 लाख रुपये व्यय किये गए। इनके अतिरिक्त विभिन्न मन्दिरों आदि में तेरह द्वीप मण्डल विधान, सिद्ध चक्र मण्डल विधान, पंचकल्याणक विधान, दस लक्षण विधान के पूजा समारोह, वरगोंडा यात्रा, रथयात्राएँ, निर्वाण लाडू महोत्सव, सामूहिक क्षमा वाणी समारोहों आदि के अनेकों आयोजन किए गए, जिनमें अनेकों धर्माचार्यों एवं विद्वानों के प्रवचन आयो-

जित हुए। भगवान महावीर के पाँचों कल्याण सम्बन्धी दिवसों पर एक-एक सप्ताह के कार्यक्रम आयोजित किये गए।

प्रदर्शनी—निर्वाण वर्ष में स्थान-स्थान पर भगवान महावीर के जीवन-दर्शन-देन के सम्बन्ध में जन-सामान्य को जानकारी देने के उद्देश्य से ग्वालियर में दो प्रकार की प्रदर्शनियों के प्रदर्शन को संगठित किया गया नयामन्दिर, दानाओली की प्रबन्ध समिति के तत्वाधान में एक प्राचीन साहित्य एवं कला प्रदर्शनी संगठित की गई। इसमें प्राचीन जैन साहित्य, चित्र एवं हस्तशिल्प, विभिन्न जैन तीर्थों के चित्र, प्रमुख जैन ग्रन्थ एवं शास्त्रादि, संकलित किये गए हैं। इनमें स्वर्ण अक्षरी गुटके, चावल के एक दाने पर 35 अक्षरी नमोकार मंत्र; स्फटिक-मरारि-पुष्कराज-पद्मा-कसौटी पाषाण आदि की जिन प्रतिमाएं विशेष रूप से दर्शनीय हैं। जैन नवयुवक संघ, नया बाजार पंचायती मन्दिर द्वारा “भगवान महावीर पंच-कल्याणक प्रदर्शनी” संगठित की गई। इसमें चित्रमय झांकियों के द्वारा वर्तमान महावीर के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को सरल एवं सुबोध शैली में प्रदर्शित किया गया है। यह प्रदर्शनी देश के अनेकों भागों में लगाई गई जिसे लगभग ढाई लाख व्यक्तियों ने देखा।

धर्मचक्र स्वागत समारोह—राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय स्तर पर स्थापित समितियों द्वारा देशभर में धर्मचक्र का परिभ्रमण किया गया। ग्वालियर में भी दो धर्मचक्र पधारे। प्रथमतः मध्यप्रदेश की राज्य समिति द्वारा इन्दौर से प्रारम्भ धर्मचक्र ग्वालियर पधारा। इस धर्मचक्र ने, सारंगपुर, व्यावरा, बीनागंज, कुम्भराज, राधोगढ़, रुठवाई, गुना, आरोन, साठोरा, अशोकनगर, ओडर, बहादुरपुर मुंगावली, चन्देरी, खनियाधाना, ईसागढ़, कोलारस, शिवपुरी, अर्थाखड़ा, बजरंगगढ़, छोटी बामोर, मुहारी कलाँ, चमरूढ़, नरवर, मगरौनी, पीरोठ, खतोरा, लुकवासा, शिवपुरी, डबरा, लखर, ग्वालियर, मुरार, गोहद, मौ, मेहगांव, गोरमी, भिण्ड, फूफ, अटेर, पोरसा,

अम्बाह, बरेह, मुरैना, बामोर, जीरा, सबलगढ़, श्योपुर-कलाँ, दतिया, सोनागिरि, करैरा, भितरवार वकैलारस स्थानों पर भ्रमण किया। सभी स्थानों पर इसके स्वागत में समारोह आयोजित किये गए व विभिन्न बोलियों तथा गुप्तदान के रूप में 2,59,553 रुपये दानस्वरूप प्राप्त हुए।

तदुपरान्त सोनगढ़ से प्रारम्भ धर्मचक्र भी ग्वालियर पधारा। यह धर्मचक्र भी ग्वालियर संभाग में अनेकों स्थलों पर गया जहाँ इसके स्वागत में विशाल समारोहों तथा इसकी शोभा यात्राओं का आयोजन हुआ। इस अवसर पर आयोजित विभिन्न सभाओं में अनेकों विद्वानों के प्रवचन हुए। धर्मचक्र के रक्षक, वाहक, ध्वजरक्षक आदि की बोली में भी ग्वालियर संभाग के विभिन्न स्थानों से उल्लेखनीय दानराशि प्राप्त हुई।

प्रवचन, व्याख्यान, गोष्ठी, सभा एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम—समारोह वर्ष में संभाग में विभिन्न स्थानों पर अनेकों प्रवचनों, सभाओं आदि के आयोजन किये गए। ग्वालियर में पधारे (पूर्व वर्णित) विभिन्न धर्माचार्यों ने अपनी दैनिक सभाओं में चार्मिक प्रवचन किये जिससे धर्म प्रभावना एवं जनजागरण का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। मुनिश्री चन्दनमलजी सम्पूर्ण वर्ष यहीं रहे, उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेकों हरिजनों एवं दलितों ने मांसाहार एवं मद्यपान त्याग के व्रत लिये एवं इन दोषों का सामूहिक त्याग किया।

वर्ष के प्रारम्भ में आयोजित निर्वाण महोत्सव सप्ताह में वीर शिक्षा समिति व जैन नवयुवक संघ के सहयोग से वीर जैन छात्रावास में एक सप्ताह तक जैन मेला आयोजित किया गया। इस अवसर पर परिचर्चा, गोष्ठी, युवक सम्मेलन एवं वाद विवाद प्रतियोगिता आयोजित हुई। महावीर जयन्ती पर भी एक सप्ताह के कार्यक्रम आयोजित किये गए। इनमें सभा बाल-प्रतियोगिताएं, खेलकूद एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त वर्ष भर अनेकों अवसरों पर प्रवचन,

व्याख्यान, गोष्ठी, सभा, वादविवाद-खेलकूद, एवं सांस्कृतिक प्रतियोगिताएँ, नाटक, नृत्य नाटिका, धार्मिक संगीत सभाएँ आदि आयोजित की गईं। वर्ष समापन के अवसर पर बीमर्षी चम्पाबाग घर्मशाला, नई सड़क में जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा पाँच दिवसीय व्याख्यान माला आयोजित की गई। साथ ही स्थानीय समिति द्वारा धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं सामूहिक रथयात्रा आयोजित की गई।

वर्षभर में स्थानों-स्थानों पर अनेकों व्याख्यानों, परिचर्चाओं एवं गोष्ठियों एवं सभाओं के आयोजन किये गए जिनमें सर्वश्री मोहनलाल सुखाड़िया, राज्यपाल तामिलनाडु, अगरचन्द नाहटा बीकानेर, डा० हुकुमचन्द भारिल्ल जयपुर, पं० दयाचन्द शास्त्री सागर, मुख्यमंत्री श्री प्रकाश चन्द सेठी, लोकनिर्माण मंत्री गुलाबचन्द तामोठ भोपाल, गोरेलाल शुक्ल सदस्य म. प्र. राजस्व मंडल ऋषि कुमार पाण्डे संभागीय आयुक्त ग्वालियर, श्यामलाल पाण्डवीय भू. पू. उद्योग मंत्री ग्वालियर, श्रीमती ज्ञानवती सक्रोना जबलपुर, श्रीमती चन्द्रकला सहाय भू. पू. उप शिक्षामंत्री ग्वालियर, ब्रिगेडियर पद्म-श्री भुवन चन्द्र पान्डे, श्रीमती रूपवती किरण जबलपुर, एम. एन. देशपाण्डे डायरेक्टर जनरल आर्किटेक्चर-कल सर्वे आफ इण्डिया दिल्ली, डा. बी. बी. लाल इन्स्टीट्यूट आफ डवान्स स्टडीज, शिमला, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य वाराणसी, पं० परसराम शास्त्री, इन्दौर, सरदारसिंह चोरड़िया ग्वालियर ब्र. शकुन्तला देवी ललितपुर, भारतभूषण त्यागी ग्वालियर, डा. के. डी. वाजपेयी सागर, यशपाल जैन दिल्ली, हीरालाल श्रीमाल ग्वालियर, पं. डा. लालबहादुर शास्त्री दिल्ली, गोविन्दनारायण टण्डन कुलपति जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर, मिश्रीलाल गंगवाल इन्दौर, डॉ. महेन्द्र, सागर प्रचंडिया अलीगढ़, देवकुमार सिंह कासलीवाल इन्दौर, बाबूलाल जैन जमादार बडौत (मेरठ), पं. श्यामसुन्दर लाल शास्त्री फिरोजाबाद पं०

मकखनलाल शास्त्री मुरेना, पं. ज्ञान चन्द बाणीभूषण विदिशा, पं. राजमल शास्त्री भोपाल, प्रो. आर. सी. मेहता ग्वालियर, मुख्य न्यायाधिपति शिवदयाल श्रीवास्तव, न्यायमूर्ति सी. एम. लोढ़ा, न्यायमूर्ति यू. एन. वाच्छावत, न्यायमूर्ति एस. आर. ध्यास, पी. के. श्रीवास्तव ग्वालियर पं. अभयचन्द्र शास्त्री विदिशा, मिश्रीलाल चोघरी गुना, श्रीमती मायादेवी चोरड़िया ग्वालियर, पं. धर्मचन्द्र शास्त्री सागर, पं. कपूरचन्द्र वरैया ग्वालियर, सत्यधर कुमार सेठी उज्जैन, चन्दनमल वैद वित्त मंत्री राजस्थान, पं. हरिहर निवास द्विवेदी एडवो. ग्वालियर, रमेशचन्द्र खांडेकर पूर्व सांसद ग्वालियर, चन्द्र मोहन नागोरी पत्रकार ग्वालियर, रवीन्द्र मालव ग्वालियर, श्रीमती सुशीला खाण्डेकर ग्वालियर, आतमदास, पूर्व सांसद ग्वालियर डा. धर्मवीर ग्वालियर, राजेन्द्र सिंह, लोक निर्माण राज्य मंत्री, ग्वालियर, निर्मल कुमार जैन एडवो., डा. वीरेन्द्र गंगवाल, ग्वालियर, आवि अनेक विद्वानों शिक्षाविदों एवं सभाजसेवियों के व्याख्यान आयोजित हुए।

भगवान महावीर के पच्चीस सौ वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर वर्ष भर ग्वालियर संभाग के कौने-कौने में महावीर स्वामी के सन्देशों एवं उपदेशों के प्रचारार्थ अनेकों कार्यक्रम आयोजित हुए, साथ-ही-साथ इस उद्देश्य से स्थाई रूप से कार्य करने हेतु विभिन्न संस्थाओं एवं न्यासों का निर्माण तथा अनेकों जनसेवी एवं लोक-कल्याणकारी कार्यों का आयोजन एवं सम्पादन किया गया। ग्वालियर संभाग में इस सन्दर्भ में निर्मित ऐसी विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन पर लगभग चालीस लाख रूपयों का व्यय अनुमानित है। इस प्रकार भगवान महावीर का महापरिनिर्वाण महोत्सव ग्वालियर संभाग के जन-सामान्य को वर्षों स्मृत रहेगा व इस अवसर पर निर्मित विभिन्न स्मारक एवं लोक-कल्याण संस्थान आने-वाले युगों तक जन-सामान्य के प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे।



“महावीर भवन” शिलान्यास समारोह

ऊपर (बांये)—मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचन्द्र जी सेठी को वैंज लगाते हुए महावीर न्यास के मंत्री श्री मिश्रीलाल पाटनी । (ऊपर दांये)—महावीर भवन के शिलान्यास के अवसर पर भूमि पूजन करते हुए मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचन्द्र सेठी ।

मध्य में—महावीर न्यास के अध्यक्ष श्री सरदारसिंह चोरडिया, उपमंत्री श्री चन्द्रप्रभाष शेखर (बांये) तथा शिक्षामंत्री श्री अर्जुनसिंह (दाहिने) का स्वागत करते हुए ।

नीचे (बांये)—मुख्यमंत्री श्री सेठी समारोह के अध्यक्ष वयोवृद्ध समाजसेवी श्री श्यामलाल पाण्डवीय भू. पू. उद्योग मंत्री का अभिनन्दन करते हुए । (दाहिने) महावीर भवन के शिलान्यास के अवसर पर आयोजित समारोह में सभी को उद्बोधित करते हुए मुख्य अतिथि श्री प्रकाशचन्द्र सेठी ।



म. प्र. उच्च न्यायालय भवन के निकट स्थित “महावीर उद्यान”
में निर्मित “तीर्थंकर महावीर कीर्ति स्तम्भ”

भगवान महावीर महापरिनिर्वाण महोत्सव वर्ष की स्थाई उपलब्धि

“श्री २५००वाँ भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास”

एक रुप

तीर्थंकर महावीर के 2500वें निर्वाण महोत्सव वर्ष के अन्तर्गत जहाँ राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय स्तर पर अनेकों कार्यक्रमों एवं समारोहों का आयोजन किया गया वहाँ विभिन्न स्तरों पर स्थायी प्रकृति के भी अनेकों कार्य सम्पन्न हुए अथवा प्रारम्भ किये गए। ग्वालियर में भी जिला स्तर पर कार्यरत शासकीय समिति तथा सामाजिक समितियों की परस्पर सहमति से भगवान महावीर के उपदेशों के प्रचार, प्रसार तथा तत्सम्बन्धी स्थायी स्मारकों के निर्माण, विकास, संरक्षण तथा संचालन आदि के उद्देश्य से स्थायी रूप से कार्य करने के लिये “श्री 2500 वाँ भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास, ग्वालियर” का गठन किया गया तथा यह निश्चित किया गया कि यह न्यास निम्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विभिन्न कार्य करेगा।

उद्देश्य—

न्यास के निम्नलिखित उद्देश्य होंगे :

- (क) भगवान महावीर के 2500वें निर्वाण महोत्सव को स्थाई रूप देने के लिये ग्वालियर नगर के प्रमुख स्थान पर शासन द्वारा प्राप्त भूमि पर महावीर भवन का निर्माण करना एवं उसके साथ पुस्तकालय का भी प्रावधान करना एवं उसमें महावीर की वाणी एवं उनके उपदेशों को अंकित करना तथा महावीर भवन का उनके सिद्धांतों के अनुरूप उसका प्रयोग करना, सार्वजनिक उपयोग में लाना।
- (ख) भगवान महावीर के सिद्धांतों का प्रचार व प्रसार करना तथा उनकी स्मृति में स्मारक,

पुस्तकालय, वाचनालय, स्वाध्याय भवन, संग्रहालय, समा भवन, बाल क्रीड़ा केन्द्र आदि निर्मित करना ।

- (ग) भगवान महावीर की स्मृति को स्थायी रूप देने हेतु पाषाण स्तम्भ, शिलालेख, अभिलेख, कीर्ति स्तम्भ, आदि का निर्माण करना, जिन पर भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का अंकन करना आदि ।
- (घ) पुरातत्व, कला एवं स्थापत्य का सचित्र प्रामाणिक सर्वेक्षण करना तथा शास्त्रों से संकलित उपदेशों, सूक्तियों का संग्रह विभिन्न भाषाओं में करना ।
- (च) भारतीय दर्शन, जैन दर्शन एवं प्राचीन भारतीय संस्कृति, समाज, कला व स्थापत्य आदि विषयों पर शोध-कार्य करनेवाले छात्रों को पदक, छात्रवृत्ति अथवा शोधवृत्ति प्रदान करना तथा इस प्रकार के अध्ययन को प्रोत्साहित करना ।
- (छ) भारतीय संस्कृति में भगवान महावीर एवं दर्शन का क्या योगदान है इस बाबत अंग्रेजी व भारतीय भाषाओं में अनुवादों, पुस्तिकाएँ प्रकाशित कर जनसाधारण में वितरण करना ।
- (ज) विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं तथा नगर में समय-समय पर विचारगोष्ठियों, भाषण मालाओं, सेमीनारों आदि का आयोजन करना जिनमें भगवान महावीर के विशेष सिद्धान्त, अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत आदि के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना और जीवाजी विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी पर रिसर्च अध्ययन हेतु पृथक् चेंबर की स्थापना करना ।
- (त) भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा उपदेशों के प्रचार-प्रसार हेतु पत्र-

पत्रिकायें, पत्रचे, स्मारिकायें आदि का प्रकाशन ।

- (थ) समय-समय पर स्वयं या विभिन्न शैक्षणिक समाजसेवी संस्थाओं के सहयोग से भगवान महावीर एवं उनके दर्शन से सम्बन्धित विषयों पर वाद-विवाद, निबन्ध, लेख, कहानी, चित्रकला पर प्रतियोगितायें आयोजित करना । विजयी प्रतियोगियों को पुरस्कृत करना आदि ।

- (द) भगवान महावीर के धार्मिक सिद्धान्तों एवं उपदेशों के प्रचार-प्रसार को रचनात्मक एवं क्रियात्मक रूप देने हेतु उपरोक्त कार्यों से मिलते-जुलते अन्य कार्य करना ।

- (प) सभी धर्मों में सहिष्णुता एवं सामंजस्य का वातावरण निर्माण करना एवं उसके लिये सर्वधर्म-सम्मेलन आदि का आयोजन करना

- (फ) भगवान महावीर के सिद्धान्तों के अनुरूप जनसाधारण की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक उन्नति के लिये तथा उसकी ज्ञान वृद्धि के कार्य करना, उनको प्रोत्साहित करना तथा उक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संस्थाएँ स्थापित करना तथा इन उद्देश्यों के हेतु चल रही अन्य संस्थाओं, समितियों तथा संघों की सहायता करना ।

न्यास मण्डल हेतु दो प्रकार के सदस्य वर्ग रखे गए हैं । प्रथमतः संस्थाएँ एवं संस्थान, जो न्यूनतम ढाई हजार रुपया न्यास को प्रदान करें, तथा द्वितीयतः व्यक्तिगत सदस्य जो न्यूनतम एक हजार रुपया न्यास को प्रदान करें । न्यास को प्रारम्भिक सदस्य के रूप में प्रथम वर्ग के तेईस (23) तथा द्वितीय वर्ग के बासठ (62) सदस्यों की स्वीकृति प्राप्त हुई । न्यास मण्डल

की प्रथम बैठक में न्यास का विधान स्वीकृत कर प्रथम कार्यकारिणी निर्वाचित की गई जिसमें श्री सरदारसिंह चोरडिया अध्यक्ष सर्वश्री तेजमल हर्षावत, रामअवतार शर्मा तथा केशरीमल गंगवाल उपाध्यक्ष, श्री मानिकचन्द्र गंगवाल एडवोकेट महामंत्री, सर्वश्री मानिकचन्द्र जैन, टीकमचन्द्र बापना तथा महेन्द्र कुमार जैन मंत्री, तथा श्री गंगाधर सरावगी कोषाध्यक्ष तथा बाईस अन्य महानुभाव कार्यकारिणी के सदस्य मनोनीत किये गए।

महावीर भवन :

न्यास ने अपनी प्रारम्भिक गतिविधि के रूप में जहाँ निर्वाण वर्ष में ग्वालियर में आयोजित प्रमुख कार्यक्रमों में सक्रिय सहयोग दिया, वहाँ ग्वालियर में स्थायी रूप से रचनात्मक गतिविधियों के संचालन हेतु "महावीर भवन" के रूप में एक ऐसे स्थायी एवं आधुनिक केन्द्र के निर्माण का निश्चय किया जिसमें एक विशाल सभागृह (आडिटोरियम) के अतिरिक्त शोध संस्थान, पुरातत्वीय संग्रहालय, कला वीथिका, अध्यात्मिक पुस्तकालय एवं वाचनालय, साधु-सन्तों तथा विद्वज्जनों के स्वाध्याय एवं विश्राम कक्ष की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हों। इसके निर्माण हेतु प्रसिद्ध वास्तुविद श्री लालधर एवं ऐसोशियेट्स आर्किटेक्ट एण्ड इंजीनियर्स, नई दिल्ली से इसका डिजाइन तथा एस्टीमेट तैयार कराया गया, जिसके अनुसार इस पर लगभग 20 लाख रुपया व्यय होने का अनुमान है। न्यास ने मध्यप्रदेश शासन से इस हेतु कम्पू मैदान में 300 × 200 फीट का भूखण्ड प्रदान करने की मांग की जिस पर शासन ने प्रारम्भिक रूप से 200 × 150 फीट का भूखण्ड लीज पर न्यास को प्रदान करने की स्वीकृति दे दी, शेष के लिये न्यास अभी भी प्रयासरत है।

कम्पू मैदान स्थित इस भूखण्ड पर बुधवार, दिनांक 17 जुलाई 1974 को प्रातः दस बजे, मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री माननीय प्रकाशचन्द्रजी सेठी द्वारा इस भवन की आधार शिला रखी गयी। इस अवसर

पर बयोबूढ़ समाजसेवी श्री श्यामलालजी पाण्डवीय (भू० पू० उद्योग मंत्री०, म० सं० शासन) की अध्यक्षता में पदमा विद्यालय के सरस्वती भवन में उदघाटन समारोह में पूज्य मुनि श्री चन्दमल ने भी इस योजना को अपना आशीर्वाद दिया तथा न्यास अध्यक्ष श्री सरदारसिंहजी चोरडिया ने इस योजना का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया। इस अवसर पर शिलान्यास में प्रयुक्त कच्ची एवं तसली के विक्रय की बोली के रूप में न्यास को चालीस हजार रुपयों के दान के भी वचन प्राप्त हुए। इसके साथ ही इस योजना के हेतु मध्यप्रदेश शासन से पचास हजार रुपये तथा नगरपालिक निगम, ग्वालियर से एक लाख रुपयों का अनुदान भी स्वीकृत किया गया।

न्यास मण्डल के विशेष अनुरोध पर देश के प्रसिद्ध उद्योगपति माननीय धनश्यामदास जी बिरसा ने निर्माण स्थल पर दि. 18 मार्च 1975 को उनके सम्मान में आयोजित एक समारोह में भवन की योजना का अवलोकन किया तथा उस पर अपने सुझाव दिये। इस अवसर पर माननीय बिरलाजी ने "महावीर भवन" के निर्माण हेतु उदारतापूर्वक ढाई लाख रुपयों की धनराशि दानस्वरूप प्रदान करने की घोषणा की। इस प्रकार न्यास को आर्थिक साधन जुटाने की दिशा में पर्याप्त एवं प्रोत्साहक आश्वासन एवं सहयोग उपलब्ध हुआ जिससे इसके निर्माण कार्य को शीघ्र पूरा करने के प्रयास किये गए।

स्थान के प्रसंग को लेकर दुर्भाग्यवश नगर के कुछ राजनीतिक तत्त्वों ने अपने विरोध के माध्यम से उसे राजनीतिक रूप देने का प्रयास किया, फलस्वरूप निर्माण कार्य स्थगित कर दिया गया। इससे योजना के प्रोत्साहकों को तीव्र वेदना हुई। न्यास मण्डल के अध्यक्ष श्री सरदारसिंह चोरडिया ने घोषणा की कि यदि नगर का एक भी व्यक्ति या वर्ग इसका विरोध करेगा तो न्यास, इस योजना को जो कि ग्वालियर के जन-सामान्य के हितार्थ एक अभूतपूर्व उपलब्धि के रूप में

क्रियान्वित किया जाना है, स्थगित कर देगा। परिणामस्वरूप यह योजना विगत में एक बड़े अन्तराल तक स्थगित रही, परन्तु यह प्रसन्नता की बात है कि अब इस प्रकार के संकेत मिले हैं कि ग्वालियर के सभी वर्गों के नागरिक इसके निर्माण में तीव्र रुचि रखते हैं, व इसी स्थान पर इसके निर्माण के लिये पूर्ण सहयोग देने को तत्पर हैं। ऐसी आशा की जाती है कि परिवर्तित परिवेश में शासकीय बाधाएँ भी शीघ्र ही समाप्त हो जाएँगी।

महावीर कीर्ति स्तम्भ—तीर्थंकर महावीर के 2500वें निर्माण महोत्सव वर्ष के अवसर पर देशभर में स्थापित कीर्ति स्तम्भों के निर्माण की शृंखला में न्यास ने ग्वालियर में एक भव्य “महावीर कीर्ति स्तम्भ” की स्थापना का निश्चय किया। इस हेतु न्यास के निवेदन पर नगरपालिक निगम ग्वालियर के द्वारा मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय भवन के निकट स्थित उद्यान में “महावीर कीर्ति स्तम्भ” व “महावीर उद्यान” के निर्माण की स्वीकृति प्रदान करना स्वीकार कर लिया। तदनुसार दिनांक 1375 सितम्बर 75 को नगरपालिक निगम, ग्वालियर के तत्कालीन प्रशासक श्री रामकृष्ण गुप्ता द्वारा उक्त कीर्ति स्तम्भ की आधारशिला रखी गयी। श्वेत मंगमरमर से निर्मित तेईस फीट ऊँचा यह विशाल कीर्ति स्तम्भ अब पूर्णतः निर्मित हो चुका है,

जिसके चारों ओर भगवान महावीर के प्रमुख उपदेश अंकित किये गए हैं। स्तम्भ के चारों ओर का उद्यान विकसित किया जा रहा है, जिसके शीघ्र पूर्ण होने की आशा है। ऐसी अपेक्षा है कि आगामी महावीर निर्वाण दिवस तक इस स्तम्भ का उद्घाटन भी सम्पन्न हो सकेगा।

भावी कार्यक्रम—न्यास के भावी कार्यक्रम के रूप में प्रमुख, “महावीर भवन” का निर्माण है, जिसके आगामी वीर निर्वाण दिवस तक प्रारम्भ हो जाने की आशा है। इसके साथ ही उसमें संग्रहालय, पुस्तकालय एवं शोध संस्थान की स्थापना का कार्य भी हाथ में लिया जावेगा। महावीर भवन की सम्पूर्ण योजना के विकास के साथ ही आध्यात्मिक, शैक्षणिक तथा बौद्धिक विकास की दिशा में ग्वालियर को इस महत्वपूर्ण संस्थान की बहुमुखी सेवाएँ उपलब्ध होंगी जो ग्वालियर के विकास को नई दिशा देगी।

इस सारे पुनीत कार्य में अभी तक पर्याप्त जन-सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिये न्यास सीमाशुभाशी है। और ऐसी अपेक्षा है कि भविष्य में भी उसे ऐसा ही सक्रिय जनसहयोग प्राप्त होता रहेगा और वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल होकर ग्वालियर की बड़ी महत्वपूर्ण सेवा कर सकेगा।



जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित

श्री २५००वां, भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव, व्याख्यान माला

एक रिपोर्टाज

श्री 2500वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के अवसर पर देशभर में आयोजित विभिन्न कार्यक्रमों के क्रम में जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला ग्वालियर के बुद्धिजीवी जगत के लिये अभूतपूर्व कार्यक्रम के रूप में वर्षों तक अविस्मरणीय रहेगी, जिसमें निरन्तर पाँच दिवस तक विभिन्न विषयों पर देश के मूर्धन्य विद्वानों ने अपने उच्चस्तरीय एवं शोधपूर्ण व्याख्यानों में इस क्षेत्र के बुद्धिजीवियों के मध्य ज्ञानगंगा प्रवाहित की।

जीवाजी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री गोविन्द-नारायण टण्डन ने दिनांक 6 नवम्बर 1975 को आयोजित उद्घाटन समारोह में व्याख्यानमाला का उद्घाटन करते हुए अपेक्षा की कि यह व्याख्यानमाला देश की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक जैन संस्कृति तथा देश की साहित्य सम्पदा के विशालतम भाग जैन वाङ्मय के अनेक लुप्त प्रसंगों को उजागर करेगी और इस दिशा में कार्य करने के लिये शोधार्थियों को आकर्षित

करने के साथ-साथ जन-सामान्य को भी लाभप्रद ज्ञान उपलब्ध करायेगी। प्रथम दिवस के मुख्य वक्ता के रूप में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, नई दिल्ली के महानिदेशक श्री मधुसूदन नरहरि देशपाण्डे ने "जैन पुरातत्व एवं कला" विषय पर वृहद एवं सारगर्भित व्याख्यान दिया तथा पुरातत्व एवं कला के सन्दर्भ में जैनों के महत्त्वपूर्ण योगदान पर भी अपने विचार प्रकट किये। डॉ. देशपाण्डे ने अपने व्याख्यान के क्रम में सन्दर्भित पुरातत्वीय स्थलों एवं अवशेषों के स्लाइड्स का भी प्रदर्शन किया। सभापति डॉ. बृजवासीलाल, वरिष्ठ आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व अध्ययनशाला, जीवाजी विश्व-विद्यालय ने अपने अध्यक्षीय भाषण में ग्वालियर और इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में जैन पुरातत्व एवं कला के विशाल भण्डार का शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करते हुए इस दिशा में वृहद शोध-कार्य तथा इस सम्पदा के संरक्षण की आवश्यकता प्रतिपादित की।

द्वितीय सभा (दिनांक 7 नवम्बर 1975) के अतिथि वक्ता के रूप में स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के प्राचार्य, जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् प. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री सिद्धान्ताचार्य ने "भगवान् महावीर : जीवन और दर्शन" विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए भगवान् महावीर के पूर्व भवों की घटनाओं के तारतम्य में जैन दर्शन के विकास की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत कर तात्विक दृष्टि से उसका विवेचन किया तथा उसके महत्व पर प्रकाश डाला। सभापति बिरसा उद्योगों के महा प्रबन्धक श्री सरदारमिहजी चोरडिया ने तीर्थंकर महावीर और उनके दर्शन के मानवीय पक्ष का विवेचन प्रस्तुत किया।

तृतीय सभा (दिनांक 8 नवम्बर 1975) के अतिथि वक्ता श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, प्राचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ने अपने शोधपूर्ण एवं सारगर्भित व्याख्यान में "जैन मूर्तिशास्त्र" के दार्शनिक एवं कलात्मक पक्ष की वृहद रूपरेखा प्रस्तुत कर इस सन्दर्भ में मध्यप्रदेश में जैन मूर्तिकला के योगदान पर भी विचार प्रकट किये। सभा के अध्यक्ष प्रसिद्ध साहित्यकार श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने तोमर शासनकाल में खालियर में हुए मूर्ति स्खनन तथा जैन साहित्यकारों, कलाकारों के स्लाइड्स भी प्रदर्शित किये। साथ ही सन्दर्भित चित्रों के योगदान के सन्दर्भ में शोधपूर्ण व्याख्यान दिया।

चतुर्थ सभा (दिनांक 9 नवम्बर 1975) के अतिथि वक्ता राष्ट्रीय व्यातिप्राप्त साहित्यकार एवं पत्रकार श्री मणपाल जैन, मंत्री, मस्ता साहित्य मण्डल, नई

दिल्ली ने 'वर्तमान युग में भगवान् महावीर के उपदेशों की मार्थकता' विषय पर अपने सारगर्भित व्याख्यान में जैन दर्शन के वैज्ञानिक, व्यावहारिक, तथा समाज-शास्त्रीय पक्ष का सूक्ष्म विवेचन किया। सभापति न्यायभूति श्री यू. एन. वाच्छावत ने भगवान् महावीर के अहिंसा दर्शन और दिव्य शान्ति के सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता विषय पर विवेचनात्मक विचार प्रकट किये।

पंचम एवं अन्तिम सभा (दिनांक 10 नवम्बर 1975) के अतिथि वक्ता जैन साहित्य एवं इतिहास के मूर्दान्य एवं अधिकारिक विद्वान् श्री अंगरचन्द्रजी नाहटा, बीकानेर ने "जैन साहित्य" विषय पर अपने शोधपूर्ण एवं सारगर्भित व्याख्यान में भारतीय साहित्य में जैन साहित्य के स्थान और उसके विकास एवं योगदान का सूक्ष्म विवेचन किया। सभा में विशेष रूप से उपस्थित मुनि श्री चन्दनमलजी ने अपरिग्रह दर्शन की विवेचना की तथा सभापति श्री चन्दनमल वैद, वित्त मंत्री, राजस्थान शासन ने तीर्थंकर महावीर और उनकी सामाजिक क्रान्ति विषय पर अपने विचार प्रकट किये।

व्याख्यानमाला के संयोजक जीवाजी विश्वविद्यालय महासभा एवं विद्या परिषद् के सदस्य श्री रवीन्द्र मालव ने अत्यधिक कुशलतापूर्वक सभाओं का संचालन किया, तथा अतिथियों का परिचय प्रस्तुत किया। उप कुल-मन्त्रि श्री घनश्याम गौतम ने विश्वविद्यालय की ओर से अतिथियों का स्वागत तथा आभार प्रदर्शन किया। पाँच दिवस तक आयोजित इन सभाओं में नित्य प्रति लगभग एक हजार की संख्या में श्रोतागण उपस्थित हुए।

जीवाजी विश्वविद्यालयीन, महावीर महा परिनिर्वाण व्याख्यान माला

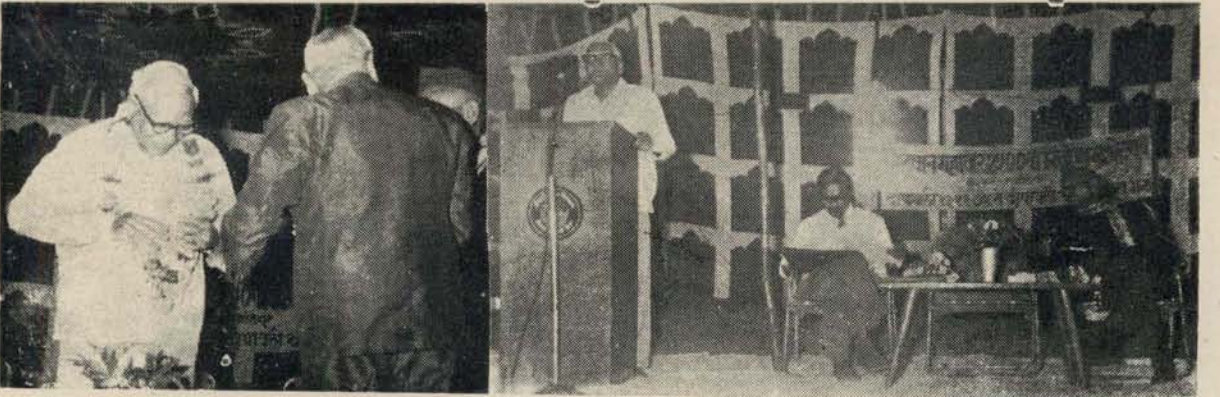


ऊपर (वांये से दांये)—व्याख्यान माला के प्रथम दिवस आयोजित उद्घाटन समारोह में (1) अतिथियों का स्वागत करते हुए व्याख्यान माला के संयोजक श्री रवीन्द्र मालव (2) उद्घाटन भाषण करते हुए कुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन (3) अतिथि वक्ता श्री एम. एम. देशपाण्डे द्वारा व्याख्यान, (4) सभापति श्री डा. वी. वी. लाल द्वारा अध्यक्षीय सम्बोधन, तथा (5) मंच का एक दृश्य ।



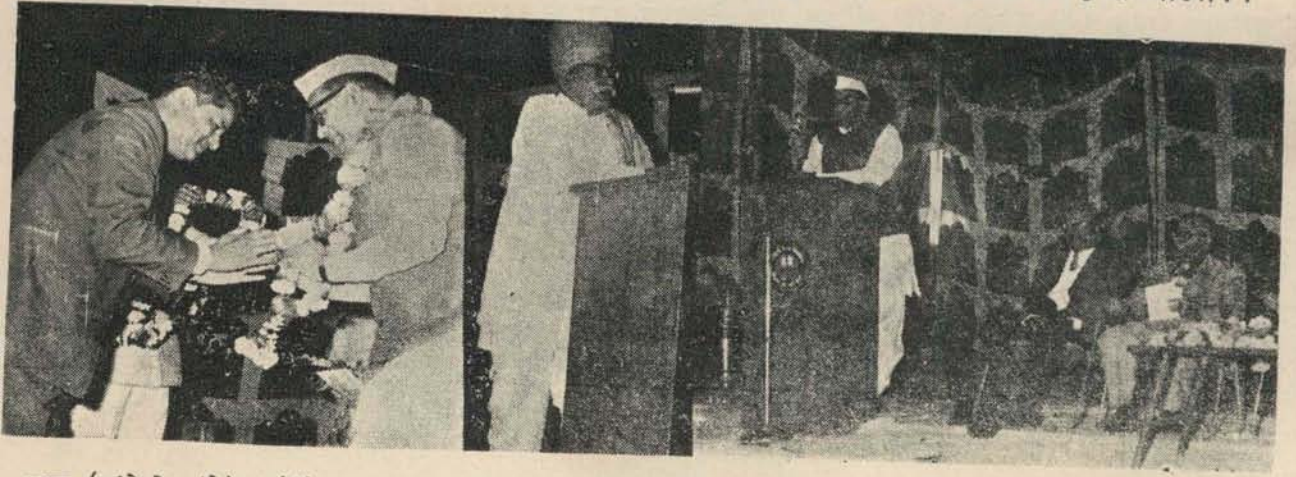
मध्य (वांये से दांये)—द्वितीय सभा में (1) मुख्य वक्ता श्री पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्य तथा (2) सभापति श्री सरदारसिंह चोरड़िया का स्वागत करते हुए कुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन (3) मंच का एक दृश्य ।

नीचे (वांये से दांये)—(1) तृतीय सभा के मुख्य वक्ता डा. के. डी. वाजपेयी, सागर व सभापति श्री हरिहर निवास द्विवेदी का स्वागत करते हुए कुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन (2) मुख्य वक्ता डा. कृष्णदत्त वाजपेयी द्वारा व्याख्यान ।





ऊपर (बांये से दांये)—चतुर्थ सभा में—कुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन द्वारा—(1) मुख्य वक्ता श्री यशपाल जैन दिल्ली, (2) समापति जस्टिस यू. एन. वाच्छावत का स्वागत, (3) मुख्य वक्ता श्री यशपाल जैन द्वारा व्याख्यान ।



मध्य (बांये से दांये)—(1) समापन समारोह के अवसर पर उप कुलसचिव श्री घनश्याम गौतम द्वारा मुख्य अतिथि श्री चन्दनमल वैद का स्वागत, (2) मुख्य वक्ता श्री अगरचन्द्र नाहटा, बीकानेर द्वारा व्याख्यान, (3) मुख्य अतिथि श्री चन्दनमल वैद द्वारा समापन भाषण ।

नीचे (बांये से दांये)—मुनि श्री चन्दनमल जी द्वारा आशीर्वाद, (2) श्री सरदारसिंह चोरडिया द्वारा स्वागत भाषण, (3) उप कुलसचिव श्री घनश्याम गौतम द्वारा आभार, तथा (4) उपस्थित दर्शक समूह की एक झलक ।



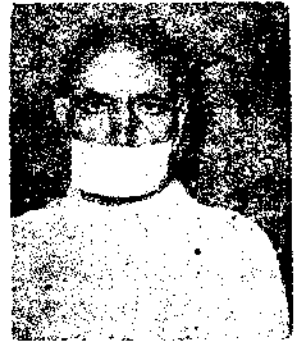
लेखक परिचय

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी

प्रतिष्ठित जैनाचार्य, आध्यात्मिक सन्त । प्रखरवक्ता एवं चिन्तक, भावनात्मक कवि । जैन धर्म एवं दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् । अनेकों भाषाओं के ज्ञाता । श्रमण संस्कृति के प्रचारक एवं तदर्थ समर्पित । अनेकों काव्य रचनाएँ प्रकाशित । अनेकों पुस्तकों के रचयिता ।

आचार्य श्री तुलसी जी

आध्यात्मिक सन्त एवं वक्ता । प्रतिष्ठित, जैनाचार्य, अनुशास्ती, प्रखर चिन्तक । अणुव्रत धर्म के प्रचारक एवं इसके माध्यम से राष्ट्र एवं मानव मात्र के कल्याणार्थ, नैतिक चरित्र निर्माण के महान् यज्ञ में संलग्न एवं तदर्थ समर्पित । अनेकों भाषाओं के ज्ञाता । जैन धर्म एवं दर्शन का विषय अध्ययन । अनेकों धर्म ग्रन्थों एवं पुस्तकों के रचयिता, सम्पादक, अनुवादक एवं प्रेरक । सन्तों की प्रतिष्ठित परम्परा । संघ के सहयोगी सन्तों के प्रेरक । संघ के द्वारा जैन आगम ग्रन्थों के सम्पादन, अनुवाद, एवं प्रकाशन का ऐतिहासिक कार्य ।

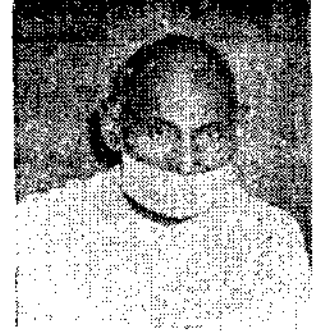


उपाध्याय मुनि विश्वानन्द जी

सन्त प्रवर, प्रखर अध्याता, चिन्तक, लेखक एवं वक्ता । श्रमण संस्कृति के समन्वयकारी उन्नायक, विश्वधर्म के प्रणेता । दक्षिण भारत के शेडवल (शेडवाल) में एक सम्पन्न परिवार में जन्म : दिनांक 22 अप्रैल 1922 ई० । श्री 108 मुनि ज्ञान यागर विश्वानन्द शेडवाल में अध्ययन, तदुपरान्त वही आचार्य-प्रवर नाचार्य । 1942 की जनक्रान्ति में कारावास यात्रा । तबोमूर्ति श्री 108 आचार्य महाकीर्ति महाराज से ब्रह्मचर्य दीक्षा, साधनारण रहकर पार्श्वकीर्ति नाम से भूल्लक अवस्था में दीक्षित, 25 जुलाई 63 को श्रद्धेय श्री 108 आचार्य देशभूषणजी महाराज की प्रेरणा से परम दिगम्बर मुनिधर्म में दीक्षित होकर मुनि विश्वानन्दजी महाराज के नाम से विभूषित । बह्मीनाथव जोगीमठ जैसे दुर्गमस्थानों सहित देश के सुदूर क्षेत्रों में दिगम्बरत्व स्वरूप में पदयात्रा कर श्रमण संस्कृति का प्रसार किया । संस्कृत, हिन्दी, कन्नड, मराठी, अंग्रेजी, तमिल, गुजराती भाषाओं एवं संगीत में निपुण । अनेकों ग्रन्थों एवं पुस्तकों के रचयिता ।

मुनि श्री नयमल जो

जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान, प्रखर विचारक, लेखक। अणुव्रत अनुशास्त्रा आचार्य श्री तुलसी के वरिष्ठ सहयोगी। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता। अनेकों दुर्लभ आगम ग्रन्थों का सम्पादन तथा संशोधन एवं पूति कर उन्हें प्रकाशित किया। अनेकों शोधग्रन्थ, मौलिक ग्रन्थ, तथा टीकाएँ प्रकाशित। सम्पर्क—आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राजस्थान)।

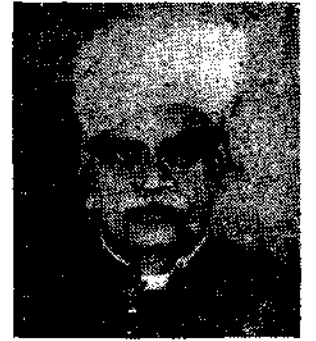


मुनि श्री चन्दनमल जो

प्रखर लेखक-कवि, अपभ्रंश एवं प्राकृत के मूर्धन्य विद्वान, प्रभावशाली वक्ता। अणुव्रत अनुशास्त्रा आचार्य श्री तुलसी के वरिष्ठ सहयोगी। हिन्दी, अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत, अंग्रेजी भाषाओं के ज्ञाता। म्वालियर के एक मध्यमवर्गीय प्रतिष्ठित परिवार में जन्म, किशोरावस्था में ही साधुत्व की दीक्षा ग्रहण की। अनेकों काव्य संकलन, प्राकृत ग्रन्थ, मौलिक रचनाएँ, शोध-प्रबन्ध प्रकाशित।

अगरचन्द नाहटा

हिन्दी व राजस्थानी के प्रसिद्ध गवेषक विद्वान व लेखक; जैन धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला के विशेषज्ञ। जैन आचार्य श्री कृपाचन्दजी मूरी की शिष्यमंडली की प्रेरणा से जैन वाङ्मय के अध्ययन को प्रेरित। राजस्थान के महान कवि श्री समाजसुन्दर पर सर्वप्रथम शोधकार्य से शोध प्रवृत्तियों को प्रेरित। अपने बड़े भाई की स्मृति में “अभय जैन ग्रन्थालय” की स्थापना कर इसमें हजारों ज्ञान-अज्ञात कवियों व लेखकों की पैतृलीम हजार मुद्रित व ग्राठ हजार प्राचीन हस्तलिखित एवं दुर्लभ पुस्तकों का विषद संग्रह किया। अपने पिताश्री की स्मृति में “श्री शंकर-दान कला भवन” की स्थापना कर इसमें प्राचीन एवं कलात्मक सामग्री का संग्रह किया। हजारों ज्ञान-अज्ञात कवियों व लेखकों के साहित्य का विषद अध्ययन व उन पर शोधकार्य कर लुप्त साहित्य को प्रकाशवान किया। प्राचीन साहित्य, इतिहास, कला, दर्शन व धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों पर चार हजार से भी अधिक शोधपत्र, लेख व निबन्ध प्रकाशित। लिखित व सम्पादित 45 ग्रन्थ प्रकाशित एवं लगभग 20 ग्रन्थस्थ। अनेकों पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन। अनेकों शोध छात्रों को मार्गदर्शन व सहायता। सम्पर्क—नाहटों की गुवाड़, बीकानेर (राजस्थान)।





डा. अमरनाथ पाण्डेय

एम. ए., डी. फिल. । अध्यक्ष —संस्कृत विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी । संस्कृत व हिन्दी, साहित्य के प्रखर विद्वान, प्रखर चिन्तक, सशक्त लेखक । संस्कृत साहित्य के अनेकों विषयों पर शोधकार्य । सैकड़ों शोधपत्र एवं निबन्ध तथा पुस्तकें प्रकाशित । “मार्ग दर्शन में अनेकों शोध छात्र डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित, तथा अनेकों तदर्थ कार्यरत । सम्पर्क—60, अध्यापक निवास, काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।

उषा फिरण जैन

एम. ए., बी. एड., रि. स्का. । लेखिका, सामाजिक कार्यकर्ता, विदुषी । जन्म 20 दिसम्बर 1949 । अनेकों समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध । समाजसेवी एवं रचनात्मक कार्यों में तीव्र अभिरुचि । विभिन्न सामाजिक विषयों पर समय-समय पर अनेकों लेख एवं निबन्ध तथा शोधपत्र प्रकाशित । सम्पर्क—प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र, कुशलगढ़, वांसबाड़ा (राज.) ।



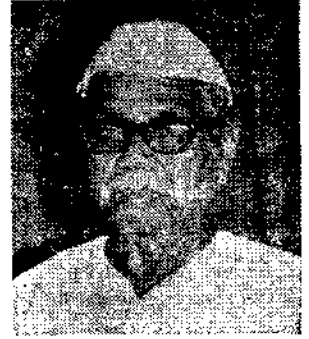
श्रीचन्द्र जैन

एम. ए., एल-एल. बी. । हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार । जन्म-22 जनवरी 1910 । चीफ सेक्रेटरी तथा जिलाधीश पदों पर कार्य, तदन्तर शिक्षाजगत में प्रवेश । रीवां, खरगौन, ग्वालियर, एवं जबलपुर में विभिन्न महाविद्यालयों में प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष पदों पर कार्य किया, अवकाश प्राप्ति के बाद से मन्दीपनि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उज्जैन में प्राचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, के रूप में कार्यरत । लगभग तीस पुस्तकें प्रकाशित । अनेकों रचनाएँ पुरस्कृत । लोक साहित्य में विशेष अभिरुचि । सम्पर्क—मोहन निवास, कोठी रोड, विश्वविद्यालय मार्ग, उज्जैन (म. प्र.) ।



पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य

जैन धर्म व दर्शन के मूर्धन्य एवं अधिकारिक विद्वान, प्रबुद्ध चिन्तक एवं विचारक तथा ओजस्वी वक्ता। जन्म—कातिक शुक्ल द्वादशी, सवत् 1960, नहटौर जिला बिजनौर। श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में अध्ययन और सन् 1927 से उसी में अध्यापन। महाविद्यालय के अनेक वर्षों तक प्राचार्य रहे; वर्तमान में सेवानिवृत्त। प्रकाशित कृतियाँ—जैनधर्म, जैन साहित्य का इतिहास (3 भाग), भ. ऋषभदेव, नमस्कार मंत्र, न्याय कुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) की प्रस्तावना, जैन न्याय, दक्षिण भारत में जैनधर्म। अनुदित तथा सम्पादित—उपासकाध्ययन, कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह, तत्त्वार्थ सूत्र, सत्प्ररूपणा सूत्र, स्वामी कीर्तिकेयानुग्रो, नयचक्र। सम्पादक—जीवराज ग्रन्थमाला, शालापुर तथा मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला, भारतीय ज्ञानपीठ; जैन सन्देश। भूतपूर्व अध्यक्ष, भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्। मंत्री—साहित्य विभाग, भा. दि. जैन संघ। सदस्य—परामर्श समिति, भारतीय ज्ञानपीठ। सम्पर्क—स्याद्वाद महाविद्यालय, भदौनी, वाराणसी (उ. प्र.)।



डा. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्री। प्रतिष्ठित साहित्यकार एवं इतिहासकार; इतिहास रत्न एवं विद्यावारिधि की उपाधि द्वारा अलंकृत। गत 30 वर्षों से साहित्यिक जगत की सेवा में रत। अनेकों शोधपत्र, निबन्ध, लेख व लगभग 20 पुस्तकें प्रकाशित। प्रमुख कृतियाँ—‘राजस्थान के जैन संन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व’ (पुरस्कृत), महाकवि दौलतराय कासलीवाल—व्यक्तित्व एवं कृतित्व’ (पुरस्कृत), राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची (5 भाग) का सम्पादन। निर्देशक—साहित्य शोध विभाग, श्री अतिशय क्षेत्र महावीरजी। जैन दर्शन तथा इतिहास के विभिन्न विषयों पर सतत् शोधकार्य में रत। सम्पर्क—साहित्य शोध विभाग, महावीर भवन, सबई मानसिंह हाईवे, जयपुर।

डा. कैलाशचन्द्र जैन

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट. । प्रतिष्ठित इतिहासकार एवं पुरातत्त्व वेत्ता । जन्म-21 अप्रैल 1930 मरोठ (राजस्थान) । महाराजा महाविद्यालय, जयपुर; शासकीय महाविद्यालय, अजमेर; व राजकृषि कालेज, अलवर, में प्राध्यापक रहे । 1964 में, अध्यक्ष — प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन । सदस्य-इंटरनेशनल कॉन्फ्रेंस आफ ओरियन्टलिस्ट्स, 1963, आलइण्डिया ओरिएन्टल कॉन्फ्रेंस, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, इन्स्टीट्यूट आफ हिस्टोरिकल स्टडीज, एपीग्राफीकल सोसायटी आफ इण्डिया, न्यूमिस्मैटिक सोसायटी आफ इण्डिया । प्रकाशन — *Jainism in Rajasthan*, *Ancient cities and towns of Rajasthan*, *Malwa through the Ages*, *Lord Mahavira & his times*, प्राचीन भारत में सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ । लगभग 70 शोधपत्र प्रकाशित । गत बीस वर्ष से शोधकार्य में रत । 1966 में उल्लेखनीय शोधकार्य हेतु राजस्थान शासन द्वारा पुरस्कृत । सम्पर्क-मोहन निवास, देवास रोड, उज्जैन 456 001 ।



डा. कृष्णदत्त वाजपेयी

पी-एच. डी. । प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एवं पुरातत्त्व वेत्ता । मथुरा, लखनऊ में ब्यूरेटर सागर विश्वविद्यालय में टैगोर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष — प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग । अध्यक्ष, न्यू मैसेमेटिक सोसायटी आफ इण्डिया । उपाध्यक्ष, एपीग्राफीकल सोसायटी आफ इण्डिया । भारतीय अभिलेख संस्था । नैलसन राइट इण्डिया मैडिल (भारतीय मुद्रा परिषद से सम्मानित); ऐशियेटिक सोसायटी, कलकत्ता से आर. पी. चन्दा मैडिल । बिड़ला म्यूजियम के अध्यक्ष । लगभग 26 पुस्तकें प्रकाशित । 450 शोध प्रबन्धों के मार्गदर्शक । 28 शोध छात्रों को मार्गदर्शन में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त । त्रिपुरी, एरन व देवगढ़ में उत्खनन एवं पुरातत्त्वीय शोधकार्य । सम्पर्क-अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।



कल्याण कुमार जैन “शशि”

प्रसिद्ध आशुकि वि राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता । जन्म—
8 मार्च 1918 । सन् 1930 में असहयोग आन्दोलन में जेलयात्रा ।
अनेकों बार सम्मानित । “पार्श्वनाथ पूजन” पर पुरस्कृत (1972) ।
देश के प्रमुख पत्रों तथा पत्रिकाओं में सैकड़ों काव्य रचनाएँ प्रकाशित ।
सम्पर्क—जैन फार्मोसी, बाजार नमरुला खाँ, रामपुर (उ. प्र.) ।



गुलाबचन्द्र जैन

बी. ए., एल-एल. बी. । भारतीय संगीत, जैन धर्म-दर्शन व संस्कृति
के अधिकारिक विद्वान, प्रखर वक्ता, प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्ता ।
कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (म. प्र.)
जन्म—22 जुलाई 1924 । प्रसिद्ध जैन विद्वान स्व. मेघराज मुनेत
के सुपुत्र । जैन धर्मशास्त्र, तथा कानून विषयों में विषद अध्ययन ।
संविधानिक विधि के विशेषज्ञ । जैन धर्म दर्शन व संस्कृति से सम्बन्धित
विविध विषयों पर अनेकों सम्मेलनों में व्याख्यान । अ. भा. श्वेताम्बर
जैन एसोशियेशन के द्वारा जून 1976 में उग्र राष्ट्रपति द्वारा प्रदत्त
स्वर्ण पदक से सम्मानित । पूर्व अध्यक्ष—शिक्षा समिति, जनपद सभा
खैरागढ़; पूर्व मानसेवी सचिव—दीरेन्द्र को-आपरेटिव बैंक, पूर्व
कोषाध्यक्ष एवं पूर्व सदस्य कार्यकारणी—इन्दिरा कला संगीत
विश्वविद्यालय । सम्पर्क—कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,
खैरागढ़ (म. प्र.)

गोविन्द नारायण टण्डन

एम. ए. (अर्थशास्त्र) । अर्थशास्त्र के प्रतिष्ठित विद्वान । जन्म—
20 मई 1916 । कुलपति—जीवाजी विश्वविद्यालय, खालियर ।
विक्टोरिया कालेज, खालियर में अर्थशास्त्र विभाग में व्याख्याता
(1939-43) एवं प्राध्यापक (1943-48) रहे । प्राध्यापक एवं
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय, खालियर (1948-58) । प्राचार्य, शासकीय महा-
विद्यालय, गुना (1958-61) । प्राचार्य, शासकीय कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय, इन्दौर (1961-64) । कुलसचिव, इन्दौर विश्वविद्यालय,
(1964-73) । विभिन्न विश्वविद्यालयों में अनेकों समितियों के सदस्य
रहे । सम्पर्क—गांधी रोड, खालियर ।





जी. आर. जैन

एम. एस-सी. । भौतिकशास्त्री, जैन विज्ञान के अधिकारिक विद्वान, प्रखर चिन्तक, प्रतिष्ठित लेखक एवं समाजसेवी । जन्म-2 दिसम्बर 1902, श्रीनगर (गढ़वाल), उ. प्र. । डा. मेघनाथ साहू, एफ. आर. एस. और डा. नीला रत्नधर जैने प्रखर वैज्ञानिकों के मार्गदर्शन में इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में शिक्षा । व्याख्याता-भौतिकशास्त्र (1926-28), मेरठ कालेज, मेरठ । विक्टोरिया कालेज, तथा माधव इन्जीनियरिंग कालेज, ग्वालियर में भौतिकशास्त्र विभाग के अध्यक्ष तथा प्राध्यापक रहे । जैन धर्म-दर्शन पर विशद अध्ययन । बाल्यावस्था से जैन जीवन-दर्शन में दीक्षित । सातवीं कक्षा में पांच सौ रुपये मासिक से अधिक ग्रहण करने का परिग्रह परिमाण बत लिया तथा उसका जीवन पर्यन्त पालन किया । पांच सौ रुपये से अधिक प्राप्त समस्त आय जीवनभर दान की । पूर्व अध्यक्ष, जैन एमोशियसन्, वीर शिक्षा समिति, ग्वालियर । कर्तव्यप्रधान जीवन के हृद् संकल्पी । विज्ञान और दर्शनशास्त्र पर लगभग बारह पुस्तकें प्रकाशित । महत्वपूर्ण प्रकाशन—कास्मोलाजी (ओल्ड एण्ड न्यू), प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी । सम्पर्क—विजय भवन 223/5 थापरनगर, मेरठ ।

चन्दनमल वैद

प्रसिद्ध लोकनेता एवं समाजसेवी । स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया । अनेकों समाजसेवी संस्थाओं तथा कांग्रेस संगठन में विभिन्न पदों पर रहे । राजस्थान शासन में विभिन्न विभागों का कुशलतापूर्वक दायित्व निर्वहन । मंत्री—वित्त, स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन विभाग । ओजस्वी बक्ता तथा प्रभावशाली लेखक । सम्पर्क—वित्त मंत्री, राजस्थान शासन, जयपुर ।



ज्योति प्रसाद जैन

विद्यावारिधि—एम. ए., एल-एल. बी., पी-एच. डी., इतिहास रत्न । जैन इतिहास, संस्कृति और साहित्य के प्रौढ़ मनीषी एवं अधिकारिक विद्वान । जन्म—सन् 1912, मेरठ । अनेकों शैक्षणिक एवं समाजसेवी संस्थाओं में सम्बद्ध । अनेकों द्वारा सम्मानित । इतिहासरत्न एवं विद्या-वारिधि की उपाधियों से विभूषित । मैकडों शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित । प्रमुख पुस्तकें—Jaina's Sources of Ancient India. Jainism, The oldest Religion, Religion & culture of the Jains, भारतीय इतिहास: एक दृष्टि, रुहेलखण्ड कुमायूँ और जैनधर्म, प्रकाशित जैन साहित्य, हस्तिनापुर, तीर्थंकरों का सर्वोत्तम मार्ग, आदि । सम्पादक—Voice of Ahimsa । जैन सन्देश (शोधार्क), जैन सिद्धान्त भास्कर, आदि शोध पत्रिकाएँ । इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत एण्ड जैनोलोजी, बैंगलोर की काउन्सिल के सदस्य । प्रधान संचालक—अखिल विश्व जैन मिशन । सम्पर्क—ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ, 226-001 ।

टी. के. दुकोल

एम ए, एल-एल. बी. । न्यायमूर्ति—उच्च न्यायालय, बंगलौर, कर्नाटक । पूर्व कुलपति-बंगलौर विश्वविद्यालय । प्रसिद्ध विधिवेत्ता, जैन धर्म एवं दर्शन के प्रखर विद्वान । जन्म—8 मई 1908, गदूर (बीजापुर) । बम्बई विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान प्राप्तकर अंग्रेजी साहित्य में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की (1931) । सहायक प्राध्यापक, (अंग्रेजी साहित्य)—फर्ग्युसन कॉलेज (पूना) । जिला न्यायालय बीजापुर में वकालत प्रारम्भ की (1934) । न्यायाधीश मनोनीत हो न्यायिक सेवा में (1938) । देशी राज्यों के विलय के सम्बन्ध में विधिक परामर्शदाता के रूप में विशेष अधिकारी मनोनीत (1948-50) । अनिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश—कोल्हापुर (1950) । जिला एवं सत्र न्यायाधीश (1955) । भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के अन्तर्गत विशेष न्यायाधीश एवं इन्वेक्शन ट्रिब्यूनल के सदस्य के पदों पर कार्य । अति. विधि सचिव (1957), विधि सचिव (1961) मैसूर । मैसूर उच्चन्यायालय में न्यायमूर्ति मनोनीत । कुलपति—बंगलौर विश्वविद्यालय (19 9-72) । लखपति भाई दत्तान भाई इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलोजी में "Sallekhna is not Suicide, विषय पर तीन व्याख्यान । प्रकाशित पुस्तकें —"Compendium of Jainism" (Sardar Patel University), Saying of Bhagwan Mahavira". सम्पर्क—कुबेर निवास, 115 एलीफेन्ट रोड रोड, जयनगर, बंगलौर, 560,0 11 ।



डा. दरबारी लाल कोटिया

एम. ए., पी.-एच. डी. । दर्शन शास्त्र के प्रख्यात विद्वान, जैन दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित, प्रख्यात आध्यात्मिक वक्ता । जैन धर्म व दर्शन पर शोधकार्य व तदर्थ मार्गदर्शन । लगभग दो सौ शोधपत्र व निबन्ध प्रकाशित । अनेकों पुस्तकें प्रकाशित । सम्पर्क—चमेवी कुटीर, 1/128 हुमराव कालोनी, अस्सी, वाराणसी-5 ।



डा. पदमचन्द्र जैन

एम. बी. बी. एम. । प्रबुद्ध लेखक, सेवाभावी चिकित्सक एवं सामाजिक कार्यकर्ता । मेडिकल कॉलेज, अजमेर में प्रथम श्रेणी में एम. बी. बी. एम. परीक्षा उत्तीर्ण की । चिकित्सा विज्ञान, प्रमुखतः शाकाहार चिकित्सा शास्त्रीय पक्ष तथा भारतीय दर्शन के परिप्रेष्य में विषय पर अनेकों लेख प्रकाशित । सम्पर्क—मेडिकल आफिसर, पी. एच. सी, कुशलगढ़, जिला बांमबाड़ा, (राजस्थान)

परमानन्द जैन शास्त्री

जैन दर्शन एवं साहित्य के प्रखर विद्वान । जन्म—श्रावण वदी चतुर्थी, सं. 1965 वि. । निदेशक, बीर सेवा मन्दिर, सरसावा और दिल्ली (1936-72) । लगभग 325 महत्वपूर्ण शोधपरक लेख प्रकाशित, जिनमें अनेक लघु साहित्यिक एवं ऐतिहासिक तथ्य प्रकाशित, तथा तत्सम्बन्धी अन्वेषित सामग्री संकलित । सम्पादक—अनेकांस्त (मासिक शोध पत्रिका) । लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थ—मोक्षमार्ग प्रकाशक, सुख की एक झलक (प्रथम भाग), अनुभव प्रकाश, चिद्विलास जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, जैन महिला शिक्षा संग्रह, प्राचीन जैन इतिहास (द्वितीय भाग), महावीर परम्परा और पश्चातवर्ती राजाओं का परिचय, हिन्दी जैन कवियों का इतिहास, आदि । अनुवाद—समाश्रितव इष्टोपदेश, एकीभावस्त्रोत आदि । सम्पर्क—एफ 95, जवाहर पार्क, वेस्ट लक्ष्मीनगर दिल्ली 5 ।



डा. श्रीमतो पुष्पसता जैन

एम. ए. (हिन्दी, भाषा विज्ञान), पी.-एच. डी. । प्रबुद्ध साहित्यकार, लेखिका एवं समालोचक । जन्म—20 सितम्बर 1942, सागर । अनेकों समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध । हिन्दी में भाषा विज्ञान पर शोधकार्य पर डाक्टरेट की डिग्री से सम्मानित । लगभग तीस शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित । प्रकाशित पुस्तकें—मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य में रहस्य भावना । सम्पर्क—न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर ।

परिपूर्णानन्द वर्मा

राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त लेखक एवं विचारक, प्रतिष्ठित समाजसेवी, ओजस्वी वक्ता । अनेकों साहित्यिक एवं समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध । अध्यक्ष, आल इण्डिया क्राइम प्रिवेन्शन सोसायटी । पचास के लगभग पुस्तकें तथा पांच सौ के लगभग लेख व निबन्ध प्रकाशित । अनेकों पुर-कृत । प्रमुख रचनाएँ—अपराध—अपराधी और अभियुक्त, तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ, ऐसा-वैसा, नारी रत्न, यत्न की परिभाषा, प्राणदण्ड, बालरत्न, भारत की विभूतियाँ, मृत्युदण्ड की प्रथा और इतिहास, मेरा प्रणाम, रूप और रूपैया, प्रतीकशास्त्र, भ्रष्टाचार का मुर्दा, आत्महत्या और वासना के अपराध । सम्पर्क—4 लक्ष्मीरत्न बगला, कालपी रोड, कानपुर 12 ।

डा. वृजवासी साल

एम. ए., पी-एच. डी. । प्रख्यात इतिहासकार एवं पुरातत्व वेत्ता । पूर्व निदेशक—आर्कियोलाजीकल सर्वे आफ इण्डिया, भारत शासन । पूर्व अध्यक्ष—प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर । वर्तमान में, निदेशक—पुरातत्व विभाग, इन्स्टीट्यूट आफ एड्वान्स स्टडीज, शिमला । रामायणकालीन स्थलों के उत्खनन के महत्वपूर्ण कार्यों में संलग्न । ऐतिहासिक महत्त्व के अनेकों स्थलों के उत्खनन का निर्देशन कर भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अनेकों लुप्त पक्ष उजागर किये । अनेकों शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित । सम्पर्क—निदेशक, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, इन्स्टीट्यूट आफ एड्वान्स स्टडीज, राष्ट्रपति निवास, समर हिल, शिमला, (हिमाचल प्रदेश) 171005 ।

डा. भागचन्द्र जैन

एम. ए. (संस्कृत; पालि; प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व), साहित्याचार्य, साहित्य रत्न, पी-एच. डी. (सीलोन) । प्रसिद्ध इतिहासज्ञ, जैन साहित्य के प्रखर विद्वान । जन्म—1 जनवरी 1939 बम्बई, छतरपुर (म. प्र.) अनेक शैक्षणिक व समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध व उनमें विभिन्न पदों पर सेवारत । अध्यक्ष—पालि—प्राकृत विभाग एवं प्राध्यापक—पालि—प्राकृत विभाग, नमपुर विश्वविद्यालय, नागपुर । प्रकाशित पुस्तकें—Jains in Buddhist Literature, बौद्ध संस्कृति का इतिहास, चतुःशतकम् (संपा. अनु.) पातिलोवख (संपा. अनु.), पालिकोम संग्रहो (संपादन), जैन धर्म और संस्कृति, म. महावीर और उनका चिन्तन, जैन संस्कृति का इतिहास, भारतीय संस्कृति का बौद्ध धर्माभि योगदान (मराठी), लगभग अस्सी शोध निबन्ध प्रकाशित । सम्पादन—रत्नत्रय (मासिक) कोल्हापुर । सम्पर्क—न्यू एक्सप्लेन एरिया, सदर, नागपुर ।



डा. महावीर सरन जैन

एम.ए., डी. फिल., डी. लिट. । प्रसिद्ध साहित्यकार एवं समालोचक । अनेकों समाजसेवी व शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बद्ध, अनेक अखिल भारतीय संस्थाओं के आजीवन सदस्य । स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय में वरिष्ठतम प्रवाचक एवं प्रशासकीय विभागाध्यक्ष । चेयरमैन, स्नातकोत्तर हिन्दी सम्मिलित अध्यापन, डाय-रेक्टर—हिन्दी त्रिज कोर्स प्रोजेक्ट । 4 उच्चस्तरीय ग्रन्थ एवं 60 से अधिक शोध निबन्ध प्रकाशित । निर्देशन में अनेक छात्रों को पी-एच. डी. व डी. लिट. की उपाधियाँ प्राप्त । “परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिप्राप्तिक अध्ययन” शीर्षक पुस्तक उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत । सम्पर्क—अध्यक्ष - हिन्दी व भाषा विज्ञान विभाग, जबलपुर विश्व-विद्यालय, जबलपुर (म. प्र.) ।

मधुसूदन नरहरि देशपाण्डे

प्रख्यात कलामर्मज्ञ, पुरातत्व वेत्ता एवं समीक्षक । महानिदेशक— भारतीय पुरातत्वीय सर्वेक्षण विभाग, भारत शासन । भारतीय पुरातत्व एवं संस्कृति के अनेक पक्षों पर शोधकार्य । पूर्व में ताम्रलिपि से लेकर दक्षिण भारत के अनेक स्थलों का पुरातत्वीय सर्वेक्षण । उत्तर भारत के अम्बखेड़ी, बडगांव इत्यादि स्थलों का उत्खनन कर ताम्रपाषाण युगीन (सिंधु सभ्यता के अन्तिम कालीन अवशेषों का पुनर्जागरण । दक्खन के पीतल खीरा नामक स्थल का उत्खनन कर यक्ष परम्परा से सम्बन्धित नवीन आयामों की खोज की । अजन्ता गुफा के कला पक्ष पर शोध एवं समीक्षा । अनेकों शोधपत्र व निबन्ध प्रकाशित । सम्पर्क— निदेशक, भारतीय पुरातत्वीय सर्वेक्षण विभाग, जनपथ नई दिल्ली ।



यू. एन. बाबुबाबत

एम. ए., एल-एल. बी. । कुशल वक्ता एवं लेखक, प्रख्यात विधि वेत्ता, न्यायमूर्ति, म. प्र. उच्च न्यायालय । म. प्र. उच्चन्यायालय की इन्दौर खण्डपीठ के वरिष्ठ एवं ख्यातिप्राप्त अभिभाषक रहे । भारतीय संविधान एवं निर्वाचन विधि के विशेषज्ञ । सन् 1974 में मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय में न्यायाधीश पद पर नियुक्त । विधि के अतिरिक्त सामाजिक विज्ञानों में विशेष रुचि । सम्पर्क—गांधी मार्ग, खालियार ।

यशपाल जैन

बी. ए., एल-एल. बी. । अन्तर्राष्ट्रीय स्थाति प्राप्त लेखक, पत्रकार, गांधीवादी विचारक । जन्म—सितम्बर 1912, अलीगढ़ (उ. प्र.) । प्रयाग विश्वविद्यालय से एल-एल. बी. । 1937 में बकालत का व्यवसाय छोड़कर पत्रकारिता जगत में प्रविष्ट । प्रसिद्ध साहित्यकार । सैकड़ों कहानियाँ व लेख प्रकाशित । लगभग एक सौ पुस्तकों के रचयिता । सम्पादक “जीवन साहित्य” । पूर्व सम्पादक—“जीवन सुधा” “मधुकर” एवं “वीर” । मंत्री—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली । अध्यक्ष—अ. भा. अणुव्रत समिति । हिन्दी भवन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं चित्रकला संगम, आदि संस्थाओं के संस्थापक सदस्य एवं पदाधिकारी । सदस्य का. का—अ. भा. ८500 वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव समिति । पंच महाव्रतधारी । लगभग 35 देशों की यात्रा की । सम्पर्क—7/8 दरियागंज, दिल्ली 6 ।



डा. राजाराम जैन



एम. ए. (हिन्दी), पी-एच. डी., शास्त्राचार्य । हिन्दी-संस्कृत व प्राकृत भाषाओं के अधिकारिक विद्वान, मूर्धन्य साहित्यकार । सम्पादक—ज्ञानोदय (1954-55) । प्राध्यापक, हिन्दी विभाग—राजकीय महाविद्यालय, शहडोल (1955-56) एवं राजकीय प्राकृत शोध संस्थान (1956-61); संस्कृत—प्राकृत विभाग, हा. दा. जैन कालेज, आरा, मगध विश्वविद्यालय (1961 से) । अनेकों शोधनिबन्ध, लेख व पुस्तकें प्रकाशित । प्रकाशित प्रमुख पुस्तकें—रईधू साहित्य का आलोचनात्मक पण्डोलन (पुरस्कृत), ‘वडुमाण चरित’, रईधू ग्रन्थावली (16 खण्डों में प्रकाश्य, 2 खण्ड प्रकाशित), वीर जिणंद चरित (रईधूकृत), प्राकृत ग्रन्थ संग्रह, आरामसोहाकहा, श्रमण साहित्य में वर्णित विहार की कुछ जैन तीर्थभूमियाँ, संस्कृत प्राकृत विषयक 5 शोध छात्रों को पी-एच. डी. हेतु निर्देशन । सम्पादक, “जैन सिद्धान्त भास्कर । ‘Jain Antiquary’” । कर्नाटक विश्वविद्यालय में आयोजित आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस के 28वें अधिवेशन (1976) में “प्राकृत एवं जैनजन्म विभाग” के अध्यक्ष । मगध विश्वविद्यालय द्वारा देवकुमार जैन ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट आरा के सन्मान्य निदेशक मनोनीत । अ. भा. शा. पुरस्कार (वडीत), वीर निर्वाण भारती पुरस्कार (दिल्ली) तथा वीर निर्वाण भारती स्वर्णपदक पुरस्कार प्राप्त । सम्पर्क—महाजन टोली नं 2, आरा (बिहार) ।

रवीन्द्र मालव



डी.एम.ई., एम. ए. (समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान), एल-एल. बी.,
विशारद । मशकत लेखक एवं पत्रकार, ओरिजिनी बत्ता, प्रतिष्ठित सामाजिक
कार्यकर्ता । जन्म-28 मई 1948 । किशोरवस्था से ही बहुमुखी प्रतिभा
के धनी । अनेकों प्रतिष्ठित समाचार-पत्रों एवं संवाद समितियों के
प्रतिनिधि व सम्पादक रहे । फ्री लॉसर् । पूर्व मा. व्याख्याता—समाज-
शास्त्र विभाग—डॉ. भगवन्महाय स्मारक महाविद्यालय, खालियर एवं
राजकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, खालियर-6 । अभिभाषक—
म. प्र. उच्च न्यायालय खालियर । सदस्य महासभा, विद्या परिषद एवं
सामाजिक विज्ञान संकाय (1972 से) जीवाजी विश्वविद्यालय,
खालियर । जीवाजी विश्वविद्यालय की अनेकों समितियों के सदस्य ।
अनेकों स्मारिकाओं तथा जैन डाइरेक्टरी खालियर, का सम्पादन ।
अनेकों शैक्षणिक तथा समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध । अध्यक्ष, भारती
बिबिध कला संस्थान, उपाध्यक्ष—फनकार (उर्दू साहित्य मंच), महामंत्री,
रवीन्द्र शिक्षा समिति, मह. मंत्री—वीर शिक्षा समिति एवं माधव
पुस्तकालय खालियर । प्रबन्ध न्यासी-श्यामलाल पाण्डवीय मुकुट मेवा
न्यास, खालियर । न्यासी एवं सदस्य का. का. श्री 2500 वां भगवान
महावीर स्मारक न्यास, खालियर । विश्व युवक केन्द्र तथा गांधी ज्ञान्ति
प्रतिष्ठान के संयुक्त तत्वावधान में “राष्ट्रीय युवा नीति” के निर्धारण
हेतु आयोजित अ. भा. युवक सम्मेलन, दिल्ली (1977) में प्रतिनिधि ।
लगभग ग्यारह शोधपत्र एवं निबन्ध तथा डेढ़ सौ सामयिक लेख प्रकाशित ।
सम्पर्क—प्रेम ज्ञान्ति भवन, फालके बाजार, खालियर 474,001 ।

आर. एन. मिश्र

एम. ए., पी.एच.डी. । प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एवं पुरातत्ववेत्ता ।
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं
संस्कृति में एम. ए. (1957) । सागर विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय
इतिहास एवं संस्कृति तथा पुरातत्व विषय में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त
की (1968) । भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास,
शिमला में डाहल और दक्षिण कौमल (म. प्र.) की मूर्तियों पर उच्च
अध्ययन (मार्च 1973 से जून 1975) । 1959 से 1976 तक सागर
विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन । अध्यक्ष तथा
प्रवाचक, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व अध्ययन मण्डल
एवं उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष अध्ययन शाला—प्राचीन भारतीय
इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग जीवाजी विश्वविद्यालय, खालियर ।
प्रकाशित पुस्तकें—“भरहुत” (म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी), “Ancient-
Artist and Art Activity” (भा. उ. अ. सं. — शिमला) । प्रकाश्य
पुस्तकें—भारतीय मूर्तिकला (मैकमिलन, भारत), Sculptures of
Dahal & South Kosal (I. I. A. S., Simla), “Yaksha Cult
and Icography (Motilal Banarsidas), लगभग चालीस शोधपत्र
प्रकाशित. सम्पर्क—“ममता”, बलवन्तनगर, गांधी मार्ग, खालियर 5 ।

डा. लक्ष्मीनारायण दुवे

एम. ए. (हिन्दी, इतिहास), पी-एच. डी., साहित्य रत्न ।
जन्म—1932 । साहित्यरत्न परीक्षा में श्रीधर स्वर्ण पदक
मोहनलाल चौबे पदक द्वारा सम्मानित । अ. भा. कला-साहित्य-संस्कृति
परिषद, मधुरा द्वारा 'साहित्य मार्तण्ड' की मानद उपाधि से विभूषित ।
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग—सागर विश्वविद्यालय, सागर । अनेकों
शोधपत्र (130), निबन्ध (1000) संग्रह एवं सम्पादित पुस्तकें (27),
पुस्तिकाएँ (3) व ग्रन्थ (5) प्रकाशित । निर्देशन में दो छात्र पी-एच. डी.
उपाधि से विभूषित, सात छात्र पी-एच. डी. हेतु शोधकार्यरत । प्रमुख
कृतियाँ—“नवीन तथा राष्ट्रीय काव्य” । “नवीन” विषयक शोध ग्रन्थ
पर म. प्र. शासन द्वारा अ. भा. राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदत्त । सागर
विश्वविद्यालय में, “प्रणामी सम्प्रदायः साहित्य तथा सिद्धान्त” विषय पर
डी. लिट्. हेतु पंजीकृत । सम्पर्क—स-44 गोरनगर, सागर विश्वविद्यालय,
सागर 470,003 ।



डा. लक्ष्मीचन्द्र जैन

एम.एस-सी., डी. एच. बी., गणित के अधिकारिक विद्वान, कुशल
लेखक एवं प्रखर वक्ता । जैन स्कूल ऑफ मैथमेटिक्स, एस्ट्रोनामी
कास्मोलाजी एवं अन्य Exact Sciences में विशेषज्ञ । प्राध्यापक एवं
विभागाध्यक्ष-गणित विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय खण्डवा
(म. प्र.) । एक सौ के लगभग शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित । सम्पर्क—
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, गणित विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, खण्डवा (म. प्र.) ।

सुमति बाई शहा

राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विदुषी, प्रतिष्ठित समाजसेवी एवं शिक्षाविद् ।
सम्पूर्ण जीवन जनसेवा तथा महिला शिक्षण एवं नारी जागरण को
समर्पित । अध्यक्ष—श्राविका संस्थानगर (महिला विद्यापीठ), जोलापुर
(महाराष्ट्र) । भारत शासन द्वारा “पद्मश्री” के अलंकरण से विभूषित ।
सम्पर्क—श्राविका संस्थानगर, बुधवार सोलापुर-2 (महाराष्ट्र)





सरदारसिंह चौरड़िया

प्रख्यात उद्योग विशेषज्ञ, प्रख्यात समाजसेवी एवं कुशल वक्ता। महाप्रबन्धक, बिरला उद्योग समूह खालियर। कर्मठ समाज सेवी, क्षेत्रीय तथा प्रदेश की अनेकों समाजसेवी तथा औद्योगिक संस्थाओं से सम्बद्ध। खालियर की अधिकांश प्रमुख समाजसेवी संस्थाओं व न्यासमण्डलों के प्रेरक, संरक्षक, उन्मायक एवं पदाधिकारी। सर्वधर्म मानव मन्दिरों के प्रेरक व संस्थापक। समन्वयवादी विचारधारा से ओतप्रोत, सर्वधर्म समभाव के हामी। अध्यक्ष, श्री 2500 वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास तथा श्री 2.00 वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव समिति, खालियर संभाग। सदस्य महामभा- जीवाजी विश्व-विद्यालय, खालियर। सम्पर्क - बिरलानगर, खालियर 474,004।

पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर

शास्त्री, बी. ए. एल-एल. बी. न्यायनीति, विद्वत्तरुत। जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, प्रखर लेखक एवं वक्ता। जन्म--8 अक्टूबर 1905, सिवनी (म. प्र.)। 1931 में अमहर्षीय आन्दोलन में महात्मा गांधी के आह्वान पर अंग्रेजों द्वारा संचालित अंग्रेजी विश्वविद्यालय व्यासपुर मुरैना के जैन गुरुकुल में संस्कृत एवं धर्म का अध्ययन प्रारम्भ किया। स्वर्णदास महाविद्यालय, वाराणसी में न्यायनीति की उपाधि प्राप्त की। बैरिस्टर चम्पतरायजी की प्रेरणा से हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में पुनः अध्ययन प्रारम्भ कर--बी. ए. एल. एल. बी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। आज्ञा ब्रह्मचर्य व्रत धारणकर सम्पूर्ण जीवन समाज एवं संस्कृति की सेवा को समर्पित। अ. भा. दि. जैन महामभा द्वारा "विद्वत्तरुत" की उपाधि से विभूषित, चरित्र चक्रवर्ती आचार्य शिरोमणि 108-शोभीश्वर श्री शान्तिसागरजी महाराज द्वारा "धर्म दिवाकर" की पदवी प्रदत्त। भारत के मूडबर्ती मठ के सवराचोत दिगम्बर जैन प्रकृत अथराज 'महाधवल' (महाबध) की प्राप्ति कर उसका सम्पादन किया। सम्पादक--कषाय पाहुड़ महाबन्ध; पूर्व सम्पादक--जैन गजट। टोकियो (जापान) में आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में जैनधर्म का प्रतिनिधित्व किया। अंग्रेजी व हिन्दी में अनेकों मौलिक ग्रन्थों के रचयिता। प्रमुख रचनाएँ--जैनशामन, चरित्र चक्रवर्ती, महाश्रमण महावीर, श्रमण-बेलगोला, वैद्वान्तिक चर्चा, चम्प.पुरी सम्मेलन शिखर, आध्यात्मिक ज्योति, तीर्थंकर, Nudity of Jain Saints, Religion & Peace, Tirthankar Mahavira Life & Philosophy सम्पर्क - दिवाकर मदन, सिवनी (म. प्र.)



डा. सागरमल जैन

एम. ए., पी-एच. डी. । जैन दर्शन के प्रखर विद्वान, प्रबुद्ध लेखक । जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा दर्शनशास्त्र में 'जैन आचार दर्शन' विषय पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पर डाक्टरेट की उपाधि से सम्मानित । अध्ययन के मुख्य विषय—जैन एवं बौद्ध दर्शन । प्राध्यापक एवं अध्यक्ष—दर्शनशास्त्र विभाग, हमीरिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, भोपाल । अनेकान्त की जीवन दृष्टि एवं विविध लेख प्रकाशित । अनेकों शोधपत्र प्रकाशित । सम्पर्क—प्राध्यापक एवं अध्यक्ष—दर्शनशास्त्र विभाग, हमीरिया कालेज, भोपाल ।

श्यामलाल पाण्डेय

श्रीबुद्ध स्वतन्त्रता सेनानी, लोकनेता, यशस्वी लेखक एवं पत्रकार, प्रख्यात समाजसेवी । जन्म—14 दिसम्बर 1896 मुरार (ग्वालियर) । 1917 में ग्वालियर राज्य में सर्वप्रथम, "गल्प पत्रिका" नाम से मासिक पत्र का प्रकाशन किया । 23 वर्ष की अल्पायु में ही असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण (1920 में ब्रिटिश भारत में) दण्डित । 1921 में पाक्षिक "समय" का प्रकाशन, जो बाद में साप्ताहिक हो गया । 1938 में अंग्रेजी साप्ताहिक State Herald का प्रकाशन किया । 1 दिसम्बर 1939 को उग्र भावनाओं के कारण बिना वारण्ट गिरफ्तारी, जेल यात्रा । सार्वजनिक सभा (ग्वालियर स्टेट कांग्रेस) के अध्यक्ष निर्वाचित (1940) । 1941 में जेल मुक्त । सदस्य, राज्य चारासभा (1944), सम्पादक—गल्पपत्रिका, सा. समय, State Herald (w), नारद (पा.), मुनि, प्रणवीर, सा. प्रजापुकार, द. हमारी आवाज । मध्यभारत निर्माण पर प्रथम मंत्रीमण्डल में संसदीय सचिव (1948) । द्वितीय मंत्रीमण्डल में मंत्री (1949) मनोनीत; तब से मध्यभारत विनयन (1956) तक विभिन्न महत्वपूर्ण विभागों में मंत्री व मंत्रीमण्डल के वरिष्ठ सदस्य रहे । अध्यक्ष, अ. भा. दिगम्बर जैन परिषद (1972) । अनेकों राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय संस्थाओं में विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर रहे । विभिन्न विषयों पर सैकड़ों लेख व लगभग दस पुस्तकें प्रकाशित । सम्पर्क—प्रेम शान्ती भवन, फावके बाजार, ग्वालियर 474,001 ।





शान्तिलाल जैन “मधुकर”

वी. काम. । सशक्त कवि, लेखक एवं प्रतिष्ठित समाजसेवी । अनेकों समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध, समाजसेवी कार्यों में अग्रणी वस्त्र व्यवसायी । भावात्मक कविताओं के प्रणेता । देश की अनेकों प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में लगभग डेढ़ सौ काव्य रचनाएँ प्रकाशित । सम्पर्क— 8 वी., आर. जी. कर रोड, श्याम बाजार, कलकत्ता 4 ।

डा. शिवकुमार नामदेव

एम. ए., पी-एच. डी. । जन्म — 30 जून 1944, शहपुरा, मण्डला (म. प्र.) । जबलपुर विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विषय में प्रथम श्रेणी में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण । जबलपुर विश्वविद्यालय से “कलचुरी मूर्तिकला का ममालोचनात्मक अध्ययन” विषय पर प्रस्तुत शोध ग्रन्थ पर डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित । व्याख्याता—प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, शासकीय महाविद्यालय डिन्डोरी (मण्डला) । श्रमण (बनारस), सन्मति सन्देश (दिल्ली), जैन प्रचारक (दिल्ली) सन्मति वाणी (इन्दौर), अनेकान्त (दिल्ली), मध्य प्रदेश सन्देश (भोपाल) आदि अनेकों पत्र पत्रिकाओं में जैन एवं जैनेतर विषयों पर सौ से भी अधिक शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित । सम्पर्क—व्याख्याता—प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, शासकीय महाविद्यालय, डिन्डोरी (मण्डला) म. प्र. ।

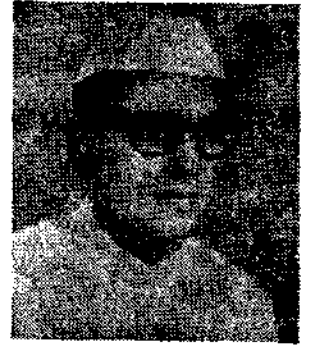


हरिहर निवास द्विवेदी

प्रसिद्ध इतिहासकार, विधि विशेषज्ञ, साहित्यकार, पत्रकार । अभि-
भाषक — उच्चतम न्यायालय । इतिहास, पुरातत्व, हिन्दी साहित्य तथा
विधि सम्बन्धी विषयों पर सौ अधिक शोध ग्रन्थ, मौलिक ग्रन्थ तथा
टीकाएँ प्रकाशित । सैकड़ों शोधपत्र प्रकाशित । प्रसिद्ध पुस्तकें—
“मध्यभारत का इतिहास” (4 भाग), “दिल्ली के तोमर”, “ग्वालियर
के तोमर”, “भारत की मूर्तिकला” “कीर्ति स्तम्भ”, “त्रिपुरी”, “तानसेन”,
“ग्वालियर राज्य के अभिलेख”, “ग्वालियर राज्य की मूर्तिकला”,
“मध्यदेशी भाषा”, एक लाख से अधिक मुद्रित पृष्ठों का हिन्दी एवं
अंग्रेजी का विधि साहित्य । सम्पादन—“विक्रम स्मृति ग्रन्थ”, भारती
(मासिक) सर्वोच्च न्यायालयीन निर्णय, मंगल प्रभात (साप्ताहिक),
दैनिक नवप्रभात, जबलपुर ला जर्नल, म. प्र. राजस्व निर्णय, म. प्र.
वोकली नोट्स । सम्पर्क—द्वारा ला जर्नल पब्लिकेशन्स, जयनन्दगज,
ग्वालियर 474001

डा. हुकुमचन्द्र भारिल्ल

शास्त्री, न्यायनीति साहित्यरत्न, एम. ए., पी-एच. डी. । जैन धर्म-
दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, प्रबुद्ध लेखक विचारक एवं ओजस्वी वक्ता ।
जन्म—बरोदास्थामी, झाँसी (उ. प्र.) आध्यात्मिक चिन्तक । तर्क संगत
एवं अद्भूत शैली के लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता । कुशल लेखक एवं
उत्कृष्टोक्ति के आध्यात्मिक निबन्धकार । अनेकों पुस्तकों के रचयिता ।
सैकड़ों शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित । अनेकों पुस्तकों का गुजराती,
मराठी, व असमी में अनुवाद प्रकाशित । गत पाँच वर्षों में आपके द्वारा
रचित साढ़े चार लाख से भी अधिक पुस्तकें विक्रीत । पं. टोडरमल जी
के साहित्य पर शोधकार्य में संलग्न । “पं. टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तव्य”
नामक शोधग्रन्थ पर इन्दौर विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि से
विभूषित । संचालक—सम्प्रति पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर । कुल
मन्त्रि-श्री वीतराग विज्ञान विद्यापीठ । प्रमुख पुस्तकें—पं. टोडरमल—
व्यक्तित्व एवं कर्तव्य”, “भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ”,
“नीयं कर भगवान महावीर” सम्पर्क—पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए 4) बापू नगर, जयपुर-4 (राजस्थान)





प्रतिवेदन

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित "महावीर स्मृति ग्रंथ" में महावीर निर्वाण वर्ष में ग्वालियर में हुए कार्यों का उल्लेख सामयिक, सराहनीय एवं अभिनन्दनीय है। इस वर्ष में सम्पन्न कार्यों एवं कार्यक्रमों में अनेकों महानुभावों का उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्वालियर में इस कार्य में समाजसेवा में अत्याधिक तत्पर श्री मिश्रीलाल जी पाटनी ने दिनांक 1-2-70 से कार्तिक वदी 30 सं. 2053 तक समिति के मंत्री रहकर सभी कार्यों में तन मन धन से पूर्ण सहयोग प्रदान किया। समिति के अध्यक्ष श्री बुधमल गंगवाल तथा कार्याध्यक्ष श्री मानिकचन्द्र जी गंगवाल रहे। समिति ने ग्वालियर संभाग के अनेक जिला एवं तहसीलों में भ्रमण कर 235 समितियां तथा कार्यसम्पादन में सहयोगार्थ उपसमितियां गठित कीं जिनमें 1200 के लगभग महानुभावों ने संलग्नता से तन मन धन से कार्य सम्पादन किया। ग्वालियर संभागीय समिति की अनुशंसा पर केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष श्री साहू शान्तीप्रसाद जैन द्वारा ग्वालियर के कर्मठ कार्यकर्ताओं को स्वर्णपदक व मानपत्र द्वारा सम्मानित किया गया।

इस महान अवसर पर लश्कर नगर में एक करोड़ रुपये के लगभग व्यय से अनेक धार्मिक कार्य हुए, ग्वालियर संभाग के अनेक नगरों में जैन समाज की ओर से जनता के लाभार्थ जैन औषधालय, वाचनालय, जैन धर्मशालाएँ, प्याऊ, बालक्रीडालय, प्रसूतिगृह, पुष्पवाटिकाएँ, महावीर कीर्ति स्तम्भ, नवीन जैन मंदिर निर्माण व प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार हुआ। सुगनचन्द्र पाटनी माधवगंज की ओर से लश्कर में शिवणकला शिक्षालय भी प्रारम्भ किया। अनेक स्थानों पर नैतिक शिक्षालय, महाविद्यालय व छात्रावास स्थापित हुए। जिलाध्यक्ष की अध्यक्षता में बनी अर्द्धशासकीय समिति ने महावीर भवन हेतु भूमिप्राप्ति में सहयोग किया। महोत्सवों में शासन, जिलाध्यक्ष श्री आर. के. गुप्ता, निगम आयुक्ता अधिकारियों के सहयोग, जीवाजी विश्व-विद्यालय द्वारा व्याख्यानमाला के आयोजन, व स्मृतिग्रन्थ के प्रकाशन में उपकुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन व संयोजक श्री रवीन्द्र मालव के सहयोग हेतु समाज उनका आभारी है।

दिगम्बर जैन निर्ग्रन्थ मुनियों व संत चन्दन मुनिजी ने निरन्तर उपदेश व आशीर्वाद दिये व श्री सरदार सिंह चोरडिया ने तन मन धन से सहयोग देकर अत्याधिक परिश्रम के साथ प्रत्येक कार्य में सहयोग प्रदान किया। म. प्र. के भ्रमण हेतु आए धर्मचक्र में भी ग्वालियर संभाग से ढाई लाख रुपयों का प्रशंसनीय सहयोग दिया गया। केन्द्रीय कार्यालय को भी काफी धनराशि सहयोगार्थ भिजवाई। मिश्रीलाल पाटनी का कार्य—सहयोग प्रशंसनीय रहा।

